महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित
श्रीभागवत विवृति

सुबोधिनी

हिन्दी भावानुवाद

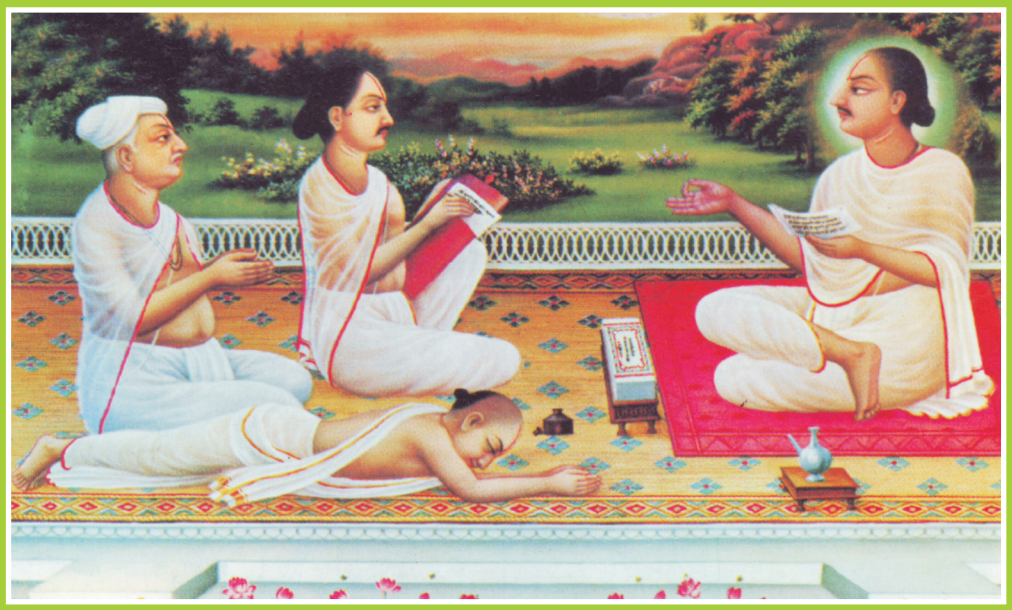

दशमस्कन्ध

तामस साधन प्रकरण

(अध्याय १९–२५)

खंड ९

जय श्रीकृष्ण
श्रीवल्लभाधीशो जयति

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित

श्रीभागवत विवृति

'सुबोधिनी' दशम स्कन्ध

तामस साधन प्रकरण

(अध्याय १९/२२–२५/२८)

हिन्दी भाषानुवाद

खंड ९

अनुवादक:

गो.वा.श्रीफतहचन्द वासु(पुष्करणा), जोधपुर

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

... तब व्यासजीने भागवतपुराण प्रकट किया जिसके अभ्यास (श्रवण–स्मरण–कीर्तन) से लोग मुक्त हो सकते हैं, बशर्ते भागवतका आजीविकार्थ उपजीवन न किया जाय. यह श्रीमद्भागवत एक श्रेष्ठ साधन है. अतः प्रयत्नपूर्वक, किसी लौकिक हेतु या दम्भ के बिना, आदरके साथ इसका पठन करना चाहिये. भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कण्ठमें ही क्यों न अटक जायें परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं ही करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके अन्य किसी भी उपायसे अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध.२।६७, २४३, २५४).

जो लोग भगवद्गुणगानको अपनी आजीविकाका साधन बनाते हैं ऐसे गुणगानकर्ता गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये जमीनमें खोदे गये गहरे गढ्ढेकी तरह होते हैं. (जलभेद.५)

मुंह–हाथ–पांव आदि धोनेमें प्रयुक्त गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे अधम होते हैं दक्षिणा लेकर कथा करनेवाले ...आशय यह है कि गढ्ढेमें भरे हुवे प्रक्षालनोच्छिष्ट गंदे जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहिं होता ... पौराणिकोंके भावोंका निरूपण करनेके बाद जो गायकोंका निरूपण किया गया है वह यह दिखलानेकेलिए कि (आजीविकार्थ पुराणोंका उपयोग करनेवाले) पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य नीच ही होते हैं.

(श्रीकल्याणरायविरचित जलभेदविवृति ५).

।। प्रासंगिक ।।

यह ज्ञापित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीभागवतकी विवृति 'सुबोधिनी'के हिन्दी अनुवादका पुनः प्रकाशन किया जा रहा है.

यह तो सुविदित है कि मूल संस्कृत सुबोधिनीका पुनः प्रकाशन पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीके सम्पादकत्वमें श्रीवल्लभविद्यापीठश्रीविट्ठलेश-प्रभुचरण आश्रम ट्रस्ट, कोल्हापुर द्वारा किया गया है.

सुबोधिनीके गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी, गो.वा.श्रीमग्नलाल शास्त्री तथा गो.वा.श्रीव्रजलाल सांकळीया आदि विद्वानों द्वारा लिखित गुर्जरभाषानुवादका पुनः प्रकाशन श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी द्वारा किया जा चुका है.

इसी तरह श्रीरामानुजमतानुयायी किन्तु सुबोधिनीके परम प्रेमी श्रीटी. रामनन्ने सुबोधिनीका अंग्रेजी अनुवाद करके उसे सद्गुरु पब्लिकेशन्स, दिल्ली द्वारा मूल संस्कृत सहित प्रसिद्ध करवाया है, जो २४ खंडोंमें उपलब्ध होता है. यह अंग्रेजी अनुवाद श्रीरामन्ने श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल, जोधपुर द्वारा प्रकाशित, सम्प्रति अनुपलब्ध, सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादका ही किया है. वे लिखते हैं:

> "I owe a deep debt of gratitude to Sri Subodhini Parakashan Mandal (Jodhpur). My traslation is, to a very large extent, based on this book and I am, indeed, very grateful for this Mandal".

सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादका प्रकाशन ''श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल''(जोधपुर) नामकी संस्थाको स्थापित करके उसके द्वारा गो.वा. श्रीनन्दलालजी मानधना,जोधपुर ने करवाया था. इनको इस भगीरथ कार्यमें गो.वा.श्रीरामचन्द्र(नन्ददास) वर्मा का साथ मिला. इन दोनों महानुभावोंकी निष्ठा प्रेरणा उत्साह और समर्पण से पुष्टिमार्गके अनेक विद्वानोंने मिल-जुलकर सुबोधिनीका अनुवाद तैयार किया. इनमें उल्लेखनीय हैं:

गो.वा.श्रीफतहचन्द वासु (जोधपुर)

दशमस्कन्धके नब्बे अध्यायोमेंसे चोहत्तर अध्याय;

तृतीय स्कन्धके १ से २१ अध्याय.

गो.वा.श्रीआनन्दीलालजी शास्त्री (श्रीनाथद्वारा)

प्रथम स्कन्धके १ से ९ अध्याय, दशमस्कन्धका चौथा अध्याय.

गो.वा.श्रीनारायणप्रसाद व्यास(कोटा)

प्रथमस्कन्धके १० से १९ अध्याय.

गो.वा.पं.गोरधनजी शास्त्री(कोटा)

दशमस्कन्धके चौदह अध्याय,

गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी(नाथद्वारा)

द्वितीय स्कन्धके १ से ४ अध्याय. तृतीय स्कन्धके २२ से ३३ अध्याय .

गो.वा.श्रीरमानाथ शास्त्री(कांकरोली)

द्वितीय स्कन्धके ५ से १० अध्याय.

गो.वा.श्रीसबलकिशोर चतुर्वेदी (मथुरा)

दशमस्कन्धका तीसरा अध्याय.

इस अनुवादके संशोधन तथा सम्पादन कार्यमें पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला), गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी (श्रीनाथद्वारा) तथा गो.वा.श्रीरणछोड कलाधर भट्ट(मुम्बई) का भी योगदान रहा है. पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला) तो ''श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल, जोधपुर'' के संरक्षक भी हैं.

इस श्रीभागवत-सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादके पुनःप्रकाशनका एकमेव उद्देश्य यही है कि श्रीवल्लभवाङ्मय कभी भी किसी भी जिज्ञासुकेलिए अलभ्य न रहे. हमें विश्वास है कि इस पुनःप्रकाशनसे सुबोधिनीके अध्येताओंको अवश्य लाभ होगा.

अन्तमें सुबोधिनीके हिन्दी भाषानुवादके पूर्व प्रकाशक, अनुवादक, संशोधक, सम्पादक, द्रव्यसहायक आदि सभीके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं तथा इस कार्यमें निःस्वार्थ भावसे सहयोग करनेवाले सभी वैष्णवोंका भी सादर स्मरण करते हैं.

सुबोधिनी स्वाध्याय मंडल

क्या आप पुष्टिमार्गी हैं?

एक बार श्रीवल्लभाचार्यके ये आदेश पढ़ें.

सोचें, क्या आप श्रीवल्लभके मार्ग पर चल रहे हैं?

परब्रह्म श्रीकृष्णको ही अपना आश्रय-रक्षक जानें. मन-वचन-कर्मसे अन्याश्रय कदापि न करें.

भगवानने पुष्टिजीवोंको अपनी स्वरूपसेवाकेलिये भूतल पर प्रकट किया है. कृष्णसेवा ही पुष्टिजीवका स्वधर्म है. अतः कृष्णसेवाको जो स्वधर्म समझता है वही पुष्टिजीव है और वही पुष्टमार्गमें प्रवेशके योग्य है.

भगवत् शास्त्रको अच्छी तरहसे समझकर, आत्मनिवेदित होकर अपने तन-धनसे अपने घरमें श्रीकृष्णकी सेवा करें.

घरमें बिराजते ठाकुरजीको ही अपना सर्वस्व समझें जो खास आप ही के उद्धारार्थ कृपा करके आपके घर पधारे हैं. उनको छोडकर अन्य ठाकुरजीके दर्शन-सेवा केलिये भटकना अपने सेव्यप्रभुका तिरस्कार है.

अपनी सभी वस्तु-व्यक्ति-व्यवहारका समर्पण अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवामें ही करें. वे ही उनके सच्चे स्वामी हैं.

अपने ठाकुरजीको सर्वस्व समर्पित करके उस समर्पित महाप्रसादसे ही खान-पान-दान आदि सभी लौकिक-शास्त्रीय कार्य करें. असमर्पित पदार्थके उपयोगका सर्वथा त्याग करें.

हवेली-मन्दिरोंमें भेंट-सामग्री देकर कराये जाते सेवा-मनोरथ पुष्टिसिद्धान्तके अनुसार सेवा-भक्ति है ही नहीं; वो न केवल सेवा-भक्तिके नामपर पाखंड है अपितु परम पवित्र भगवत्सेवाको धंधा बनानेवाले दुष्टोंको पोषित करना है.

भगवत्सेवा-मनोरथ-कीर्तनके निमित्त भेंट-सामग्री मांगना-स्वीकारना उनको व्यापार-धंधा बनाना है. ऐसा पाप करनेवालेका नर्कमें पात होता है.

अतः भगवत्सेवा–मनोरथ–कीर्तनके निमित्त किसीको कुछ भी न दें.

अनजानेमें भी यदि कोई अवैष्णव सेव्य ठाकुरजीका दर्शन कर लेता है तो हमारी एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. ऐसा हो जाने पर श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराकर शुद्ध करना चाहिये.

भगवत्सेवा अपने ही घरमें करें. सार्वजनिक हवेली–मन्दिरमें सेवा–मनोरथ करना पुष्टिसिद्धान्तके अत्यन्त विरुद्ध है.

दर्शनको कभी भक्ति न समझें. दर्शनका आग्रह उसीका रखें जो कृपा करके आपके घरमें आपकेलिये आपके माथेपर बिराज रहे हैं, जिनकी सेवा आप स्वयं कर रहे हैं.

मंदिर–हवेलियोंमें दिया जाता या वहांसे खरीदा जाता प्रसाद–पातल महापातकी देवद्रव्य होता है. ऐसा प्रसाद खानेवाला नर्कमें ही जाता है.

प्रसादका नहीं किन्तु घरके ठाकुरजीने जो अङ्गीकार किया है उस समर्पित महाप्रसादको लेनेका आग्रह रखें.

भगवत्सेवाकी ही तरह भागवतका पाठ भी स्वयं ही करें. भक्तिभावकी वृद्धिके अलावा दूसरे किसी भी हेतुसे भागवतका पाठ न करें.

प्राण निकल जायें तो भले ही निकल जायें परन्तु दक्षिणा लेकर भागवतकी कथा–कीर्तन कभी भी न करें.

दक्षिणा लेकर कथा–कीर्तन करनेवालोंके मुखसे कथा–कीर्तन सुनना गटरका पानी पीनेके समान हीन कृत्य है. व्यावसायिक कथावक्ताओंके संगको दुष्टसंग समझकर उनका त्याग करो.

।। अनुक्रमणिका ।।

भूमिका: पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला) ०१
अनुवादककी लेखिनीसे ४२
भागवतार्थ निबन्ध दशमस्कन्धान्तर्गत तामस साधन प्रकरण (अ.१९-२५) ५७
श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रस्तोत्र (तामस साधन प्रकरणके नाम) ६३

दशम स्कन्ध

(तामस साधन प्रकरण)

अध्याय १९. चीरहरण लीला १
अध्याय २०. यज्ञपत्नियों पर कृपा ८९
अध्याय २१. इन्द्रयज्ञका निवारण १६३
अध्याय २२. गोवर्धन धारण १९५
अध्याय २३. श्रीनन्दकी गोपोसे श्रीकृष्णके प्रभावके विषयमें वार्तालाप २३२
अध्याय २४. श्रीकृष्णका अभिषेक २४९
अध्याय २५. वरुणलोकसे श्रीनन्दको छडाकर लाना २८४

परिशिष्ट

सर्वात्मभावका तुलनात्मक अध्ययन ३१७

अनुवादक
गो.वा.श्रीफतहचन्द वासु, जोधपुर

श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मण्डल, जोधपुरके मन्त्री तथा श्रीसुबोधिनी टीकाके अनुवादक प.भ.पं. श्रीफतहचन्दजी वासु(पुष्करणा) शास्त्री, विद्याभूषण आप मूल निवासी हैदराबाद(सिन्ध)के थे. आपका ब्रह्मसम्बन्ध पू.पा. नित्यलीलास्थ गो.श्रीअनिरुलालजी महाराज, नाडियादवालों द्वारा हुआ था. आप उच्च विचार-भावनाओंसे ओतप्रोत थे. रहते, परन्तु, साधारण पोशाकमें थे, इसके कारण कोई जान नहीं सकता था कि आप श्रीमहाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके परम कृपापात्र एवं पुष्टिमार्गके एक श्रेष्ठ विद्वान् हैं. अभिमानने तो आपका स्पर्श ही नहीं किया था. देश-विभाजनके समय निज स्थानका परित्याग कर आप जोधपुरमें आ बसे थे. जोधपुरमें एक पाठशालामें आप प्राध्यापक पद पर नियुक्त किए गए. तत्पश्चात् सन् १९६१में अवकाश प्राप्त कर मुझ(नन्ददास-रामचन्द्र)से मिले और कहने लगे कि श्रीमहाप्रभु वल्लभाचार्यचरणकी मैने दीक्षा प्राप्त की है. इसलिए मेरे ऊपर आपश्रीका ऋण है. परन्तु अभी तक मैं स्वमार्गकी कुछ भी सेवा नही कर सका हूं, अतः कोई साहित्यिक सेवा हो तो मैं करना चाहता हूं. इस तरह श्रीमहाप्रभुजीकी कृपासे इस संस्थाका कार्य प्रारम्भ हुआ और आपने अनुवादका कार्य लगनके साथ किया. दशम स्कन्धके ७२ अध्याय, एकादश स्कन्धके ४ अध्याय, तृतीय स्कन्धके २४ अध्याय का तथा भागवतार्थ प्रकरणके दशम स्कन्धका अनुवाद आपने किया. शिक्षापत्रका अनुवाद इन्दौरमें खड़ी बोलीमें

किया है तथा तत्त्वार्थदीपनिबन्धके शास्त्रार्थ प्रकरणकी 'मनोरमा' टीका भी लिखी है. सिन्धी भाषामें श्रीमदल्लभाचार्यचरणका जीवनचरित्र आपने लिखा तथा कतिपय ग्रन्थोंकी स्वतन्त्र रचना भी की है, जिनका मुद्रण भी हुआ है.

दिसम्बर मासके अन्तिम सप्ताहमें ८५ वर्षकी वयमें आपने नश्वर देहका त्याग कर गोलोक गमन किया. श्रीव्रजेशनन्दन आपको निजसेवामें रखें.

नन्ददास (रामचन्द्र), जोधपुर.

।।श्रीकृष्णाय नमः।।

।।श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।।

तामस साधन प्रकरणका औपनिषद सन्दर्भ

पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला)

अणुसे अणुतर और महान्से महत्तर इस जन्तुकी आत्मा गुहामें निहित है... बैठे-बैठे वह दूर-दूर पहुंच जाती है; और लेटे-लेटे भी वह सब जगह जा सकती है... यह आत्मा न तो प्रवचनसे न मेधासे और न बहुत श्रवण करनेसे ही मिल पाती है. यह स्वयं जिसका वरण करती है, वही उसे पा सकता है. उसीकेलिये यह अपने स्वरूपको प्रकट करती है. जो दुश्चरितसे विरत न हो, जो शान्त न हो, जो समाहित न हो; अथवा जिसका मन ही शान्त न हो, ऐसा कोई केवल प्रज्ञानसे इसे पा नहीं सकता... सभी लोगोंके नेत्रोंके जैसा होनेपर भी सूर्य हमारे नेत्रोंके बाह्य दोषोंसे कभी लिप्त नहीं होता; उसी तरह प्राणिमात्रकी वह एक अन्तरात्मा, सभी प्राणिओंसे बाह्य होनेके कारण, किसी भी प्राणीके लौकिक दुःखोंसे लिप्त नहीं हो पाती. वह एक वशी सर्वभूतान्तरात्मा अपने एक रूपमेंसे बहुरूप प्रकट करता है, जो धीर पुरुष उसे अपनी आत्माके भीतर अवस्थित समझ पाते हैं, उन्हें ही शाश्वत शान्ति मिलती है दूसरोंको नहीं. वह नित्योंमें नित्य है, चेतनोंमें चेतन है, वही अकेला बहुतोंकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है, जो धीर पुरुष उसे अपनी आत्माके भीतर अवस्थित समझ पाते हैं, उन्हें ही शाश्वत शान्ति मिलती है दूसरोंको नहीं.

(कठोपनिषत्).

विभिन्न धर्म-सम्प्रदायोंमें पारमात्मिक उपलब्धिके अथवा पारमात्मिक जीवन जीनेके तत्तत् शास्त्रोंद्वारा विहित उपायोंके अनुष्ठानोंके साथ ही साथ भगवत्कृपाका भी कुछ न कुछ असाधारण महत्त्व स्वीकारा ही गया है. ईश्वरवादी कोई भी धर्म-सम्प्रदाय ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि कायिक वाचिक या मानसिक यों तीनों ही अथवा तीनमेंसे किसी एकाद साधनके भी अनुष्ठानकी आवश्यकता स्वीकारता न हो. याग होम पूजन यात्रा प्रणिपात व्रत जागरण आदि कायिक साधनानुष्ठानके उदाहरण गिनाये जा सकते हैं. नाम/मन्त्र का जप स्तुति

प्रार्थना कीर्तन ग्रन्थपारायण आदि वाचिक साधनानुष्ठानके उदाहरण हैं. इसी तरह श्रवणमनन धारणा ध्यान भावन आदि मानसिक साधनानुष्ठानके उदाहरण माने जा सकते हैं.

साधनानुष्ठानकी तरह परमेश्वरके अनुग्रहकी आवश्यकताका भी अस्वीकार अशक्य ही है. इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता कि परमात्माका स्वरूप कोई धर्म-सम्प्रदाय किस प्रकारका स्वीकारता है: कोई परमेश्वरका स्वरूप निर्गुण-निराकार स्वीकारता है, तो कोई सगुण-निराकार; तो अन्य कोई उसे सगुण-साकार भी मानता है. कोई नराकार तो कोई नार्याकार या कोई उभयविलक्षणाकार भी मानता है. कोई जगदन्वित-जगदतीत अर्थात् परमात्माको जगत्का उपादानकारण भी एवं कर्ता भी मानता है. तो कोई जगदतीत अर्थात् केवल कर्ता ही मानता है. कोई उसे अनुपादान-अकर्ता गुरु या कूटस्थ साक्षी ही मानता है.

इन अनेक प्रकारोंमेंसे यथारुचि अभिमत प्रकारवाले परमतत्त्वके अनुग्रहकी कुछ न कुछ आवश्यकता स्वीकारी ही गयी है.

इसे ''साधनानुष्ठान और/अथवा अनुग्रह''के सरल समीकरणद्वारा निरूपित नहीं किया जा सकता है. अतः कई विचारणीय मुद्दे सामने आते हैं, यथा:

(१) क्या साधनानुष्ठान एक ऐसा सहायक उपाय है कि जिसके बिना केवल भगवत्कृपा फलजननार्थ स्वतः समर्थ नहीं हो पाती है?

(२) क्या साधनानुष्ठान तो केवल लोकसंग्रहार्थ ही अनुष्ठेय होता है; अर्थात् वास्तविक उपाय तो केवल भगवत्कृपा ही होती है?

(३) क्या साधनानुष्ठान कोई ऐसा प्रमुख उपाय है कि जिसका सहायक उपाय भगवत्कृपा है?

(४) क्या साधनानुष्ठान केवल प्राथमिक उपायारम्भमात्र है कि जिसकी पूर्णता भगवत्कृपाके बिना शक्य नहीं?

(५) क्या साधनानुष्ठान, साक्षात् स्वयं फलजनक न होनेपर भी, फलजनक जो भगवत्कृपा होती है उसे उत्पन्न या उद्बुद्ध करनेका कोई उपाय है?

(६) क्या साधनानुष्ठान ही वास्तविक उपाय होता है; अर्थात् भगवत्कृपा तो केवल साधनानुष्ठानके साथ हमारे भीतर गर्व-मद जैसे दुर्गुण कहीं पनप न जायें, एतदर्थ शास्त्रोंद्वारा सूचित एक मधुर-मंगल कैतवमात्र है?

श्रीशंकराचार्य जीवात्माके प्रमातृत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि धर्मोको पारमार्थिक नहीं मानते हैं. इन मायिक धर्मोके कारण अनुष्ठित साधनाओंका भी, अतएव, अपारमार्थिक होना तो अनुक्तसिद्ध ही है. फिरभी जीव ईशो विशुद्धा चिद् विभागस्त्वनयोर्द्वयोः अविद्या तत्कृतो बन्धः षडस्माकमनादयः की सुनिर्धारित नीतिके अनुसार जीवात्माके इन प्रमातृत्वादि धर्मोको अनादि-व्यवहारसिद्ध तो माना ही गया है. अतः निर्विशेष ब्रह्मको, जैसे, निरुक्त्यर्ह-विशेष-शून्यताके अर्थमें अनिर्वचनीय माना जाता है, उससे वैपरीत्येन केवल सत्त्वासत्त्वान्यतर-निरुक्ति-शून्यताके अर्थमें ही इन प्रमातृत्वादि धर्मोको अनिर्वचनीय मिथ्या माना गया है –स्वरूपविशेषशून्यतया नहीं. अतः व्यवहारमें इनका स्वरूप क्या-कैसा है यह अवलोकनीय बन ही जाता है.

शांकर भाष्य (ब्र.सू.२।३।४१) में इस विषयकी मीमांसा की गयी है. यथा :

> तस्मात् स्वतएव अस्य कर्तृत्वम् इति एतां प्राप्तिं 'तु' शब्देन व्यावर्त्य प्रतिजानीते 'पराद्' इति अविद्यावस्थायां कार्य-कारण-संघाताविवेकदर्शिनो जीवस्य अविद्या-तिमिरान्धस्य सतः परस्माद् आत्मनः कर्माध्यक्षात् सर्वभूताधिवासात् साक्षिणः चेतयितुः ईश्वरात् तदनुज्ञया कर्तृत्वभोक्तृत्व-लक्षणस्य संसारस्य सिद्धिः; तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिः भवितुम् अर्हति ... यद्यपि च लोके कृष्यादिषु कर्मसु न ईश्वरकारणत्वं प्रसिद्धं; तथापि सर्वास्वेव प्रवृत्तिषु ईश्वरो हेतुकर्ता इति श्रुतेः अवसीयते तथाहि श्रुतिः भवति– ''एष ह्येव साधु कर्मकारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते'' इति. ''य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानमन्तरो यमयति'' इति च एवंजातीयका.

अर्थात् ''परात्तु तच्छ्रुतेः'' सूत्रमें 'तु' पदद्वारा जीवात्मा स्वतएव भी कर्ता हो सकती है, ऐसी धारणाका व्यावर्तन किया गया है. कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास साक्षी चेतयिता ईश्वर परमात्माकी अनुज्ञासे ही, कार्य-कारणसंघातमें विवेकदर्शन नहीं कर पानेके कारण, अज्ञानतिमिरान्ध जीवको कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी भ्रान्तिवाला संसार हो जाता है. इसी तरह परमात्माके अनुग्रहवशात् ही प्रकट होनेवाले विज्ञानके कारण मोक्ष भी हो सकता है... लोकमें कृषि आदि कर्मोंमें ईश्वरकी कारणता दिखलायी नहीं देती, फिरभी जीवात्माद्वारा सम्पन्न की जाती सभी प्रवृत्तिओंको करानेवाला तो ईश्वर ही होता है, ऐसा श्रुतिके आधारपर समझमें आता है. वह श्रुति है : जिसे वह उठाना चाहता है उससे अच्छे काम करवा लेता है–जिसे वह गिराना चाहता है उससे बुरे काम करवा लेता है; और जो हमारी आत्माके भीतर रह कर भीतर ही से आत्माका नियमन करता है ऐसी श्रुतियां भी कुछ हैं ही.

ईश्वरानुज्ञासे कर्तृत्वादिलक्षण सांसारिक बन्धन एवं ईश्वरानुग्रहसे ब्रह्मात्मैक्य विज्ञानलक्षण मोक्ष की बात करनेपर ईश्वरमें वैषम्य-नैर्घृण्यदोषोंकी जो आपत्ति सामने आती है, उसका परिहार यों दिया गया है कि जीवात्माके प्रयत्नोंके अनुसार परमात्मा कर्म करवाता है तथा किये हुवे कर्मोंके ही अनुसार फल भी देता है. परन्तु जीवात्माका कर्तृत्व ही, यदि ईश्वरायत्त हो तो, दुष्कर्म करवा कर अशुभ फल देनेवाले ईश्वरको शुभशक्ति कैसे कोई मान पायेगा? श्रीशंकराचार्य इस आपत्तिका समाधान यों देते हैं कि यदि ईश्वरको, कर्मोंके अनुसार फलदान करनेवाला, नहीं मानते तो विधि-निषेध या तो अर्थहीन बन जायेंगे या फिर जीवके सर्वथा पराधीन होनेके कारण स्वयं ईश्वरपर ही वे विधि-निषेध लागू होंगे. दोनों ही बातें स्वीकार्य हो नहीं सकती. इसी तरह ईश्वरको जीवात्माके प्रयत्नोंके अनुसार कर्म करानेवाला नहीं मानते तो ईश्वरके सर्वथा निरपेक्ष होनेके कारण या तो शुभ कर्मोंका अशुभ फल एवं अशुभ कर्मोंका शुभ फल भी वह दे सकता है, ऐसी घोर अव्यवस्था स्वीकारनी पड़ेगी या फिर शुभाशुभ कर्मोक बोधक वेदका प्रामाण्य ही अनावश्यक हो जायेगा. लौकिक पुरुषकारका तथा देशकालादिरूप

निमित्तोंका भी कोई अर्थ नहीं रह जायेगा. अतः अपने पूर्वजन्मोंकी वासनाओंके अनुसार जीवात्मा, जैसे प्रयत्न करना चाह रही हो, वैसे कर्म जीवात्मासे करवा कर कर्मानुसारी फलदान करनेवाला परमात्माको स्वीकार लेना चाहिये. परमात्मा और जीवात्मा के बीच केवल प्रेरक-प्रेरित या स्वामि भृत्य होनेका केवलद्वैतघटित सम्बन्ध होता तो ऐसी आपत्ति गम्भीर मानी जा सकती थी; परन्तु परमात्मा और जीवात्मा के बीच 'अग्निविस्फुलिंग' न्यायेन व्यावहारिक द्वैताद्वैतघटित अंशी तथा अंश होनेका सम्बन्ध है. अर्थात् विशुद्धचित्के विचारसे ही ब्रह्मात्म्यैक्य=केवलाद्वैत उपदेष्टव्य होता है (द्रष्टव्य: ब्र.सू.भा.२।३।४२-५३). अतएव ''फलमत उपपत्तेः''(ब्र.सू.भा.३।२।३८-४१) अधिकरणमें श्रीशंकराचार्य यों प्रतिपादन करते हैं: कर्मसापेक्षतया अथवा अपूर्वसापेक्षतया जैसे भी स्वीकारना हो स्वीकार कर, हर सूरतमें प्राक्कर्मवासनाओंकी अपेक्षा रख कर ही ईश्वर धर्माधर्मोका कारयिता बनता है. इस तरह स्वप्रेरित कर्मोंकी अपेक्षा रख कर ईश्वर फलदाता भी होता है, इन तथ्योंका अस्वीकार वेदान्तमें शक्य नहीं है.

इससे सिद्ध होता है कि निर्गुण-निराकार अनुपादान-अकर्ता कूटस्थ साक्षी रूप ब्रह्मके उपदेशक केवलाद्वैतवादको भी, ''अहं ब्रह्मास्मि'' की अद्वैतभावनामें सम्प्रतिष्ठ होनेके आदर्शके बावजूद, परमेश्वरके प्रसादकी आवश्यकता तो स्वीकारनी ही पड़ी है.

न केवल इतना अपितु भगवदनुग्रहका एक असाधारण महत्त्व यह भी दिखलाया है :

> **सर्वकर्माणि**=प्रतिषिद्धानि अपि **सदा कुर्वाणो**=अनुतिष्ठन् **मद्व्यपाश्रयः**=अहं वासुदेवः ईश्वरो व्यपाश्रयः यस्य स मद्व्यपाश्रयः, मय्यर्पितसर्वात्मभावः इत्यर्थः . सोऽपि **मत्प्रसादात्**=मम ईश्वरस्य प्रसादाद् **अवाप्नोति शाश्वतं**=नित्यं वैष्णवं **पदम् अव्ययम्**. (गी.शां.भा.१८।५६)
>
> अर्थात् निष्काम/सकामं या विहित/निषिद्ध कर्म करनेवाला जो भी वासुदेवका आसरा ले लेता है –भगवान्में सर्वात्मभावके साथ अर्पित हो जाता है तो भगवान् के प्रसादसे ऐसा भी जीव शाश्वत=नित्य अव्यय विष्णुपदको प्राप्त कर लेता है.

वैसे यह हकीकत है कि निर्गुण-निराकारवादमें बन्ध, उससे मुक्ति पानेको किये जाते साधनानुष्ठान, उसकी सफलताकेलिये अपेक्षित ईश्वरानुग्रह; और अन्ततः स्वयं ईश्वर भी निर्विशेष चिन्मात्र अधिष्ठानके अद्वैतमें मायाद्वारा आरोपित केवल द्वैतविक्षेप ही हैं. अतएव इस विषय में श्रीशंकराचार्यके प्रस्तुत विधान मननीय है:

> ''ईश्वरस्यापि अनपेक्ष्य किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिः भविष्यति. नहि ईश्वरस्य प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायतः श्रुतितो वा सम्भवति; नच स्वभावः पर्यनुयोक्तुं शक्यते यद्यपि अस्माकम् इयं जगबिम्बरचना गुरुतरसंरम्भेव आभाति तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवला इयम्, अपरिमितशक्तित्वात्. यदि नाम लोके लीलास्वपि किञ्चित् सूक्ष्मं प्रयोजनम् उत्प्रेक्ष्येत, तथापि नैव अत्र किञ्चित् प्रयोजनम् उत्प्रेक्षितुमपि शक्यते, 'आप्तकाम' त्वश्रुतेः नापि अप्रवृत्तिः उन्मत्तप्रवृत्तिः वा सृष्टिश्रुतेः सर्वज्ञश्रुतेः च. नच इयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुतिः, अविद्याकल्पित-नामरूपव्यवहारगोचरत्वात्...''
>
> अर्थात् किसी भी प्रयोजनान्तरकी अपेक्षा रखे बिना स्वभावसे ही केवल लीलारूपा प्रवृत्ति ईश्वर करता है. श्रुतिवचन या न्याय के आधारपर भी ईश्वरके लिये प्रयोजनान्तर बात सोची नहीं जा सकती; और न स्वभावके बारेमें कुछ पूछा ही जा सकता है. यह तो ठीक है कि हमारेलिये सृष्टिका निर्माण बहोत बड़ी बात लगती है परन्तु अपरिमित शक्तिवाले ईश्वरकेलिये तो यह केवल लीला ही है. हो सकता है कि लोकमें लीलामें भी कोई सूक्ष्म प्रयोजन काम कर रहा हो पर आप्तकाम ईश्वरकेलिये तो प्रयोजनकी बात ही सोची भी नहीं जा सकती है. न तो अप्रवृत्तिकी और न उन्मत्तजनवत् प्रवृत्तिकी बात ही परमेश्वरके बारेमें सोची जा सकती है, क्योंकि उसके प्रवृत्त न होनेपर सृष्टि कैसे प्रकट हुई और उन्मत्तजनकी तरह प्रवृत्त होनेपर कोई उसे सर्वज्ञ कैसे मान

पायेगा? वैसे यह बात भूलनी नहीं चाहिये कि ब्रह्मके पारमार्थिक स्वरूपका निरूपण यहां अभिप्रेत नहीं हैं प्रत्युत अविद्याकल्पित नामरूपात्मक व्यवहारसिद्ध परमेश्वरके रूपका निरूपण ही यहां अभिप्रेत है.

अतः जैसे व्यवहारसिद्ध बन्धकी निवृत्तिकेलिये ''अहं ब्रह्मास्मि'' इत्याकारिका चित्तकी व्यवहारसिद्ध प्रमाणवृत्ति भी आवश्यक होती है, वैसे ही, व्यावहारिक सत्य ईश्वरानुग्रहकी भी कुछ न कुछ आवश्यकता तो स्वीकारनी ही पड़ेगी. क्योंकि प्रस्तुत सन्दर्भमें ही भगवदर्पित सर्वात्मभावको ''अहं ब्रह्मास्मि'' ज्ञानवृत्तिसे पृथक् माननेपर ''ऋते ज्ञानाद् न मुक्तिः''की नीतिके साथ विसंवाद खड़ा होगा. तादृश ज्ञानरूप स्वीकारनेपर तो परमात्माके प्रसादसे ही उसकी उपलब्धि होती है. परमात्माका प्रसाद उससे उपपलब्ध नहीं होता, स्वयं बाधित हो जानेके कारण. अतः व्यवहारमें परमात्माके अनुग्रहकी व्यावहारिक आवश्यकता भी ठीक उतनी ही है कि जितनी आवश्यकता व्यावहारिक साधन ''अहं ब्रह्मास्मि'' वृत्तिकी होती है.

इस विषय में श्रीशंकराचार्यने अपना उल्लेखनीय अभिप्राय इन शब्दोंमें दिया है :

> यत्तु उक्तं 'हिरण्यश्मश्रुत्वादिरूपश्रवणं परमेश्वरे न उपपद्यते' इति, अत्र ब्रूमः स्यात् परमेश्वरस्यापि इच्छावशाद् मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम्...अपिच यत्र निरस्तसर्वविशेषं पारमेश्वरं रूपम् उपदिश्यते, भवति तत्र शास्त्रम् –''अशब्दम् अस्पर्शम् अरूपम् अव्ययम् इत्यादि. सर्वकारणत्वात्तु विकारधर्मैरपि कैश्चिद् विशिष्टः परमेश्वरः उपास्यत्वेन निर्दिश्यते ''सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः'' इत्यादिना (ब्र.सू.भा.१।१।२०).
>
> अर्थात् वह सुनहरी मूंछोंवाला है आदि वचनोंमें निरूपित रूप परमेश्वरके सम्भव नहीं लगते; परन्तु हम इस विषयमें यह कहना चाहेंगे कि साधकोंपर अनुग्रह करनेकी स्वयंकी इच्छावश परमेश्वर भी मायामय रूप धारण कर सकता है. जहां निर्विशेष परमेश्वरका निरूपण करना हो वहां शास्त्र

अशब्द अस्पर्श अरूप अव्यय आदि रूपमें उसका निरूपण करते हैं. वह सर्वकारण भी तो है ही अतः कहीं कभी उसे कुछ विकारधर्मोवाला मान कर उसकी उपासना भी उपदिष्ट हुई हैं. जैसे वह सर्वकर्मा सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस है इत्यादि.

उत्तरकालिक शांकरोंके ''ईश्वरानुग्रहादेव पुंसाम् अद्वैतवासना महाभय-कृतत्राणा द्वित्राणामेव जायते''(खण्डनखण्डखाद्य) जैसे वचनोंका आशय भी इस नीतिके अनुसार ही लेना चाहिये.

श्रीभास्कराचार्य, वैसे तो वैष्णव वेदान्ती रहे होंगे यह उनके- ''तदेतत् सर्वं श्रुतिप्रसिद्धमेव तस्माद् न अत्र निराकरणीयं पश्यामः...अवान्तरं तु तन्त्रान्तरे विरुद्धं किञ्चिद् लक्ष्यते तत् निरस्यते''(ब्र.सू.भा.२।२।४१) इन उद्गारोंसे स्पष्ट होता है. फिरभी इतर वैष्णव वेदान्तिओंकी तुलनामें इनका पार्थक्य ये सगुण-निराकारवादी हैं, अतः श्रीशंकराचार्यकी तरह लीलार्थ या उपासकानुग्रहार्थ परिगृहीत रूपको मायिक/मिथ्या माननेको समुद्यत नहीं हैं. वे कहते हैं :

> ...परमेश्वरस्यापि सर्वशक्तित्वाद् उपासकानुग्रहाय रूपोपादानसम्भवात् किं मायामयं रूपं? 'न' इति ब्रूमः! पारमार्थिकमेव एतत् (ब्र.सू.भा.१।१।२०).
>
> अर्थात् परमेश्वरके सर्वशक्ति होनेके कारण उपासकोंपर अनुग्रह करनेकेलिये वह रूपधारण भी कर सकता है. क्या इसे मायामय रूप मान लेना चाहिये? हमारा उत्तर है : नहीं! यह तो पारमार्थिक रूप ही होता है.

शांकर मतकी समालोचना करते हुवे श्रीभास्कराचार्य यह भी कहते हैं कि अविद्याके कारण अन्तर्यामिसर्गको तथा प्राक्तन कर्मोंक कारण मनुष्यादि जीवसर्गको स्वीकारनेकी विचाररीति उचित नहीं है, क्योंकि अन्तर्यामी परमात्माकी नियन्तृरूपा शक्ति पारमार्थिक ही होती है. परमेश्वरकी कल्पना करनेवाला परमेश्वरसे भी पूर्वभावी ऐसा कौन हो सकता है कि जिसकी कल्पना होनेके कारण इस अन्तर्यामीको किसी अज्ञानसे पनपी भ्रान्ति कहा जा सके! और परमात्माका सर्वज्ञ-सर्वशक्ति होना तो उपनिषदोंका घोषित सिद्धान्त ही है (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा.२।१।३४). श्रीभास्कराचार्य तो परमात्मा और जीवात्मा के बीच महाकाश-घटाकाशकी तरह स्वाभाविक अभेद एवं औपाधिक भेद, यों

पारमार्थिक भेदाभेदघटित अंशांशिभाव स्वीकारते हैं. अतएव, निरायास ही, जीवके कर्तृत्वादि धर्मोंको पारमार्थिक, अन्तःकरणोपाधिक एवं परमेश्वराधीन भी मान लेते हैं. इनके अनुसार कर्तृत्वादि धर्मोंके औपाधिक होनेके कारण उन्हें अपारमार्थिक नहीं मान लेना चाहिये. क्योंकि जैसे करवत आदि औज़ारोंके साथ होनेपर सुतार काष्ठछेदनादि कर्मोंका कर्ता बन पाता है अन्यथा नहीं, ऐसे ही अन्तःकरणरूप उपाधिके कारण ही जीव भी कर्ता बन पाता हैं अन्यथा नहीं. आगके समीप होनेपर उसकी उष्णता एवं दाह हमारे शरीरमें भी संक्रान्त हो जाते हैं, इस औपाधिक उष्णता एवं दाह को कौन अपारमार्थिक मान सकता है? साथ ही साथ श्रीभास्कराचार्य यह खुलासा भी देते हैं कि विभिन्न जातिके बीजोंके अनेकविध पुष्प फल या धान्य के प्ररोहणमें वर्षाकी तरह, जीवोंके भी स्व-स्वकर्मानुसारी विभिन्न शुभाशुभ फलोंके भोगके प्रदानमें, ईश्वर भी सामान्य कारण ही होता है, विशेष नहीं. इस तरह अंशरूप जीवकर्तृत्व के ईश्वराधीन होनेपर भी जीवके शुभाशुभ कर्मोंसे अंशी ईश्वर लिप्त नहीं होता. एतावता ऐसी आपत्ति भी उठायी नहीं जा सकती कि ईश्वर अपने सभी अंशोके साथ पक्षपातरहित समान व्यवहार नहीं निभाता है; अर्थात् किसीपर अकारण प्रसन्न हो कर शुभफल प्रदान कर देता है तो किसीके प्रति अति निष्ठुर हो कर अशुभफल दे देता है.

इस अंशांशिभावकी विवेचना करते हुवे श्रीभास्कराचार्य यह भी कहते हैं कि 'अंश' पदके अनेक अर्थ होते हैं, यथा, एक तो पटके कारण होनेके अर्थमें तन्तुओंको अंश तथा पटको अंशी माना जाता है, दूसरे किसी द्रव्यराशीके विभाज्य अंशोंमें तत्तद् भागोंको लेनेवाले अधिकारिओंको भी 'अंशी' कहा जाता है. वैसे अर्थोंकी विवक्षावश यहां 'अंश' पद प्रयुक्त नहीं हुवा है; परन्तु, उल्लिखित घटाकाश-महाकाश या अग्नि-विस्फुलिंग के उदाहरणोंमें प्रयुक्त 'अंश' पदके जैसे अर्थकी विवक्षावश ही यहां 'अंश' पद प्रयुक्त हुवा है (अर्थात् घटोपाधिवश आकाशके चल पानेकी क्रिया महाकाशमें स्वीकारी नहीं जा सकती दोनोंमें रहे स्वाभाविक अभेदके बावजूद).

इस विवेचनासे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीभास्कराचार्यके मतके अनुसार लीलार्थ प्रादुर्भावित सृष्टिमें अंशरूप जीवात्माके साधनानुष्ठानके साथ-साथ अंशी परमात्माके प्रकट/अप्रकट पारमार्थिक रूपके अनुग्रहकी भी आवश्यकता तो है ही.

इसके बाद, वैसे ब्रह्मसूत्रपर या श्रौत उपनिषदोंपर काश्मीरी शैव सम्प्रदायवालोंके ग्रन्थ लिखे गये हों या नहीं; परन्तु सर्वोपनिषत्सार भगवद्गीतापर काश्मीरी शैवाचार्योंने जो व्याख्याएं लिखी हैं उनमें सम्भवतः प्राचीनतम व्याख्या शैव शुद्धाद्वैती राजानक श्रीरामकवि (वि.सं.१००६) तथा महामाहेश्वर राजानक श्रीअभिनवगुप्ताचार्य (वि.सं.१९२४) द्वारा लिखित हैं. ये क्रमशः 'सर्वतोभद्रा' तथा 'गीतार्थसंग्रह' नाम्ना प्रसिद्ध हुई हैं. अतः साधनानुष्ठान तथा परमेश्वरानुग्रह के बारेमें इनके दृष्टिकोणको भी एक बार देख लेना प्रासंगिक ही होगा.

भेदमात्रको मिथ्या माननेवाले ये दोनों विचारक परमेश्वरके लोकानुग्रहार्थ प्रकटित रूपको, जागतिक जड़जीवभेदकी तरह ही, मायिक माननेपर भी मिथ्या मानते हों ऐसा प्रतीत नहीं होता. एतदर्थ दोनोंके दो-दो वचनोंको दृष्टिगत करना पर्याप्त होगा:

> (१)'अजोऽव्ययात्मा'=नित्य होनेके कारण जन्मरहित होनेपर भी; तथा 'भूतानां'=सभी स्थावरजंगमोंके सर्ग-स्थिति- वनाशादिका यथेष्ट कर्ता होनेसे भी 'ईश्वरः '=समर्थ होनेपर भी. 'स्वां प्रकृतिम्'=अद्वय चिन्मात्रलक्षण जो निज परम स्वभाव है 'अधिष्ठाय'=उसी स्वभावमें रहते हुवे, अर्थात् अपने स्वभावसे विचलित हुवे बिना, 'स्वमायया'= स्वात्माधीन माया कि जिसका प्राणभूत धर्म द्वैतका अवभासन मात्र है, ऐसी वह परमेश्वरकी हेतुभूत शक्तिविशेष है, उसके द्वारा 'संभवामि'=जन्मादिका परिग्रहण करता हूं. अतः... अपनी सर्वज्ञता या सर्वशक्तिमत्ता को खोये बिना ही... (सर्वतो. ४।६) .
>
> (१)श्रीभगवान्का तो किसी भी प्रकारके शरीरसे कोई सम्पर्क हो ही नहीं सकता, क्योंकि पूर्ण ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य गुणोंसे युक्त ही सदा रहते हैं. फिरभी स्थितिकारी होनेके कारण भगवान् करुणा करके अपने अंशको सिरजते हैं... अतएव भगवान्के जन्म-कर्म दिव्य ही होते हैं, क्योंकि आत्म अर्थात् योगप्रज्ञारूप अपनी स्वतन्त्र शक्तिसे ही ये सम्पादित होते हैं कर्मसे नहीं (गी.सं. ४।६-९).

(२) अचिन्त्य निजशक्तिके माहात्म्यवश भगवान् अपने सतत चिन्मात्रस्वरूपसे प्रच्युत हुवे बिना ही जड़ और चेतन के विभागशः मानों दो रूपोंमें आभासित होते हैं. जगत्क्रीड़ाको सम्पन्न करते हैं... वस्तुतः तो परमकारणरूप परमात्मा परमेश्वरसे अभिन्न होनेपर भी भगवान्की मायाके वश मानों भिन्न हों ऐसे लगते हैं... ये दोनों जड़ और अजड़ प्रकृतियां, क्योंकि 'प्रकृति' का अर्थ स्वभाव होता है अतः, जड़ होनेके कारण विनश्वर होनेका तथा परस्पर भिन्न चेतन होनेका भी नाना रूप स्वभाव अद्वय चिन्मात्रस्वरूपका कैसे उपपन्न हो सकता है? ...संवेद्यमान होनेपर ही कोई भी भाव तत्तदात्मक हो पाते हैं. क्योंकि संवेद्यमानताके अलावा और किसी भी प्रकारान्तरसे किसी भी अवस्थामें कोई भी भाव उपलब्ध नहीं होते. इस तरह एकमात्र संवेदिता अपने संवेदनमें भावोंको सिरजता है. अतः सारे ही भाव संवेदिताके ही शक्तिरूप हैं –संवेदितासे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं... इस तरह क्रीड़ा करनेकी इच्छावश ही, असत्यको भी सत्यकी तरह आभासित करनेवाली स्वयं देवकी मायारूपा कोई एक पारमार्थिकी परा शक्ति होती है, उसे ही जब उसके कारण 'शिवोऽहम्' का परामर्श होने लग जाये तब 'विद्या' कहा जाता है (सर्वतो. ७।४–६–१०–१४).

(२)'अहम्' पदके प्रयोगके कारण प्रकृति–पुरुष–पुरुषोत्तमसे अभिन्न होनेपर भी ईश्वर सर्वथा सर्वानुगत होकर रहता है... अतः सत्त्वरजस्तमोरूप प्राकृत गुण वस्तुतः संविन्मात्र परब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं हैं, फिरभी जो अतिरिक्त होनेका भान होता है, वह तो गुणोंका भोक्ताके आधीन होना, अर्थात् भोग्य होना ही सिद्ध करता है. संसारी जन उस भेदात्मक रूपका निर्वचन नहीं कर पाते. अतः उन्हें वह मायारूप लगता है. जो परमार्थब्रह्मप्रकाशके वेत्ता होते हैं, उन्हें तो ब्रह्मसे अतिरिक्त विश्व दिखलायी ही नहीं देता. अतएव वे

सत्त्वादि गुणोंके भेदको भासित करनेवाली मायाके उस पार पहुंच पाते हैं. 'मामेव' पदमें 'एव' कार इसी आशयसे जोड़ा गया है (गी.सं.७।६–१४).

यह तो इनके शुद्धाद्वैतवादी होनेके निदर्शनार्थ ही प्रमाणतया वचन उद्धृत किये हैं. प्रकृत विषय साधनानुष्ठान तथा भगवदनुग्रह के बारेमें राजानक श्रीरामकवि कहते हैं:

> अद्वय चिन्मात्रस्वभाव परमात्मा तत्तद् जीवात्माओंकी तत्तत् पुण्यपापात्मिका क्रियाओंका अनुष्ठाता स्वयं नहीं बनता; और न उन क्रियाओंके सुखदुःखात्मक तत्तत् फलोंका स्वयं भोक्ता ही ऐसी स्थितिमें उस अद्वय परमात्माके न कर्ता और न कारयिता होनेपर यह जगद्व्यवहार आखिर कैसे चल पायेगा? स्वभाववश! 'स्वभाव' का अर्थ है: अचिन्त्यस्वरूपा परमात्माकी मायाशक्ति वह नित्य है फिरभी अपना सामर्थ्य तभी तक दिखाती है, जब तक सर्वभावोंके पारमार्थिक अभेदका ज्ञान जीवात्माको हो नहीं हो पाता. स्वयं परमेश्वर अपनी मायासे मोहित हो नहीं सकता, अतः मायामूलक भेददृष्टिप्रयुक्त लौकिक कर्तृत्व–भोक्तृत्वसे परमात्मा कभी दूषित भी नहीं होता (सर्वतो. ५।१४).

इस निरूपणसे ऐसी भ्रान्ति सहज ही सम्भव है कि राजानक परमात्माको सर्वथा अकर्ता–अभोक्ता ही मानते होंगे; परन्तु वस्तुतः ऐसी बात है नहीं. क्योंकि इसी अध्यायके अन्तिम श्लोकमें इसका स्पष्टीकरण भी उपलब्ध है ही वहां यह कहा गया है :

> यज्ञ तप आदि शास्त्रविहित अनुष्ठेय क्रियाओंके करनेवाले तत्तत् साधक अज्ञानमोहित होनेके कारण अपने–आपको इतरजीवोंसे भिन्न कर्ता मान कर तत्तत् फलोंके भोगोंकी कामनावश अपने–आपको भोक्ता भी मान लेते हैं. परमार्थविद्, परन्तु, यह अच्छी तरह जानते हैं कि वस्तुतः भिन्न–भिन्न कर्ता जब हो ही नहीं सकते, तब सभी क्रियाओंका तथा उनके फलोंका कर्ता–भोक्ता तो एकमात्र सर्वलोकमहेश्वर

ही हो सकता है. यह जो कर्तृ-भोक्तृभेद दिखलायी देता है, वह तो केवल क्रीड़ा करनेकी अपनी ही इच्छाके कारण प्रकट सर्वलोकमहेश्वरकी क्रीड़ा है. यहां किसी भी प्रकारका भेद परमार्थतः तो है ही नहीं; क्योंकि निसर्गनिर्दोष निजात्म-प्रतिष्ठित परमेश्वर न तो किसीका द्वेषी और न किसीका अनुरागी ही हो सकता है.(सर्वतो. ५।२८).

यह तो हुई साधनानुष्ठानके मूलमें विद्यमान कर्तृत्व-भोक्तृत्व धर्मोंके तात्त्विक स्वरूपकी मीमांसा, इसके बाद परमात्माके अनुग्रहका तात्त्विक स्वरूप समझनेको राजानक श्रीअभिनवगुप्ताचार्यके निरतिशय महत्त्वपूर्ण वचनोंका आशय भी हृदयंगम करने लायक है:

पशु पक्षी सरीसृप आदि, अबोध स्त्रियां, कृषि-वाणिज्य आदि कर्मान्तरमें रत वैश्य; अथवा किसी भी प्रकारके वैदिक कर्मोंकलिये अनधिकारी परतन्त्रवृत्ति शूद्र भी भगवान्का आश्रय लेकर भगवान्का ही यजन करते हैं. अतएव परमकारुणिक भगवान्के गजेन्द्रमोक्षण आदि सहस्रशः चरित्र मिलते हैं... कुछ लोग आशंका करते हैं कि मां हि पार्थ... किं पुनर्ब्राह्मणा पुण्या वचन ब्राह्मणोंकी प्रशंसाकेलिये कहा गया है नकि स्त्रीशूद्रादिके मोक्षाधिकारकी विवक्षावश. ये लोग परमेश्वरकी इस सर्वानुग्राहिका शक्तिको मितविषयिणी बना कर उसका खंडन करना चाहते हैं. न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः अपि चेत् सुदुराचारो? आदि अनेक इस प्रकारके स्फुटार्थ वचनोंका विरोध करते हैं, क्योंकि परमेश्वरके परमकृपालु होनेकी बात ये लोग सह नहीं पाते! किसी भी प्रकारके भेदकी सम्भावनासे रहित ऐसे भगवान् में हठात् भेद खड़ा करना चाहते हैं, ऐसा कैसे हो सकता है –ऐसा तो हो ही नहीं सकता के प्रश्नारोपोंके द्वारा! इन्हें अन्य भी अनेक आगमोंके विरोधकी परवाह ही नहीं है!! अनेकविध मात्सर्य अहंकार लज्जा और पाषंड के कारण अपने सिर आंखोंको नीचे झुका कर सारे जगत्के सामने असत्प्रलाप करते रहनेवाले सचमुच में अपनेको हास्यरसका

विषय बना देते हैं !!!

इस तरह हमने देखा कि काश्मीर शैव आचार्योंके अनुसार साधनानुष्ठान तथा भगवत्कृपा का वास्तविक स्वरूप क्या है.

इसके बाद श्रीरामानुजाचार्यके मतका अवगाहन क्रमप्राप्त होता है. इनके मतके अनुसार जैसे ज्ञातृत्व धर्म जीवात्मामें स्वभाविक होता हैं वैसे ही कर्तृत्व धर्म भी स्वाभाविक ही होता है. कर्तृत्वको स्वाभाविक नहीं मानते तो 'कुर्यात् –' न कुर्यात्' के शास्त्रीय विधि–निषेध अर्थहीन सिद्ध हो जायेंगे. अस्वाभाविक कर्तृत्वकी धारणाका प्रत्याख्यान करनेकेलिये श्रीरामानुजाचार्य कई शास्त्रवचनोंके उद्धरणद्वारा शंका–समाधान प्रस्तुत करते हैं. उनमें प्रमुख वचन इस तरह हैं :

(१)प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहम्' इति मन्यते ।।
(भ.गी.३।२७)

(२) कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।।
(भ.गी.१३।२१)

(३) नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
(भ.गी.१४/१९)

(४) अधिष्ठानं तथा कर्ता करणञ्च पृथग्विधम् ।
विविधा च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।।
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।।
(भ.गी.१८।१४–१६)

इनमें प्रथम वचनका आशय श्रीरामानुजाचार्यके अनुसार यों है: प्रकृति के सत्त्व– रजस्–तमोगुणोंके साथ जुड़े संसर्गके कारण जीवात्मा सांसारिक प्रवृत्तिओं में कर्तृतया लिप्त होती है–अपने स्वरूपगत किसी हेतु वश नहीं (द्रष्टव्य: ब्र.सू.भा.२२३।३३–३९). द्वितीय वचनमें विवक्षित आशय यह है : पुरुषाधिष्ठित प्रकृतिके बनाये हुवे 'कार्य'=शरीर तथा 'कारण'–समनस्क–ज्ञानेन्द्रिय–कर्मेन्द्रिय ही तत्तद् अर्थक्रियाओंको निभा पाते हैं. एतावता जीवात्मा/पुरुष स्वरूपतः अकर्ता है कहना अभिप्रेत नहीं है. प्रकृतिसंसृष्ट पुरुष सुखदुःखोंके अनुभवका

आश्रय बनता है. एतावता जीवात्मा/पुरुष स्वरूपतः अनुभूतिधर्मा नहीं यह कहना अभिप्रेत नहीं है (स्पष्ट है कि प्रस्तुत वचनको पुरुषके कर्ता न होनेमें प्रमाणतया उद्धृत करनेपर इसी वचनवशाद् भोक्तृत्वधर्मको पुरुषका स्वभावनियत धर्म स्वीकारना पड़ेगा, वह भी ऐसा कि जिसका मुक्तिमें भी अभाव सिद्ध न हो. द्रष्टव्य: भ.गी.भा.१३।२१). तृतीय वचनका अभिप्राय यह है कि स्वभावतः वैसे तो जीवात्मा परिशुद्ध ही होती है फिर भी पूर्वजन्मोंमें अनुष्ठित कर्मोंके कारण उसे प्राकृत सत्त्वादि गुणोंका संग होता है, जिसके कारण विविध शुभाशुभ कर्मोंमें उसे लिप्त होना पड़ता है. इन कर्मोंका कर्ता जब जीवात्मा अकेले अपने–आपको नहीं मानती तब जीवात्मा परमात्माके समान हो पाती है (भ.गी.भा.१४।१९). चतुर्थ वचनके आद्य श्लोकपरके गीताभाष्यमें श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं: कर्महेतुओंके कलापमें पांचवां स्वयं परमात्मा है. वही कर्मको निष्पन्न करनेमें प्रधान हेतु बनता है. जैसा कि कहा गया है– सभीके हृदयमें मैं संनिविष्ट हूं और मेरे ही कारण स्मृति, प्रत्यक्ष अनुमिति शाब्दानुभूति, ज्ञाननिवृत्ति या प्रमाणानुग्राहक ऊह भी कोई कर पाता है.– सभी प्राणियोंके हृदयमें बिराजनेवाला ईश्वर अपनी मायासे उन यन्त्रारूढसे प्राणियोंको चलाता रहता है?. सुस्पष्टतया स्वयंको ही केवल कर्ता मान लेनेकी जीवात्माकी मतिका ही यहां भ्रान्तिके रूपमें निरूपण किया गया है (पांच लोगोंने आपसी मेलजोलसे कोई काम किया हो उसके बनने या बिगड़ने पर उस कार्यका श्रेय या अपराध कोई अकेले अपना या किसी दूसरेका मान बैठे, वैसी ही कुछ गड़बड़ यहां भी मानी गयी है). ऐसी स्थितिमें अधिष्ठानसे शुरू करके दैव पर्यन्त समूहावलम्बी कार्यकारित्व है, उसे केवल आत्मनिष्ठ मान लेना निरा भ्रम नहीं तो और क्या माना जा सकता है? (द्रष्टव्य: ब्र.सू.भा. २।३।३३).

अन्तःकरणोपहित या अविद्योपहित चैतन्यके ही कर्ता बन सकनेकी शांकर धारणाका प्रत्याख्यान करनेको ''समाध्यभावाच्च'' (ब्र.सू.भा.२।३।३८) में श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि जीवात्माके कर्तृत्वको स्वाभाविक न माननेपर मोक्षोपायोंका कर्ता भी जीवात्मा न होकर अन्तःकरण या अज्ञान रूप उपाधि ही कर्ता बनेंगी. फिरतो मुक्त भी वे उपाधि ही होंगी जीवात्मा नहीं.

जीवके मायोपाधिक कर्तृत्व धर्मकी विवेचनाकेलिये श्रीशंकराचार्यने जो एक स्वतन्त्र अधिकरण रचा वहां यह कहा गया था :

यदि जीवात्मामें स्वाभाविक कर्तृत्व हो तो फिर उसका मुक्त हो पाना अशक्य हो जायेगा. क्योंकि अग्निका उष्ण होना जैसे स्वभावनियत है, वैसे ही कर्ता होना जीवका भी यदि स्वभावनियत ही हो तो, वह कर्तृत्व जीवके मुक्त होनेपर भी कायम रहेगा. ऐसी स्थितिमें यह भी तो कहा नहीं जा सकता कि अग्निकी स्वाभाविक दाहकशक्तिके रहनेपर भी दाह्य वस्तु तृण–काष्ठादि निमित्तोंके उपलब्ध न रहनेपर अग्निद्वारा जैसे दहनक्रिया सम्पन्न नहीं हो पाती, वैसे ही स्वाभाविक कर्तृत्वके बचे रहनेपर भी ब्रह्मज्ञानसहित कर्तृत्व के कारण शुभाशुभ कर्मोंक परिहारद्वारा शुभाशुभ फलोंके भोगसे मुक्तात्मा भी ग्रस्त नहीं हो पायेगी. क्योंकि कर्तृत्वरूप शक्तिमान् निमित्तके रहनेपर उसकेलिये कार्यरूप शक्य भी अवश्य ही प्रकट होगा. अतएव मोक्षोपायोंके अनुष्ठान के लिये भी कर्तृत्वकी अपेक्षा स्वीकारी नहीं जा सकती, क्योंकि स्वयं अनित्य कर्मोंको यदि मोक्षोपाय मानते हैं तो ''अनित्यसे नित्यकी उत्पत्ति होती है'' ऐसा वदतोव्याघात प्रकट होगा. इससे सिद्ध होता है कि शास्त्रविधिकी सार्थकताकेलिये जिस कर्तृत्वको स्वीकारना पड़ता है, वह चेतनाका स्वभावनियत धर्म न होकर अज्ञानप्रयुक्त धर्म है; और इसी अज्ञानप्रयुक्त धर्मको लेकर ही शास्त्र भी विधि–निषेध करते रहते हैं: ''तस्माद् अविद्याकृतं कर्तृत्वम् उपादाय विधिशास्त्रं प्रवर्तिष्यते'' (ब्र.सू.भा. २।३।४०).

इसका प्रत्युत्तर देते हुवे श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि यह आवश्यक नहीं कि अनौपाधिक कर्तृत्व स्वीकारनेपर मुक्तावस्थामें भी कर्तृत्वप्रयुक्त शुभाशुभ कर्म और उनके फलोंका उपशमन ही न हो पायेगा. वाक् चक्षु कर चरण आदि करणोंसे सम्पन्न होनेपर भी जीवात्मा जब इच्छा हो तभी बोलने देखने लेने चलने आदिकी क्रियाओंको अपनाती है. सुतार भी करवत आदि उपकरणोंके उपलब्ध होनेपर भी इच्छानुसार ही काष्ठछेदनादि व्यापार करता है, अन्यथा नहीं. यह इच्छारूप व्यापार कोई भी अचेतन उपाधिद्वारा तो सोचा ही नहीं जा सकता.

इस कर्तृत्वको जीवका स्वाभाविक धर्म माननेपर भी परानिर्भर धर्म नहीं माना गया है, क्योंकि कर्तृत्वके मूलमें रहे स्मृति-अनुभव-अज्ञानादि सभी कुछ जब जीवके भीतर विद्यमान अन्तर्यामीके आधीन हैं तो केवल कर्तृत्व स्वतन्त्र धर्म कैसे रह पायेगा? एतावता विधि-निषेधोंके उपदेशक शास्त्रोंके व्यर्थताकी आशंका भी उठायी नहीं जा सकती. उदाहरणतया किन्हीं दो जनोंकी साझीदारीवाले द्रव्यको कोई एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिकी अनुमति बिना किसी तीसरे व्यक्तिको दानके रूपमें दे नहीं सकता है. फिरभी दूसरेकी अनुमतिको पाकर भी किये हुवे दानका फल तो धनदाताको ही मिलता है अनुमतिदाताको नहीं. उन्निनीषा या अधोनिनीषा के वश साधु या असाधु कर्म करानेवाले परमात्माको पक्षपाती या निर्दय मान लेना भी अविचारितरमणीय है, क्योंकि इस वचनमें सर्वजीवसाधारणी उन्निनीषा या अधोनिनीषा विवक्षित नहीं है. इस वचनमें उन असाधारण जीवात्माओंके उन्निनीषा या अधोनिनीषा की बात कही जा रही है जो या तो परमात्माके अतिशय अनुकूल हैं या अतिशय प्रतिकूल. अतिशय अनुकूल जीवोंपर अनुग्रह करके परमात्मा उन्हें अपनी प्राप्तिके अतिकल्याणकारी उपायोंमें ही रुचि जगाता है. इसी तरह अतिशय प्रतिकूल जीवोंमें अपनी प्राप्तिके विरोधी अधोगतिकी ओर ले जानेवाले कर्मोंमें रुचि पैदा कर देता है. यही बात भगवान्ने गीताके इन श्लोकों में कही है :

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।।
तेषां सतत-युक्तानां भजतां प्रीति-पूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।
तेषामेवानुकम्पार्थम् अहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।

(भ.गी. १०१८-११).

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
ममात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।
तानहं द्विषतो क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभामासुरीष्वेव योनिषु।।

(भ.गी. १६/८-१८-१९).

इस ईश्वराधीन स्वाभाविक जीवकर्तृत्वद्वारा प्रयुक्त कर्मोंको कर लेनेपर केवल उन क्षणप्रध्वंसी कर्मोंके वश ही फलप्राप्ति हो जाती हो, ऐसा श्रीरामानुजाचार्यका अभिप्राय नहीं है. वे कहते हैं कि न केवल परमात्मा के उपासकोंको स्वप्राप्तिरूप विशिष्ट फल; अपितु सामान्य ऐहिक या आमुष्मिक फल भी, परमात्माद्वारा ही मिलता है (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा.३।२।३७).

शैव विशिष्टाद्वैतवादी श्रीकण्ठ शिवाचार्य तथा शैव विशेषाद्वैतवादी श्रीपति भगवत्पादाचार्य दोनों ही, ब्रह्मसूत्रके इन अधिकरणोंमें, थोड़े-बहुत अन्तरसे श्रीरामानुजाचार्यकी निरूपणशैलीको ही अपना कर चले हैं. इनके मतकी, अतः, पृथक् विवेचना आवश्यक नहीं है. इस तरह रामानुजीय वेदान्तके अनुसार साधनानुष्ठान तथा भगवदनुग्रह का स्वरूप क्या है, यह समझ लेनेके बाद, अब श्रीमध्वाचार्यका इस विषय में क्या अभिप्राय है, यह देखनेकेलिये उद्यत होना चाहिये.

श्रीमध्वाचार्याभिमत द्वैतवादके अनुसार सर्वप्रथम दो प्रकारके प्रमेय होते हैं: स्वतन्त्र और परतन्त्र निर्दोष अखिलसद्गुण भगवान् विष्णु स्वतन्त्र प्रमेय हैं. परतन्त्र प्रमेय पुनः दो प्रकारोंका होता है : द्विविध भाव और त्रिविध अभाव, इनमें भाव पुनः चेतन और अचेतन के भेदवशात् द्विविध होता है. इसी तरह दुःखस्पृष्ट और दुःखास्पृष्ट के भेदवश चेतनके भी दो प्रकार होते हैं. रमा सर्वथा दुःखोंसे असंस्पृष्ट ही रहती हैं. अन्य दुःखस्पृष्ट चेतनोंके दुःखविमुक्त और दुःखसंस्थ ऐसे दो प्रकार होते हैं. दुःखसंस्थोंके पुनः दो प्रकार होते हैं: मुक्तिके योग्य अथवा अयोग्य. मुक्तियोग्योंके पांच प्रकार होते हैं : देव ऋषि पितर चक्रवर्ती और सत्पुरुष इन विषयोंका सांगोपांग विचार 'तत्त्वसंख्यान' एवं 'तत्त्वविवेक' नामक ग्रन्थोंके अवलोकन करनेपर स्फुट हो सकता है.

इन परिसंख्यात तत्त्वोंमें पञ्चविध भेदोंका अपलाप सृष्टि मुक्ति या प्रलय किसी भी कालमें शक्य नहीं है. ये पञ्चविध भेद इस तरह माने गये हैं:

(१) एक अचेतन वस्तु का दूसरी अचेतन वस्तु से भेद
(२) एक चेतन जीव का दूसरे चेतन जीव से भेद
(३) सकल अचेतन वस्तुओंका सकल चेतन जीवोंसे भेद
(४) सकल अचेतन वस्तुओं का नारायण से भेद
(५) सकल चेतन जीवों का नारायण से भेद

इस तरह पञ्चविध भेदात्मिका इस सृष्टिमें परमात्मा और जीवात्मा के बीच स्वरूपतः अभेद या भेदाभेद भी हो ही नहीं सकता (द्रष्टव्यः अनुव्या. २।३।४३). अतएव जीवको जो 'अंश' कहा जाता है वहां भी यह ज्ञातव्य है कि स्वांश और विभिन्नांश के भेदवशात् भगवदवतारोंको स्वांश समझना चाहिये; परन्तु जीवात्मा तो विभिन्नांश ही होती हैं. कतिपय गुणोंके साम्यवश कहीं अभेद दिखलाया भी गया हो तो भी कदापि स्वरूपैक्य तो सम्भव ही नहीं है (द्रष्टव्य : ब्र. सू. भा. २।३।४७). ऐसी सृष्टिकी रचना परमात्मा किसी भी तरहके प्रयोजनकी पूर्तिकेलिये नहीं करता है. यह सृष्टि तो परमात्माकी केवल लीला ही है. अतएव परमात्माने इस सृष्टिको लीलारूप प्रयोजनकी पूर्तिकेलिये प्रकट किया है, ऐसी धारणा भी अप्रामाणिक ही है. मुक्त होनेपर, यदि, जीवात्मा भी आप्तकाम बन जाती हों तो परमात्मामें किस तरहकी न्यूनता सोची जा सकती है कि जिसे पूर्ण करनेको उसे सृष्टि रचनी पड़े! अतः जैसे लोकमें आनन्दके आवेशातिरेकमें व्यक्ति नाचने-गाने लग जाता है, ठीक वैसे ही पूर्णानन्दस्वरूप परमात्मा भी अपने स्वभाववश ही सृष्टिकी रचना करता है (द्रष्टव्यः ब्र.सू.भा.२।१३३-३४) पूर्णानन्दके निजस्वभाववश प्रकट इस जगत्में पूर्ण आनन्दके बजाय जो सुख-दुःख राग-द्वेष शोक-मोह जन्म-मरण के अनेकविध द्वन्द्व दिखलायी देते हैं, उन्हें भी परमात्मा अनादि कालसे चलते आ रहे कर्मक्रमवशात् प्रकट करता है. इस सृष्टिके अन्तर्गत देवताओंमें आनन्द ज्ञान एवं बल नित्य होते हैं, दानवोंमें अज्ञान एवं दुःख नित्यनियत होते हैं; तथा मनुष्योंमें आनन्द ज्ञान एवं बल कभी होते हैं और कभी नहीं. इन तीनोंमें यदा-कदा अन्यथा जो कुछ दिखलायी देता है, उसे औपाधिक समझ लेना चाहिये. जीव अपने सदसत् कर्मोंसे परमात्माको प्रसन्न करके ज्ञानी-अज्ञानी आनन्दी-निरानन्दी या बलवान् निर्बल बन पाता है. यह कर्मसामर्थ्य जीवात्माके भीतर मुक्तावस्थामें भी विद्यमान रहती है. सुरूप सुगन्ध सुस्वर के ही देखने सूंघने सुनने की कामना रखनेवाला जीव परतन्त्र होनेके कारण जैसे सर्वदा निजकामानुसारी सफल भोक्ता नहीं बन पाता, वैसे ही कर्ता भी नहीं बन पाता है. उसके भीतर बैठा अन्तर्यामी उसे यथाधिकार फल देता रहता है. जैसे सुतार आदि कारीगरोंसे धनवान् व्यक्ति धन दे कर अपना काम करवाते हैं, इस उदाहरणमें सुतार आदि कारीगर कर्ता माने जाते हैं तथा धनिक व्यक्ति कारयिता, इसी तरह जीव भी एक ऐसा पराधीन कर्ता है कि जिसका अपराधीन कारयिता

परमात्मा होता है. सुतार आदि कारीगरों और धनिकों के लौकिक उदाहरण तथा जीवात्मा और परमात्मा के वास्तविक सम्बन्धमें एक उल्लेखनीय अन्तर यह तो है ही कि एक धनिक निजधनसे कारीगरके कर्तृत्वका परिक्रय करता है –कारीगरको कर्तृत्व प्रदान नहीं करता, क्योंकि वह तो कारीगरका पूर्वसिद्ध ही होता है. वह परिक्रेता धनिकसे अतिरिक्त भी किसीके आधीन होकर या स्वतन्त्रतया भी अपने कर्तृत्वको प्रयोगान्वित कर सकता है. ईश्वरसे अपराधीन जीवका कर्तृत्व, जबकि, सम्भव ही नहीं, क्योंकि शास्त्रमें कहा गया है कि कर्तृत्व करणत्व स्वभाव चेतना धृति परमात्मा प्रसादसे ही सम्भव हैं अन्यथा नहीं (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा.२।३।३२–४२).

कर्मफलमीमांसा में श्रीमध्वाचार्यका कहना है कि कर्म तो अचेतन होनेके कारण स्वतः तो फलदान कर नहीं सकता, अतः ईश्वरको ही कर्मफलोंका दाता स्वीकारना चाहिये. यों तो परमात्मा और कर्म दोनों फलप्राप्तिके कारण हैं, फिरभी कर्म स्वयं कर्ताको प्रवर्तित नहीं कर सकता, जबकि परमात्मा तो प्रवर्तक भी होता है और कारण (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा.३।२।३९–४२).

परमात्माके साक्षात्कारके बारेमें यह समझ लेना आवश्यक है कि वह तो जीवकी साधनशक्तिसे शक्य उपलब्धि ही नहीं है, क्योंकि परमात्माका साक्षात्कार तो स्वयं उसके प्रसादके कारण ही सम्भव है (द्रष्टव्य: ब्र.सू.भा.३।२।२३).

इस तरह हमने देखा कि श्रीमध्वाचार्यके द्वैतवादी वेदान्ती होनेके कारण भगवत्कृपाकी आवश्यकतापर भार देना तो आवश्यक था ही; परन्तु जीवात्माके कर्तृत्व और तन्मूलक साधनानुष्ठानकी सफलताको भी ईश्वराधीन मानना द्वैतवादमें उल्लेखनीय महत्त्वकी बात है.

वेदान्तके अनेकविध सम्प्रदायोंमें श्रीविज्ञान भिक्षुद्वारा प्रवर्तित विचाररीतिकी असाधारण महत्ताको यदि एक शब्दमें प्रकट करनेको कोई कहे तो, मेरी समझके अनुसार, वह शब्द है : 'आधार कारण'. श्रीविज्ञानभिक्षुपूर्व ईश्वरवादी दर्शनोंमें कार्य–कारणभावके स्वरूपके बारेमें अनेकविध धारणायें प्रचलित थी. ब्रह्मको अभिन्ननिमित्तोपादान कारण एवं जगत्को ब्रह्मपरिणाम–ब्रह्मकृतिजन्य माना गया था, चित्रपट या चित्रभित्ति की तरह अद्वय चिन्मात्र परमशिवपर स्वयं शिवकी ही संकल्पशक्तिकी तूलिकासे जगत्को चित्रितवत् भी माना गया, ब्रह्मको उपादान–कारण एवं जगत्को जीवके प्राक्कर्मोंका विपाक भी

माना गया, ईश्वरको जगत्का केवल निमित्त कारण या कर्ता भी माना गया था; अथवा कार्य-कारणभावरहित केवल मिथ्या कार्यारोपका पारमार्थिक अधिष्ठान भी माना ही गया था.

वैसे तो सामान्य कार्य-कारणभावोंकी विवेचनाके प्रसंगमें योगसूत्र-भाष्यकारका प्रस्तुत श्लोक भी दर्शनशास्त्र के इतिहासमें एक अपना अलग महत्त्व रखता ही है:

उत्पत्ति-स्थित्यभिव्यक्ति-विकार-प्रत्ययाप्तयः।
वियोगान्यत्व-धृतयः कारणं नवधा स्मृतम्।।

(पा.सू.भा. २२८)

इन सभी प्रकारोंको सोदाहरण समझना हो तो भाष्यावलोकन ही उपयुक्त रहेगा. प्रस्तुत सन्दर्भमें, हमारेलिये तो, यही केवल अवधेय है कि द्वितीय स्थापय-स्थापक-भावरूप एवं अन्तिम विधार्य-विधारक-भावरूप जो कार्य-कारण-भाव स्वीकारे गये हैं, श्रीविज्ञान भिक्षु, वैसे स्थितिकारण या धृतिकारण होनेके रूपमें ब्रह्मको 'आधारकारण' नहीं कह रहे हैं.

उदाहरणतया : स्वस्थितिकारण भोगापवर्गरूप पुरुषार्थोंके हमारे साथ विद्यमान रहते, मन भी विद्यमान रहता ही है, अन्यथा नहीं. अथवा जैसे हमारी इन्द्रियोंको शरीर धारण करता है; एवं स्वयं उस शरीरको पञ्चमहाभूत धारण करते हैं, ब्रह्म जगत्का वैसा आधार नहीं है. क्योंकि स्थितिकारणका अधिकरण होना आवश्यक नहीं है, जबकि आधारकारणका अधिकरण होना आवश्यक है ही. इसी तरह धृतिकारणका अविकारी होना आवश्यक नहीं जबकि आधार-कारणकेलिये तो वह आवश्यक है ही. वैसे तो नैयायिकोंने भी समवायी और असमवायी से विलक्षण कार्यमात्रके प्रति एक साधारण निमित्त कारणके रूपमें ईश्वरको स्वीकारा तो अवश्य था, फिरभी दण्डचक्रादिसाधारण निमित्तकारणतासे भी इस आधारकारणताको पृथक्तया समझना आवश्यक है.

क्योंकि भिक्षुवेदान्तने ही, इदंप्रथमतया, इन सारी धारणाओंसे अलग हट कर इस आधार कारणकी धारणा प्रस्तावित की है, अतः स्वयं उनके ही शब्दोंमें इस सुपरिभाषित आधारकारणको जान लेना उचित होगा: जैसे आकाशमें आश्रित मृत्तिका घटाकारेण परिणत होती है वैसे ही, किसी भी कार्यका उपादान कारण जहां संयोग स्वरूप या आधेयता सम्बन्धवशात् अविभक्त एवं आश्रित

होकर कार्याकारेण परिणत होता हो उसे 'अधिष्ठानकारण' या 'आधारकारण' कहते हैं(द्रष्टव्य:ब्र.सू.भा.१।१।२). श्रीविज्ञानभिक्षुके अनुसार ऐसा आधारकारणरूप ब्रह्म निरुपाधिकतया न तो जगत्का परिणाम्युपादान है, न कर्ता; और न विवर्तोपादान ही. अन्यथा मायोपाधिके वश तो वह सभी कुछ बन सकता है और बना भी है ही. पुनश्च यहां मायाको उपाधि माननेके कारण जड़-चेतन सृष्टिका मिथ्यात्व श्रीविज्ञान भिक्षुको अभिप्रेत है, ऐसी वैचारिक धांधली नहीं करनी चाहिये. समवायसम्बन्धसे जहां कार्य-कारणका अविभाग हो वहां उसे विकारी कारण समझा जाता है. ऐसे समवायसम्बन्धसे जो एक विकारी कारण होकर जिस किसी दूसरे अविकारी आधारमें अविभक्ततया आश्रित हो तो उस दूसरे अविकारीको 'आधारकारण' कहा जाता है. सृष्टिसे पूर्व और बादमें भी नित्य अविकारी ब्रह्ममें प्रकृति-पुरुष इसी तरह अविभक्ततया आश्रित रहते हैं. अतः अविकारी ब्रह्म जगत्का आधारकारण है तथा विकारी प्रकृति समवायी कारण इस विषयमें श्रीविज्ञानभिक्षुके ये वचन अवलोकनीय हैं:

> अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य चेतनाचेतनरूपस्य प्रतिनियत-देशकाल-संस्थान-व्यापारादि-मतो अचिन्त्य-रचनात्मकस्य जायते अस्ति वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यति इत्येवंरूपं जन्मादिषट्कं यतः परमेश्वराद् अन्तर्लीन-प्रकृतिपुरुषाद्यखिल-शक्तिकात् स्वतः चिन्मात्राद् विशुद्ध सत्त्वाख्य-मायोपाधिकात् क्लेशकर्मविपाकाशयैः अप-रामृष्टात् चेतनविशेषाद् भवति आकाशादिव च वायुः, महाजलादिव च पृथिवी, पृथिव्या इव स्थावरजङ्गमादिकं तद् ब्रह्म (ब्र.सू. भा. १।१।२).

साथ ही साथ भिक्षुवेदान्तमें प्रतिशरीरमें भिन्न-भिन्न जीवात्मा मानी गयी हैं. जीवात्माको विभुपरिमाण स्वीकारनेके बावजूद परमात्माका अंश भी स्वीकारा गया है. यह अंशत्व 'महाकाश-घटाकाश' न्यायसे औपाधिक नहीं; प्रत्युत 'अग्नि-विस्फुलिंग' न्यायसे वास्तविक ही स्वीकारा गया है. विभुत्व तथा अंशत्व जैसे धर्मोके परस्पर विरोधाभासके उपशमनकी भी भिक्षुशैली विलक्षण ही है. श्रीविज्ञान भिक्षु कहते हैं : जीवात्माको परमात्माका अंश माने बिना ''नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्'' ''द्वा सुपर्णा सयुजा''

''ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'' जैसे श्रुति-स्मृति-वचनोंमें निरूपित भेद; अथवा ''स ब्रह्मा स शिवः'' ''मनसैवानुद्रष्टव्यम्'' ''एकधैवानुद्रष्टव्यम्'' जैसे श्रुतिवचनोंमें निरूपित अभेद यों दोमेंसे किसी एकके साथ तो अन्याय हो ही जाता है. अतः जीवात्मा और परमात्मा के बीच भेदाभेदको स्वीकारना श्रुत्याशयके प्रति सच्ची निष्ठाका निर्वाह है (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा.२।३।४३).

परस्पर विरुद्ध होनेसे भेदाभेदके समुच्चयके स्वतोव्याहत होनेकी शंका भी उचित नहीं है, क्योंकि अन्योन्याभावरूप भेदका अविभागरूप अभेदके साथ किसी भी तरहका विरोध हो ही नहीं सकता. इसी तरह विभाग-अविभागरूप भेदाभेदका भी परस्पर विरोध होता नहीं है.

भगवान् विष्णुके अंशावतारोंमे भी शास्त्रनिरूपित अंशत्व-विभुत्व दोनों ही जैसे होते हैं, जीवात्माके भेदाभेदप्रयुक्त अंशत्व और विभुत्व वैसे नहीं होते, क्योंकि भगवान् विष्णु और उनके अवतारों में तो अखण्ड स्वरूपैक्य होता है. अतः अवतारोंमें अंशत्व लीलार्थ परिगृहीत तनुत्वोपाधिक ही 'घटाकाश-महाकाश'न्यायेन होता है. जीवात्मा और परमात्मा के बीच अंशांशिभाव वैसा गौण नहीं प्रत्युत मुख्य ही होता है. आकाश, जैसे, अंश होनेपर भी विभु सर्वगत ही होता है वैसे ही जीवात्माके बारेमें भी समझ लेना चाहिये. यह अंशत्व, शरीरके अवयव करचरणमस्तककी तरह, परमात्माका अवयव होना नहीं है प्रत्युत परमात्माके सजातीय होनेके साथ-साथ सृष्टिसे पूर्व परमात्मासे अविभक्त होना है (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा.२२३।४३).

भिक्षुवेदान्तप्रक्रियाकी इन सर्वथा मौलिक एवं अवश्यज्ञातव्य धारणाओं को जान लेनेके बाद अब साधनानुष्ठान एवं भगवदनुग्रह के तुलनात्मक स्वरूपकी मीमांसा सुखेन शक्य बन पायेगी.

''रथ जा रहा है'' शब्दप्रयोगमें जैसे गमनक्रियामें रथके कर्ता होनेकी अर्थप्रतीति होती है, क्या वैसी ही अर्थकल्पना शास्त्रके भी उन सभी वचनोंमें स्वीकार लेनी चाहिये जिन वचनोंमें जीवका कर्ता होना वर्णित है? श्रीविज्ञान भिक्षुका उत्तर है : नहीं! क्योंकि रथ तो जड़ होता है परन्तु जीव तो चेतन होनेके कारण स्वयं भी कर्ता बन सकता है. यह और बात है कि उसका कर्तृत्व सर्वथा अपराधीन नहीं होता. उदाहरणतया रथमें जुतनेवाले घोड़ेको सारथीके हाथोंमें रही लगाम और चाबुक द्वारा दिये जाते निर्देशोंके आधीन होकर ही चलना पड़ता है;

परन्तु कोई पालतु घोड़ा जब रथमें जुता हुवा नहीं होता तब स्वेच्छया भी चल तो सकता ही है. इसी तरह परमात्माकी अनुज्ञासे जीव भी अपनी कर्तृत्वशक्तिको प्रयोगमें लाता ही है. ज्ञानतः या अज्ञानतः मानव जो कुछ करता है वह सब मूलमें तो अपनी योगमाया शक्तिद्वारा भगवान्का ही किया हुवा होता है ऐसे अनेक शास्त्रवचनोंका वास्तविक अभिप्राय यही है कि जीव स्वतन्त्र कर्ता नहीं है–ईश्वराधीन कर्तृत्ववान् ही है. अन्यथा सारे के सारे शास्त्रीय विधि–निषेध निरर्थक सिद्ध हों जायेंगे. जीवको कुछ भी करनेकी आवश्यकता न हो अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही करता हो तो ऐसे अनावश्यक कर्मोंके विधान करनेवाले शास्त्रका प्रामाण्य भी सिद्ध नहीं हो पायेगा. निष्ठुर और पक्षपाती होनेका आरोप भी परमात्मापर लग जायेगा. यथाशास्त्र कर्मके अनुष्ठान करनेपर भी कभी कर्मफलके दृष्टिगत न होनेपर ईश्वरके अननुग्रहकी बात या कर्मवैगुण्यकी बात तो सोची जा सकती है परन्तु जीवके सर्वथा अकर्ता होनेकी नहीं. अतः जीव कर्ता तो है परन्तु अपराधीन कर्ता नहीं (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. २।३।३३).

जैसे चैतन्य जीवका, या उष्णता अग्निका, नित्यसिद्ध स्वाभाविक धर्म है, कर्तृत्व वैसा धर्म नहीं है. विषयके अभावमें, क्योंकि, चैतन्यस्वभाव होनेपर भी ज्ञानका पैदा न होना एक बात है; और विषयके सद्भावमें भी कर्तृत्व प्रकट न करना दूसरी बात है. इससे सिद्ध होता है कर्तृत्व जीवका अन्तःकरणोपाधिक धर्म है. यह बुद्धिरूप लगाम ईश्वरके हाथोंमें रहती होनसे जीवका कर्तृत्व सर्वदा ईश्वराधीन ही होता है. इस अर्थमें जैसे जीव देहेन्द्रियादिकेलिये आत्मा होता है वैसे ही ईश्वर जीवकेलिये आत्मा होता है –जीवका चेतयिता कारयिता और अध्यक्ष (द्रष्टव्य: ब्र.सू.भा.२।२।३६–४१). ब्रह्म, जैसे, जगत्के जन्मादिका हेतु है, वैसे ही जीवात्माओंको भोग–अपवर्गरूप फलका भी प्रदाता वही है. लोकमें भी जैसे किसी सेवककी सेवासे रुष्ट या तुष्ट राजा ही दण्ड या फल देता है–सेवारूप क्रिया नहीं. वैसे ही ईश्वर ही हमारे कर्मोंसे रुष्ट या तुष्ट होकर हमें तत्तत् फल देता है–हमारे सदसत् कर्म स्वयमेव नहीं. शास्त्रोंमें जो विभिन्न देवोंका विभिन्न कर्मोंके फलदाताके रूपमें निरूपण हुवा है, वह भी अन्तर्यामी परमेश्वरद्वारा उन्हें प्रदत्त तत्तद् अधिकार और प्रेरणा के अनुसार केवल नियतफलदानके सामर्थ्य की विवक्षासे ही किया गया जानना चाहिये. अतः हमारे कर्मकर्तृत्वकी तरह देवताओंका फलदातृत्व भी परमेश्वराधीन ही होता है.

कर्मोंसे रुष्ट या तुष्ट होकर जो फलदान परमेश्वर करता है उसमें घटोत्पत्तिके उदाहरणमें दण्ड चक्रकी तरह कर्म और परमेश्वर क्या परस्पर सहकारी कारण हैं या एक मुख्य कारण और दूसरा गौण? श्रीविज्ञान भिक्षुका कहना है कि क्षेत्रज्ञकी तरह कर्म भी परमेश्वरकी एक शक्ति है. अतः परमेश्वरकी तुलनामें कर्मको प्रमुख फलदाता माना नहीं जा सकता है (द्रष्टव्य: ब्र.सू.भा.३।२।३८).

''लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'' (ब्र.सू.२।१।३२) में यह कहा गया है कि जैसे विशुद्धसत्त्ववाले जीवोंकेलिये दुःखाभाव तथा सुख का सम्पादन पुरुषार्थरूप होता है वैसे ही निजभक्तोंपर अनुग्रहरूपा केवल क्रीड़ा भी स्वतः पुरुषार्थरूपा हो सकती है, अर्थात् निज किसी भी प्रयोजनकी पूर्तिकी अपेक्षासे सर्वथा रहित, परमेश्वरने इस समग्र सृष्टिका निर्माण जीवोंके प्राक्तन कर्मोंके अनुसार किया है. इस तरह कर्मानुसारी सृष्टिनिर्माणके कारण परमेश्वरके स्वातन्त्र्यकी हानि इसलिये नहीं होती क्योंकि कर्म स्वयं परमेश्वरकी एक अन्यतम शक्ति है और कर्मानुसारी यह सृष्टि भी निजकार्य ही है, अर्थात् परकार्य नहीं. लोकमें भी एक स्वतन्त्र राजा अपने बनाये नियमोंके अनुसार किसीपर रुष्टं या तुष्ट होता हो एतावता उसका स्वातन्त्र्य नष्ट नहीं हो जाता. ऐसा भी भिक्षुवेदान्तने मान्य रखा ही है:

> ब्रह्म न भ्रष्ट, लोके स्रष्टः प्रयोजनवत्त्वदर्शनाद् ब्रह्मणश्च पूर्णकामत्वात् प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः समाधत्ते –''लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'', यथा लोकानाम् आनन्दविशेषजन्येषु क्रीडाविहारादिषु अनपेक्ष्यैव प्रयोजनं केवललीलारूपा चेष्टा भवति... भूतानुग्रहएव ईश्वरस्य प्रयोजनम् उक्तं, सुखदुःखा-भावयोरिव विशुद्धसत्त्वानां भक्तानुग्रहस्यापि स्वतः पुरुषार्थत्वं फलत्वेन कल्पनीयं... ननु एवम् ईश्वरस्य कर्मसापेक्षत्वे स्वातन्त्र्यहानिः इति चेत्, न, स्वकार्यतया स्वशक्तितया च कर्मणः स्वातन्त्र्याविघातकत्वात् स्वतन्त्रस्यापि राज्ञः सेवापराधापेक्षया फलदातृत्वदर्शानात्.
>
> (ब्र.सू.भा.२।१।३१-३२-३३).

इस तरह हमने देखा कि जगत्को भगवल्लीला मानना, साधनानुष्ठान मूल उत्स कर्तृत्वको परमेश्वराधीन मानना, परमेश्वरको कर्मप्रेरक कर्मकारयिता मानना, कर्मानुसारिणी फलनियतिको जड़नियम न मान कर परमेश्वरेच्छाधीन या

परमेश्वरानुग्रहनिग्रहाधीन मानना; और परमेश्वरके स्वातन्त्र्यको निरंकुश मानना ये कुछ ऐसी धारणायें हैं कि जिनके बारेमें परस्पर विरोधी वेदान्त भी निर्विरोध एकमति प्रदर्शित करते हैं.

वेदान्तदर्शनकी इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमिपर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी साधनानुष्ठान तथा भगवदनुग्रह के स्वरूपकी विवेचनाको परखनेका प्रयास करनेपर, जो एक अधिकरणसिद्धान्त उभर कर सामने आता है, वह यह कि साधनानुष्ठान तथा भगवदनुग्रह दोनोंकी ही सरस एवं लचीली, अर्थात् भगवदभिप्रेत लीलात्मिका, उपयोगिता तो अवश्य है; परन्तु नीरस एवं कठोर, अर्थात् गणितशास्त्राभिप्रेत निरपवादात्मिका, कोई अनिवार्यता नहीं. अतः वैसे तो प्रतितन्त्रसिद्ध सिद्धान्तकी उपपत्तियां प्रस्तुत करना निरर्थक कालक्षेप ही होता है, फिरभी अधिकरणसिद्धान्तता दरसानेकेलिये हमने जो विभिन्न वेदान्तसम्प्रदायोंके पूर्वोदाहृत वचनोंका विस्तार किया वह क्षम्य माना जाना चाहिये. इस सन्दर्भमें महाप्रभुका यह विधान प्रकृत विषयके उपक्रमार्थ अवधेय है :

> ''स वै नैव रेमे. तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्. स हैतावानास'' इत्यादिश्रुतिभिः ''एष उ ह्येव...'' इति श्रुतेश्च तानि-तानि साधनानि कारयित्वा तानि-तानि फलानि ददद् भगवान् स्वक्रीडार्थमेव जगद्रूपेण आविर्भूय क्रीडति इति वैदिकैः निर्णीयते एतदेव काण्डद्वयेऽपि प्रतिपाद्यते अन्यथा जीवस्य साधनफले निरूपयन्त्याः श्रुतेः जीवपरत्वमेव स्याद् न ब्रह्मपरत्वम्. कर्म-ब्रह्मणोरपि जीवशेषत्वं न अपेयात्
>
> (ब्र.सू.भा.१।१।११).

अर्थात् वह एकाकी रमण नहीं करता. अतएव कोई भी एकाकितामें रत नहीं हो पाता. उसने चाहा कि कोई दूसरा भी हो. अतः वही यह सब कुछ बन गया? ऐसे श्रुतिवचनोंके आधारपर तथा वही साधु कर्म करवाता है उससे कि ''जिसे वह ऊपर उठाना चाहता है...'' श्रुतिवचनके आधारपर तत्तत् साधनोंको करवा कर तत्तत् फलोंको देते हुवे भगवान् निजक्रीड़ार्थ ही जगत्के रूपमें आविर्भूत होते हैं, ऐसा वैदिक निर्णय है. वेदके कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनोंका प्रतिपाद्य

विषय यही है. अन्यथा केवल जीवके ही साधन-फलोंके निरूपणार्थ शास्त्र प्रवृत्त हुवे हैं ऐसा स्वीकारनेपर शास्त्रका मुख्य प्रतिपाद्य विषय जीवके कर्तव्य और ज्ञातव्य का निरूपण ही रह जायेगा. फिर तो कर्म और ब्रह्म भी जीवशेष बन जायेंगे !

इस क्रीड़ामें क्रमशः १ योगमाया २ सर्वभवनसामर्थ्यरूपमाया तथा ३. व्यामोहकमाया रूपी त्रिविध निजशक्तिओंको उपयोगमें लानेके कारण भगवत्क्रीड़ाके भी त्रिविध रूप स्वीकारे गये हैं. अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्मके स्वरूपान्तःपाती आनन्द चित् तथा सत् यों त्रिविध गुणधर्मोसे एक गुणधर्म या दो गुणधर्मो के निगूहनद्वारा यह लीलात्रैविध्य सम्पन्न होता है. अतएव मूलरूपमें की जाती लीला या अवतारलीला में योगमाया शक्तिद्वारा जो नाम-रूप-कर्म भगवान् प्रकट करते हैं, वे दिव्य अर्थात् सच्चिदानन्दात्मक ही रहते हैं. इसे ''यः क्रीडति'' कल्प कहा जाता है. द्वितीय ''यः जगद् भूत्वा क्रीडति'' कल्पमें भगवान् अपना आनन्द रूप गुणधर्म तिरोहित करके सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाशक्तिद्वारा आंशिक ज्ञान-क्रियारूप उभयविधशक्तिमान जीव तत्त्वको; अथवा आनन्द तथा चित् दोनों ही तिरोहित करके नामरूपात्मक जड़ तत्त्वको प्रकट करते हैं. तृतीय ''यतो जगत् क्रीडति'' कल्पमें आनन्द चित् तथा सत् तीनों ही गुणधर्मोको तिरोहित करके व्यामोहिका मायाशक्तिद्वारा नाम-रूप-कर्मोंका केवल आभास या अध्यास ही प्रकट करते हैं (द्रष्टव्य : शा.प्र.प्रका.१).

इस तरह स्वाभाविकी ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति से सम्पन्न सच्चिदानन्द ब्रह्मके सच्चिदंश होनेके कारण ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति भी अंशतः तो स्वाभाविक ही जीवात्माके भीतर विद्यमान रहती ही हैं. इनका यथावद् उद्गम, परन्तु, देह इन्द्रिय प्राण एवं अन्तःकरण से जुड़ जानेके कारण कृत्रिमतया ही होता है : जीवको कर्ताके रूपमें मान्य करना चाहिये, क्योंकि जीवकेलिये ही वेदमें अभ्युदय-निश्रेयस् रूप फलोंको देनेवाले कर्मोंका विधान किया गया है, अन्यथा ब्रह्म या जड़ केलिये तो ये विधान निरर्थक या अप्रासंगिक ही सिद्ध होंगे. देह इन्द्रिय प्राण या अन्तःकरण को तो कर्ता माना नहीं जा सकता, क्योंकि वे तो स्वयं करणरूप ही होते हैं. जो यह कहते हैं कि बुद्धिगत कर्तृत्वकी ही जीवमें आभासिक या औपाधिक प्रतीति होती है, उन्हें यह खुलासा देना पड़ेगा कि बुद्धिका कर्तृत्व जीवमें संक्रान्त होता है, या जीवका कर्तृत्व बुद्धिवशाद् उद्गत

होता है, या इन दोनोंमें अविद्यमान कर्तृत्व इन दोनोंके जुड़ जानेके कारण पूर्वमें असत् होनेपर भी पश्चाद् उत्पन्न हो जाता है; अथवा अन्यत्र कहीं से आकर उभयाश्रित हो जाता है? प्रथम इसलिये सम्भव नहीं, क्योंकि बुद्धि स्वयं जड़ होनेसे कर्ता मानी नहीं जा सकती. द्वितीय कल्पमें इष्टापत्तिके साथ-साथ इतना और विवक्षित है कि स्वयं बुद्धिरूप करणका संग्रह भी तो जीवात्मा अपने स्वाभाविक कर्तृत्वरूप सामर्थ्यवशाद् ही करता है. तृतीय कल्पमें असत्कार्य-वादका अवलम्बन लेना पड़ेगा जो श्रुतिको अनभिप्रेत ही है. चतुर्थ कल्पमें भी इष्टापत्तिके साथ-साथ यह तो खुलासा देना ही पड़ेगा कि ब्रह्मगत कर्तृत्व, श्रुति-प्रत्यक्षोभय-व्याहत होनेसे, सर्वात्मना तो असंभव ही है; फिरभी स्वाभाविकी क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति से सम्पन्न ब्रह्मके अंशभूत जीवात्मामें ब्रह्मांशभूत स्वाभाविक कर्तृत्व भी यथेच्छा प्रकट हो ही सकता है (द्रष्टव्य: ब्र.सू.भा.२।३।३३-३५).

स्वाभाविक कर्तृत्व स्वीकारनेपर मुक्तावस्थामें भी शुभाशुभ कर्मों के कर्तृत्व के विद्यमान रहनेपर मुक्ति ही सम्भव नहीं रह जायेगी, ऐसी आपत्तिके निरसनार्थ श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि यह तो विशुद्ध भ्रमणा ही है. ऐसी अनुपपत्तिको प्रामाणिक माननेपर तो अतिबालक अतिवृद्ध अथवा नपुंसक के भीतर ही कामवासनाका अभाव स्वीकार्य हो पायेगा, किसी युवक ब्रह्मचारी या संन्यासी के भीतर नहीं. क्योंकि कर्तृत्वके रहते जैसे नैष्कर्म्य सम्भव नहीं, वैसे कामेन्द्रियके रहते निष्कामता सम्भव नहीं रह जायेगी ! फिर तो समाधि भी निरिन्द्रिय व्यक्तिको ही सिद्ध होनी चाहिये !! (द्रष्टव्य: ब्र.सू.भा.२१३।३९-४०).

''परात्तु तच्छ्रुतेः'' (ब्र.सू.२।३।४१-४२) अधिकरणमें, जैसा कि कह ही चुके हैं, जीवके कर्तृत्वरूप धर्मको अन्य भी सत्ता चैतन्य ऐश्वर्यादि धर्मोकी तरह अंशी ब्रह्मकर्तृत्वका अंशरूप ही स्वीकारा गया है.

श्रीमहाप्रभु 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा' नामक ग्रन्थमें तथा अणुभाष्यमें जो स्पष्टीकरण इस बारेमें देते हैं उसका सार इस तरह है कि इस सृष्टिमें भगवत्क्रीड़ाके सामान्य नियम वेदादि शास्त्रोंमें प्रकट किये गये हैं. क्रीड़ार्थ प्रकट जीवात्माएं मूलमें द्विविध हैं : दैवी तथा आसुरी. दैवी जीवोंके पुनः दो प्रकार होते हैं: पुष्टिमार्गीय जीव तथा मर्यादामार्गीय जीव. पुष्टिमार्गीय जीवोंके पुनः चार प्रकार होते हैं: शुद्धपुष्टिके अधिकारी, पुष्टिपुष्टिके अधिकारी, मर्यादापुष्टिके अधिकारी;

तथा प्रवाहपुष्टिके अधिकारी. इन सभी पुष्टि मर्यादा तथा प्रवाह के भेदोपभेदवश देवी तथा आसुरी जीवोंकी साधन फल व्यवस्था इस तरह है: भगवान् फल प्रदान करते हैं कर्मके अनुसार, जीवसे कर्म करवाते हैं उसके प्रयत्नोंके अनुसार, जीव प्रयत्न करता है कामके अनुसार, जीव कामना करता है लोकप्रवाहके अनुसार, इन सभी सोपानोंपर भगवान् अंशदृष्टिसे कर्ता बनते हैं तथा अंशिदृष्टिसे कारयिता परमात्मा और जीवात्मा के बीच तादात्म्यरूप अभेद होनेसे न तो वैषम्य या नैष्ठुर्य दोषका कोई प्रसंग है; और न जो कुछ अंशके साथ घटित हो रहा है उससे अंशीके दूषित होनेका ही. वेदादि सभी शास्त्र इस लीलाके लीलात्मक नियमोंका ही वर्णन कर रहे हैं. अन्यथा जैसा कि प्रारम्भमें निरूपित किया गया कि कर्म-ब्रह्म दोनों ही जीवात्माके अभ्युदय-निःश्रेयस्के साधनों के उपदेशार्थ ही केवल हों तो अभ्युदय-निःश्रेयससाधन ही प्रमुख प्रतिपाद्य विषयवस्तु सिद्ध होंगे, ब्रह्म नहीं. अतः कर्मानुसारी फलप्रदानकी वेदादि शास्त्रोंद्वारा निरूपित मर्यादाका बन्धन जैसे लीलात्मक है, वैसे ही भगवान् जब जहां जिस जीवके सन्दर्भमें उन बन्धनोंको तोड़ना चाहें, वह भी लीलात्मक ही होता है. शास्त्रमर्यादाके बन्धनोंको तोड़ कर जब भगवान् किसी जीवको केवल मुक्ति ही प्रदान करते हैं, उदाहरणतया व्रजमें भगवान्को मारनेकी कामनासे आनेवाले असुरोंको या ऐसे आसुरभाववाले अन्योंको भी मुक्तिदान किया गया, तो यह शास्त्रानुसारी प्रमाणबलसे उद्धारकी कथा नहीं है. यह तो प्रमेयबलसे उद्धारकी कथा है. इसी तरह जहां यथाशास्त्र साधनानुष्ठान करनेपर किसी जीवात्मामें परमात्माके प्रति भक्तिभाव प्रकट होता है तो ऐसी भगवद्भक्तिको प्रमाणबलसे प्रकट होनेके कारण 'मर्यादा-भक्ति' कहा जाता है. अन्यथा प्रमेयबलसे प्रकट हुई भक्तिको 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है.

एतदर्थ श्रीमहाप्रभुके इन वचनोका अवगाहन अतीव उपकारक होगा :

> मर्यादामार्गका तो निर्माण ही शास्त्रविहित कर्मोंक अनुसार फलदानार्थ किया गया है; अतः शास्त्रनियमों के वैपरीत्यसे भगवान् निज स्वरूपानन्दरूप फलका दान किसी जीवको करते हैं तो ऐसे जीवको पुष्टिमध्यपाती समझना चाहिये (ब्र.सू.भा.२।३।४२).
>
> प्रवाहमार्गीय जीवको किस या कैसे साधनसे कौन सा फल मिलेगा यह तो भगवान्ने स्वेच्छया निज मनमें ही निर्धारित

कर रखा है, मर्यादामार्गीय जीवको किस या कैसे साधनसे कौन सा फल मिलेगा यह भगवानूने वेदद्वारा निर्धारित ज्ञापित कर दिया है; इसी तरह पुष्टिमार्गीय जीवको किस या कैसे साधनसे कौन सा फल मिलेगा यह भगवानूके उस जीवके समक्ष प्रकट किये निज स्वरूपसे निर्धारित करते हैं. ''तानहं द्विषतो क्रूरान् संसारेषु नराधमान् क्षिपाम्यजस्रमशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु. आसुरी योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्''(गीता१६।१९-२०) इस भगवद्वचनके आधारपर इस लीलामें मुक्ति या भगवद्भक्ति न पानेवाले आसुरी जीवोंको 'प्रवाही जीव' कहा जाता है. इनसे भिन्न अर्थात् जन्ममरणके चक्रसे शास्त्रविहित साधनोंके अनुष्ठान(=प्रमाणबल) द्वारा मुक्ति पानेके अधिकारी जीव 'मर्यादामार्गीय जीव' कहलाते हैं. कुछ दैवी जीवोंमें शास्त्रविहित साधनानुष्ठानके बिना भी मुक्तात्माओंको भी दुर्लभ ऐसी संसारासक्तिरहित भगवदासक्ति केवल भगवत्स्वरूप (=प्रमेयबल)से ही सिद्ध होती दिखलायी देती है, ऐसे जीवोंको प्रवाहमार्गीय तथा मर्यादामार्गी जीवोंसे भिन्न 'पुष्टिमार्गीय जीव' कहा जाता है. इस पुष्टिसृष्टिके जीवका प्राकट्य ही भगवत्स्वरूपासक्तिपूर्विका भगवत्सेवाकेलिये किया गया है.

प्रवाहमार्गीय या मर्यादामार्गीय जीवोंके स्वरूप=आत्मा देह गुण या व्यवहार से इन पुष्टिमार्गीय जीवोंके स्वरूप=आत्मा देह गुण या व्यवहार में वैसे तो कोई तारतम्य होता नहीं है, फिरभी भगवान् जब जो तारतम्य प्रकट करना चाहें तब कर देते हैं. भगवल्लीलाके भेदके अनुसार इन पुष्टिजीवोंके दो भेद होते हैं: शुद्ध और मिश्र शुद्धपुष्टिवाली कक्षाके जीव अति दुर्लभ होते हैं. इसी तरह मिश्रपुष्टिके पुनः तीन भेद होते हैं: पुष्टिपुष्टि मर्यादापुष्टि तथा प्रवाह पुष्टि. पुष्टिपुष्टिवाली कक्षाके जीवोंके भीतर भगवन्माहात्म्यज्ञान भगवद्रति और तदनुसारी भगवदनुकूल कृति यों सभी तरहका समन्वय होता है.

> मर्यादापुष्टिवाली कक्षाके जीवोंके भीतर भगवन्माहात्म्यज्ञान और भगवद्रति की प्रधानता होनेपर भी तदनुसारी कृति भलीभांति निभ नहीं पाती. प्रवाहपुष्टिवाली कक्षाके जीवोंके भीतर भगवन्माहात्म्यज्ञान या भगवद्रति की अनुसारिणी कृति तो निभ पाती है परन्तु ज्ञान या रति मेंसे कोई एक या दोनों ही कभी स्फुटतया प्रकट नहीं हो पाते. पुष्टिजीवोंके इन सभी प्रकारोंमें फल तो केवल भगवान् ही होते हैं. यह भगवदनुभूति इन विभिन्न कक्षावाले पुष्टिजीवोंको यहां भूतलपर ही भगवद्गुणानुभूति या भगवत्स्वरूपानुभूति के रूपमें जैसी भी हो भगवदिच्छावश होती है. न तो ये कभी पाषंडी हो पाते हैं और न, अतएव, इन पुष्टिजीवोंमें लौकिकता अर्थात् संसारासक्ति; या वैदिकता अर्थात् मुक्तिप्रापक साधनोंमें ही आसक्ति, वास्तविक हो सकती है. वह तो केवल लोकसंग्रहार्थ ही होती है – वास्तविक स्वरूप तो इनका भगवदीय होना ही होता है
>
> (पु. प्र. म.९-२१) .

इस तरह भगवल्लीलारूपा सृष्टिमें पुष्टि मर्यादा-प्रवाहके भेदवश जीवत्रैविध्य तथा प्रमाण-प्रमेयबलके भेदवश भगवदनुग्रहद्वैविध्यके कारण साधनानुष्ठान तथा अनुग्रह का स्वरूप वाल्लभ वेदान्तमें बहुत ही लचीला बन गया है. और तो और किन्तु सर्वथा विलक्षण एक स्पष्टीकरण महाप्रभुने यह भी दिया है कि जीवात्माका देहेन्द्रियप्रणांतःकरणसे सम्बन्ध भी दो तरहका होता है: भगवत्कृत और आध्यासिक. आध्यासिक सम्बन्ध तो ज्ञानसे निवृत्त हो सकता है परन्तु भगवत्कृत सम्बन्धको जब भगवान् स्वयं ही निवृत्त करना चाहें तभी निवृत्त हो सकता है अन्यथा नहीं. अतएव जीवन्मुक्तोंके भी देहादि बने रहते हैं, अज्ञानकी सर्वाशमें निवृत्तिके बावजूद. शास्त्रोंमें वर्णाश्रमसहित देहादिवाले जीवात्माओंको लक्ष्यमें रख कर जो धर्मोपदेश किये गये हैं, वे आध्यासिक सम्बन्धको निमित्त बना कर नहीं प्रत्युत भगवत्कृत देहादिसम्बन्धको निमित्त बना कर ही (द्रष्टव्य: ब्र.सू.भा.३।२।४८) .

इस सन्दर्भमें सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुद्वारा किया हुवा प्रस्तुत विधान अतीव उपकारी हो सकता है :

यावद् देहोऽयं तावद् वर्णाश्रमधर्माएव स्वधर्माः, भगवद्धर्मादयोऽपि विधर्माः परधर्माः वा. यदा पुनरात्मानं जीवं मन्यते, संघातव्यतिरिक्तं, तदा दास्यं स्वधर्मो अन्ये वर्णाश्रमादयोऽपि परधर्माः यदा पुनर्भगवद्भावं प्राप्ताः तदा अलौकिकधर्माएव, ऋषभादिष्विव गोचर्यादयः, स्वधर्माः अन्ये परधर्माः.

भावार्थ : जबतक यह देह है तबतक वर्णाश्रमधर्म ही स्वधर्म होता है अतः भगवद्धर्मको भी विधर्म या परधर्म तब समझना चाहिये. जब अपने आपके बारेमें देहादि संघात से अतिरिक्त जीवात्मा होनेकी बात चित्तमें निरूढ़ हो जाये तब भगवद्दास्य ही स्वधर्म बन जाता होनेसे अन्य वर्णाश्रमादिके नियम परधर्म बन जाते हैं. इससे आगे बढ़ कर जब भगवद्भाव प्राप्त हो जाये तब तो अलौकिकधर्म, जैसे ऋषभदेवजीके गोचर्यादिरूप थे, वैसे ही स्वधर्म बन जाते हैं अन्य सारे नियम परधर्म बन जाते हैं.

इस वचनमें यह उल्लेखनीय है कि वर्णाश्रमधर्मकी अनुष्ठाननियतिके द्योतनार्थ महाप्रभुने ''जबतक यह देह है'' शब्दावली प्रस्तुत की है न कि ''जबतक देहाभिमान है'' इसी तरह भगवद्दास्यके आचरणार्थ देहाभिमानरहित होना निमित्त माना है. इससे कुछ 'अर्धजरतीय' न्याय प्रकट हुवा लगता है ! परन्तु महाप्रभुका अभिप्राय कुछ ऐसा लगता है कि भगवदंशत्वभावनारहित देहाभिमाननिवृत्तिके सिद्ध होनेपर भी यावद्देहस्थिति वर्णाश्रमधर्मका त्याग अनभिष्ट है; तथा भगवदंशत्वभावनाके चित्तमें निरूढ़ होनेपर देहाभिमानका शैथिल्य भगवद्दास्यको स्वधर्मतया अनुसरणीय बनाता है. भगवद्भावके सुदृढ़ होनेपर तो जीव विधिपराधीन न रह कर सर्वथा भगवद्भावाधीन ही हो जाता है इस विषयमें तो कुछ विवेचनीय नहीं है. अस्तु.

प्रकृत सन्दर्भमें : यहां सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यही लक्ष्यमें रखने लायक है कि जीवोंके कर्मानुरोधवश भगवान् सुखदुःख प्रदान करते हैं इसे, श्रीमहाप्रभु, प्रतिवादिबोधनार्थ किया गया विधान मानते हैं –सिद्धान्तनिरूपणार्थ नहीं. क्योंकि आत्मसृष्टिमें यह आशंका या आरोप उठ ही नहीं सकते (द्रष्टव्य :

ब्र.सू.भा.२।१।३४). जैसे सच्चिदानन्द ब्रह्मगत ही 'अस्ति' 'भाति' और 'प्रियत्व' रूप धर्म जड़जीवात्मक जगत् में अनुगततया प्रतीत होते हैं, वैसे ही कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि धर्मोका मूल भी ब्रह्ममें क्यों नहीं खोजना चाहिये? इस प्रश्नके उत्तरतया इन धर्मोका सांसारिक भ्रान्तिका जनक होना? तो कोई उपपन्न हेतु नहीं है. क्योंकि सत्ता चैतन्य और आनन्द को भी जगद्भ्रान्तिके मूलाधिष्ठानतया शांकर दर्शनने स्वीकारा तो है ही, सो उन्हें भी ब्रह्मगत नहीं मानना चाहिये (द्रष्टव्य: ब्र. सू.भा.१।१।५) .

यदि आत्मरमणशील हो तो इस सच्चिदानन्द ब्रह्मको सृष्टि प्रकट करनेकी क्या आवश्यकता; और निर्लेप रमणार्थ यदि आत्मभिन्न सृष्टिको रच कर जीवात्मासे शुभाशुभ कर्मोंको करवा कर इष्टानिष्ट फलोंका प्रदाता ब्रह्म बनता हो तो ऐसे ब्रह्मको आप्तकाम कैसे मानना? इन प्रश्नोंका उत्तर वाल्लभ वेदान्तके अनुसार यों दिया जा सकता है कि यह सृष्टि ब्रह्मके आत्मरमणका ही विस्तार है-

> ''स वै नैव रेमे... स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्... तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत...ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेद् 'अहं ब्रह्मास्मी' ति. तस्मात् तत् सर्वमभवत् तद्यो देवानां प्रत्यबुध्यत सएव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्'' (छां.उ.१।४।१-१०).

अतएव वाल्लभ वेदान्तका कहना है कि सृष्टिनिर्माणसे पूर्वकालिक अरमण ब्रह्मके स्वाभाविक ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्यादि अनन्त दिव्य गुणोंकी निर्विषयता दूर करनेकेलिये ही था. सृष्टिरूप रमण, अतएव, आत्मरमणका ही विस्तार है. उत्तरकालिक रमणेच्छया स्वयंमेंसे भिन्नतया प्रकट नामरूपवान् जड़के साथ रमणके कारण या ज्ञानक्रियावान् जीवके साथ रमणके कारण भी ब्रह्मकी आप्तकामतामें कोई व्याघात नहीं उभरता, क्योंकि देव ऋषि या मनुष्यों में भी जो भी कोई, एक ही ब्रह्मके अनेक बन जानेके, इस गूढ़ रहस्यको जान लेता है, वह स्वयं वस्तुमात्रकी ब्रह्मात्मकताका अनुभव करने लग जाता है. ऐसी स्थितिमें ज्ञानवैराग्यैश्वर्यादि दिव्यानन्दात्मक निखिल-गुणशाली परमेश्वरमें निज अंशरूप जीवोंकी तरह किसी तरहके पररमणप्रयुक्त अज्ञान या भ्रान्ति से पनपे क्षुद्र सुख-दुःखोंकी व्यवसायात्मिका अनुभूति तो सम्भव ही नहीं है. जीवात्माके भी भीतर विद्यमान होनेके कारण, परन्तु, अन्तर्यामी परमात्माको भी सर्वज्ञ होनेके

कारण अनुव्यवसायात्मिका अनुभूति तो हो ही सकती है.

अतएव भाष्यकार कहते हैं– ''भगवान्की लीलाविहारकी इच्छा के कारण पहले निज अंशोंमें आनन्दात्मक भगवद्धर्मोंका तिरोभाव होता है. फलतः वह अंश जीवभावापन्न होकर सकाम बन जाता है.–अन्यथा आनन्द कभी सकाम नहीं हो सकता है, पूर्णकामता ही आनन्दका असाधारण लक्षण है. इन आनन्दात्मक धर्मोके तिरोभावके बिना भगवान्के ऐश्वर्यादि दिव्य गुण निर्विषय बन जायेंगे'' (द्रष्टव्य : ब्र.सू. भा.३।२।५). अतएव ''परमतः सेतून्मान?–''फलमत उपपत्तेः'' अधिकरणों (ब्र. सू. ३।२।३१–४१) में यह कहा गया है कि जो उत्तम निष्काम अधिकारी होते हैं, उनकेलिये तो परमात्मा फलदाता नहीं प्रत्युत फलरूप ही होता है; परन्तु सकाम मन्द–मध्यमाधिकारियोंको उनके कर्मों के अनुसार ऐहिक या पारलौकिक फल परमेश्वर ही प्रदान करता है.

जैसे एक परमात्मा पुष्टिमर्यादाप्रवाहके भेदोपभेदोंसे अनेकविध जीवात्मा बन जाता है, श्रीमहाप्रभुके अनुसार, वैसे ही एक ही भगवदनुग्रह न केवल भक्ति अपितु ज्ञान कर्म तप वैराग्य तीर्थ व्रत आदि अनेकविध आध्यात्मिक या आधिदैविक जीवव्यापारोंके रूपमें स्वयंके विविध रूपोंको प्रकट करता है. यह तो जब ये उपाय मुक्ति या भक्ति के प्रापक हो पाते हों, तब इनके स्वरूपका विवक्षित विवरण है. श्रीमहाप्रभुके अनुसार, अन्यथा, अन्य आधिभौतिक उपायोंकी तरह ही इन कर्मोंकी सफलता या विफलता भी ईश्वरेच्छाधीन ही होती है.

जैसा कि हम देख गये सजातीय विजातीय एवं स्वगत द्वैतसे रहित आत्मामें क्रीड़ार्थ जो ऐच्छिक द्वैत प्रादुर्भावित हुवा है, उसमें परमेश्वरके कर्मानुसारी फलदाता होनेकी दुहाई तो लोकदृष्ट्यनुरोधी ही समाधान है; अन्यथा परमात्माका निरंकुश ऐश्वर्य सिद्ध नहीं होगा. कर्मनियम स्वयंनिर्धारित है अन्यनिर्धारित नहीं, ऐसा स्वीकारनेपर भी, इतनी असमर्थ जीवात्माओंके लिये शास्त्रोपदिष्ट कितने कठोर एवं क्रूर कर्मनियमके निर्धारक होनेके कारण ईश्वरकी निरवधिक दयालुता ही अविश्वसनीय बन जाती है. कर्मसापेक्ष फलदानके सिद्धान्तको, अतएव, लोकदृष्ट्यनुरोधी समाधान स्वीकारना ही उचित है (द्रष्टव्य : त.दी.नि.१।७६). सर्वनिर्णयमें भी इसका सुविशद निरूपण जो श्रीमहाप्रभुने किया है उसका सार कुछ इस तरह है:

''दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया मामेव ये प्रपद्यन्ते

मायामेतां तरन्ति ते'' वचनमें 'माम्' के साथ 'एव' कारको जोड़ कर भगवान्ने स्वेतर सभी साधनोंकी अनुपायता दिखलायी है. क्योंकि ज्ञान कर्म तप आदि सभी उपायोंकी फलप्रापकता भगवदधीन ही है, अतः आवश्यकता साधननिष्ठाके बजाय भगवत्स्वरूपनिष्ठाकी ही श्रेष्ठ होती है. जो यह सोचते हैं कि भक्तोंको भी अन्तमें कभी ज्ञान प्राप्त होनेपर ही मुक्ति मिल पायेगी, उनका यह दृष्टिकोण, 'माम्' पदवाच्य जो ज्ञानप्राप्य स्वरूप है उसके साथ जुड़े 'एव' कारको स्वसहोच्चारित पदसे हठात् छुड़ा कर असहोच्चारित ज्ञानादि साधनोंसे जोड़नेकी अमंजसतामें पर्यवसित होता है. अतएव तमेव विदित्वा या ज्ञानी त्वात्मैव में सदृश वचनोंमें कहीं ब्रह्मेतर विषयके व्यार्वतनार्थ तो कहीं ''नहि निन्दा निन्द्यं निन्दति किन्तु स्तुत्यं स्तौति'' न्यायसे किसी एक उपायकी स्तुतिकेलिये इतर उपायोंका व्यावर्तन सा दिखलाया गया है. उल्लिखित 'तमेव' में जुड़े एव' कारको भी, इसलिये, कोई स्तुत्यर्थ मानना चाहे तो वह इसलिये सम्भव नहीं, क्योंकि अनेक अज्ञानी या द्वेषादि भावोंको रखनेवाले सरी-सर्प-पशु-पक्षी-देव-मानव-दानव जीवोंको भी मुक्ति प्रदान करनेके अनेक पौराणिक उपाख्यानोंको या तो अर्थवाद मानना पड़ेगा या फिर ज्ञान या अन्य किसी अभीष्ट उपायोंके पूर्वजन्ममें अनुष्ठानकी अश्रुत कल्पना करनी पड़ेगी. वह कर लेनेके बावजूद फलमत उपपत्तेः 'सूत्रोक्त फलदानमें श्रुत परमेश्वरका स्वातन्त्र्य तो कुण्ठित होगा ही. भागवतके एकादशस्कन्धमें स्वप्राप्तिके साधनतया योग सांख्य दान व्रत तप होम यज्ञ व्याख्या स्वाध्याय या संन्यास के बारेकी सभी विधि-निषेध-मूलक प्रवृत्ति-निवृत्ति या श्रोतव्य-श्रुत की परवाह छोड़ कर सर्वदेही जीवात्माओंके भी आत्मरूप ऐसे एकमात्र परमात्माके शरणमें आनेकी बात स्वयमेव भगवान्ने कही है. स्वयं कैसे मिलेंगे इसे स्वयंसे अधिक भलीभांति अन्य कौन जान सकता है!

इससे सिद्ध होता है कि कर्म ज्ञान भक्ति आदि सभी साधनोंकी शास्त्रनिरूपित साधनता या उपायता केवल लोकप्ररोचनार्थ ही उपदिष्ट हुई हैं. एतावता इन वचनोंको बाधितार्थ मान लेनेकी धांधल नहीं करनी चाहिये, क्योंकि शास्त्रीय प्रमाणबलके आधारपर भगवत्कृपाके प्रकट होनेके औत्सर्गिक प्रकार तो ये ही दिखलायी देते हैं. विशेषकृपाका साथ मिलनेपर ये शास्त्रोपदिष्ट उपाय जीवके उद्धारके साधन भी बनते ही हैं. अपवादरूपेण, परन्तु अपने प्रमेयबलको प्रकट करके इन शास्त्रोपदिष्ट साधनोंकी अपेक्षा रखे बिना भी जिस किसी विहित या निषिद्ध व्यवहार या मनोभाव को भी अपने अनुग्रहके प्राकट्यका निमित्त भगवान् बना ही सकते हैं.

फिरभी भक्ति और भक्तीतर साधनों के बीचमें एक तारतम्य, श्रीमहाप्रभु भारपूर्वक, यह दिखलाना चाहते हैं कि यथायथ उपायों या साधनों के द्वारा प्रकट हुवे परमात्माके स्वरूप भी अनेकविध हो सकते हैं. उदारणतया कृपा होनेपर, कर्मसे कर्मफलरूप स्वर्गतया या आत्मसुखतया उस आनन्दका प्राकट्य होता है. ज्ञान या उपासना से तदनुरूप ज्ञेय या उपास्य का ब्रह्मानन्दतया प्राकट्य होता है. इसी तरह भक्तिसे, उदासीनरूपमें नहीं प्रत्युत भजनीयरूपमें ही, परमात्माके भजनानन्दका प्राकट्य होता है.

अतः हमारे ऊपर भगवान्की वैसी कृपावृष्टिका द्योतक हो या न हो, प्रेमात्मिका भक्तिसे भगवद्भजनका कुछ असाधारण वैशिष्ट्य तो होता ही है. अतः (१) प्राणिमात्रपर दयाभाव रखते हुवे (२) यदृच्छालब्धमें सन्तोष रखते हुवे (३) सभी इन्द्रियोंकी वृत्तिओंका उपशम करते हुवे (४) निष्कपट एवं निष्काम प्रेमसहित भगवत्सेवामें तत्पर रहना हर स्थितिमें उचित ही होता है. क्योंकि जो अज्ञान काम द्वेष मात्सर्य या भय जैसे असाधनोंको भी निजप्राप्तिका साधन बनानेको समर्थ है, वह उल्लिखित प्रकारसे भगवन्निष्ठ होकर जीवनयापन

करनेवालेके प्रति निष्ठुर क्यों–कैसे हो पायेगा? (द्रष्टव्य: त.दी. नि.२।३०४–३१७).

पञ्चपर्वा विद्या(=१.वैराग्य २.सांख्य ३.योग ४.तप ५.भक्ति); एवं पञ्चपर्वा अविद्या(=१.अन्तःकरणाध्यास २.प्राणाध्यास ३.इन्द्रियाध्यास ४.देहाध्यास ५.स्वरूपविस्मृति) ये भगवान्की ही द्वादशविध शक्तिओंमेंकी दो शक्तियां हैं (द्रष्टव्य: तैत्ति.उप.२२६–भाग १०।३९।५५). इन दशविध पर्वोंमेंसे जब विद्याशक्तिके जिस मोक्षोपायरूप पर्वको असाधन या अविद्याशक्तिके जिस मोक्षविघातक पर्वको भगवान् जब साधन बनना चाहें तब भगवान्का वैसा निरंकुश स्वातन्त्र्य न केवल स्वीकारना ही चाहिये प्रत्युत साधनोपदेशक शास्त्रोंद्वारा वह निरूपित है ही. अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं :

> ऐसा वह परमकाष्ठापन्न कभी अपनी अखण्डता तथा पूर्णता को लिये हुवे जगदुद्धारार्थ प्रादुर्भूत हो जाये, तब उसे 'कृष्ण' कहा जाता है. भगवान्के अवतीर्ण होनेसे पूर्व भी उद्धारके अनेक साधन तो विद्यमान थे ही; और उन साधनोंको जो अपनाने जो जीव समर्थ न हों ऐसे अनधिकारिओंके बीच प्रकट होकर भी भगवान् क्या करेंगे? ऐसी आशंकायें अद्भुतकर्मा भगवान् के बारेमें अप्रासंगिक हैं. क्योंकि भगवान् तो ऐसे अद्भुतकर्मा हैं कि असाधनको भी साधन बना सकते हैं (त. दी. नि. १।१).

लौकिक प्रमाणोंसे अप्रमेय होनेपर भी निजेच्छावश भगवान् सर्वजननयनगोचर प्रमेय बन सकते हैं. ऐसे ही कर्म–ज्ञान–भक्तियोगोंसे अथवा विद्याके वैराग्य सांख्य योग तप और भक्ति रूप पांच पर्वोंसे भी, प्रकट होनेकी इच्छा न होनेपर अप्रकट रह सकते हैं. स्वयंकी इच्छा होनेपर भगवान्, अविद्याके पांच पर्वोंको; या काम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्य को भी, साधन या निमित्त बना कर प्रकट हो सकते हैं. विद्यासे मुक्तिका नियम या अविद्यासे संसृतिका नियम जीवात्माओंके लिये विद्योपदेशक शास्त्रीय प्रमाणमर्यादाके अनुसार बन्धनकारी हो सकता है–स्वयं परमात्माकेलिये बन्धनकारी नहीं. अतएव प्रमेयप्रकरणमें हमने देखा कि लोकरीत्या वृन्दावनस्थित श्रीकृष्णका व्रजमें स्थित भक्तोंकी अनुभूतिका प्रमेय बन पाना शक्य नहीं, फिरभी अपने दिव्य वेणुवादनको

श्रवण करा कर शृंगाररसभावात्मक प्रमेय भी भगवान् बने. इसी तरह भगवान्को अपने पति बनानेकी कामनावश किये जाते कात्यायनीव्रतरूप साधनको भगवान्ने असाधन बना कर, असाधन चीरहरण और चीरदान की निजकेलिको साधन बना लिया: शरद् ऋतुमें रासक्रीड़ाका वचन देकर! ''अहं क्रतुरहं यज्ञः... अहम् अग्निरहं हुतम्'' वचनसिद्ध श्रौत साधनरूप यज्ञयागमें देवताओंके लिये सम्पादित हव्यान्नकी आहुतिको असाधन बनाकर गोपबालकरूप निजसखाओंको खिला देनेरूप असाधनको भगवानूने साधन बना दिया! जिसे वेदमें मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च वचनद्वारा मुखरूप; एवं भागवतमें ''इन्द्रादयो बाहव आहुरुग्राः'' वचनद्वारा बाहुरूप कहा गया है, ऐसे इन्द्रको चढ़ायी जानेवाली बलि रूपी जो साधन उसे असाधन बना कर, अश्रुतपूर्व गोवर्धनपर्वतके अर्चनको निजार्चनका साधन बना लिया! असाधनरूप वरुणापराधको भगवान्ने निजमाहात्म्यज्ञानके प्रदानार्थ साधन बना दिया! ऐसी विलक्षण साधनलीलाके सात अध्यायोंके सात अर्थोंके अनुसन्धानार्थ अब हमें प्रवृत्त होना चाहिये.

ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य इन छह गुणधर्मोंके ; तथा इनसे युक्त सातवें स्वयं भगवान् धर्मके, निरूपणार्थ इस साधनप्रकरणमें सात अध्याय योजित किये गये हैं. स्नेहकी आसक्ति दशाका वर्णन जैसे प्रमेयप्रकरणमें अभिप्रेत है; वैसे ही स्नेहकी व्यसनावस्थाका वर्णन इस साधनप्रकरणमें अभिप्रेत है. भगवत्स्नेहकी इस व्यसनावस्थामें अनुष्ठित साधनरूपा कृतिद्वारा व्रजभक्तोंका चित्त भगवान्में कितना अधिक लग गया था यही यहां निरूपणीय है. सकल दैहिक धर्मोंका त्याग करके भगवत्प्राप्त्यर्थ लौकिक या वैदिक कर्तव्योंके निर्वाहकी जीवनशैलीमें भगवत्स्नेह व्यसनदशापन्न हो गया है. इस तरह सातों अध्यायोंद्वारा व्रजभक्तोंके निरोधका अर्थात् प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिका ही वर्णन यहां अभिप्रेत माना गया है.

वैराग्य सांख्य योग तप और भक्ति रूप विद्याके पांचों पर्वोंकी अनुष्ठानात्मिका सिद्धि तो नहीं परन्तु स्वरूपसिद्धि या फलसिद्धि तो यहां भी विवक्षित है ही.

तदनुसार

साधनप्रकरणके प्रथम (आदितः १९=२२) अध्यायमें : भगवान्के ऐश्वर्य गुणका वर्णन अभिप्रेत है. कुमारिकाओंकेद्वारा भगवद्व्यसनवशात् किये

गये कात्यायनीव्रतके प्रसंग में भगवान् ने उनके वस्त्रोंको हर कर उनके लौकिकभावको दूर किया और बादमें स्वयं ही रासक्रीड़ाके वरदानका ऐश्वर्य प्रकट किया.

साक्षात् सम्भव न होनेपर परम्परया भी भगवान् ही सेवनीय होते हैं और एतदर्थ देहेन्द्रियादिका स्वार्थपूर्ण विनियोग करनेके बजाय भगवदर्थ विनियोग करनेकी भावना रखनी उचित होती है. प्रकृत लीलासन्दर्भमें गोपिकाओं द्वारा अनुष्ठित वैराग्यसाधनाके इसी अभीष्ट स्वरूपको सिद्ध करने की बात समझाने केलिये कात्यायनीव्रतद्वारा भगवद्भजनकी कथा निरूपित हुयी है. वृक्षके उदाहरण द्वारा परार्थ जीवनयापनका उपदेश भी इसी वैराग्यसाधनाके निरूपणार्थ है.

साधनप्रकरणके द्वितीय (आदितः २०=२३) अध्यायमें वीर्य गुणका वर्णन अभिप्रेत है. यज्ञभोक्ता यज्ञात्मा भगवान् एवं उनके साथी गोपबालकों को भोजन कराने आयी ब्राह्मणोंकी पत्निओंपर उनके यज्ञपरायण पतिओंका मत्सरग्रस्त न होना भगवान् के असाधारण वीर्य गुणका निरूपण है.

इसी तरह क्षुधापीड़ित गोपबालकोंने क्षुधापीड़ाकी निवृत्तिकेलिये भगवान्की ही प्रार्थना की अन्य किसीकी नहीं, यह विद्याके द्वितीय पर्व सांख्य-विवेकका प्रकृत लीलोपयोगी सन्दर्भ है.

साधनप्रकरणके तृतीय (आदितः २१=२४) अध्यायमें : यश गुणका वर्णन अभिप्रेत है. जिन हेतुओंके वश इन्द्रपूजन किया जाता था, उन हेतुओंका निरसन करके वैष्णवयागरूप गोवर्धनपूजन भगवान्ने करवाया, वह भगवान् का स्वधर्मयोजनरूप यशोरूप गुण है.

इन्द्रदेवकेलिये परम्पराप्राप्त बलि-उपहार पूजन रूप अन्याश्रयार्थ उत्सुक चित्तोंके चाञ्चल्यका निराकरण करके गोवर्धनपूजनार्थ सभी व्रजवासिओंके चित्तको अपनेमें निरुद्ध करना, प्रकृत लीलोपयोगी सन्दर्भमें विद्या तृतीय पर्वरूप योगका अभीष्ट स्वरूप है.

साधनप्रकरणके चतुर्थ (आदितः २२=२५) अध्यायमें : श्री गुणका वर्णन अभिप्रेत है. गोवर्धन पर्वत धारण करके इन्द्रकृत उपद्रवोंसे निजभक्तोंका त्राण करनेके निरूपणमें भगवान्की श्री वर्णित हुयी है.

सह्यासह्य सुख-दुःखादि सभी अवस्थाओं में भगवान् ही आश्रयणीय होते हैं. भगवान् भी अक्लिष्टकर्मा होनेसे किसी तरहके क्लेशके बिना ही

गोवर्धनधारणद्वारा निजभक्तोंकी रक्षा करते ही हैं, यह प्रकृत लीलोपयोगी सन्दर्भ में विद्याके चतुर्थ पर्वरूप तपका अभीष्ट स्वरूप है.

साधनप्रकरणके पञ्चम (आदितः २३=२६) अध्यायमें : ज्ञान गुणका वर्णन अभिप्रेत है. एक बार ही नहीं परन्तु आनेवाले वर्षोंमें भी अन्याश्रयार्थ कोई व्रजभक्त प्रवृत्त न हो एतदर्थ गर्गाचार्यके वचनोंसे भगवन्माहात्म्यका निरूपण जो किया गया है, वह भगवान्के ज्ञान गुणका ही निरूपण है.

गर्गाचार्यद्वारा निरूपित भगवन्माहात्म्यके ज्ञानके साथ-साथ भगवान्में परमस्नेहरूपा भक्ति ही, प्रकृत लीलोपयोगी सन्दर्भमें, विद्याके पञ्चम पर्वरूप भक्तिका अभीष्ट स्वरूप है.

साधनप्रकरणके षष्ठ (आदित: २४=२७) अध्यायमें : वैराग्य गुणका वर्णन अभिप्रेत है. इन्द्रकेद्वारा अपराध किये जानेके बावजूद इन्द्रको निरस्त करनेके बजाय उसके केवल मदको निरस्त करनेकी लीलामें भगवान्का वैराग्य गुणनिरूपित हुवा है.

साधनप्रकरणके सप्तम (आदितः २५=२८) अध्यायमें : षड्गुणोपेत धर्मीका वर्णन अभिप्रेत है. व्रजवासियोंको वैकुण्ठकी साक्षात् अनुभूति करा कर पुनः भजनानन्दके दानार्थ गोकुलमें लाना, यह भगवान्की अपने धर्मी स्वरूपको भलीभांति जतानेकी ही लीला है.

इस तरह दशम स्कन्धका प्रतिपाद्य विषय –अपनी समग्रताके साथ परमात्माका जीवात्माओंके बीचमें प्रकट होकर ऐसी लीला करना कि जीवात्मा प्रापञ्चिक विषयासक्तिके चंगुल से छूट कर भगवान्में निरतिशय आसक्त बन जाये –के सन्दर्भमें तामस प्रकरणमें ऐसे तामस अधिकारिओंके अर्थात् शास्त्रीय साधनाओंकी सिद्धिसे रहित अधिकारिओंके साथ भगवल्लीला विवक्षित है. इस तामस प्रकरणके अन्तर्गत प्रमेय-प्रकरणमें उन तामस अधिकारिओंके अधिकार स्वभाव और भाव के अनुरूप कैसा प्रमेय स्वरूप भगवानूने प्रकट किया यह दिखलाना अभीष्ट है. इसी तरह उन भक्तोंने ऐसे प्रकट प्रमेयमें समासक्त हो कर क्या कैसे साधन किये इसका निरूपण साधन-प्रकरणमें किया गया है.

स्पष्ट है कि यहां जो कुछ लीला वर्णित हुई है उसके आधिदैविक लीलापक्षमें तो भगवान्का प्रमेयबल अर्थात् शास्त्रप्रमाणाननुरोधी सामर्थ्य ही प्रकट हुवा है. साथ ही साथ उस लीलाकी कथाको प्रकट करनेमें प्रमेयबलके

अन्तर्निहित प्रमाणबलवाले आध्यात्मिक भाव भी विवक्षित हैं ही.

इससे यह सिद्ध होता है कि जहां जीवकेलिये ज्ञातव्यबोधकतया या कर्तव्यसाधकतया आध्यात्मिक प्रमाणबलका निरूपण किया जाता है, वहां प्रमाणान्तर्निहित आधिदैविक प्रमेयबलको भुला नहीं देना चाहिये, ''फलमत उपपत्तेः'' न्यायानुसार इसी तरह जहां परमात्माके लीलाविहार केलिये आधिदैविक प्रमेयबलका निरूपण किया गया हो, वहां उसके प्रमाणबलानुकूल आध्यात्मिक भावोंको भुला कर लीलानिरूपण नहीं करना चाहिये. आत्मभिन्न किसी तत्त्वके प्रमाता प्रमाण प्रमिति या प्रमेय होनेके प्रभेदोंसे रहित एकमात्र अखण्ड सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा भगवान् स्वयंको ही लीलार्थ उक्त चतुर्विध प्रभेदोंमें प्रविभक्त कर प्रकट होते हैं. इसी तरह आत्मभिन्न किसी तत्त्वके कर्ता करण कृति या कार्य होनेके प्रभेदोंकी अपेक्षासे रहित ही वह स्वयंको इन चतुर्विध प्रभेदोंमें भी प्रविभक्त कर प्रकट होते हैं...ब्रह्मजिज्ञासार्थ प्रवृत्त वेदान्तसूत्रोंमें ब्रह्मतत्त्वके श्रवण मनन एवं निदिध्यासन केलिये उसकी स्वाभाविक ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति के बारेमें उठते सन्देहोंका वारण अपेक्षित है. भगवल्लीलाके श्रवण कीर्तन एवं चिन्तन केलिये, तन्मूलक पादसेवन अर्चन एवं वन्दन केलिये; तथा इन भक्तिमार्गीय क्रियाकलापोंको दास्य सख्य एवं आत्मनिवेदन रूप लीलात्मक भाव-भावनाओंसे मण्डित करनेकेलिये भगवान्की क्रिया- ज्ञान-रूप उभयविध शक्तिओंके कारण ऐश्वर्यादि षड्गुणोंके द्विगुणित हो जानेसे, जो द्वादशविध शक्तियां अनुभूत होती हैं, उनके साथ भूतलके ऊपर प्रकट भगवान्के लीलागानकी उत्कण्ठाओंको सन्तुष्ट करना, वस्तुतः तो उस सच्चिदानन्दरूप औपनिषद् ब्रह्मका एवं गीतोक्त आत्मानन्दरूप परमात्माका ही भगवदानन्दके रूपमें एक मधुर-मंगल- मृदुल रसास्वादन श्रीमद्भागवत है.

अतएव जैसे वेदान्तसूत्रके बारेमें श्रीमहाप्रभु कहते हैं :

सन्देहवारकं शास्त्रं वेदप्रामाण्यवादिनाम् ।
क्रियाशक्तिज्ञानशक्ती सन्दिह्येते परस्थिते ।।

वैसे ही श्रीमद्भागवतके बारेमें भी कहा जा सकता है:

आनन्दस्य हरेर्लीला शास्त्रार्थो नैकधा हि सा ।
नैकधा हि भवेत्तोषः लीलौत्कण्ठ्यवतामिह ।।

अनुवादककी लेखिनीसे

लेखक: गो.वा.भगवदीय श्रीफतहचन्दजी वासु(पुष्करणा), जोधपुर

इसको 'साधन' उपप्रकरण कहनेका कारण यह है कि इसमें कुमारिकाओंके साधन करनेसे भगवानमें 'व्यसनरूप' निरोध सिद्ध हुआ है. लौकिक एवं वैदिक कर्म द्वारा अपने देह सम्बन्धी सुखादि फलोंकी प्राप्तिकेलिए नहीं, किन्तु भगवत्प्राप्तिकेलिए ही इनके साधन करनेको 'व्यसन' कहते हैं.

इस उपप्रकरणमें ७ अध्याय हैं.

पहले–१९वें अध्यायमें भगवानका कुमारिकाओंके व्रतसे प्रसन्न होकर वरदान देना ईश्वरधर्मका द्योतक है अतः इससे 'ऐश्वर्य' धर्म प्रकट किया है.

दूसरे–२०वें अध्यायमें यज्ञपत्नियोंके प्रसंगमें अपना माहात्म्य दिखाकर 'वीर्य'(पराक्रम) धर्मका प्रदर्शन किया है.

तीसरे–२१वें अध्यायमें आधिदैविक वैष्णव महायज्ञ(अन्नकूट–गोवर्धन पूजन) करानेसे 'यश' धर्मको स्फुटकर दिखाया है.

चौथे–२२वें अध्यायमें गोवर्धनपर्वतका धारण करनेसे 'श्री'धर्मको प्रदर्शित किया है.

पांचवे–२३वें अध्यायमें श्रीगोवर्धनको इस आयुमें उठानेसे जो अद्भुतकर्म किया उसको देखकर ब्रजवासियोंके मनमें उत्पन्न शंकाओंका नन्दजी द्वारा निवारण करानेसे 'ज्ञान' धर्म प्रकट किया है.

छठे–२४वें अध्यायमें इन्द्रमद त्याग कराके 'वैराग्य' प्रदर्शित किया है.

सातवें–२५वें अध्यायमें गोकुलवासियोंको ब्रह्मानन्द प्राप्तिके पश्चात् उस आनन्दसे अधिक अगणित आनन्द भजनानन्द देनेकेलिए उस(ब्रह्मानन्द)मेंसे निकालकर अपने धर्मी स्वरूपके कार्य(धर्म)को प्रकट दिखाया.

अध्याय–१९ वस्त्रहरण लीला

मार्गशीर्ष(मगसर) जिसे पुष्टिमार्गमें गोपमास भी कहते हैं उस मासमें कुमारिकाएं प्रातःकाल उठकर श्रीयमुनाजीमें नियमपूर्वक स्नान करतीं और श्रीयमुनाजीकी रेणुकासे देवीकी मूर्ति रचकर उनकी गंध धूप दीप आदिसे पूजा करती और निम्न मंत्रका जप करती.

कात्यायनि! महाभागे! महायोगिन्यधीश्वरि!।
नन्द गोपसुतं देवि! पति मे कुरु ते नमः।।

अर्थ–हे कात्यायनी! हे महाभागे! हे महायोगिनी! हे अधीश्वरी! हे देवि! मेरे पति नन्दगोपके पुत्र हों ऐसी कृपा करो. आपको नमस्कार है.

एकदिन पूर्ववत् यमुनाजी पर आकर वस्त्रोंको उतार तीर पर धर, जलमें स्नान करने लगीं. उस समय श्रीकृष्णके गुणगानमें आनन्द मग्न थीं. भगवान् श्रीकृष्ण उनकी व्रतचर्यासे प्रसन्न हो वहां पधारे और देखा कि कुमारिकाएं जलमें नग्न होकर स्नानकर रही हैं इस प्रकार वरुण देवका अपमान होनेसे इनकी पूजाके फलमें बाधा पड़ रही है अतः इनका पहले प्रायश्चित द्वारा अपराध क्षमा कराके फिर इनके मनोरथकी सिद्धिका इनको वरदान दूंगा. कुमारिकाएं स्नान करके जलसे बाहिर आने लगीं तो अपने वस्त्रोंको तीर पर न देखकर आश्चर्यकर ही रही थीं कि अचानक उनकी दृष्टि कदम पर बिराजे हुए बंशीधारी श्रीकृष्णके मुस्कराते हुए और उनके मनको मोहित करते हुए दर्शन हुए. भगवानने कहा कि अबलाओं! बाहिर आकर अपने-अपने वस्त्र ले लो. उन्होंने लज्जा युक्त होकर कहा कि हम आपकी दासियां हैं आप कृपाकर हमारे वस्त्र हमें यहां पर ही दे देवें परन्तु भगवानने कहा कि तुम लोग बाहिर आकर दोनों हाथ जोडकर नमस्कार करो और अपने वस्त्र ले लो क्योंकि आप लोगोंने वरुण देवका नग्न स्नान करके अपमान किया है जिसका प्रायश्चित यह ही है यह सुनकर उन्होंने भगवानकी आज्ञाका पालन किया. उनको निर्दोष देखकर उनको वरदान दिया कि शरदऋतुमें तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा. अब आप लोग व्रजमें जाओ. तब वे चली गई.

वस्त्रहरण लीलाका रहस्य एवं शिक्षाका सारांश–

'रसो वै सः', ''रसं लब्ध्वा आनन्दी भवति'' वेदान्त सिद्धान्तमें ब्रह्मके उस स्वरूपको जीव कहा जाता है जिस स्वरूपमें आनन्द(रस) छिपा हुआ है. आनन्दके तिरोहित होनेसे जीवको सदेव उस आनन्दकी चाहना रहती है किन्तु अविद्यारूप अन्तर्पटके कारण जीव उस आनन्दमय स्वरूपको प्राप्त नहीं कर सकता है. उस अन्तर्पटको हटानेकेलिए तथा आनन्दमय स्वरूपके रसका रसपानकर कृतार्थ होनेकेलिए जीवमें तीव्र उत्कट विरह भावना जागृत होनेकी आवश्यकता है. जब जीवमें इस प्रकारकी भावना जागृत होती है तब भगवान् उस जीवके अन्तःकरणमें रसरूप शक्ति स्थापित करते हैं जिससे जीवमें स्त्रीभाव

जागृत होता है. उस भावसे वह रसात्मक रसदाता भगवानसे मिलनेके सिवाय अन्य सर्व रसोंको तुच्छ समझकर उनका त्यागकर देता है, उस रसेशकी प्राप्तिकेलिए क्लिष्टसे क्लिष्ट कर्म करनेकेलिए तैयार होता है, भगवान् उसके शुद्ध भावको देखकर स्वयं उसके मनोरथोंको पूर्ण करनेकेलिए प्रयत्न करते हैं, अपनी(प्रभुकी) प्राप्तिमें जीवको जो प्रतिबन्ध होते हैं उनको प्रभु अपने प्रमेयबलसे सरल रीतिसे नष्ट कराकर क्रीड़ा द्वारा अपना रसदान देकर उसको क्रमशः अपने जैसा रसमय बना देते हैं. यह रहस्य तथा शिक्षा कुमारिकाओंके चीरहरण चरित्रके मनन करनेसे समझमें आती है.

प्रथम देखना चाहिये कि कुमारिकाएं कौन थीं और उनको 'रसेश श्रीकृष्ण हमारे पति हों' यह भावना क्यों उत्पन्न हुई तथा उस भावनाको सफल करनेकेलिए कात्यायनी पूजनकी विधि किसने सिखाई? एवं मन्त्रकी प्राप्ति किससे हुई? इन प्रश्नोंके विश्लेषणसे उपरोक्त रहस्य स्वतः समझमें आजायगा. इस रहस्यके ज्ञानके अनन्तर जो-जो चीरहरण लीलामें लौकिक दृष्टिसे शंकाएं उत्पन्न होती हैं उनका भी निवारण स्वतः हो जाता है.

कुमारिकाएं पूर्व जन्ममें ऋषि थीं. वे ऋषि जिस अरण्यमें रहते थे वहां नव घनश्याम सौन्दर्य निधि प्रभु श्रीरामचन्द्रजी सीता सहित पधारे. प्रभुके उस युगल स्वरूपके कमनीय कान्तिमय सौन्दर्यको देखकर ऋषियोंको उस स्वरूपके रसपान करनेकी मनमें अत्यन्त उत्कण्ठा हुई, श्रीसीताजी जिस प्रकार इनका रसास्वाद ले रही हैं वैसे हम भी लेवें ऋषियोंकी यह उत्कट अभिलाषा देखकर, दयालु प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने अपनी प्राप्ति करानेकेलिए उनमें प्रसादरूप शक्ति स्थापित की जिससे ऋषियोंमें पूर्ण स्त्रीभाव उत्पन्न हुआ. उसके होते ही, ऋषि अत्यन्त आकुल-व्याकुल होने लगे और मनसे प्रभुकी शरण ग्रहण की. शरण जाने पर शरणागत प्रतिपालक प्रभुने ऋषियोंको वरदान दिया कि मैं सारस्वत कल्पमें श्रीकृष्ण नामसे प्रकट होकर आपसे स्वच्छन्द लीलाकर, आपको आपकी इच्छानुसार रसदान करूंगा. इस समय मैं मर्यादारूपसे प्रकट हुआ हूं. श्रीकृष्णावतारमें लीलारूपसे प्रकट होऊंगा तब आपका मनोरथ पूर्ण होगा. इस वरदानसे वे ऋषि स्त्रीरूपसे प्रकट हुए हैं. इन स्त्रियोंका विवाह संस्कार अब तक नहीं हुआ है इसलिए इनको कुमारिकाएं कहा जाता है. उनको पूजा विधि आदिका भी सम्पूर्ण ज्ञान हो गया अथवा ऋषि होनेसे पूजा विधिका ज्ञान था ही

तथा वरदानादिकी स्मृति इस कुमारिका जन्ममें भी रही जिससे वे ५ वर्षकी आयुमें ही भगवान् हमारे पति हों इसलिए कात्यायनी(प्रसादरूपा शक्ति) देवीका पूजन करने लगीं. इस व्रतसे भगवान् प्रसन्न हुए. व्रतमें किए हुए वरुणके अपराधका उपरोक्त प्रकारसे प्रायश्चित कराया तथा ज्ञान दृष्टि(यह कृष्ण भगवान् है सब कुछ अन्दर बाहिर आप ही हैं अतः सब कुछ देख रहे हैं, इनसे पडदा रखना ही अज्ञान है, इस प्रकारकी ज्ञान दृष्टि)की पूर्णता की. तदनन्तर इनके मनोरथ पूर्तिका वरदान दिया. समय पर उस वरदानकी भी पूर्ति की अर्थात् उनके साथ क्रीडाकर रस दान दिया.

शंका–भगवानने वस्त्र लिए, उनको नग्न बाहिर बुलाया और प्रणाम इसी प्रकार कराया जिससे उनके सर्व अंग देखनेमें आये यह कार्य नीति–धर्म विरुद्ध भगवानने किया है.

उत्तर–यदि कृष्णको भगवान् माना जाता है तो सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी घट–घट व्यापी है अतः वे तो वस्त्रोंके होते हुए भी सब अंग देख रहे हैं. उनके आगे वस्त्र पहनना वा न पहनना समान ही है. यदि कृष्णको भगवान् न मानकर मनुष्य मानें तो भी इस लीलामें कुछ भी अनीतिजन्य दोष नहीं है क्योंकि कात्यायनी पूजनके समय ये कुमारिकाएं ५ वर्षकी ही थीं और कृष्ण ७ वर्षके थे. अतः यह क्रीड़ा बालक्रीड़ा होनेसे लौकिक दृष्टिसे भी इसमें कुछ दोष नहीं है.

भगवानने वस्त्र क्यों लिए उसके रहस्यको न जाननेके कारण, ऐसी शंकाएं उत्पन्न होती हैं. जब तक मनुष्यमें कामवासना और द्वैत(मैं दूसरा और भगवान् अन्य) भावना रहती है तब–तक जीवमें आनन्दांश प्रकट नहीं होता है. आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि ''विषयाविष्ट चित्तानां नावेशः सर्वथा हरेः'' जब–तक चित्त विषयोंसे आविष्ट(भरपूर) है तब–तक भगवान् उस चित्तमें प्रवेश नहींकर सकते हैं. 'द्वैताद्वै भयं भवति' द्वैतसे निश्चय भय होता है. भगवानने देखा कि इनमें ये दोनों दोष विद्यमान हैं. लौकिक कामवासनाके कारण स्त्री–पुरुषभाव होनेसे ही लज्जा होती है इस लज्जासे वस्त्र पहने जाते हैं. मनुष्योंकी यह कामवासना वस्त्रोंमें रहती है उस कामवासनाके नाश करणार्थ भगवानने वस्त्र लेकर कदम्बके पेड़ पर धर दिए. उस पेड़केलिए भागवतमें वृक्ष वा तरु शब्द न देकर, 'नीप'('नितरां कामः पीयते अनेनेति नीपः' सम्पूर्ण कामको इस पेड़के द्वारा पान किया जाता है अतः इसको 'नीप' कहते हैं.)

शब्द दिया है, कारण कि वह पेड़ कामको चूस लेता है इसलिए 'नीप' शब्द दिया है. भगवानको भी इनकी कामवासना नष्ट करनी थी अतः कामवासना पूर्णतया नाशार्थ कपड़े 'नीप' पर धर दिये जिससे वस्त्रोंमें स्थित कामवासना नष्ट हो गई और भगवानके करकमलके संसर्गसे उनमें ज्ञान वासना प्रकाशित हुई.

हाथोंमें क्रियाशक्ति है, मस्तकमें ज्ञानशक्ति है. जब तक क्रियाशक्तिमें ज्ञानशक्ति नहीं आती है, तब तक वह क्रियाशक्ति प्रवाही लौकिक ही रहती है जिससे लौकिक सिद्ध होता है परलोक सिद्ध नहीं होता है. इसी कारणसे कुमारिकाओंने क्रियाशक्तिरूप हाथोंसे अपनी लौकिक लज्जाकी रक्षा की किन्तु भगवत्स्वरूपका ज्ञान और वरुणके अपराधका ज्ञान उनको न हुआ कारण कि उनकी क्रियाशक्तिमें ज्ञानशक्तिका अभाव था. ज्ञानशक्ति क्रियाशक्तिमें आवे तो कुमारिकाओंको मेरे स्वरूपका ज्ञान हो और वरुणके अपराधकी निवृत्ति हो जाय, इसलिए भगवानने कुमारिकाओंको क्रियाशक्तिरूप दोनों हस्तोंके मूलका ज्ञानशक्तिरूप मस्तकसे मिलाप कराया जिससे क्रियाशक्तिसे ज्ञानशक्तिका संयोग होते ही कुमारिकाओंकी ज्ञान दृष्टि उज्वल हो गई. उनको भगवत्स्वरूपका ज्ञान हुआ जिससे व्रतकी सफलता हुई.

भगवानने इस प्रकार प्रमाण द्वारा वरुणापराधका प्रायश्चित कराके वस्त्र लौटा दिये. उन वस्त्रोंके पहननेसे कुमारिकाओंमें कामके स्थान पर शुद्ध प्रेमभाव प्रकट हुआ और ज्ञान दृष्टि प्राप्त हुई जिससे द्वैत नाश होकर कुमारिकाओंके अन्तःकरणमें अद्वैत ज्ञान प्रकाशित हुआ. वे समझने लगी कि यह परमेश्वर प्रभु है अतः हमारी आत्मा है और हमने इनको पतिभावसे भजा है तो इनसे लज्जा व द्वैत करना अज्ञान है.

वस्त्रोंके हरणके मिषसे भगवानने उनकी कामवासनाको हरण किया है और वस्त्र देने के मिषसे उनको ज्ञान दृष्टि दी है. यह वस्त्रहरण लीलाका रहस्य है.

इस लीलासे शिक्षा लेकर हम लोगोंको कामवासनाका त्याग तथा ज्ञान दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए जिसकेलिए भगवानको ही अपना साधन बनाना चाहिए. भगवानके गुणोंके श्रवण, स्मरण, कीर्तन आदिसे उनकी प्रसादरूप शक्ति प्राप्तकर स्त्रीभाव जागृत करना आवश्यक है. अन्तःकरणमें स्त्रीभाव जागृत होनेसे ही शुद्ध प्रेमभाव प्रकट होता है जिससे रसात्मा प्रभु उस भक्तको अपने रसका दान करते हैं.

कुमारिकाओंके चले जानेके अनन्तर भगवान्, बलदेव तथा गोपोंको

साथ लेकर गौओंको चराते हुए वृन्दावनसे दूर चले गये. वहां अनेक प्रकारके वृक्ष फल, पुष्प, पत्रसे भरे हुए नमकर स्थित थे. उनको देखकर गोपोंके आगे भगवानने वृक्षोंके गुणोंका वर्णन किया और कहा कि उनका जीवन सफल है जो परोपकार करते हैं इस चरित्रका रहस्य यह है कि जीव मात्रको परोपकारी होना चाहिए. जैसे ये पेड़ अपना सर्व पदार्थ परोपकारमें ही लगा रहे हैं वैसे मनुष्य मात्रको भी स्वार्थ त्यागकर अपना तन-मन-धन सर्व निष्कामभावसे दूसरोंके हितार्थ लगाना चाहिये, वे ही भगवानको प्रिय हैं और वे ही वैष्णव है. शास्त्रने इसीलिए कहा है कि 'वैष्णवा: वै वनस्पतयः' वृक्षादिक निश्चयसे वैष्णव हैं क्योंकि वे परोपकारमें निरत हैं अतः जो परोपकार ही करते हैं वे ही सच्चे वैष्णव हैं. जिसका तात्पर्य है कि भगवानने जो कुछ जीवको दिया है वह अपने भोगकेलिए नहीं दिया है किन्तु भगवानके अंशरूप जीवोंकी सेवार्थ दिया है. इसलिए भगवदाज्ञानुसार जीवको अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिये. इस अध्यायके चरित्रमें पंचपर्वा विद्याका उपदेश भी है वह श्रीसुबोधिनी तथा टिप्पणीमें देखिये. पंचपर्वा विद्यासे अज्ञानजन्य अहन्ता-ममता एवं कामादि नष्ट होते हैं. अतः जीवको विद्या प्राप्तकर अज्ञानजन्य सर्वविषयोंको नाश करना चाहिये.

अध्याय २०के कथानकका रहस्य–

इस अध्यायमें श्रीकृष्णने याज्ञिक ब्राह्मण पत्नियों पर अनुग्रहकर भक्ति दान किया है और कर्मठ ऋषियोंके अधिकार एवं अपूर्ण ज्ञानका स्वरूप बताकर उनको भी पत्नियों द्वारा भक्तिका दान किया है.

इस कथानकसे यह बतलाया है कि पंचपर्वा विद्याके उपदेशसे गोपोंके मोह आदि अन्तःकरणके दोष तो निवृत्त हो गये थे किन्तु क्षुधा तृषा आदि दैहिकधर्म गोपोंमें रह गये थे उनकी निवृत्तिकेलिए गोपोंने भगवानको प्रार्थना की. भगवानने इस चरित्रसे उनको ज्ञानरूप शिक्षा दी जिससे उनके दैहिकधर्म शान्त हो गये.

प्रथम गोपोंको यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंसे अन्न मांगनेकेलिए भेजा जिससे गोपोंका अहंकाररूप दैहिकधर्म शान्त कराया. उनके अन्न न देने पर लौट आये हुए गोपोंको ऋषिपत्नियोंके पास भेजा. अहंकार न होनेसे गोप ऋषिपत्नियोंके पास जाकर कहने लगे कि भगवान् और बलराम यहां आये हैं उनकेलिए अन्न दीजिये. ऋषिपत्नियां जो भक्त थीं ये वचन सुनते ही चारों प्रकारके भोज्य पदार्थ

भगवानकेलिए तैयारकर वहां आने लगी. पति आदिके रोकने पर भी न रुकीं. ऐसी तीव्र गतिसे वहां पहुंची जैसे वायुयान, प्रेममें वह शक्ति है जो लम्बे मार्गको छोटाकर देता है अथवा जानेवालेमें वह शक्ति उत्पन्नकर देता है जो लम्बे मार्गको जल्दी तयकर लेवे. उनके लाये हुवे पदार्थोंको देखकर भगवान् प्रसन्न हुए.

उन ऋषिपत्नियोंको भक्तिदान देकर कहने लगे कि आप आश्रममें लौट जाओ, आपको पति आदि कुछ भी न कहेंगे. आपके गए बिना यज्ञक्रिया रुक जायगी अतः शीघ्र जाओ. सान्निध्यसे परोक्षमें विशेष प्रेमका आनन्द प्राप्त होता है. उस आनन्दसे अन्य सर्व कार्य फीके लगेंगे. उन कार्योंके करते हुए भी उनका प्रभाव आपके ऊपर नहीं पड़ेगा. आपका तन-मन सर्व मेरेमें ही आसक्त रहेगा. भगवानकी आज्ञा पाकर वे आश्रममें लौट गई, पति आदिने कुछ भी नहीं कहा, इतना ही नहीं, किन्तु पत्नियोंकी प्रशंसा करने लगे और उनके चरित्रसे शिक्षा ग्रहण की.

ऋषि अबतक श्रीकृष्णको गौण समझ कर्मको ही प्रधान समझते थे किन्तु वे विचार अब बदल गये भगवानको मुख्य समझ उनकी भक्ति करने लगे और कर्म ज्ञानको गौण समझ, वे उसके अंगरूपसे करने लगे. भगवानके इस चरित्रका आशय यह है कि कर्म अथवा ज्ञान तबतक पूर्ण फल नहीं दे सकते हैं जबतक कर्मिष्ठ और ज्ञानीमें भगवद्भक्ति नहीं हो, भक्ति होने पर उनको कर्म और ज्ञानका सत्य स्वरूप समझमें आजाता है. तब वे कर्म तथा ज्ञानका उस प्रकारसे उपयोग करते हैं जिससे भगवद्भक्ति उत्पन्न होकर उनको भगवानके रसका पान मिलता है.

दूसरा आशय यह है कि जीवको सर्वप्रथम सर्ववस्तु भगवदर्पण करनी चाहिए, अर्पित वस्तुओंसे किए हुए यज्ञादि कर्म सफल होकर भगवानमें भक्ति उत्पन्न करते हैं.

सारांश यह है कि जीवका मुख्यधर्म भक्ति है भक्तको स्वार्थ त्यागकर सब कुछ भगवदर्पण करना चाहिये. देह, द्रव्य आदि पदार्थ, भगवान् एवं भगवानके अंशरूप देवोंके तथा जनताकी सेवामें लगाना चाहिए. यज्ञ यागादि कर्मोको देहधर्म समझ भगवत्तुष्ट्यर्थ अनासक्तिसे निष्काम कर्म भगवदर्पित वस्तुओंसे करने चाहिए. अपना मुख्य धर्म तो भगवद्भक्तिको ही समझना चाहिये. भक्ति बिना कर्म, वेद, कुल आदिको निरर्थक एवं धिक्कारके योग्य समझने

चाहिए. क्रियात्मक यज्ञकर्मसे अदृष्ट(प्रारब्ध) द्वारा लौकिक फल सिद्धि होती है, ज्ञानसे केवल आत्म साक्षात्कार होता है, भगवद्भक्तिसे केवल आत्म साक्षात्कार फलकी प्राप्ति ही फल नहीं है किन्तु उससे बढ़कर सकल इन्द्रियां अलौकिक होकर वे अपने प्यारे नव नीरद श्यामके साथ संलापादि सर्व रसकी प्राप्तिकर अनन्त आनन्द रसमें मग्न हो जाती हैं. यही कर्म तथा ज्ञानसे भक्तिमें विशेषता है. इस लीलासे इस रहस्यको हृदयंगमकर प्रत्येक मनुष्यको अपना जीवन भक्तिमय बनाकर अपनेको कृतार्थ करना चाहिये.

अध्याय २१के कथानकका रहस्य : गोवर्धन पूजन–

१९वें अध्यायमें कुमारिकाओंके वस्त्र लेकर उनका अंगीकारकर उन पर अनुग्रह किया और उनको ज्ञान दिया.

२०वें अध्यायमें ब्राह्मण पत्नियोंका अंगीकारकर उन स्त्रियों द्वारा यज्ञकर्ता कर्मठ ब्राह्मणोंको अंगीकारकर उनको ज्ञान दिया.

२१वें अध्यायमें देवताओंकी हविका गोवर्द्धन स्थित स्वरूपसे ग्रहणकर देवों पर अनुग्रह किया.

२१वां अध्याय– भगवानने देखा कि मैंने गोष्ठमें रहकर गोष्ठवासी सकल गोपोंका निरोध किया है. तोभी ये अबतक मेरी स्थितिमें ही अन्याश्रयकर रहे हैं अर्थात् इन्द्रयागकी तैय्यारीकर रहे हैं यह योग्य नहीं है, इससे इनको निरोध सिद्धि विफल हो जायगी. ये यह यागकर्म हेतुपूर्वक करते हैं जिससे वह वैदिक भी नहीं, अतः इसका युक्तिसे निवारण करके आधिदैविक वैष्णवयाग इनसे कराना चाहिये जिससे इनकी पूर्ण मध्यम निरोधकी सिद्धि हो जाय. यह विचारकर लौकिक रीतिसे पिताजीसे पूछने लगे कि आप इतनी बड़ी तैय्यारी किस कार्यकेलिए कररहे हो पिताजीके वचनोंसे इन्द्रके यागका श्रवणकर, पिताजीको युक्तियोंसे उसकी व्यर्थता सिद्धकर बताई. इन्द्रके दर्पको मिटानेकेलिए कालात्मा भगवानकी युक्तियां सुनकर नन्दादि गोपोंने भगवानके वचनोंका अनुमोदन किया. तब भगवानने उनसे गोवर्द्धन पूजन, गौ ब्राह्मणोंका सत्कार तथा गरीब आदि सकल जनताकी तृप्ति जिससे हो वैसा 'वैष्णव याग' कराया.

स्वस्तिवाचन और पुण्याहवाचन पढाकर इन्द्रयागकेलिए हुए पदार्थोंसे सामग्री सिद्ध कराके गोवर्द्धन गिरि एवं ब्राह्मण तथा गौ आदिको निमन्त्रण दिलाए. सर्व पदार्थ गिरिराजके आगे विनियोग किए(धरे) उस वक्त गिरिराज स्थित

पुरुषोत्तम प्रकट होकर उसरूपसे(नन्दनन्दन और यह एक ही हैं), विनियोग की(धरी) हुई सामग्रीको अंगीकार करने लगे. नन्दनन्दन स्वरूपसे गिरिराज स्थित स्वरूपका पूजन नन्दादि गोपोंको सिखाते थे. सिखानेवाले स्वरूपमें नन्दरायजीकी पुत्र बुद्धि थी अतः पूजा करते समय उस स्वरूप(गिरिराज)से पुत्र कल्याणकी याचना करते थे. व्रजवासियोंको दोनों स्वरूपोंके दर्शनसे आनन्द हुआ. कहने लगे कि गिरिराजने प्रकटरूप धारणकर हम सब पर अनुग्रह किया है. इस लीलाके भावका आश्रयकर ही नवनीतप्रियाजी इस वैष्णवयज्ञ(अन्नकूटोत्सव)में श्रीगोवर्द्धनधर (श्रीनाथजी)के साथ आरोगते हैं.

अध्याय २२के कथानकका रहस्य : गोवर्धन धारण–

२२वां अध्याय–इस प्रकार भगवानने जब आधिदैविक वैष्णवयज्ञ द्वारा इन्द्रका मान मर्दन किया तब इन्द्रने संवर्तक प्रलयकर्त्ता मेघोंको आज्ञा दी कि व्रजमें जाओ और मुशल धाराओंसे व्रजको डुबो दो. मैं एरावत पर बैठकर व्रजको नष्ट करनेकेलिए बलिष्ट वायुगणोंको लेकर आता हूं. इस प्रकार जब इन्द्रकोपसे मेघ वायु आदिने व्रजका सर्व प्रकारसे नाश करना प्रारम्भ किया तब ब्रजवासी श्रीकृष्णकी शरण गए. शरण्य ब्रजवासियोंको भगवानने कहा कि आप चिन्ता मत करो. हे व्रजस्थों! इस व्रजका संरक्षकमें हूं, मैं ही इनका नाथ हूं ब्रजवासी सब मेरे परिजन है, उनकी रक्षा मैं अपने स्वरूपसे करूंगा, मैंने यह व्रत ले रक्खा है. यों कहकर एक हाथसे जैसे बालक छाता लेता है वैसे गोवर्द्धनको लीलासे उठा लिया. उठाकर गोपोंको कहने लगे कि आप सब इस गिरिगर्तमें गौधनको लेकर निर्भय बैठ जाओ यह गिरि गिरेगा नहीं. गोप भगवानके वचनोंमें विश्वासकर गिरिगर्तमें आनन्दसे बैठ गए. ब्रजवासियोंने क्षुधा और तृष्णाकी व्यथाको और सुखकी इच्छाको छोड़ दिया भगवानमें ही दृष्टि लगा दी सात दिन तक भगवान् एक स्थान पर ही स्थित रहे. इन्द्र, भगवानके प्रभावको सुनकर जब समझ गया कि मैरा वश यहां नहीं चलेगा तब अपने मेघोंको लौटा लिया. वायु मेघ आदि चले जानेसे व्रजमें शान्ति हुई. भगवानने गोपोंको कहा कि अब कोई भय मत करो निर्भय होकर अपना द्रव्य गौ आदि लेकर बाहर निकल गोष्ठमें जाओ. भगवदाज्ञानुसार, गोप अपना शकट आदि सामान और गोधन लेकर धीरे–धीरे बाहिर निकले भगवानने भी सबोंके देखते हुए लीलासे पर्वतको अपने स्थान पर पूर्ववत् स्थापित किया. तदनन्तर सब गोप, गोपी आदिने भगवानका अभिनन्दन

किया, दधि अक्षतादिसे पूजनकर आशीर्वाद दिये. नन्दादि प्रेमसे आलिंगन पूर्वक मिले और स्नेह परिप्लुत होकर आशीर्वचन कहे, देवोंने पुष्प वृष्टि की. स्वर्गमें शंख दुन्दुभि बजने लगे, गन्धर्व आदि गाने लगे. तदनन्तर गोपोंसे वेष्टित भगवान् गोकुलमें पधारे. गोपिकाएं भगवानके गुण गाती हुई ब्रजमें गई और हृदयमें भगवानके स्वरूपका स्पर्श करने लगी.

नन्दादि गोपोंसे इन्द्रयाग न कराके वैष्णवयाग कराया उसका रहस्य यह है कि नन्दादि यज्ञका वैदिक स्वरूप नहीं जानते थे, केवल इतना ही यज्ञ करनेका हेतु जानते थे कि मेघ ही इन्द्र है वे यज्ञसे वर्षा करते हैं उससे, घास, धान आदि उत्पन्न होते हैं, जिन पर हमारा जीवन निर्भर है, इसलिए वे प्रतिवर्ष यज्ञ करते थे. भगवान् वह यज्ञ सदा देखते थे किन्तु कहते कुछ भी नहीं थे कारण कि भगवान् समझते थे कि इनका निरोध अभी नहीं हुआ है. जब देखा कि अब ये मध्यम निरोध(आसक्ति) पर आ गये हैं अब यदि वे इस प्रकार अन्याश्रय करेंगे तो आगे नहीं बढ़ सकेंगे अतः इनसे यह अन्याश्रय छुड़ाना चाहिए .

इन्द्र जिसको इस पदवी पर मैंने ही पहुंचाया है वह अपना स्वरूप भूल गया है अपनेको ही जगतका रक्षक समझने लगा है. इन्द्रको तो नाश नहीं करना है किन्तु उसके मदरूप दोषका निवारण करना है.

इन दोनों कार्योंकी सिद्धिकेलिए भगवानने वैष्णवयाग द्वारा उनके सर्व पदार्थ अपने स्वरूपको अर्पण कराके अंगीकार किए जिससे उनका अन्याश्रय छूट गया. इन्द्रकी प्रबल वर्षा और वायुसे क्षुब्ध ब्रजवासियोंकी रक्षाकर अपना प्रभाव और स्वरूप ब्रजवासियों तथा इन्द्रको दिखा दिया. इन्द्र जिसको बार-बार मन्ये कहता था वह साक्षात् परब्रह्म है यह ज्ञान इन्द्रको हो गया. यह इस लीलाके रहस्यका दिग्दर्शन मात्र है.

एक हस्त पर गिरिराज धारण करनेका यह रहस्य है कि केवल भगवानके हस्तसे जिसका सम्बन्ध होता है वह भी नहीं गिरता है तो भगवानने ब्रह्मसम्बन्ध द्वारा वरणकर जिसका हाथ पकड़ लिया है उसका अधःपात तो कभी भी नहीं होगा जैसे ब्रजवासी आपके शरण गए तो उनकी सर्व प्रकारकी आपदाओंसे रक्षा की वैसे ही जो भी जीव आपकी शरण जाते हैं उनकी रक्षाका तो आपने व्रत ले लिया है. जीवके सात प्रकारके रक्षक जब रक्षा नहींकर सकते हैं तब प्रभु उस निःसाधन शरण्यकी रक्षा करनेकेलिए सदैव तैयार रहते हैं .

अध्याय २३के कथानकका रहस्य–

इस अध्यायमें साधन द्वारा विरुद्ध किए हुवे गोपोंको कृष्णके चरित्रसे शंका होने लगी कि यह बालक नन्दरायजीका पुत्र यदि मनुष्य है तो आज तक पूतनावध आदिसे लेकर गोवर्द्धन धारण तक जो कार्य किए हैं वे मनुष्य शक्तिसे नहीं हो सकते हैं तो इसने ये कैसे किए? यदि यह भगवान् है तो नन्दरायजीका लोकवत् पुत्र कैसे है? इस शंकाकी निवृत्तिकेलिए नन्दजीसे पूछने लगे तब महर्षि गर्गजीने जो कुछ इस बालकका स्वरूप नन्दजीको बताया था नन्दजीने वह गोपोंको बता दिया कि इस बालकके नाम, रूप और गुण अनन्त हैं, यह युग–युगमें पृथक्–पृथक् वर्णसे प्रकट होता है. इस समय हमारे घरमें कृष्ण वर्णसे प्रकट हुआ है. यह वसुदेवके यहां भी कभी प्रकट हुवे थे इसलिए इनको वासुदेव कहते हैं. इनके प्रतापसे आप गोकुलवासी सर्व दुःखोंसे छूट जाओगे ये ही आपका कल्याण करेंगे. इसलिए गर्गके कहे हुए वचन नन्दजीके मुखसे सुनकर गोपोंका अज्ञान(संशय) मिटा. कृष्णके स्वरूपको जानकर उनकी और नन्दजीकी पूजा करने लगे.

इस कथानकसे यह रहस्य प्रकट किया है कि भगवान् अलौकिक अप्राकृत होते हुए भी वस्तु स्वभावसे(अपनी इच्छा शक्तिसे) प्राकृतवत् पुत्र भी हो सकते हैं. अतः भगवानकी अप्राकृतता तथा लौकिक बालकपना दोनों ही सत्य हैं. शास्त्रोंमें इसीलिए भगवानको विरुद्धधर्माश्रयी कहा है जिस विरुद्धधर्माश्रयत्वको नृसिंह स्वरूपसे, तथा मुख खोलकर माताजीको उदरमें सर्व ब्रह्माण्ड दिखाकर, प्रत्यक्ष सिद्धकर दिखाया है. इस अध्यायके कथानकसे यह शिक्षा प्राप्त होती है कि कृष्ण केवल लौकिक मनुष्यवत् नहीं है किन्तु उसी समय पूर्ण पुरुषोत्तम सच्चिदानन्द परब्रह्म भी है, अतः उनकी आज्ञाके अनुसार चलनेसे सर्व प्रकारके कष्ट निवृत्त हो जाते हैं.

अध्याय २४के कथानकका रहस्य–

इस अध्यायमें इन्द्र अपने मान मर्दन होनेसे समझ गया कि मैं देवोत्तम नहीं हूं किन्तु श्रीकृष्ण सर्व देवाधिप हैं. यह मेरी भूल थी जो ब्रजके नाशका मैंने साहस किया इसलिए मैं अपराधी हूं, अतः अपराधकी क्षमा मांगनेकेलिए सुरभि गौके साथ गोकुलमें श्रीकृष्णके पास आया. एकान्तमें बैठे हुए श्रीकृष्णके पास जाकर लज्जासे नत कन्धर हो सूर्यके समान चमकनेवाले मुकट सहित अपने

शिरको भगवानके चरणोंमें धर दिया. अनन्तर जिन १० प्राणोंसे भगवानका अपराध किया था जिससे उन प्राणोंमेंसे आधिदैविकपना, तिरोहित हो गया था और इन्द्रका भी आधिदैविकत्व नष्ट हो गया था, दोनोंमें, और अपनेमें उस आधिदैविकत्वको पुनः आविर्भाव करनेकेलिए इन्द्रने प्रणामपूर्वक दश श्लोकोंसे भगवानके स्वरूप तथा गुणोंका वर्णन किया है. इन्द्र द्वारा की हुई प्रार्थना सुनकर भगवानने हंसकर इन्द्रको कहा कि यह मख–भंग मैंने आपके ऊपर कृपाकर किया है जिससे मेरी स्मृति आपको सदैव रहे और मदसे अन्धे न हो जाओ जो मदसे अन्ध होते हैं वे यह नहीं जानते हैं कि मदहर्ता, मैंने उनके मदको नाश करनेकेलिए सदैव हस्तमें दण्ड धारणकर रखा है. जिस पर कृपा करना चाहता हूं उसके वैभवको पहले नाश करता हूं जिससे उसका मद स्वतः नष्ट हो जाता है.

हे इन्द्र! अब तुम अपने स्थानको प्रस्थानकर अभिमान छोड़ मेरी आज्ञासे प्राप्त अधिकारानुसार अपना कर्तव्य पालन करो तुम्हारा कल्याण हो.

इस प्रकार इन्द्रने अपराधकी क्षमा मांग, भगवानकी आज्ञानुसार मद त्यागकर अधिकार करनेका निश्चय किया.

तदनन्तर सुरभि धेनु भगवानका अभिनन्दनकर कहने लगी कि हे महायोगी, हे विश्वात्मा, हे विश्वके सृजनकर्ता श्रीकृष्ण! हम(सर्व धेनु कुटुम्ब) आपके कारण ही नाथवाली हैं. इन्द्र तो हमारा घातक है वह हमारा नाथ कदापि नहीं हो सकता है. नाथ वह हो सकता है जो सदैव एकरस स्थित हो. इन्द्र तो स्थिर नहीं, युग–युगमें अन्य इन्द्र होता है ऐसे अव्यवस्थितको हम नाथ कैसे करें! इत्यादि प्रार्थनाकर सविनय कहने लगी कि आप ही हमारे(गौओके, देवोंके) परम देव हो आप ही इन्द्र हो, अतः गौ, ब्राह्मण तथा देवोंके रक्षक आप बनो और भगवद्भक्तोंकी भी रक्षा करनेवाले आप ही हो. ब्रह्माकी आज्ञानुसार हम आपका इन्द्र पदवी पर अभिषेक करेंगे. अभिषेककी सामग्री सब हमारे साथ है. आकाश गंगाका जल ऐरावत ले आया है, दूध मेरे पास है, इत्यादि कहकर कृष्णके समीप आकर उनको अभिषेककेलिए आमन्त्रण किया. भगवानकी स्वीकृतिके अनन्तर इन्द्रादि देवताओंके साथ सुरभिने भगवानका अभिषेक किया और उसी दिनसे कृष्णने 'गोविन्द' नाम धारण किया है. यह अभिषेक देखकर तम्बुरू नारदादि वहां आकर गाने और नाचने लगे. आकाशसे देवोंने पुष्प वृष्टि की. सकल लोक परमानन्दको प्राप्त हुए. धेनुओंको तो असीम आनन्द हुआ जिससे उनके

दूधस्रावसे सारी पृथ्वी चिकनी हो गई. नदियां पूर्ण रससे भरपूर हो गई. वृक्षोंसे मधु स्रवित होने लगा, अनाज स्वतः पक गए, पर्वतोंसे मणि बाहिर निकलने लगी. स्वाभाविक बेरी भी मित्र बन गए. तात्पर्य यह है कि हर्षसे प्रेममें सर्व आनन्दित हो गए.

इस प्रकार भगवानका अभिषेककर इन्द्रादि भगवानकी आज्ञा लेकर अपने स्थान पर गए.

रहस्य: इस अध्यायके चरित्रोंका रहस्य यह है कि भगवान् इस लोकमें गौ आदिकी पालना एवं भूदेवादिकोंकी तथा यज्ञ–यागादि कर्मोंकी जो रक्षा करते हैं उससे आधिदैविक गौ देवादिकोंकी भी पालना तथा रक्षा हो जाती है जिससे वे भी श्रीकृष्णको ही अपना स्वामी तथा रक्षक समझते तथा मानते हैं. जिसका प्रत्यक्ष दृष्टान्त सुरभि गौ और देवोंने अभिषेककर भगवानको इन्द्र पदवी दी.

दूसरा रहस्य यह है कि भगवान् सदैव सबका हित ही करते हैं. किसीसे भी कोई अपराध हो जाय तो शरण आने पर उसको क्षमा करते हैं. जो भी, दण्ड अपराधीको देते हैं, वह दण्ड उसके नाशकेलिए नहीं किन्तु उसको सुधारनेकेलिए तथा अपने अनेक स्वरूपका ज्ञान करानेकेलिए देते हैं जैसे इन्द्रको दण्ड मिलने पर भगवत्स्वरूपका ज्ञान हुवा तथा अपने अधिकारोंको भी समझने लगा .

इस चरित्रसे यह भी रहस्य प्रकट होता है कि भगवान् केवल इस लोकके नाथ नहीं हैं किन्तु जो अन्य अलौकिक लोक हैं उनके भी आप नाथ हैं.

मनुष्य मात्रको इन चरित्रोंसे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि कभी भी अहंकार न करना, सदैव भगवत्स्मरण करना तथा उनकी शरण लेनी चाहिए. भगवान् सर्व लोकोंके नाथ देवाधिदेव हैं इनसे उत्तम कोई देव नहीं है .

अध्याय २५के कथानकका रहस्य –

इस अध्यायमें भगवान् नन्दरायजीको वरुणसे ले आए हैं और उनने सबको वैकुण्ठके दर्शन कराए हैं.

नन्दरायजीने एकादशीके दिन उपवासकर द्वादशीको वैष्णव सिद्धान्तानुसार द्वादशीमें ही यथा सम्भव पारणा करनेकेलिए अर्धरात्रि होते ही स्नानार्थ कालिन्दीके जलमें प्रवेश किया. वह समय आसुर था अतः वरुणके किंकर नन्दरायजीको बान्धकर उसके पास ले गए. गोपोंने जब नन्दजीको नहीं देखा तब जोरसे पुकारने लगे. भगवान् यह समाचार सुनकर वरुणके पास पधारे.

वरुण अपने स्वामीको देख अत्यन्त प्रसन्न हुआ, विशेष सामग्रीसे सादर पूजन करने लगा और कहने लगा कि मेरा देहका धारण करना आज ही सफल हुआ है, आज ही मेरे पुरुषार्थ सिद्ध हुए हैं, जो आपके चरणोंका भजन करते हैं वे ही पार पहुंचते हैं. यों कहकर प्रणाम करने लगा. पुनः कहने लगा कि मुझे कर्तव्य अकर्तव्यका ज्ञान नहीं है, मैं मूढ़ हूं, मूर्खतासे आपके पिताको यहां रख छोड़ा है, यह मेरा अपराध आप कृपाकर क्षमा करें. वरुणके दीन वचनोंसे प्रसन्न होकर भगवानने वरुणको क्षमा दी और पिताको लेकर अपने बान्धवोंको हर्षित करते हुए श्रीकृष्ण वरुण लोकसे लौट आए .

नन्दरायजी वरुणलोकका इन्द्रियातीत महत्व देखकर और वरुण लोकवासी तथा स्वयं वरुण भी, कृष्णको प्रणाम कर रहे हैं, यह देख विस्मित हो गए और यह वृत्तान्त अपने बान्धवोंको कहने लगे जिससे गोप, कृष्णको ईश्वर समझने लगे और उनकी यह उत्कण्ठा हुई कि कृष्ण हमको अपना वैकुण्ठ कब दिखाएंगे. श्रीकृष्ण अपने प्रियोंका मनोरथ जान गये अतः उनके मनोरथ पूर्त्यर्थ महाकारुणिक प्रभुने प्रकृतिसे परे अपना लोक भी उनको दिखाया.

रहस्य: वरुणने सर्व पदार्थ अर्पणपूर्वक भगवानकी पूजा की. अपने सर्व पदार्थ भगवदुच्छिष्ट होनेके अनन्तर शुद्ध समझकर अपने उपभोगमें लाना योग्य समझा, कारण कि भगवान् हृषीकेश हैं अर्थात् इन्द्रियोंके स्वामी हैं, स्वामीका उच्छिष्ट ही इन्द्रियोंको ग्राह्य होता है. उच्छिष्ट लेनेसे इन्द्रियां शुद्ध होकर सन्मार्ग पर चलती हैं अतः प्रत्येक मनुष्यको अपनी इन्द्रियां सन्मार्गमें प्रवृत हो तदर्थ भगवदुच्छिष्ट ही लेना चाहिए.

जो श्रुति–स्मृति वाक्योंसे परम तत्त्व माना गया है और जो षड् ऐश्वर्यादि गुण सम्पन्न है तथा जिसने प्रत्यक्ष लीलाओं द्वारा अपना परब्रह्मत्व सिद्धकर दिखाया है, जीव उस भगवानको प्रणाम करे.

श्रीकृष्णने नन्दादि गोपोंको प्रकृतिसे परे अपना लोक दिखाया. उसका रहस्य गम्भीर एवं गूढ़ है वह श्रीसुबोधिनीजी तथा उसका साहित्य पढनेसे पूर्णतया समझमें आ सकता है. यहां तो केवल उसके दिखानेका मुख्य एक कारण बताया जाता है. अक्षरब्रह्म प्रकृतिसे परे श्रीकृष्णके धाम(लोक)का आनन्द गणितानन्द है और उनका(श्रीकृष्णका) भजनानन्द अगणित आनन्दवाला है. इसके तारतम्यका ज्ञान नन्दादि गोपोंको हो जाय इसलिए वह लोक दिखाया. पहले उनको

ब्रह्मानन्दमें मग्न किया जिससे प्राकृत देहादिका विलय हो गया वे सच्चिदानन्दरूप हो गए. तदनन्तर वहांसे उनको निकाला, तब उस लोकके वे दर्शन करने लगे. दर्शन करनेसे अक्षरब्रह्मका आनन्द कितना और कैसा है उसका उनको अनुभव हो गया कि अक्षर, ब्रह्मलोक अविद्या नाशक तथा जीव एवं ब्रह्मके बीचसे आवरणको मिटानेवाला है जिससे स्वस्वरूपकी प्राप्ति हुई है. इससे वे नन्दादि गोप आनन्दको प्राप्त हुए. वहां ब्रह्मलोकमें नन्दादिकोंने देखा कि मध्यमें श्रीकृष्ण विराजमान हैं उनकी वेद स्तुतिकर रहे हैं. उनको अत्यन्त आश्चर्य तो हुआ किन्तु वे समझ गए कि, ब्रह्मलोक तथा वेदसे भी यह परमफल है. इस परमफलकी प्राप्तिसे इनके अनन्त आनन्दमय भजनानन्दमें अगणित आनन्द है. अतः वे सर्व अभिलाषाओंको त्यागकर परम आश्चर्य रसमें मग्न हो गए.

इस प्रकरणको 'साधन प्रकरण' इसलिए कहा गया है कि इसमें साधनों द्वारा निरोधकी सिद्धि हुई है यह निरोध व्यसन निरोध कहा जाता है कारण कि इस दशामें भक्त, लौकिक–वैदिककर्म देह आदिकेलिए नहीं करता है, देहसे सम्बन्ध रखनेवालोंको तो वह भूल जाता है, उसकेलिए भगवत्प्राप्ति ही सब कुछ है अतः जो कुछ करता है वह भगवानकी प्राप्तिकेलिए करता है. इसीलिए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि ''यदास्यात् व्यसनं कृष्णे, कृतार्थः स्यात्तदैव हि''.

भहाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित तत्वार्थदीपनिबन्धका

।। भागवतार्थ प्रकरण ।।

दशम स्कन्ध (निरोधलीला)

तामस साधन अवान्तर प्रकरण

अध्याय १९ से २५

श्रीकृष्णार्थ सकल देहकी क्रिया करनेके सिवाय क्षण मात्र भी जब रहा न जाए ऐसी अवस्थाको 'व्यसन' तथा जिसकी ऐसी स्थिति होती है उसे 'व्यसनी' कहते हैं. इस प्रकरणमें कायिक व्यसन सिद्ध करना है अतः उसके लिये किये गये जो साधन हैं उनका इस प्रकरणमें वर्णन है, इसलिए यह 'साधन' उप-प्रकरण कहा गया है.

अतः परं कायिकेन कृष्णे व्यसनमीर्यते ।।
दैहिकान् सकलान् भावान् निजां व्रीडां च दैहिकीम् ।।७१।।
परित्यज्य हरिप्राप्त्यै यदेव स्यात्तदेव हि ।।
वैदिकं लौकिकं चापि तत्कर्त्ता व्यसनी मतः ।।७२।।

व्रजभक्तोंकी भगवानमें दृढ़ आसक्ति हो जानेके अनन्तर, उन (भगवान)में कायिक व्यसन है ऐसा कहा जाता है, इस व्यसनावस्थामें देह सम्बन्धी जो सकल कार्य किये जाते हैं, वे सर्व भगवदर्थ ही करनेमें आते हैं न कि अपने अथवा किसी दूसरेके लिये किये जाते हैं, एवं इस अवस्थामें वह व्यसनी दैहिक लज्जाका भी त्याग कर देता है, हरिकी प्राप्तिके लिये ही, जो कुछ वैदिक अथवा लौकिक कार्य करना पड़ता है, वह सप्रेम करता है, ऐसेको ही व्यसनी माना गया है ।।७१-७२।।

अतः कुमारिकाः पूर्वं व्रतं चक्रुरितीर्यते ।।
ततो लौकिकभावं हि परित्यज्य तदाज्ञया ।।७३।।
यथोक्तमखिलं चक्रुस्तत ईशोऽन्वतुष्यत ।।

इसलिए प्रथम कुमारिकाओंने भगवान् हमारे वर हों, तदर्थ लौकिक रीतिके अनुसार कात्यायनी व्रत किया, अनन्तर प्रभुकी आज्ञासे, लौकिक भाव त्याग कर, जो आज्ञा प्रभुने दी, उसका पालन किया, जिससे भगवान् उन पर

प्रसन्न हुए ।।७३।।

सम्बन्धिनां मत्सरादिदोषाभावाय बोधनम् ।।७४।।

प्रशंसा सर्ववृक्षाणां ततः सिद्धास्तु बालकाः ।।

सर्वदोषान् परित्यज्य क्षुज्जये शक्तिवर्जिताः ।।७५।।

हरिं विज्ञापयामासुर्व्यसनान्नान्यगामिनः ।।

भगवान् बालकोंके सम्बन्धियोंमें, मत्सरादि दोषोंका अभाव हो तदर्थ उनको ज्ञान देनेके लिये, अपने साथ लेकर यमुजानी पर पधारे थे और सर्व वृक्षोंकी प्रशंसा द्वारा उनको ज्ञान दिया, जिससे वे ज्ञानी हुए तथा उनके सर्व मत्सरादि दोष तो निवृत्त हो गये किन्तु वे क्षुधाको जीत न सके, अतः उसकी जयके लिये (क्षुधा निवृत्तिके लिये) भगवानको प्रार्थना करने लगे क्योंकि भगवद्व्यसनी थे जिससे वे दूसरे किसीको प्रार्थना नहीं कर सकते थे।।७४-७५।।

भोगद्वयं हरेरेव स्त्रीबालानां निरूपितम् ।।७६।।

लौकिकास्तु समाख्यातास्तत्रैव न हरेस्तथा ।।

वैदिकेऽपीहि विप्राणां तद्भार्याणां निरूप्यते ।।७७।।

स्त्रियोंका तथा बालकोंका जो भोग है, वह हरिसे ही प्राप्त होनेका है यों कहा है. जहां अध्याय १९में लौकिक कार्य करनेवाली कुमारिकाओंके व्रतकी कथा कही है, वहां वैदिक कार्य करनेवालोंकी कथा नहीं कही है. जो कथा अध्याय २०में कही हैं।।७६-७७।।

तामसाः सर्व एवाऽत्र गोकुलस्था न केवलम् ।।

इति दर्शयितुं विप्राः सत्त्रिणोऽपि निरूपिताः ।।७८।।

यहां जिनकी कथा कही है, वे सब ही तामस हैं. यों नहीं समझना चाहिये कि केवल गोकुलमें रहनेवाले ही तामस है. यह समझानेके लिये ही यहां यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंकी भी कथा कहकर बताया है कि वे भी तामस थे, क्योंकि उन्होंने अपनेको मूढ़ कहा है ।।७८।।

एकप्रकारा एते हि तेनैकात्र विमोचिता ।।

साधनप्रक्रिया त्वेषा तेन ताः स्वगृहं गताः ।।७९।।

ये विप्र भी गोपोंके जैसे तामस हैं, इससे यहां भी एक विप्र पत्नीकी मुक्ति हुई है. शेष अन्य विप्र पत्नियां ईश्वराज्ञा जानकर घर लौट गई, क्योंकि यह

साधन प्रकरण है, पतियोंका यज्ञ रूप साधन पूर्ण करनेके लिये इनको लौट जाना पड़ा ।।७९।।

तद्भर्तारोऽपि नायाताः सम्बन्धेनैव बोधिताः ।।
गोपिकानां प्रसङ्गेन यतस्ता विनिरूपिताः ।।८०।।

यद्यपि गोपोंके वचनोंसे विप्रोंको यह स्मरण हुआ, कि श्रीकृष्ण ईश्वर हैं, तो भी वे, कर्माग्रही भगवानके पास आए नहीं, जो भी उनकी मुक्ति होनेके कारण पत्नियोंका सम्बन्ध है, उनके कारण ही, इनको बोध हुआ जिससे उन्होंने अपने किये हुए पर पश्चात्ताप किया ।।८०।।

विप्र पत्नियोंका गोपियोंके प्रसंगसे ही निरूपण है, अतः जैसे गोपियोंके सम्बन्धसे गोपोंको मुक्ति-फल मिला, वैसे ही विप्रोंको भी पत्नियोंके सम्बन्धसे मुक्तिफल प्राप्त हुआ ।।८०।।

अतस्तासां फले चैताः फलं प्राप्स्यन्ति निश्चितम् ।।
निर्दुष्टैर्भोजनं कार्यं निर्दुष्टान्नस्य नाऽन्यथा ।।८१।।
भक्त्या हृतानां भक्तानां वृक्षाणां चेति निश्चयः ।।

इसलिए जब गोपियोंको फल मिलेगा तब ये विप्रपत्नियां भी फल प्राप्त करेंगी.

गोपोंकी क्षुधाकी निवृत्ति अन्य प्रकारसे (विप्र और उनकी पत्नियोंसे मांगनेके सिवाय भी) कर सकते थे. तो भी उनसे क्यों मांगा? इस शंकाका निवारण करनेके लिये इस (८१वीं) कारिकामें कहते हैं, कि जिस अन्नमें किसी प्रकार दोष न हो ऐसे शुद्ध अन्नका भोजन करना चाहिये, वह भी उनके साथ करना चाहिये जो दोष रहित हों अर्थात् शुद्ध हों. इसलिए भगवानने भक्तिमें आदरवाली भक्त विप्र पत्नियोंका शुद्ध अन्न एवं निर्दोष परोपकारी वृक्षोंका अन्न (फल) शरण्य भक्त गोपोंके साथ बैठकर पाया, इससे यह शिक्षा दी, कि इससे विपरीत अशुद्ध अन्न एवं अशुद्धोंकी पंक्तिमें बैठकर भोजन नहीं करना चाहिये यह निश्चित सिद्धान्त है ।।८१।।

व्रतं वृत्तिपरिज्ञानं दानं माहात्म्यबोधनम् ।।८२।।
द्वाभ्यां चतुष्टयं प्रोक्तं तदीयान्यविभेदतः ।।

भगवदीय और अन्य (कर्माग्रही विप्र) भेदके कारण (१) व्रत, (२) आजीविकाका ज्ञान, (३) दान और (४) माहात्म्यका ज्ञान इन चारोंका वर्णन दो

अध्यायोंमें किया है ।।८२।।

द्विविधं कर्म लोके हि वैदिकं हेतुसम्भवम् ।।८३।।
आद्ये श्रद्धापरित्यागः पूर्वेण विनिरूपितः ।।

लोकमें कर्म दो प्रकारके हैं:

(१) वेदमें कहे हुए स्वर्गादि फल प्राप्तिके लिये किये गये कर्म 'वैदिक' कहे जाते हैं,

(२) लौकिक प्रकारकी कामनाओंसे अर्थात् अपने प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये किये गये कर्म लौकिक कहलाते हैं.

पूर्व अध्यायमें पहले प्रकारके वैदिक कर्ममें, श्रद्धा नहीं रखनी चाहिये ऐसा उपदेश है ।।८३।।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हैतुकः सफलो मतः ।।८४।।
तन्निराकरणं कार्यं तेनाध्यायचतुष्टयम् ।।

नन्द प्रतिवर्ष इन्द्र यज्ञ करते थे जिसके करनेका हेतु यह था कि यदि हम यज्ञ करेंगे तो अन्नादि होंगे, नहीं करेंगे तो अन्नादि न होंगे, अतः अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकारसे विचार करने पर निश्चय होता है, कि यज्ञ फलवाला है. इस यज्ञका निराकरण (खण्डन) करना चाहिये, इसलिए भगवानने ४ अध्यायोंमें इसका खण्डन किया है ।।८४।।

हेतूनाऽऽदौ निराकृत्य यत्सत्तद्धि ह्याकारयत् ।।८५।।
देवता तत्र नियता तेन साऽपि निवारिता ।।
गोवर्धनस्य धृत्यैव निस्तम्भा साऽभवद्यतः ।।८६।।

भगवानने, जो हेतु, नन्दजीने पहले दिये थे, उनका खण्डन किया अनन्तर सत्य एवं उत्तम कर्म (गौ, ब्राह्मण तथा गोवर्धन पूजन) कराके, यज्ञ करानेमें निश्चित मतवाले इन्द्रको हटा दिया, और गिरिराजको धारण करनेसे ही इन्द्र निस्तब्ध (बोखला) सा बन गया ।।८५-८६।।

शंकादोषोऽपि गोपानां निराकार्यस्तु कर्मणे ।।
हविर्मन्त्रेज्यरूपाणां सम्मत्यर्थं तुरीयकम् ।।८७।।

गोवर्धन पूजन रूप कर्म, सदैव प्रतिवर्ष इन्द्र यज्ञकी तरह करना चाहिये वा नहीं गोपोंकी इस शंकाका भी निवारण करना चाहिये, अतः तीसरे (२३वें अध्याय)में यह विषय समझाया है, हवि (गो) और मन्त्र (ऋषियों)की जिसका

प्रतिवर्ष पूजन होता इसकी (इन्द्र) भी गोवर्धन पूजनमें सम्मति है, यह विषय चौथे (२४वें अध्याय)में कहा है ।।८७।।

एवं पूर्वं परित्यज्य हर्युक्तं कार्यमीरितम् ।।
अवैष्णवानां पूर्वेषां व्रतानां त्याजनं न हि ।।८८।।
वैष्णवान्यपि कार्याणि त्यक्तव्यानीति बोधने ।।
नन्दस्यैकादशी प्रोक्ता साधनं पञ्चधा स्थितम् ।।८९।।

इस प्रकार प्रथम जो इन्द्रयाग करते थे, उसका त्याग कर भगवत्प्रोक्त गोवर्धन पूजनरूप, यज्ञ कार्य करने लगे. न केवल अवैष्णव व्रतोंका त्याग भगवानने कराया, किन्तु वैष्णव व्रत भी नहीं करने चाहिये यह उपदेश भी दिया, क्योंकि उन व्रतादिकोंमें आसक्ति होनेसे भगवद्भजन पूर्णतः न हो सकेगा, जिसमें नन्दकृत एकादशीकी कथाको दृष्टान्त रूपसे कहा है. साधन पांच प्रकारके होते हैं ।।८८-८९।।

एतावदेव कर्त्तव्यं तेन यद्वाञ्छते हृदि ।।
हेतुवाद इवाऽत्रापि फलं कृष्णः प्रयच्छति ।।९०।।
इति वैकुण्ठनयनं स्थापितं वाञ्छितं न हि ।।
अवान्तरं फलमिदं विश्वासार्थं निरूपितम् ।।९१।।

वे पांच साधन ही करने चाहिये, जैसे हृदयकी कामना हेतु वादमें पूर्ण होती है, वैसे (ही) यहाँ हृदयके मनोरथ भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण करते हैं, जैसे कि गोपोंकी इच्छा वैकुण्ठ दर्शनकी थी वह इच्छा पूर्ण करनेके लिये गोकुलमें ही 'वैकुण्ठ' लाकर उनकी इच्छा पूर्ण की किन्तु उस (वैकुण्ठ)में गोपोंकी स्थिति नहीं की, क्योंकि भगवानकी इच्छा इनको परमोत्तम फल भजनानन्द देनेकी थी यह गौण फल तो विश्वास उत्पन्न करनेके लिये ही दिया है ।।९०-९१।।

कृष्णवाक्यं सदा कार्यं मायामोहं निवार्य हि ।।
वृक्षवत्तु स्थितिः कार्या शुद्धान्नेन च वर्त्तयेत् ।।९२।।
इच्छां विज्ञाय दातव्यं माहात्म्यज्ञानपूर्वकम् ।।
यागादयोऽपि त्यक्तव्या तदिच्छा चेद् व्रतानि च ।।९३।।
मध्ये स्वेष्टस्य पूर्त्त्यैव तदिच्छामवगत्य च ।।
तत्परत्वेन सततं स्थेयं साधनसङ्ग्रहः ।।९४।।

मायाका मोह त्याग कर सदा श्रीकृष्णके वचनानुसार, आचरण करना, वृक्षकी तरह परोपकारी होके रहना, शुद्ध अन्नसे आजीविका करना, भगवन्माहात्म्य जानकर उनकी इच्छानुसार देना चाहिये (सेवा करनी चाहिये) भगवत्सेवा सौकर्यार्थ, यागादिका भी त्याग करना चाहिये, यदि भगवदिच्छा होवे, तो व्रतादिको भी छोड़ देने, यदि मध्यमें, अपनी इच्छानुसार प्राप्त होवे तो भी यों समझना चाहिये, कि भगवदिच्छा ऐसी है, किन्तु भगवत्स्मरणादिका त्याग न कर उसमें भी सर्वथा तत्पर रहना चाहिये, यह साधनका संग्रह है ।।९२-९४।।

तामस – साधन अवान्तर प्रकरण समाप्त

।। श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रं स्तोत्रम् ।।

दशमस्कन्धके तामस साधन प्रकरणके नाम

कात्यायनीव्रतव्याजसर्वभावाश्रिताङ्घ्रिनः ।।१७६।।

(८४०) गोपीरत्नस्तुताशेषवेणुवाद्यविशारदः

गोपीजनरूप रत्नोंके द्वारा स्तुति किये गये समस्त वेणुवाद्यके विशारद अर्थात् गोपीजनोंमें वेणुवाद्यके वर्णन करनेकी विविध प्रकारकी ध्वनिको प्रकाशित करनेवाले श्रीमुरलीधर प्रभु श्रीकृष्ण.

(८४१) कात्यायनीव्रतव्याजसर्वभावाश्रिताङ्घ्रिनः

हेमन्त ऋतुके प्रथम मासमें कात्यायिनी व्रतके निमित्त कुमारिका श्रीगोपीजन सर्वभावसे जिनके आश्रयको प्राप्त हुईं ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण.

सत्संगतिस्तुतिव्याजस्तुतवृन्दावनांघ्रिपः।
गोपक्षुच्छान्तिसंव्याजविप्रभार्याप्रसादकृत् ।।१७७।।

(८४२) सत्संगतिस्तुतिव्याजस्तुतवृन्दावनांघ्रिपः

सत्संगकी प्रशंसाके उद्देश्यसे वृन्दावनके वृक्षोंकी स्तुति करनेवाले.

तात्पर्य यह है कि सत्पुरुष निरन्तर दुःखयुक्त होंय तो भी उनसे दूसरोंका दुःख देखा नहीं जाता. अतएव दूसरेके दुःखोंको दूर करनेके लिये अपने आप अनेक दुःखोंको सहन करते हैं, ऐसे परोपकारी सत्पुरुष होते हैं. अतएव यहां वनमें वृक्ष रूपमें रहे हुए सत्पुरुष ही हैं. क्योंकि वो अनेक तापोंको सहन करके दूसरोंको अनेक प्रकारसे शांति (छाया द्वारा, फल फूल द्वारा, अग्निके लिये अपनी लकड़ी द्वाराादि) पहुंचाते हैं. सत्पुरुषोंका स्वभाव ही ऐसा होता है कि दूसरोंके दुःखोंका निवारण करनेमें ही उनको सुख मिलता है. इस स्कन्धके २३वें अध्यायमें वृक्षोंके उदाहरणसे सज्जनोंकी स्तुतिकी गई है. इस हेतुसे यह नाम प्रकट किया गया है.

(८४३) गोपक्षुच्छान्तिसंव्याजविप्रभार्याप्रसादकृत्

गोपबालकोंकी क्षुधा शान्त करनेका निमित्तकर यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणकी पत्नियोंके ऊपर अनुग्रह करनेवाले परम कृपानिधि भगवान् श्रीकृष्ण.

हेतुप्राप्तेन्द्रयागस्वकार्यगोसवबोधकः।
शैलरूपकृताशेषरसभोगसुखावहः ।।१७८।।

(८४४) हेतुप्राप्तेन्द्रयागस्वकार्यगोसवबोधकः

हेतु अर्थात् धर्म, अर्थ और काम इन त्रिविध पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिये इन्द्रके लिये यज्ञ करनेके लिये एकत्रकी हुई सामग्रीसे वह यज्ञ न करके स्वकार्य गौ ब्राह्मण और गिरिराजके पूजनरूप गोसव यज्ञका नन्दादिको उपदेश देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

(८४५) शैलरूपकृताशेषरसभोगसुखावहः

पर्वतका स्वरूप धारण करके गोपजन द्वारा सम्पादित समग्र रसका उपभोगकर सबको सुख देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

षडरसोंके साहित्यका आस्वाद ग्रहण करके इन्द्रदेव, जैसा सुख नंदादिको देते थे, उसकी तुलनामें विशेष सुखका लाभ आपने उन षडरसोंको अंगीकार करके नन्दादिको प्रदान किया है. क्योंकि प्रभु स्वयंमें ही रसमय हैं. अखण्डानन्दरूप हैं. आप अंशरूपमें ही सही जितना आनन्द प्रदान करते हैं उसका तो अणुमात्र सुख भी देनेकी सामर्थ्य इन्द्रादि देवोंमें नहीं है. अतएव अपने भक्तजनोंको क्षणिक आनन्दके बजाय अखंड आनन्द प्राप्त हो उस हेतुसे आपने मदोन्मत्त बने हुए इन्द्रके यागका निवारण करके गोसव यज्ञका समारम्भ करके उनके षडरसोंसे बनी हुई सामग्रीको अंगीकार करके आरोगा है.

लीलागोवर्धनोद्धारपालितस्व्रजप्रियः।
गोपस्वच्छन्दलीलार्थगर्गवाक्यार्थबोधकः ।।१७९।।

(८४६) लीलागोवर्धनोद्धारपालितस्व्रजप्रियः

लीलामात्रमें सुखरूपसे गौओंकी वृद्धि करनेवाले गिरिराज गोवर्धन पर्वतको छत्रके समान ऊपर उठाकर अपने व्रजवासियोंका प्रिय करनेवाले श्रीगोवर्धनधरण श्रीनाथजी.

(८४७) गोपस्वच्छन्दलीलार्थगर्गवाक्यार्थबोधकः

गोपोंको स्वच्छन्द निर्भयतापूर्वक मनोनुकूल लीला करनेके लिये प्रथम श्रीनन्दरायजीके प्रति कहे हुए यादवोंके पुरोहित गर्गमुनिके वचनोंका तात्पर्य श्रीनन्दरायजीके मुख द्वारा पुनः स्मरण करानेवाले भगवान्. यादवोंके पुरोहित गर्गाचार्य प्रथम श्रीकृष्ण जगन्नियन्ता प्रभु हैं, दुष्टोंका विनाश करनेके लिये और भक्तोंको – दैवीजीवोंका उद्धार करनेके लिये भूतल पर प्रकट हुये हैं. ऐसा श्रीनन्दरायजीको जताया था. उन वचनोंको गिरिराज धारण करनेपर आश्चर्य चकित हुये गोपोंको नंदरायजीने जताया है. यह भगवदिच्छासे ही नंदरायजीने

श्रीकृष्णके सत्य स्वरूपको गोपोंके आगे निवेदन किया है. इस स्कन्धके २६वें अध्यायमें वर्णित कथाके अनुसार यह नाम प्रकट किया गया है.

इन्द्रधेनुस्तुतिप्राप्तगोविंदेन्द्राभिधानवान्।
व्रतादिधर्मसंसक्तनन्दक्लेशविनाशकः ।।१८०।।

(८४८) इन्द्रधेनुस्तुतिप्राप्तगोविंदेन्द्राभिधानवान्

इन्द्रकी धेनु कामधेनुके द्वाराकी गई स्तुतिके निमित्तसे इन्द्र द्वारा कथित गोविन्दनामको प्राप्त करनेवाले भगवान् श्रीगोवर्धनधरण.

हरिवंश पुराणमें कहा गया है कि ''अहं किलेन्द्रो देवानां त्वं गवामिंद्रतां गतः'' (मैं देवोंका इन्द्र हूं और आप गायोंके इन्द्र बने हो.) ''गां वाणीं विंदते भवान्'' (आप गा– वाणीको जाननेवाले हो.) महाभारतमें भी ''नष्टां वै धरणीं पूर्वमविदं वै गुहांगतम्'' (नष्ट हुई भूमिकी गुहामें प्रवेश कर प्रथम उसको जाना है.) इत्यादि प्रमाणोंसे गायोंके इन्द्रको अथवा गां=पृथ्वीके इन्द्रको वागा= वाणीको विंदति=जाननेवाले को गोविन्द शब्दसे व्यवहारमें जाना जाता है. इन प्रमाणोंके भावोंका सूचन करनेवाला यह गोविन्द शब्द है. प्रभुमें यह सर्व भाव रहे हुये हैं. अतएव आपको गोविन्द कहकर सब भक्तजन आपका स्तवन करते हैं.

(८४९) व्रतादिधर्मसंसक्तनन्दक्लेशविनाशकः

व्रत एकादशीका उपवास इत्यादि जिनमें मुख्य है ऐसे धर्मके ऊपर विशेष आश्रयका विशेष रूपसे नाश करनेवाले. भगवान्के सान्निध्यमें भी अन्य व्रतोंमें आसक्ति रखना यह क्लेशकारक है इस नामका आशय यह स्पष्ट है.

नंदादिगोपमात्रेष्टवैकुण्ठगतिदायकः।
वेणुवादस्मरक्षोभमत्तगोपीविमुक्तिदः ।।१८१।।

(८५०) नंदादिगोपमात्रेष्टवैकुण्ठगतिदायकः

श्रीनन्दरायजी जिनमें मुख्य हैं ऐसे समस्तगोपोंको वैकुण्ठधाम देखनेकी अभिलाषाको शान्त करनेके लिये वैकुण्ठ धाममें ले जानेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

(८५१) वेणुवादस्मरक्षोभमत्तगोपीविमुक्तिदः

वेणुनाद अर्थात् मनोहर मुरलीनाद श्रवण करते ही काम विकारको प्राप्त हुई मदोन्मत्त बनी हुई भगवान्के समीप जानेको तत्पर उन्हें घरमें बन्द कर दिया इस अवस्थामें गोपीजनोंने प्राण परित्याग किया. इन गोपीजनोंको विशेषरूपसे मुक्ति देनेवाले श्रीमुकुन्द भगवान्.

सर्वभावप्राप्तगोपीसुखसंवर्धनक्षमः।
गोपीगर्वप्रणाशार्थतिरोधानसुखप्रदः ।।१८२।।

(८५२) सर्वभावप्राप्तगोपीसुखसंवर्धनक्षमः

सर्वभाव अर्थात् सर्वत्र भगवान् हैं ऐसा विचारकर सांसारिक विविध भावनाओंको त्यागकर भगवान् श्रीकृष्णके शरणमें आये हुये गोपीजनोंके सुखको रासलीलासे उत्पन्न आनन्दकी भलीभांति वृद्धि करनेमें समर्थ भगवान् श्रीकृष्ण.

(८५३) गोपीगर्वप्रणाशार्थतिरोधानसुखप्रदः

रासलीलाके महान् आनन्दसे गोपीजनोंमें उत्पन्न अभिमानको भलीभांति विनाश करनेके लिये तिरोधान अर्थात् गोपीजनोंके मण्डलमेंसे अदृश्य होकर उनके अन्तःकरणमें पधारकर समस्त गोपीजनोंको विरहानुभवपूर्वक आसक्तिका उत्तम प्रकारसे सुख देनेवाले रासेश्वर प्रभु.

कृष्णभावव्याप्तविश्वगोपीभावितवेषधृक्।
राधाविशेषसंभोगप्राप्तदोषनिवारकः ।।१८३।।

(८५४) कृष्णभावव्याप्तविश्वगोपीभावितवेषधृक्

श्रीकृष्णमय सर्व भावनाओंसे सम्पूर्ण विश्व जिनको व्याप्त है ऐसे बोधयुक्त गोपीजनों द्वारा अपने हृदयमें जिस जिस प्रकारकी लीला सम्बन्धी वेषकी भावनाओंका स्मरण किया उसी उसी प्रकारके स्वरूपोंको धारण करनेवाले विविध रूपधारी पूर्णपुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण.

(८५५) राधाविशेषसंभोगप्राप्तदोषनिवारकः

राधाजीके साथ अन्यसे अधिक प्राप्त संयोग द्वारा उनमें उत्पन्न दोष अभिमानको प्रथमके समान अन्तर्ध्यान होकर उसको दूर करनेवाले श्रीहरि.

परमप्रीतिसंगीतसर्वाद्भुतमहागुणः।
मानापनोदनाक्रंदगोपीदृष्टिमहोत्सवः ।।१८४।।

(८५६) परमप्रीतिसंगीतसर्वाद्भुतमहागुणः

अत्यन्त प्रेममयी भावनाओंसे जिनका गायन किया है ऐसे सब गोपीजनोंको महान् आश्चर्यकारक एवं अन्यत्र न प्रकट हो सके ऐसे सर्वोत्तम गुणोंको धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण. इस स्कन्धकी रासपंचाध्यायीमें गोपीजनोंने भगवान्के विप्रयोगमें पीड़ित 'गोपीगीत' स्तोत्रमें 'जयतितेऽधिकम्' इत्यादि श्लोकोंसे भगवान्के गुणोंका गान किया है. वहां सबको आश्चर्य लगे

ऐसे प्रभुके चरित्रोंको दर्शाया गया है, उस आशयसे यह नाम कहा गया है.

(८५७) मानापनोदनाक्रंदगोपीदृष्टिमहोत्सवः

मान दूर होनेपर भगवान्‌के विरहके द्वारा होनेवाले आक्रन्दन अर्थात् रुदनमें दीन बनी हुई व्रजाङ्गनाओंके नयनाम्बुजसे जिनको महान् आनन्द हुआ है ऐसे रासाभिलाषी श्रीकृष्ण प्रभु.

गोपिकाव्याप्तसर्वाङ्गः स्त्रीसंभाषाविशारदः।
रासोत्सवमहासौख्यगोपीसंभोगसागरः ॥१८५॥

(८५८) गोपिकाव्याप्तसर्वाङ्गः

गोपीजनोंमें जिनका प्रत्यङ्ग व्याप्त हो रहा है इस प्रकार उनका आलिङ्गन करनेवाले श्रीगोपीजनवल्लभ श्रीकृष्णप्रभु.

(८५९) स्त्रीसंभाषाविशारदः

श्रीगोपीजनोंके प्रश्नोंका प्रत्युत्तर देनेमें चतुर श्रीकृष्ण.

(८६०) रासोत्सवमहासौख्यगोपीसंभोगसागरः

रासोत्सवमें उत्पन्न होनेवाले महान् सुख अर्थात् अधिक आनन्द सम्बन्धी अनुभव गोपीजनोंमें प्रकट करनेवाले अखण्ड आनन्द स्वरूप रासविहारी भगवान् श्रीकृष्ण.

जलस्थलरतिव्याप्तगोपीदृष्ट्यभिपूजितः।
शास्त्रानपेक्षककामैकमुक्तिद्वारविवर्धनः ॥१८६॥

(८६१) जलस्थलरतिव्याप्तगोपीदृष्ट्यभिपूजितः

जल और स्थल अर्थात् श्रीयमुनाजी तथा वृन्दावनमें रमण करनेसे परिपूर्णरूपसे प्रसन्न श्रीगोपीजनोंकी दृष्टि द्वारा अर्थात् उनके प्रेमपूर्वक कटाक्ष निक्षेपद्वारा सर्वत्र पूजित, अलंकृत, शोभायमान बने हुये भगवान् श्रीकृष्ण.

(८६२) शास्त्रानपेक्षककामैकमुक्तिद्वारविवर्धनः

१. शास्त्रकी अपेक्षा मर्यादासे रहित अर्थात् अलौकिक दिव्य कामकी अभिलाषारूप मुख्य मुक्तिद्वारकी विशेषरूपसे वृद्धि करनेवाले. २. शास्त्रकी अपेक्षा बिना केवल स्नेह द्वारा प्रेम लक्षणा भक्तिके द्वारा भगवत्स्वरूपमें कामना–निष्ठा प्राप्त करनेवाले अर्थात् चित्तको उत्तम रीतिसे भगवद्रूपमें स्थापन करनेवाले भक्तजनोंको रासोत्सव सम्बन्धी कथाका कथनरूप मुक्ति प्राप्त करवानेके द्वाररूप उपायको विशेष रीतिसे बढ़ानेवाले श्रीपुरुषोत्तम.

सुदर्शनमहासर्पग्रस्तनन्दविमोचकः।
गीतमोहितगोपीधृक्शंखचूड़विमोचकः ।।१८७।।

(८६३) सुदर्शनमहासर्पग्रस्तनन्दविमोचकः

सुदर्शन नामक महान् सर्प–अजगरसे ग्रसित नन्दरायजीको उससे छुड़ानेवाले श्रीकृष्ण परमात्मा. सुदर्शन नामका एक विद्याधर सौन्दर्यके गर्वमें मदोन्मत्त होकर सबका अनादर करता रहता था. एक दिन विमानमें बैठकर जाते हुये मार्गमें कद्रूपा अंगिरामुनिको देखकर रूपके गर्वमें छके होनेके कारण उनसे हास्य करने लगा. उस हेतुसे अंगिरामुनिने श्रापके फलस्वरूप अजगर योनिको प्राप्त हुआ. उस श्रापसे मुक्त होनेके लिये उसने श्रीनंदरायजीको निगलनेकी कोशिश करी. श्रीनंदरायजीको छुड़ानेके लिये श्रीकृष्णने अपने चरणोंका स्पर्श देकर उस विद्याधरको उस श्रापसे मुक्ति दिलाई. इस कथाको दर्शानेवाला यह नाम लिया गया है.

(८६४) गीतमोहितगोपीधृक्शंखचूड़विनाशकः

भगवान्की मुरलीके गानसे मोहित बने हुए गोपिकाओंको हरण करनेवाले शंखचूड़नामक प्रचण्ड यक्षको मारनेवाले भगवान् मदनमोहन.

गीतसंगीतसंतुष्टिर्गोपीसंसारविस्मृतिः।
अरिष्टमथनोदैत्यबुद्धिव्यामोहकारकः ।।१८८।।

(८६५) गीतसंगीतसंतुष्टिः

गुणोंका भलीभांति गायन करनेसे सन्तुष्ट होनेवाले भगवान्. जब श्रीकृष्ण गायोंको चरानेके लिये दिनमें वृंदावनमें पधारते थे तब प्रभुमें प्रेमनिमग्न गोपीजन विरहव्याकुल होकर उच्चस्वरसे गोविन्दके गुणोंका गान करती थीं. परम दयानिधान स्वयं वनमें पधारे हुये भी निरन्तर अंतर्यामी रूपमें उनके अंतरमें निवास करके गुणगानको श्रवण करके बहुत ही संतुष्ट होते और उनको भी संतुष्ट करते थे. यह बतानेके लिय यह नामका वर्णन है.

(८६६) गोपीसंसारविस्मृतिः

१. गोविन्दके गुणगानमें तत्पर श्रीगोपीजनोंको संसारकी विस्मृति करानेवाले श्रीकृष्ण. २. गोपाङ्गनाओंके हृदयमंदिरमें बिराजकर उनको भगवत्सम्बन्धी साहित्य सामग्रीकी सारी रीतिका स्मरण करानेवाले प्रभु.

इति महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित पुरुषोत्तमनामसहस्रं स्तोत्रमें निरूपित दशमस्कन्धके तामस साधन प्रकरणके नाम.

श्रीभागवत सुबोधिनी

दशम स्कन्ध

तामस 'साधन' अवान्तर प्रकरण

*अध्याय १९/२२

चीरहरण लीला

अतः सप्तभिरध्यायैर्निरोधोऽत्र निरूप्यते।
उत्तमः फलपर्यन्तो विद्यानिर्णयपूर्वकः ।।का.१।।

कारिकार्थः अब यहां(इस तामस साधन उपप्रकरणमें) सात अध्यायोंसे विद्याके निर्णयपूर्वक, फल पर्यन्त(वैकुण्ठकी प्राप्ति करा देनेवाले आत्मसमर्पण तक) उत्तम निरोधका निरूपण किया जाता है ।।१।।

विद्या पञ्चकम् अत्रापि तस्मिन् जाते सुरेक्षणम्।
इहैव गमनं चापि वैकुण्ठावधि वर्ण्यते ।।का.२।।

इस साधन प्रकरणमें भी, पांच विद्याएं कही गई हैं और इनके सिद्ध हो जाने पर, देवताओंका दर्शन तथा वैकुण्ठ पर्यन्त गमनका वर्णन इसी उपप्रकरणमें किया गया है ।।२।।

ज्ञानं कर्म च विद्यायां पञ्चात्मकम् इति स्थितिः।
अविद्या कार्य सम्बन्धो नात्रेति विनिरूप्यते ।।का.३।।

ज्ञान और कर्मरूप विद्यामें, अंगभूत ज्ञान पांच प्रकारका हैं और कर्म भी पांच प्रकारका है. अविद्या और अविद्याके कार्यका सम्बन्ध यहां नहीं है इस बातको बतलानेकेलिए, विद्याके निरूपणके अनन्तर, देवके दर्शनका निरूपण आता है ।।३।।

स्त्रीपुंसोः सहभावेन तुल्यत्वाच्च निरूपणम्।
लोकानुसारिणी विद्या कर्मज्ञानात्मिका पुरा ।।का.४।।

स्त्रियों और पुरुषोंकी समानता है इसलिए सहभावसे निरूपण है. पहिले गोप और गोपीजनोंकी कर्म ज्ञानात्मिका तथा लोकानुसारिणि(लोकका अनुसरण करनेवाली) विद्याका भेद सहित निरूपण किया गया ।।४।।

श्रीसुबोधिनी अनुसार अध्याय संख्या १९/प्रचलित क्रमानुसार अध्याय संख्या २२.

निरूप्यते गोपिकानां गोपानां च विभेदतः ।
एकोनविंशे भोग्यानां कुमारीणां व्रतं यथा ।।का.५।।
अन्तःस्थानां कुमाराणां तथा ज्ञानम् इहोच्यते ।।

भोग्य कुमारिकाओंके व्रतका निरूपण उन्नीसवें अध्यायमें जिस प्रकार किया है उसी प्रकार इसी अध्यायमें अन्तःस्थ कुमारोंके ज्ञानका निरूपण भी यहीं किया गया है ।।५।।

योजना: उत्तम इस दशम स्कन्धमें, निरोधलीलाका वर्णन है. वह प्रेमात्मक निरोध आसक्त्यात्मक निरोध और व्यसनात्मक निरोध, भेदसे तीन प्रकारका है. उनमें प्रथम(प्रेमात्मक) निरोधका निरूपण 'प्रमाण' उपप्रकरणमें हो चुका है और मध्यम (आसक्त्यात्मक) निरोधका 'प्रमेय' उपप्रकरणमें वर्णनकर दिया गया. उत्तम (व्यसनात्मक) निरोधका वर्णन, इस 'साधन' उपप्रकरणमें करते हैं. यह व्यसनात्मक निरोध बिना किसी व्यवधानके स्वयं साधनरूप होनेसे उत्तम(निरोध) है, और शास्त्रमें बतलाया है कि ''जब भगवान् कृष्णमें व्यसन हो, तब जीव कृतार्थ होता है''. अतः व्यसनरूप होनेसे, यह 'साधन' उपप्रकरणका, निरोध ही उत्तम(निरोध) है और उसीका यहां वर्णन है.

टिप्पणी: 'विद्यापञ्चकम्' यदि साक्षात् सेवा सम्भव न हो, तो परम्परासे भी भगवानकी ही सेवा करनी चाहिए. देह-इन्द्रिय आदिका विनियोग, भगवानमें ही करना, अपने स्वार्थमें देह आदिको नहीं लगाना ऐसी निर्णयरूप विद्या 'प्रथम' विद्या है.

देहके निर्वाहकेलिए और प्राणादिक भूख-प्यास आदि धर्मकी निवृत्तिकेलिए भी देह निर्वाह और भूख-प्यास आदि प्राणादिके धर्मोकी निवृत्ति करनेमें, स्वयं समर्थ होने पर भी, प्रभुसे ही प्रार्थना करना, अन्य किसीसे नहीं. प्रभु लोकमें अलौकिक, कुछ नहीं करते हैं. भगवद्भावकी प्राप्ति भगवानके अनुग्रहसे ही हो सकती है, शास्त्रोक्त जप आदि साधनोंसे नहीं हो सकती ऐसा निर्णय करनेवाली विद्या 'दूसरी' विद्या है. अन्यका भजन नहीं करना, स्वपूर्वजोंकी परम्परासे चले आए धर्मका भी भगवानकी इच्छा हो, तो त्यागकर देना ऐसा निर्णय करनेवाली विद्या, 'तीसरी' है. सब अवस्थामें भगवानकी ही सेवा करना तथा अक्लिष्टकर्मा(सम्पूर्ण क्रीडादि कार्यमें श्रमरहित) भगवान् अपने दासजनोंकी रक्षा अवश्य करते ही हैं-यह 'चतुर्थ' विद्या है. भगवानका

माहात्म्य जानकर, उनमें परम स्नेह करना तथा भक्तोंको, सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ समझना–यह 'पांचवी' विद्या है. इन पांचों विद्याओंकी प्राप्ति होने पर, पूर्ण निरोध सिद्ध हुआ. तब अपना कार्य(निरोध सिद्धि) हो जानेके अनन्तर इन्द्रादि देवताको देखनेकी दृष्टि प्रभुने व्रजवासियोंकी करी. इसीसे इसका निरूपण, पीछे किया है और श्रीनन्दरायजीको भगवानकी महिमा(उत्कर्ष)का ज्ञान करानेकेलिए ही वरुणका दर्शन कराया यही तात्पर्य–तस्मिन् जाते सुरेक्षणम्–इन पदोंमें कहा है.

लेख: 'अत्रापि' साधनमार्गीय भक्तोंमें. 'अत्रापि' पदका सम्बन्ध 'निरूप्येत' के साथ समझना. लीलास्थ भक्तोंके विषयमें भी पांच विद्याओंका निरूपण किया जाता है. ''तस्मिन् जाते सति'' व्यसन पर्यन्त निरोधकी सिद्धि हो जाने पर, भगवानने इन्द्रका दर्शन कराया और भक्तोंने वरुणका दर्शन किया इन दोनोंका वर्णन 'सुरेक्षणम्' पदमें किया. ऐसा सम्बन्ध है अतः इस निरोधकी सिद्धि होने तक भगवानने अन्य कोई कार्य नहीं किया. उक्त निरोधकी प्राप्ति हो जानेके अनन्तर ही व्रजवासियोंकी इन्द्र विषयिणी दृष्टि की. इससे यह लीला अत्यन्त महत्वपूर्ण समझमें आती है. तात्पर्य यह है कि यह निरोध, देव दर्शनमें आनेवाले प्रतिबन्धको दूर करनेमें तथा भगवल्लोकके दर्शनकी इच्छा उत्पन्न कराकर, वरुणके दर्शनकी स्वरूपयोग्यताका सम्पादन करानेमें कारण है. इहैव वरुण दर्शनके अध्यायमें 'च' छन्द तथा ब्रह्मात्मकताका भी द्योतक है.

टिप्पणी: इस निरूपणका तात्पर्य कहते है. 'अविद्याकार्येति अविद्या' तथा अविद्याका कार्य यह समझना.

लेख: कर्म और ज्ञानात्मक विद्यामें, उसके अंगभूत ज्ञानका वर्णन आगे होगा वह(ज्ञान) पर्वके भेदसे, पांच प्रकारका है. कर्म भी, देश, काल, द्रव्य, कर्ता और मन्त्र भेदसे पांच प्रकारका है, ऐसी मर्यादा है. अविद्या और उसके कार्यका सम्बन्ध यहां नहीं है, इसीलिए इस(सम्बन्धाभाव)को बतलानेकेलिए विद्याका निरूपणकर देनेके अनन्तर देव दर्शनका निरूपण आता है.

योजना: 'ज्ञानं कर्म च विद्यायाम्' यहां 'विद्या' 'टिप्पणी'में कहे हुए भेदोंसे पांच प्रकारकी समझना. ज्ञान और तदनन्तर ज्ञानके अनुकूल कर्म भी, निम्नलिखित प्रकारसे पांच प्रकारका है:

१. कात्यायनी व्रत, पूजा आदि कर्म, भगवानको प्राप्त करा(देनेकी इच्छा) देगा

ऐसी इच्छासे ही करना और परम्परासे भी भगवानकी ही सेवा करना.

२. गोपजनोंने भूखसे पीडित होकर भी क्षुधाकी शान्तिकेलिए, भगवानकी ही प्रार्थना की यह प्रार्थनारूप, द्वितीय कर्म.

३. श्रीनन्दरायजी आदिने इन्द्रका यागरूप परम्परागत धर्मका त्याग किया और गोवर्धनयाग किया–यह तृतीय कर्म.

४. इन्द्रके द्वारा की गई वृष्टिसे व्याकुल हुए व्रजजनोंने हरिकी ही सेवा की–यह शरणगमनरूप, चतुर्थ कर्म.

५. उन गोपोने जिनका सन्देह श्रीनन्दरायजीके वाक्योंसे दूर हो गया था, भगवानमें माहात्म्य ज्ञानपूर्वक, स्नेहयुक्त कार्य किया–यह पांचवां कर्म है.

टिप्पणी: स्त्रियों और पुरुषोंका सहभावसे निरूपण करनेका कारण, उनकी तुल्यता है अविद्याके सम्बन्धका अभाव अथवा निरोध दोनोंमें समान है.

योजना: स्त्रीपुंसो–कुमारिका और उनके पुरुषभावरूप वयस्य. तुल्यत्वात्– रहस्यलीलाका अनुभव कुमारिका और उनके पुरुष भावरूप वयस्य दोनोंको साथ ही फल प्रकरणमें होगा अतः फलके अनुभवकी, समानता होनेसे, 'साधन' उपप्रकरणमें भी दोनोंका सहभावसे, निरूपण किया गया है. 'वयस्यैरागतस्तत्र' वयस्यों(सखाओं)के साथ भगवान् वहां पधारे इत्यादि स्थलों पर साधनमें, सहभावका निरूपण है इससे गोपीजनोंकी कर्मात्मिका विद्या कात्यायनी व्रतरूप विद्याका निरूपण किया गया है और गोपोंकी ज्ञानात्मिका विद्याका निरूपण ''धन्य एषां वरं जन्म'' इन वृक्षोंका जन्म उत्तम है इत्यादि वाक्योंमें, भगवानने उपदेश करके किया हैं. इस प्रकार गोपीजनोंकी कर्मात्मिका विद्या और गोपजनोंकी ज्ञानात्मिका विद्याका भेदसहित निरूपण किया गया है. यही विषय अन्तिम कारिकामें स्पष्ट कहा है कि उन्नीसवें अध्यायमें, जिस प्रकार भोग्य कुमारिकाओंके व्रतका निरूपण किया है, उसी प्रकार अन्तःस्थ कुमारोंके ज्ञानका निरूपण भी यहां(इसी अध्यायमें) ही किया गया है. अन्तःस्थ कुमारोंका, अर्थात् जिन भक्तोंका निरोध करवाना है. उन्हींकी इन्द्रियोंमें उनके अधिष्ठातारूपसे भीतर रहनेवाले कृष्ण स्तोक आदिका.

श्रीशुक उवाच

हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दगोपकुमारिकाः।

चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम् ।।१।।

श्लोकार्थः श्रीशुकदेवजी कहने लगे, हेमंत ऋतुके प्रथम, मार्गशीर्ष मासमें, नंदगोपकी कुमारिकाओंने हविष्य अन्नका भोजन करते हुए, कात्यायनीकी पूजाके व्रतका आरम्भ किया ।।१।।

व्याख्यार्थः गत अध्यायमें, स्त्रियों(गोपीजनों)की भगवानकी क्रीड़ामें परम आसक्तिका निरूपण किया है. वे गोपिकाएं, अनन्यपूर्वा(कुमारिका) और अन्यपूर्वा (विवाहिता) भेदसे, दो प्रकारकी हैं. इनमें परिणीताओं(विवाहितों)का संस्कार अन्यरीतिसे अन्यके साथ विवाहसे हुआ है उनका तो वह संस्कार हो चुका अनन्तर केवल त्याग ही बाकी रहा है जिसका आगे वर्णन किया जायेगा अन्य गोपिकाओं (कुमारिकाओं) जिनका विवाह संस्कार नहीं हुआ है उनके विवाह संस्कारका ही निरूपण किया जाता है. विद्यामें इसी त्याग और अत्यागका निर्णय है. उनमें 'त्याग'से 'अत्याग' उत्तम है यह बतलानेकेलिए ही परीक्षा की. नन्दगोप मुख्य हैं अतः उनके यहां ही, भोग्य कन्याएं हैं. दैव गतिसे वे सारी एक, ही जातिकी हैं ऐसा 'ऋषयः षोडश सहस्रम्' इत्यादि अन्य पुराणोंसे ''सोलह हजार ऋषि निश्चित होता हैं. प्रायो बताम्ब'' इस वेणुगीतके श्लोकमें 'अम्ब' इस सम्बोधनसे उन कन्याओंका ही पहिले निरूपण किया गया है.

वे कन्याएं पूर्व जन्ममें ऋषि थीं अतः उनको यह शंका होती थी हमें कहीं किसी अन्यकेलिए दानमें न दे दिया जाये तथा कोई अन्य हमें अपनी भोग्या न बना ले. इसलिए वे व्रतकेलिए प्रवृत्त हुई. पहिले(१७वें अध्यायमें) उनके चित्तकी स्थितिका निरूपण किया. अब हेमन्त ऋतुमें वे व्रत करने लगी ऐसा समझना. उस हेमन्त ऋतुमें भी, प्रथम, मार्गशीर्ष मासमें, 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्'(मासोंमें मार्गशीर्ष मैं हूं) गीतोक्त इस भगवद्वाक्यानुसार व्रतका आरम्भ किया. यह व्रत यहां ही प्रसिद्ध है.

कात्यायनी भगवानकी आधिदैविकी तामसी शक्ति है. दुर्गा और पार्वती राजसी शक्ति है. ब्राह्मण सात्विक हैं उनकी प्रसादरूपा शक्ति स्त्री है अथवा गुणातीत भगवान् ही हैं, उनकी प्रसन्नताकेलिए ही सेवा की जाती है. इसलिए पांचवी, ऋतु हेमन्तमें, पञ्चम पुरुषार्थ(भक्ति)की सिद्धिकेलिए प्रथम, मार्गशीर्ष मासमें नन्दगोपकी कुमारिकाओंने(जिनको प्राप्त करके अच्छी तरह सुरक्षित रखा है) हविष्यान्न ही खाकर एक मासमें समाप्त होनेवाला कात्यायनीकी पूजारूप

व्रत किया. प्रतिदिन कात्यायनीकी पूजा करनेका नियम धारण किया.

'भगवानेव वा' आधिदैविक स्त्री शरीरधारी भगवान् ही कात्यायनी है. वह रहस्य लीलामें उपयोगी स्त्री शरीरवाला भगवानका स्वरूप गुणातीत है ऐसा कहा है इससे तामस, राजस, सात्विक और गुणातीत व्रज सुन्दरियोंको लीलासे उपयोगी शरीरोंकी सिद्धि होना बतलाया है ।।१।।

टिप्पणी :''अन्यपूर्वास्त्वन्यमैव कृतसंस्कारा इति'' यहां यह समझना चाहिए कि, स्त्रियोंका विवाह ही मुख्य संस्कार हैं क्योंकि वह मंत्र सहित होता है. लोकमें संस्कार द्वारा स्वर्गादि फलको देनेवाले अग्निहोत्र आदि 'वैदिक कर्मों'के करनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है. यहां इस प्रकरणमें फलकी बात नहीं है, यहां तो भगवत् सम्बन्ध ही फलरूपसे कहा जायगा. और उस 'भगवत्सम्बन्धरूप फल'में संस्कारका कोई प्रयोजन नहीं है, फिर तो यहां उसका वर्णन निरर्थक ही हो जायगा. इसलिए जिस फलको यहां कहना चाहते है, उसकी प्राप्ति करानेवाला कोई धर्म ही, यहां 'संस्कार' शब्दका अर्थ है. वही धर्म, विवाहसे उत्पन्न हुए तृतीय पुरुषार्थ 'काम'के विशेष रसका अनुभव करानेमें कारण है. कामशास्त्रकी मर्यादाके अनुसार वह(रस) सब पति-पत्नीमें उत्पन्न नहीं हो सकता, इसीसे व्याख्यामें 'अन्यथा' अन्यके साथ उनका परिणय संस्कार होना कहा है. भगवदीयोंका किसी अन्यके साथ विवाह अनुचित हैं इसीसे 'अन्यथा' शब्दका प्रयोग किया है परन्तु उन पतियोंके साथ, उनका सम्बन्ध न होनेसे और भगवद्रसका पोषक होनेसे उसको संस्कार कहा है. इस कथनसे पूर्वोक्त संस्कारकी निरर्थकता भी दूर हो गई(मिट गई), क्योंकि अनुचित सम्बन्धको संस्कार नहीं कहा जाता है. इसलिए यह सब निर्दोष है.

और यहां 'लोकानुसारिणी विद्या' इत्यादि वाक्यसे पहिले लोकके अनुसार कर्मका निरूपण किया है, भगवच्छास्त्रे 'भागवत'के अनुसार नहीं किया है. भगवच्छास्त्रमें तो भगवानकी प्राप्तिकेलिए भगवानकी ही सेवा करनेकी मर्यादा है. लोकमें जैसे अपने प्रियको मिलनेकेलिए उसकी दूतीसे प्रार्थना करनी पड़ती है, वैसे ही यहां भी कात्यायनीकी प्रार्थना की गई है. उस लौकिक दूतीको जैसे धन आदि देकर संतुष्ट किया जाता है, वैसे ही यहां इस अलौकिक दूती(कात्यायनी)को अलौकिक रीतिसे, सन्तुष्ट किया गया है अतः इसमें अन्यका भजनरूप 'अन्याश्रय' दोष भी नहीं हो सकता, क्योंकि यह

तो भगवानको प्रसन्न करनेकेलिए, अपने शरीरके मण्डनके तुल्य है और रसका पोषक है.

वे विवाहित गोपीजन तो प्रौढ अवस्था की है, उनमें तो भावके अंकुर उत्पन्न हो चुके हैं, उनका तो अनंगवृक्ष, प्रतिदिन, प्रिय भगवानके प्रतिदिन बढते हुए प्रेमसे अत्यन्त गीले नेत्रोंके दर्शनसे सुदृढ हो चुका हैं और उसके रसके प्रवाहके वेगसे अन्यका भान मिट गया है. उन्हें समय प्राप्त होने पर, भगवानके समागमकी ही अपेक्षा है, जिसका वर्णन 'निशम्य गीतम्'से आरम्भ करके 'न न्यवर्तन्त' श्लोक तक छब्बीसवें अध्यायमें करेंगे. इसीको ध्यानमें रखकर व्याख्यामें 'तासां त्यागोऽगम्' उनका तो त्याग ही करना बाकी है, ऐसा कहा है. यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि, इन कुमारिकाओंके व्रतके प्रसंगमें प्रौढ गोपीजनोंका प्रसंग क्यों आया? उत्तर इस प्रकारसे है, मूल श्लोकमें 'कुमारिकाव्रतंचेरूः' कुमारिकाओंने व्रतका आरम्भ किया इस कथनसे कुमारिकाओंसे अलग गोपीजनोंका व्रत न करना सूचित किया उनमें व्रत न करनेवाली, गोपीजनोंका स्वरूप कहना और उन 'स्वरूपके' न कहनेके कारण बतलाना भी आवश्यक है. अतः उन दोनोंका कहना प्रसंगानुकूल उचित ही है, इसके पीछे 'अन्यासामसंस्कृतानाम्' संस्काररहित (अविवाहित) कुमारिका गोपीजनोंके संस्कारका ही निरूपण करते हैं, उसका यहां अनेक प्रकारसे वर्णन किया गया है, जैसे प्रथम भगवानकेलिए किए गए व्रतमें आए हुए क्लेशसे उत्पन्न विशेष भावरूप संस्कार, क्योंकि विना परिश्रम सहज मिली हुई वस्तुकी अपेक्षा परिश्रमसे प्राप्त हुईमें, स्नेह अधिक होता हैं. यह सभीका अनुभव है, फिर 'कृष्णचेतसः' पंचम श्लोकोक्त इस पदसे वर्णित हुआ, भगवानके निरंतर और अनेक प्रकारका भगवानके साथ संगमका मनोरथरूप संस्कार तथा उससे उत्पन्न हुआ भाव, विशेष संस्कार, जिससे आगे कात्यायनीकी प्रार्थना न करके भगवानकी ही प्रार्थना करेंगी. आगे उषसि छठे श्लोकमें प्रदर्शित प्रकारका संस्कार. पीछे प्रिय भगवानके पधार आने पर, अनेक प्रकारके रस और भावोंसे भरे हुए परस्परके वार्तालापसे उत्पन्न प्रमोद अथवा आनन्द विशेष, द्वारा होनेवाला भावरूप संस्कार. पीछे 'यूयं विवस्त्राः' भगवानके वाक्योंको सुनकर, अगले वाक्यमें बतलाया हुआ विशेष भावरूप संस्कार. तदनन्तर, वस्त्र वितरण और उस समयमें, उत्पन्न भावोंको प्रदर्शित करनेवाली दृष्टि, चितवन द्वारा

अनेक प्रकारके स्पर्शमें उत्पन्न भाव विशेष संस्कार. उसका ही वर्णन श्रीशुकदेवजीने 'दृढं प्रलब्धाः' श्लोकसे किया है. इसीसे, ईर्ष्याके कारण होने पर भी, उन्हें ईर्ष्या न हुई, क्योंकि संस्कारसे दोष उत्पन्न होते ही नहीं, फिर अग्रिम वाक्यमें कहा हुआ भाव, विशेष संस्कार. पश्चात् अत्यन्त प्रसन्न प्रिय भगवानके दर्शन अवलोकन और वरदानके वाक्योंके सुननेसे उत्पन्न अवश्यम्भावी संगमके निश्चयसे होनेवाला संस्कार. फिर घरजानेकी आज्ञासे उत्पन्न अत्यन्त दुःख और इष्टकी प्राप्तिसे उत्पन्न अत्यन्त सुखसे विभिन्न भावरूप संस्कार. पीछे एक-एक क्षणका अनेक कल्पोंके तुल्य होनेका भान होना, सब ओरसे गुप्त रख(छिपा)कर, अपने हृदयसे अत्यन्त बढते हुए भावके रसके वेगसे, कभी-कभी आपसमें, उनकी कथारूप अमृतकी वर्षासे, प्राप्त सुखसे, निरन्तर अनेक मनोरथ करना और उनके द्वारा, क्षण-क्षणमें साक्षात् भगवानके द्वारा, अपना उपभुक्त होना, मानना इत्यादि. इनके हृदयमें भगवानका जैसा साक्षात् सम्बन्ध था, वैसा बाहिर नहीं था. भगवत्सम्बन्ध होने पर ही, इनकी आगे होनेवाले भगवानके संगममें रसको अनुभव करनेकी योग्यता हुई, यह भी इनका संस्कार ही समझना. इन सबको ध्यानमें रखकर ही व्याख्यामें ''संस्कार एवं निरूप्यते'' संस्कारका ही निरूपण करना लिखा हैं. यद्यपि भगवान् सर्व शक्तिमान है, तब भी, इस रसका स्वरूप, ऐसा ही होनेके कारण, ऐसे कहा गया है यह तात्पर्य है.

''विद्यायामेव त्यागात्यागनिर्णय'' त्याग और त्यागाभावका निर्णय विद्यामें ही है. इसे त्याग कहते है और यह अत्याग है, वह इस तरह करना, ऐसा न हो, तो नहीं करना इत्यादिका निर्णय ही इस ऊपर कहे संस्कारका निरूपण है. समझ लीजिए ''यदहरेव विरजेत्तद्रहरेव प्रव्रजेत्'' श्रुति कि, जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो जाए, उसी दिन संन्यास ले लिया जाए-इस श्रुतिके अनुसार प्रचलित(ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) आश्रमोंकी मर्यादामें केवल अनुराग न करना ही, त्याग बतलाया गया हैं यहां भक्ति मार्गमें, ऐसा नहीं है इसी भावसे, व्याख्यामें, 'विद्यायाम्' पद कहा गया है. विद्यासे, यहां भक्तिमार्गीय विद्या समझना चाहिए. भक्तिमार्गीय विद्या ही विद्या है. अन्य स्थलों पर कही विद्या, विद्या नहीं है इसीलिए विद्या यह सामान्य पद कहा है. इन गोपिजनोंका विषयोंमें अनुराग नहीं है, तो भी फलरूप भगवान् घरमें ही

विराजते हैं, इसलिए बाहर जाने गृहत्यागकी आवश्यक्ता न होनेसे उन्होंने बाह्य त्याग नहीं किया, किन्तु घरमें रहकर ही भगवत्प्राप्तिके अनुकूल प्रयत्न किया है. ज्यों-ज्यों भगवद्भाव बढता गया, त्यों-त्यों बाह्य साधनोंका त्याग और अन्तरंग साधनोंका आचरण करते गए. भगवानके संगमकी भावनाके सहज होनेसे, लौकिक ही नहीं वैदिक क्रियाएं भी, जो स्वतः छूटती गई, छूट गई. उन्होने उनका किसीका जानकर त्याग नहीं किया. प्रिय भगवानको प्रसन्न करनेकेलिए, यदि देह अन्तःकरणके धर्म(जो छोडे नहीं जा सकते) भी त्याग देने चाहिए, जो उन गोपीजनोंने छोड़ दिये थे. यहां व्रत, भगवत्प्रार्थना, वस्त्र त्याग, हाथ जोड़ना, घर जाना आदिसे यही निर्णय होता है कि फलकी प्राप्ति हो जानेके पीछे भी, भगवानकी जब इच्छा हो तब ही त्याग करना चाहिए नहीं तो त्याग नहीं करना चाहिए. इसलिए आगे त्याग कहा गया है. इसके अतिरिक्त अन्य रीतिसे किया हुआ त्याग त्याग ही नहीं है क्योंकि, वैसे त्यागसे फलके रसका अनुभव नहीं होता है. यही 'अत्याग' पदका तात्पर्य है. सारांश यह है कि साधनदशामें तो त्याग उचित ही नही है फलकी प्राप्ति हो जाने पर भी संस्कारकी पूर्वकथित(पहले कही हुई) रीतिसे इनकी साधनदशा ही है वास्तवमें तो अभी फलकी प्राप्तिका निश्चय ही हुआ है फलकी प्राप्ति तो आगे होगी. इसलिए उनका घर चला जाना उचित ही है.

शंका: यहां यह शंका होती है कि ''नीवीं प्रतिप्रणिहितेतु करे'' अधोवस्त्रकी गांठके ऊपर प्रियके हाथ रखने पर कुछ भी अनुसंधान नहीं रहता इस न्यायसे उस समय उनको अपने वस्त्र छुड़ानेका अनुसंधान रह कैसे गया? इसका समाधान इस प्रकार है कि संगमके भावमें ही गोपीजन हृदयमें भगवानके प्रति रहे स्थित उत्कट अनुरागसे अपने अन्तरायको भी नहीं सह सकनेकी भावनासे उन्हें वस्त्र छुडानेका अनुसंधान बना रहा. इसीसे प्रिय भगवानने ''मस्तक पर अंजलि बांधकर'' इत्यादि वचन कहकर उनके भावकी परीक्षा की. ऊपर कहे गए भावसे ही, यदि वे ही(गोपीजन) अंजलि मस्तक पर धर लेगी. तो दृष्टिका अन्तराय दूरकर लेगी. परीक्षा करनेका यही प्रयोजन था.

तुमने वरुण देवताकी अवहेलना की है यह कहकर, भगवानने वस्त्रत्यागमें अपनी अरुचि सूचित की है. भगवानका अभिप्राय यह है कि भगवानके साक्षात् संगम और अन्तरायके असह्य होनेके पीछे ही वस्त्रत्याग

उचित हो सकता है, केवल संगमकी भावनामें ही ऐसा करना उचित नहीं हैं, इसी लक्ष्यसे व्याख्यामें 'अत्याग' 'त्याग'से उत्तम है यह बतलानेकेलिए परीक्षा की, ऐसा कहा गया है. इसीसे मूलमें 'तत्पूर्ति–कामाः' व्रतकी पूर्णता चाहनेवाली ऐसा कहा है. सारे अंगपर दृष्टि पडनेसे ही, व्रतकी पूर्णता माननेवालेको भगवान् जब तक सारा अंग नहीं देख लेते हैं, तब तक व्रत अपूर्ण है, अतः उक्त विधिसे, व्रत पूरा करनेकी इच्छासे ही उन(गोपीजन)ने ऐसा किया यदि वस्त्रोंका त्याग न करती तो भगवानके पास शीघ्र ही चली जाती. वस्त्र त्यागनेसे ही, देरी हुई. इस कारणसे भी 'अत्याग'की 'त्याग'से उत्तमता सिद्ध होती है.

अब 'ब्राह्मणाः सात्त्विका'से आरम्भ करके 'सेव्यते' तक व्याख्याका तात्पर्य कहते है. पद्मपुराणमें कहा है कि दण्डकवनमें रहनेवाले सोलह हजार ऋषियोंने उनके आश्रमोंके निकट आए हुए, करोडों कामदेव जैसे सुन्दर, श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन करके, मनमें उनके साथ रमण करनेकी, अत्युत्कट इच्छा की और उनसे उनकी पत्नियां होनेकी प्रार्थना की. तब श्रीरामचन्द्रजीने उन पर कृपा करके कहा कि, ''अभी तो मैं एक पत्नीव्रत धारण करता हूं. व्रजमें तुम्हारा मनोरथ पूरा(सिद्ध) होगा'' वे ही, ऋषियें कुमारिकाएं है, यह ध्यानमें रखकर ही व्याख्यामें 'ब्राह्मणाः' इत्यादि कहा है. 'आदिवाराह[१]' पुराणमें कहा है कि ''कृष्णके साथ रमण करनेकी इच्छासे, सोलह हजारने गोपीरूप धारण किया और श्रीकृष्णके साथ रमण किया''(''कृष्णस्य रमणार्थं हि सहस्त्राणि च षोडश, गोप्यो रूपाणि चक्रुश्च तत्रा क्रीडन्त केशवम्''). 'महाकूर्म' पुराणमें लिखा है कि ''महात्मा अग्निपुत्रोंने तपस्या करके स्त्रीभाव प्राप्त किया और जगत्कर्ता व्यापक वासुदेव भगवानको, पति प्राप्त किया'' (''अग्निपुत्रा माहात्मानः तपसा स्त्रीत्वमापिरे, भर्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभुम्'') . इत्यादि अन्य पुराणोंके आधारसे ही आचार्यचरणोंने उन सोलह हजारोंको एक जातिकी बतलाई है. यहां ऐसा समझना चाहिए कि परस्पर विरोधके कारण, पुरुष शरीर बना रहे, तब तक तो स्त्रीभाव उत्पन्न ही नहीं हो सकता, ऐसी स्थितिमें इन ऋषियोंको अत्यन्त पवित्र और परम पुण्यशाली देखकर श्रीरामचन्द्रजी उन पर इतने प्रसन्न हुए कि कभी किसीको भी न दिया जाने योग्य साक्षात्स्वरूपानन्दका दान उनकेलिए करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई. किसी

प्रमाणके न होनेसे, यह कह नहीं सकते, कि पुरुषरूपमें, अथवा केवल स्त्रीरूपमें, स्वरूपानन्दका अनुभव सम्भव नहीं है क्योंकि स्त्रीरूपसे शरणमें गई हुई ब्राह्मण पत्नियोंको भी, भगवानने साक्षात् स्वरूपानन्दका दान नहीं किया और क्षुद्र भीलनियों केलिए दानकर दिया, किन्तु अचिन्तनीय अनन्त शक्तिमान् भगवानकी प्रसादरूप शक्तियां भी बहुत हैं, उनमें भी एक शक्ति अत्यन्त अन्तरंग है, जिसके सम्बन्धी जीव पर(को) भगवानके स्वरूपानन्दका अनुभव अवश्य होता है, वह अन्तरंग शक्ति बतलाए हुए इस स्त्रीत्वरूप 'लक्षण' धर्मरूप ही है, इसीसे उसको भगवानने इन ऋषियोंमें स्थापित किया. तभी वे साक्षात् स्वरूपानन्दका अनुभवकर सकने योग्य हुए परन्तु भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी इच्छा अनुसार स्वरूपानन्दका अनुभव करने योग्य देह भी, अभी हुई इसीसे[३] व्याख्यामें, उनकी प्रसादरूप शक्ति स्त्री हैं. ऐसा कहा है. वह शक्ति, स्त्रीके सारे धर्मोसे युक्त स्त्रीरूप कात्यायनीरूप है और उसीकी फलकी प्राप्ति होने तक 'सेव्यते' सेवा की जाती हैं ऐसा सम्बन्ध(अन्वय) है. उन ऋषियोंका यह भाव निश्चितरूपसे भगवद्भाव ही है. क्योंकि नेत्र द्वारा भगवानके हृदयमें आने पर, यह भाव उत्पन्न हुआ है.

व्याख्यामें 'भगवानेव वा' पक्षान्तर करनेका आशय यह है कि, 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुतियोंमें भावरूपसे निरूपण है, धर्मरूपसे नहीं, किन्तु धर्मिरूपता है, सेव्य भगवान् सेवकमें अपना स्वरूप सिद्धकर देते है. हृदयमें पधारे हुए, भावरूप भगवानने हमारे देह आदिको ऐसा बना दिया की भावरूप भगवानकी ही सेवा कर सकें. बाहर हमारे साथ रमण करनेकेलिए प्रकट होओ. इसलिए नायिकाभावसे स्त्रीभाव कहा है ''इससे, उनमें कोई कमी या सगुणता होनेकी शंकाको दूर करनेकेलिए ही, व्याख्यामें 'गुणातीतः' गुणातीत कहा है'' इस स्त्रीभावके कथनसे उनमें किसी न्यूनता या सगुणपनकी शंकाको मिटानेकेलिए ही, व्याख्यामें गुणातीत पदका प्रयोग किया जाता है. इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसे समुद्रसे उत्पन्न अमृतका दान करनेकेलिए, आप भगवान् मोहिनीरूप हुए थे. वैसे ही अपने लोभामृत अधरामृतका दान करनेकेलिए यह रूप है, इस कथनसे यह बतलाया कि ''मैं तुझे दिव्य नेत्र देता हूं''(''दिव्यं ददामि ते चक्षुः'') इस गीता वाक्यके अनुसार जैसे दिव्य दृष्टिसे ही भगवानके दर्शन किए जा सकते हैं, वैसे ही भगवद्रूप दिव्य स्त्रीभावसे ही, भगवान् भोग्य हो

सकते हैं.

लेख: व्याख्यामें 'अधिदैविकी' अर्थात् आधिदैविक प्रतिबन्धका नाश करनेवाली. इसका स्पष्टीकरण मंत्रकी व्याख्यामें किया जाएगा. यह तामस-तामस जीवोंको भगवानकी प्राप्ति करानेवाली हैं. दुर्गा राजसी है अतः उसके द्वारा राजस प्रकरणमें दुर्गाके द्वारा भगवत्प्राप्ति हुई है. 'ब्राह्मण' आदिसे पक्षान्तर कहते हैं. यहां पहले 'ये' पदका अध्याहार है तब ये अत्र ''सात्त्विका ब्राह्मणाः कुमारिकास्तेषां ब्राह्मणानाम्'' ऐसा सम्बन्ध है. यहां यह सम्बन्धकारक विषय अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, अतः ब्राह्मण विषयक प्रसादका निरूपक अर्थ है. यहां व्रतका प्रसंग होनेसे सात्विकता का वर्णन किया है. गुणातीतः पदका सम्बन्ध स्त्री भवतिके साथ है.

''इदं व्रतमत्रैव प्रसिद्धं'' कुमारिकाओंने किया, यह कात्यायनी व्रत यहां श्रीमद्भागवतमें ही, कर्तव्यरूपसे प्रसिद्ध है. 'कात्यायनी' यह नामका निर्देश है. वह आधिदैविकी संहारकारिणि शक्ति है, वह तामस भक्तोंको फलकी प्राप्ति कराती हैं, अतः उसका स्वरूप तामसी हैं. दुर्गाका वर्णन यहां प्रसंगवश किया हैं, क्योंकि दुर्गाका उपयोग तो आगे राजस प्रकरणमें स्फुट होगा, कात्यायनीके स्वरूपके विवेचनमें भिन्न दो पक्ष बतलाते हैं १. सात्त्विक ब्राह्मण अथवा २.गुणातीत भगवान् ही.

यहां 'टिप्पणीजी'में 'स्त्रीत्वलक्षणधर्मरूपापिस्त्रीरूपा' स्त्रीत्वमें आकृति और स्त्रीमें स्त्रीका शरीर यह भेद है. शरीरके बिना केवल आकृतिसे ऐसे भावरूप भगवानकी बाह्य पूजा नहीं हो सकती. इसीसे स्त्री भवति प्रतिमामें प्रकट होकर दोनों प्रकारकी सेवा कराते हैं ऐसा अर्थ है, आगे यहां यह कहा गया है, कि पुरुषपनमें, अथवा केवल स्त्रीभावमें, साक्षात् स्वरूपानन्दका अनुभव नहीं हो सकता सो यह केवल स्त्रीत्वमें केवलत्व क्या है? यदि इसका अर्थ स्त्रीत्वमात्र कहें, तो स्त्रीत्व तो सभी स्त्रियोंमें है, तब तो किसी भी स्त्रीको स्वरूपानन्दका अनुभव नहीं हो सकेगा? उत्तर-स्त्रीत्वके सहकारीका अनुसन्धान न रखकर की हुई इस शंकाका उत्तर तो 'यत्सम्बन्धिजीवे' ''जिसके सम्बन्धवाले जीवमें भगवानके स्वरूपानन्दका अनुभव अवश्य होगा ही'' इत्यादिसे स्वयं ही दे दिया गया है. 'माताभावात्' प्रत्यक्षादि चारों प्रमाणोंके अभावसे. उनमें 'शब्द' और 'प्रत्यक्ष' प्रमाणोंके अभावमें तो कोई विवाद नहीं

हैं द्विजपत्नियोंको स्वरूपानन्दका दान नहीं किया, इससे 'यत्सत्वे यदभाव' अन्वयव्यभिचार बताया. इसका कारण यह है, कि उनमें पुरुष भावयुक्त स्त्रीभाव था इसीसे भगवानकी शरणमें चले जानेके पीछे भी, उनकेलिए स्वरूपानन्दका दान नहीं किया. भीलनियोंको जिनमें द्विजपत्नियोंकी अपेक्षा बहुत थोडा स्त्रीत्व था तो भी स्वरूपानन्दका दान कहकर ''यदभावे यत् सत्वं व्यतिरेकव्यभिचार'' सूचित किया है. 'सा एका' ऊपर कही वैसी. ''तेषां प्रसादरूपा शक्तिः'' ''शक्तिः सामर्थ्यैका मुख्या'' उसका स्वरूप यह है कि उसके सम्बन्धी जीवको अवश्य ही स्वरूपानन्दका अनुभव होवे इस कार्यलक्षणसे उसे मुख्य कहा गया है. यह शक्ति भगवानका धर्मरूप ही है कोई अन्य पदार्थ नहीं है. जिसका स्वरूप ऊपर कहे अनुसार जीवको स्वरूपानन्दका अनुभव करानेवाले अन्तरंग प्रसादका देनेवाला है और वही स्वरूप ऐसे स्त्रीभावसे युक्त है 'एव'से यह बतलाया कि वह कोई दूसरा स्वरूप नहीं है. अतः भगवानका अनुभव करानेवाली होनेसे. 'ताम्' उस कही गई शक्तिको 'तदनुरूपः' स्वरूपानन्दके अनुभवके अनुकूल. अधुना कृष्णावतार के समयमें तथा नन्दगोपसुत कृष्णरूपसे उनके मनोरथ पूर्ण करनेकी इच्छा जिस कारणसे हुई, उससे तात्पर्य यह है, कि स्त्रीत्व लक्षणवाला धर्मरूप होकर स्त्रीरूप कात्यायनीरूप है उपर कहे हुए धर्मवाली भी वह शक्ति, स्त्रीरूपा सारी स्त्रियां जिसका रूप है ऐसी कात्यायनीरूप, इसीको तदनुरूप ''उसके अनुकूल देह अब प्राप्त हुई'' पदसे कहा है. अथवा 'तदनुरूप' ऊपर बतलाए गए स्त्रीत्व लक्षणयुक्त धर्मके अनुकूल उपर कहे हुए धर्मवाली, जैसी यह स्त्री, वैसी ही देह, इसमें भगवानके स्वरूपका अनुभव करानेकी क्षमता दोनों-देह और स्त्रीत्वमें है. ऐसी देह अग्निकुमारोंको अभी प्राप्त हुई है, यही स्त्री भवति इस वाक्यसे कहा है. तात्पर्य यह है, कि ऐसे शरीरवाली वह शक्ति कात्यायनी पदसे कही गई है. अथवा उपर कहे हुए धर्मकी सहायक देह लीलाके समयमें, श्रीरामचन्द्रजीकी स्वरूपानन्दका दान करानेकी इच्छासे अभी उन्हें प्राप्त हुई. ग्रन्थके स्वारस्यको लेकर उपर्युक्त धर्मसे, अर्थात् अपने अनुकूल देह अपनेसे ही प्राप्त हुई-यह ऐसा 'स्त्री भवति'का आशय है. स्त्रीरूपा ऐसी स्त्रीदेह, जिसे कात्यायनी पदसे कहा है, वह रूप. जैसे जीव, जैसी देह(योनि)को प्राप्त होता है. उस देहके अनुसार ही उसके साथ व्यवहार होता है इसी तरह यह भी

समझना चाहिए.

योजना: कात्यायनी आधिदैविकी इत्यादि पूर्वजन्ममें, रामवतारमें, जिन अग्निकुमारों पर, जो भगवत्प्रसाद हुआ, उसका रूप कात्यायनी शक्ति है, इसीसे उसे आधिदैविकी कहा है. कात्यायनी शिवजीकी पत्नी है, इसलिए वह शिवशक्तिरूपसे प्रसिद्ध है भगवत् शक्तिरूपसे उनकी प्रसिद्धि कहीं भी नहीं है. अतः वह कात्यायनी भगवत् शक्ति नहीं हो सकती? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यद्यपि, आधिभौतिकी कात्यायनी शिवशक्ति हैं, तो भी, आधिदैविक कात्यायनी तो भगवत् शक्ति ही है (''श्रियं लक्ष्मीमौपलाम्बिकाङ्गाम्'') श्रुतिसे ऐसा निर्धार हो चुका है. 'ओपलाम्'का पत्थरका सम्बन्धवाली पार्वती-यह अर्थ है, ब्रह्मवैवर्तपुराणमें कहा है कि रासमण्डलमें शिवजीने पार्वतीको भगवानकेलिए दिया. श्रुतिमें भगवानकी विविध शक्तियां कही है (''परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते''). अनेक शक्तियां होनेसे, भगवान् भिन्न-भिन्न कार्योमें, अगल-अलग शक्तियोंका उपयोग करते है, इससे तामस व्रजवासियोंको भगवानकी प्राप्ति करानेमें कात्यायनी तामसी भगवत्शक्ति हेतु है, ऐसा समझना चाहिए. इसीसे ''हे सतियों! जिसके उद्देश्यसे, तुमने आर्याकी पूजारूप यह व्रत किया''(''यदुद्दिश्य व्रतम् इदं चेरुरार्याचलं सतीः''भा.१०।२२।२७) ऐसा सत्ताईसवें श्लोकमें भगवानका वाक्य है. राजस भक्तोंको, दुर्गा, पार्वतीरूप, राजसी और भगवत् शक्तिके द्वारा भगवत्प्राप्ति होती है, इसीसे श्रीरुक्मिणीजीकी प्रार्थनामें है. ''हे कल्याणि मैं तुझे बार-बार नमस्कार करती हूं, भगवान् कृष्ण, मेरे पति होवें''(''भूयात् पतिर्मे भगवान् कृष्णः तनुमोदताम्'' भा.११।५३।४६), ऐसा कहा है, और स्यमन्तक मणिके प्रसंगमें भी, कृष्णकी प्राप्तिकेलिए, महामाया दुर्गाकी उपासना की (''उपतस्थु महामायां दुर्गां कृष्णोपलब्धये''भा.१०।५६।३५) यह लिखा है. कात्यायनी, दुर्गा और पार्वती शब्दोसे कही जानेवाली तीनों शक्तियां भगवानकी ही हैं. तीनों परस्पर अभिन्न हैं, इनमें केवल अलग-अलग गुणोंका ही भेद है. तात्पर्य यह है कि कात्यायनी, दुर्गा और पार्वतीके द्वारा क्रमसे तामस, राजस और सात्त्विक भक्तोंको भगवत्प्राप्ति होती है. इससे यह भक्तिमार्गकी रीतिके योग्य ही है. इस कथनसे कात्यायनी नामकी शिवशक्ति है, वह स्वतन्त्र देवता है और सन्तुष्ट हुई, वह स्वयं अपने सेवकोंकेलिए

श्रीकृष्णका दानकर सकती है इस तरहकी शंका करनेवालोंका तथा श्रीकृष्णकी प्राप्तिकेलिए कुमारिकाओंने अन्य देवताका आश्रय-अन्याश्रय किया ऐसी शंका करनेवालोंको भी निरासकर दिया, क्योंकि पूर्वोक्त उपनिषद् और ब्रह्मवैवर्तपुराणके वाक्योंसे निश्चय होता है कि कात्यायनी आदि भगवानकी शक्तियां है.

कात्यायनी भगवानकी शक्ति है इस पक्षमें कात्यायनीको तामसी कहा है. अब पक्षान्तर कहते है.

सुबोधिनी : आधिदैविक स्त्री शरीरधारी भगवान् ही कात्यायनी है. वह रहस्य लीलामें उपयोगी स्त्री शरीरवाला भगवानका स्वरूप गुणातीत है ऐसा कहा है. इससे तामस, राजस, सात्त्विक और गुणातीत व्रजसुन्दरियों लीलामें उपयोगी शरीरोंकी सिद्धि होना बतलाया है ।।१।।

आभासार्थ : वहां 'आप्लुत्याम्भसि' इस श्लोकसे पूजा विधि कहते हैं:

आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्या जलान्ते चोदितेऽरुणे ।
कृत्वा प्रतिकृतिं देवीम् आनर्चुर्नृप सैकतीम् ।।२।।

हे राजन्! सूर्यके उदय होने पर,(वे) कालिन्दीके जलमें स्नान करके, बालू रेतकी प्रतिमा बना कर, देवीकी पूजा करने लगी।।२।।

कालिन्दीके जलमें स्नान करके वह कालिन्दी, भगवान् मेरे पति हों इस कामसासे तप करती हैं. इससे आगे फल मिलनेवाला है. अतः [1]सफल तपस्याका सम्बन्धी होनेसे यह जल भी वैसा(सफल) है. इसलिए उसमें स्नान करना, व्रतके अनुकूल और सफल है यह बतानेकेलिए, कालिन्दी पदका प्रयोग किया है. कालिन्दीको तो फलकी प्राप्ति देरसे होगी और यहां तो शीघ्र ही फल मिलनेवाला है इस बातको बतलानेकेलिए कालिन्दी पदकी आवृत्ति न करके जलके समीप केवल 'जल' पदका प्रयोग किया है. जलान्ते जलके समीप 'च' पदसे घर आकर घरमें भी बालुका रेतीकी प्रतिमारूप देवीकी अरुणोदय होने पर सब कामनाओंको देनेवाले प्रातःसन्ध्याके समयमें पूजा करना कहा है. 'नृप' यह सम्बोधन इतने क्लेशसे भगवत्प्राप्ति हुई यह बतलानेकेलिए दिया है ।।२।।

१.'लेख' सफलतपः सम्बन्धित्वेन इस पदके पहिले कालिन्द्याः पदका अध्याहारकर लेना चाहिये. वह सफल तपके सम्बन्धवाली है. सफल तपस्विनी जिसका तप सफल है. जल भी अपने स्नानका जो तप स्नानादिरूप

सफल करता है वह सफल तपःसम्बन्धी ऐसा कर्मधारय समास है.

आभासार्थ : पूजाके साधनोंको 'गन्धैः' श्लोकसे कहते हैं:

गन्धैर्माल्यैः सुरभिभिर्बलिभिर्धूपदीपकैः ।

उच्चावचैश्चोपहारैः प्रवालफलतण्डुलैः ।।३।।

सुन्दर गन्धवाले द्रव्यों, मालाओंसे और बलि, धूप दीपक, उत्तम मध्यम सब प्रकारकी सामग्रियोंसे तथा प्रवाल, फल और चावलोंसे पूजा की ।।३।।

माल्य अर्थात् पुष्प. सुरभिभिः सुगन्धवाले यह, 'गन्ध' और 'माल्य' दोनोंका विशेषण है. बलिभिः बिना हिंसाकी सामग्रियोंसे. वे ऋषि हैं, इसलिए उन्हें सब ज्ञान हैं. धूप और दीपावलियां-दीपकोंसे तात्पर्य है दीपोंकी पंक्तियां. ऊंचे-नीचे सब अनेक प्रकारके उपहार नैवेद्यकी सामग्री. प्रवाल(पल्लव) फल और चावलोंसे(पूजा की) इस तरह नौ प्रकारकी सामग्रीका निरूपण किया ऐसे तीन श्लोकोंसे क्रमसे कर्ता, देश और द्रव्यका निरूपण हुआ ।।३।।

योजना: ऊंचे और नीचे सब अनेक प्रकारके उपहार(नैवेद्यके द्रव्य). इसीसे हेमन्त ऋतुमें अपने सम्प्रदायमें अनेक प्रकारके द्रव्य भगवानके समपर्ण किए जाते है, क्योंकि 'भगवानेव गुणातीत' इस पक्षमें कात्यायनी भगवद्रूप है ।।३।।

आभासार्थ : कात्यायनि इस श्लोकसे मन्त्र कहते हैं:

कात्यायनि महाभागे महायोगिन्यधीश्वरि ।

नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ।।४।।

इतिमन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः ।।

''हे कात्यायनी, हे बडभागिनी, हे महायोगिनी, हे अधीश्वरी, हे देवी! नन्दगोपके पुत्रको मेरा पतिकर तुजे मेरा नमस्कार है'' इस मंत्रका जप करती हुई वे प्रसिद्ध कुमारिकाएं पूजा करने लगी।।४।।

कुमारिकाएं ऋषि हैं इसलिए उन्हें मन्त्रका दर्शन है. मन्त्रकी उपासना करनेसे उस मन्त्रमें प्रसिद्ध देवताका उन्हें साक्षात्कार हुआ; क्योंकि अर्थका भी दर्शन हो गया. इससे 'कात्यायनि' यह ज्ञान सूचक सम्बोधन है 'कायं त्याजयतीति कात्या' शरीर छुड़ा देनेवाली संहारिका शक्ति उस शक्तिका आधिदैविक स्वरूप कात्यायनी है, तद्धितका यह फल प्रत्ययान्तरूप है. अब तक भगवान् प्राप्त नहीं हुवे, इसमें अपना दुर्भाग्य ही निश्चितरूपसे प्रतिबन्धक(अवश्य बाधक) है ऐसा मानना चाहिये. तप तो (सिद्ध) प्रत्यक्ष ही साधन है, नहीं तो आगे तप करने पर

भी भगवत्प्राप्ति नहीं होती इससे आधिदैविक प्रतिबन्धका भी नाश करनेमें यह कात्यायनी ही समर्थ हैं.

यहां यह प्रश्न होता है कि यदि प्रतिबन्ध आधिदैविक होता और यदि वह भगवानकी इच्छासे होता तो कात्यायनी उसे क्योंकर मिटा(दूर कर) सकी? इसका उत्तर 'महाभागे' पदसे देते हैं हे बड़े भाग्यवाली! यदि यह अल्प भाग्यवाली होती तो भगवान्(अपने अवतारके समयमें अवतार लेनेकी) उसे आज्ञा नहीं देते तो यशोदाजीमें(उसका) जन्म नहीं होता. एवं भगवानकी दासता भी प्राप्त न होती. तूं प्रार्थना करेगी तो प्रिय भगवान् अपनी इच्छाको भी (बदलकर) तेरे अनुकूलकर देंगे, क्योंकि तेरा बड़ा भाग्य है. और आभिमानिक सम्बन्धसे तू भगवानकी बहिन होती है फिर बहिन भी बड़ी. इससे तुझे आधिदैविक प्रतिबन्ध मिटानारूप (हम पर) उपकार भी करना चाहिये. तू यह मत मान कि आधिदैविक दोषोंको मैं कैसे मिटा सकूंगी; क्योंकि तू महायोगिनी है. देवकीजीसे गर्भको खींचकर रोहिणीजीमें आरोपण करना आदि कार्य तूने ही किये हैं.

आधिदैविक प्रतिबन्ध(कि जिसकी शक्ति, काल, कर्म, स्वभावसे अधिक बलवती है)का परिहार मुझसे कैसे हो? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि तुम 'अधीश्वरी' हो भगवान् पर अधिकार करके तुम ही रहती हो. इससे तुम अन्तरंग शक्ति हो. इस प्रकार(महाभागे, महायोगिनि, अधीश्वरि) इन तीन विशेषणोंसे कात्यायनीके तीन गुण कहे इसलिए सब तरहसे तुम भगवदीय है. नन्दगोपसुतको मेरापति कर, प्रत्येकका भर्ताकर. भगवानको(प्रत्येकका) पति करना अशक्य नहीं है, क्योंकि जैसे वे(भगवान् होते हुए भी) नन्दगोपके पुत्र हुए उसी तरहसे हमारे पति भी होवेंगे. और तु देवतारूप है इसलिए अलौकिक रीतिसे भी तुम भगवानको हमारा (प्रत्येकका) पतिकर तेरे इस उपकारके बदलेमें हम तुझे नमन करती हैं. अहन्ता(मैं पन)का अभिमान तुमने ही दिया है अतः यह तुम्हारा ही है. और सब तो भगवानका ही है. प्रतिबन्ध दोषके हट जाने पर भगवान् स्वयं पति हो जायेंगे तोभी तु (हमारी ओरसे) उनसे अवश्य कह. वह भगवान् अपने आपको मायाके परदेसे ढककर किसी स्थान पर उस परदेको कुछ हटाकर रहते हैं, इसलिए हम जहां-जहां होवें, वहां-वहां हमारेलिए उस परदेको तू हटानेवाली हो. भगवानके दर्शनमें अन्तरायभूत उस परदेको दूर करनेमें तेरा कुछ अपराध नहीं होगा, क्योंकि तूं तो भगवानको हमारे पति करेगी, कन्या और वरका विवाहमें

अन्तः पट दूर कराया ही जाता है. यह अर्थ नित्य है अर्थात् ऐसा सदा ही सब जगह किया जाता है. यह प्रत्यक(प्रत्यक्ष) आसीमन्त्र है. इसलिए इसका जप ही किया है, कर्मका अंगरूप नहीं किया है. कल्पसूत्रमें बतलाया हैं कि 'प्रत्यगाशिषो मन्त्रान् जपत्यकरणान्' कि जो मन्त्र कर्मके अंगभूत नहीं है, उन प्रत्यगाशिष मन्त्रोंका जप करते हैं.

अब आगे 'तेषां प्रसादरूपाशक्तिः स्त्री भवति' 'भगवानेव वा गुणातीतः' प्रथम श्लोककी व्याख्यामें बतलाये गये दोनों पक्षोंमें मन्त्रका अर्थ कहते हैं. भगवानके स्त्रियां कितनी थीं? ऐसा स्त्री विषयक प्रश्न किया गया है, ये ही 'कात्याः' पदका अर्थ है. इसीलिए 'पत्न्यः कत्यभवन् प्रभोः' राजा परीक्षितके प्रश्नमें भगवानके कितनी पत्नियां थीं? ऐसावचन है. वे कात्या स्त्रियां हैं अयन (स्थान) जिसका वह कात्यायनी है. यहां स्त्री प्रत्यय(ङीब्) वैदिक समझना.

शंका: जब कात्यायनीको ये कुमारिकाएं स्वयंको भगवानकी भोग्य अवश्य बना देनेके स्वभाववाली जानती हैं तो भगवानका सम्बन्ध अवश्य ही होगा ऐसा ज्ञान भी उन्हें होगा ही फिर उन्होंने व्रतका आरम्भ क्यों किया? विलम्बको दूर करनेकेलिए किया, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यह तो सबसे अधिक है इसलिए इसका प्रतिबन्ध दूसरा कोई हो ही नहीं सकता. वह कात्यायनी तो स्वयं ही विलम्ब सहन नहीं करती, किन्तु अपनी(कुमारिकाओंकी) अवस्थाको रसके योग्य करानेकेलिए व्रतका आरम्भ किया है यह कहना भी उचित नहीं हैं, है क्योंकि ऐसा कहनेमें कोई प्रमाण नहीं है. मन्त्रमें तो भगवानको पति करना ही सुना है और वह पति करना कार्य तो इस कात्यायनी शक्तिके अथवा कात्यायनीरूप भगवानके प्रवेशसे ही सिद्ध है. फिर व्रत करनेका प्रयोजन ज्ञात नहीं होता. इससे तो ऐसा कहना ही उचित है कि उन्हें अपनेमें कात्यायनीकी स्थितिका ज्ञात नहीं था और इस कारणसे ही उन कुमारिकाओंने व्रतका आरम्भ किया. ऐसा कहने पर भी व्रतका कोई वास्तविक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता. इससे व्रतारम्भ करनेके हेतुको जाननेका प्रश्न बना ही है.

उत्तर: इन सब शंकाओंका उत्तर देते हैं कि मन्त्रमें कहा भगवानको पतिकर यह फल ही व्रतारम्भका प्रयोजन है. यह प्रयोजन तो पूर्वकथित(पहिले बतलाये हुवे) कात्यायनी शक्तिके अथवा कात्यायनीरूप भगवानके प्रवेशरूप न्यायसे ही सिद्ध है? ऐसा मत कहो क्योंकि उनके तात्पर्यका ज्ञान अपनेको नहीं

है. वह तात्पर्य इस प्रकार है साक्षात् पुरुषोत्तमके साथ रमण करनेकी कुमारिकाओंकी इच्छा थीं. भगवानने भी कहा है कि हे सतियों! जिस उद्देश्यसे तुमने आर्या कात्यायनीकी पूजारूप यह व्रत किया है, उस उद्देश्यको पूरा करनेकेलिए इन रात्रियोंमें तुम मेरे साथ रमण करोगी. इससे कात्यायनी शक्तिके अथवा भगवानके प्रवेशका 'रमणरूप' प्रयोजन है. इस प्रयोजनको भगवान् कदाचित् आवेशरूप बलदेवजी आदिके रमणसे सिद्ध हुआ मान ले और सबका सब जगह, सम्बन्ध जोड़ देनेकी शक्तिवाले भगवान् हमारा अन्यके साथ योगकर देंगे तो आवेश अथवा अंशावतारके साथ सम्बन्ध हो जायेगा, जिसे ये कुमारिकाएं नहीं चाहती थी. इसलिए व्रतरूप उस कात्यायनीकी पूजा की जिससे आवेश अथवा अंश आदिके साथ इनका सम्बन्ध न होकर पुरुषोत्तमके साथ ही हो. इसी अभिप्रायसे भगवानने 'हे सतियों!' विशेष कहा है. और इसी अभिप्रायसे ही 'नन्दगोपसुत' पदका प्रयोग किया है क्योंकि पुरुषोत्तमका आविर्भाव नन्दगोपसुतमें ही है. (अन्य किसी आवेश या अंशावतारमें नहीं है) इस सबका निरूपण जन्म प्रकरणमें कर दिया गया है. नन्दगोपसुतका तात्पर्य यह भी है कि जैसे कंस आदिके भयसे वे न जान सके इसलिए गुप्तस्थानमें छिपाये हुवे भगवान् नन्द पुत्र हुवे, वैसे ही तूं भगवानको एकान्त स्थानमें जहां कोई जान न पाये ले जा, जहां वे हमारे साथ रमण करनेवाले होवें. इसीलिए बलदेवजी आदिको इससे अलग किया और भगवान् भी आगे इसीलिए बलदेवजीको दूर रखकर रमण करेंगे.

मूलमें उद्देश्य(नन्दगोपसुत) और विधान(प्रार्थना) वाचक(पति) पदोंके बीचमें दिये सम्बोधन देवी पदसे मध्यस्थ होकर कदाचित् दूतीरूपसे पति करानेका भाव भी सूचित होता है. और जैसे देवी शब्दसे क्रीड़ा तुझे परम आनन्द देनेवाली है, इसीतरह तेरी यह भगवानको हमारा पति करानारूप क्रीडा भी तुझे परम आनन्दजनक है यह भी भाव सूचित होता है. गायोंको जैसे अपने हित और अहितके कार्यमें लगाने या हटनेका स्वतः ज्ञान नहीं है और तो क्या? उनके खानेकी वस्तु घासको खानेसे भी उनके रक्षककी प्रेरणासे उन्हें रोक दिया जाये तो वे केवल चुप ही खाना बन्द करके रह जाती हैं, ऐसी ज्ञानशून्य गायोंके पालक गोप नन्दरायजीके पुत्र कहनेका तात्पर्य यह है कि गायोंकी तरह हमें भी उस रमणरूप फलके सम्बन्धमें साधक-बाधकका ज्ञान(रमण करने देने या न करने

देनेके विषयका ज्ञान) नहीं है इससे कदाचित् अपनी इच्छाउपर्युक्त फलसे विपरीत करनेकी हो, तोभी स्वयं ही कृपा करके अपनी उस विरुद्ध फलदानकी इच्छाको बदलकर हमारा हित ही सिद्ध करेंगे.

गोप पदका यह भी तात्पर्य है कि जैसे ब्रह्माजीकी वाणीको सत्य करनेकेलिए भगवानने जगतमें हीन दृष्टिसे देखी(गिनी) जानेवाली गोप जातिका पुत्ररूप ग्रहण किया है, उसी तरह अपने वाक्योंको सत्य करनेकेलिए हमारे पतिपनको भी अवश्य स्वीकार करेंगे ही. तू तो केवल इसमें निमित्त हो. इस कथनसे यहां यह भी सूचित किया कि नन्दगोपसुतको पति करानेमें तुझे अधिक परिश्रम नहीं होगा. और अपने अभिमानका त्याग भी बतलाया क्योंकि हमारे साधनके बलसे भगवान् हमारे पति नहीं हुवे, किन्तु तेरी प्रार्थना करनेसे हुवे हैं. हमारे इस फलको सिद्ध करनेवाले तेरे इस उपकारका बदला(प्रत्युपकार) तो हम कुछ नहींकर सकतीं; किन्तु 'किमासनं ते गरुडासनाय' जैसे गरुड़ आसनवाले भगवानकेलिए नमनसे अधिक क्या किया जा सकता है, इससे जीव केवल नमन ही कर सकता है इसी तरह हम भी तुझे केवल नमन ही करती हैं. 'ते नमः' नमनके अतिरिक्त हम कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं है. हमारी इस असमर्थताका कारण तेरा महत्व-बड़प्पन है, जिसे 'महाभागे' आदि पदोंसे कहा है. 'योगोऽस्यास्तीति योगो' भगवानके साथ इस कात्यायनीका सम्बन्ध है. इससे यह योगिनी है. योगमें भी महत्व यह है कि वह योग नायिकाभाव सहित है अर्थात् जैसे भगवानरूप पुरुष पर 'अधीश्वरि' तेने स्वामित्व स्वीकारकर लिया है. साधारण रीतिसे जो प्राप्त नहीं हो सके और योगके सम्बन्धसे जो प्राप्त हो सके, उसको महत्व कहते हैं. ऐसे महत्वके ईश्वर भगवान् ही हैं और तू तो ऐसी है कि वह ऐसा ईश्वर भी तेरे अधीन है. तू ही उसे फल देती है यह बतलानेकेलिए अधि उपसर्ग दिया है.

यह कात्यायनी भगवत्स्वरूप है, इसलिए उसकी आधीनता और उसके द्वारा फलकी प्राप्तिरूप उक्त दोनों पक्षोंसे भगवानमें न्यूनता कात्यायनीकी अपेक्षा कुछ कमीकी शंका नहीं करना चाहिये. महायोगपनमें हेतुभूत विशेषणको 'महाभागे' पदसे कहते हैं. भक्तिमार्गमें अंगीकारकर लेना कात्यायनीका भाग्यरूप है और उसमें भी पुष्टि-पुष्टिमें अंगीकार करना ही महत्व है. इसलिए उस मन्त्रका जप करनेवाली वै मौन होकर ही पूजा करने लगी यह 'इति मन्त्रम्' इत्यादि आधे श्लोकसे कहते हैं. इस मन्त्रको जपती हुई प्रसिद्ध कुमारिकाओंने मौन होकर ही

पूजा की, क्योंकि वे अविवाहित थीं. यद्यपि विवाहके पीछे ही स्त्रियोंको मन्त्रका सम्बन्ध हो सकता हैं तो भी इस मन्त्रका दर्शन उनको ही हुआ था, इससे उनका जप करना उचित है. इससे क्रियाका वर्णन किया ।।४।।

लेख : पूर्वके तृतीय श्लोकमें कहा है कि इस प्रकार तीन श्लोकोसे कर्ता, देश और द्रव्यका निरूपण किया अब इस चौथे श्लोकसे मन्त्रका वर्णन करते है और पांचवे श्लोकमें कालका निरूपण करेंगे. इस प्रकार पांच श्लोकोंसे पंचात्मक कर्मका निरूपण समझना. साक्षात्कार हुआ, क्योंकि श्लोकमें मध्यमपुरुष 'तू' पदका प्रयोग किया है. परिज्ञान अर्थात् उस कात्यायनीके स्वरूपका ज्ञान हमको हो गया है. इससे 'परिज्ञान सम्बोधन' अपनी जानकारीका बोध हमें अच्छी तरह हो गया है यह परिज्ञान सम्बोधन पदका अर्थ है. तत्र उस भगवत्प्राप्तिमें. 'अदृष्टं' भगवानको ढक 'छिपा' देनेवाला, आधिदैविक सामग्रीका कारण होनेसे आधिदैविक प्रतिबन्धक है. क्योंकि यह प्रतिबन्धक भगवत्कृत है, इससे इसको दूर करनेमें दूसरा कोई समर्थ नहीं है. केवल यह कात्यायनी ही समर्थ है, क्योंकि लीलाके प्रतिबन्धको दूरकरने(मिटाने)का सामर्थ्य भगवानने कात्यायनीको ही दिया है. यहां यह अदृष्ट कर्मजन्य नहीं है, किन्तु भगवानके भिन्न-भिन्न अंगोका आच्छादन करनेवाली योगमायाका अंश ही अदृष्ट समझना चाहिए. ननु-पदसे होनेवाली शंकाका आशय यह है कि यदि प्रतिबन्ध भगवानकी इच्छासे ही हुआ हो तो वह प्रबल प्रतिबन्ध दूर कैसे हो? महाभाग होनेमें अर्थापत्तिका प्रमाण देते हैं कि यदि अल्प भाग्य होता तो भगवानकी आज्ञा न होती इत्यादि. भाग्यका कार्य जो यहां करनेका है उसे कहते हैं कि प्रार्थना करेगी तो भगवान् अपनी इच्छाको भी इसके अनुकूलकर देंगे. 'अतः' पदका सम्बन्ध पूर्वके साथ है. तीन कारणोंसे तेरे महाभाग्यका निश्चय हुआ है. इससे तू प्रार्थना करेगी तो ऐसा करेंगे ऐसा 'यतः तव'के बाद अध्याहार करना. इस प्रकार प्रतिबन्धकके निवारणकी प्रार्थना की और इसीसे फल दानकी भी प्रार्थना की. इसको 'आभिमानीकसम्बन्धेन' पदसे कहते हैं. भाग्यका साधनरूप कारण जो यशोदाजीमें जन्म. इससे भाग्यके कार्यरूपसे कहा गया यह जन्म यहां उपकारक बहिनपनका कारणरूप कहा जाता है. इसीसे 'पुनः'पदका प्रयोग किया है. दासियां-प्रभुपत्नीको माता और उसकी पुत्रीको बडी बहिन कहती हैं और यह व्यवहार लोकसिद्ध है. यहां 'प्रायो

बताम्ब(अ.१८) इस श्लोकमें यशोदाजीको माता कहा है. इससे उनको पुत्रीको बडी बहिन कहना उचित ही है. कथं किस प्रकारसे? उत्तर:तू अन्तरंग है, इसलिए भगवानकी प्रार्थना करके कात्यायनीके तीन गुणों ऐश्वर्य, वीर्य, यशको क्रमसे अधीश्वरि, महायोगिनी, महाभागे पदोंसे समझना. सर्व प्रकारेण भगवानके धर्मोसे भी. 'वक्तव्योपि' आज्ञाके बिना ऐसा नहीं किया जा सकता. इससे प्रतिबन्धकी निवृतिको 'सहि' आदि पदोंसे स्पष्ट करते है. 'अयं अर्थः' रमणरूप अर्थ. नित्यः 'कादाचित्क' अनिश्चित नहीं है तात्पर्य यह है कि पतिके साथ रमण सर्वदा होता है और जारके साथ कभी-कभी होता है.

'प्रत्यगाशी इति' निरूक्तमें निरूपण किया है कि आशीर्वादके मंत्र प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत और आध्यात्मिक भेदसे तीन प्रकारके हैं. और वे क्रमसे मध्यमपुरुष 'तू' प्रथमपुरुष 'वह' और उत्तमपुरुष 'मैं'का प्रयोगवाले हैं. इससे यह मंत्र प्रत्यक्षकृत मंत्ररूप है. 'अवश्यं भावित्वेन' यह तृतीया विभक्ति यहां प्रकारके अर्थमें है. अर्थात् यदि इन कुमारिकाओंको अपनेमें कात्यायनीकी स्थितिका ज्ञान है, तो उस प्रकारका ही भगवत्सम्बन्धका ज्ञान होना निश्चित् है. 'अन्यथा सिद्ध'के पीछे 'भवतु' पदका अध्याहार है. प्रयोजन अर्थात् रमण भगवानके आवेशका रमण जैसा ही हो ऐसा अर्थ है अंशावतार वामन आदि. तत्रैव वहां यशोदामें ही, अदिति रोहिणी आदि नहीं. इसीलिए 'एव'का प्रयोग दिया है. तत्र वहां प्रकट हुए. बलदेवजीमें तो पुरुषोत्तम नामका आवेश हैं, इसलिए उनके साथ रमण न होवे यह इसका आशय है.

'उद्देश्य' आदि नन्दगोपसुतका उद्देश्य करके पतित्वका विधान किया गया है, इससे उद्देश्यका वाचक 'नन्दगोपसुत' पद और पतित्वके विधानका अथवा पतित्वकी प्रार्थनाका बोधक 'पति' पद इन दोनोंके बीचमें कहा है. 'तेन अत्र तव' आदि गोपसुतको पति करानेकी प्रार्थनासे. स्वस्य आदि प्रार्थनासे भगवान् ही पति हुए हैं, अपने साधनबलसे नहीं, इससे अभिमानका अभाव कहा है. अधीश्वरी अर्थात् भगवानकी अपेक्षा अधिक अथवा भगवान् पर ईश्वरता रखनेवाली.

योजना: तेरेलिए नमस्कार करती हैं. इस तरह 'ते' पदके प्रयोगसे साक्षात्कार होनेका बोध होता है. बडी बहिन होती है. क्योंकि यशोदाजीमें उत्पन्न होनेसे अभिमानिक सम्बन्धसे बहिन होती है. ''विष्णुके पीछे उत्पन्न हुई तथा आयुध

युक्त आठ भूजावाली दिखाई दी'' इस वाक्यके अनुसार 'ज्येष्ठा' गुणोंके कारण बडी ऐसा अर्थ करना. अर्थात् तेरेमें बहुत गुण हैं इससे तू सबसे बडी है.

लेख: अतः आदि इसे कर्मका अंगरूप न करनेसे. स्वतन्त्र लेखके पहिले इसका सम्बन्ध है. बीचमें स्वतन्त्रलेखका व्याख्यान है. 'यतः कुमारिकाः' इत्यादि वे कुमारिकाए थी इसलिए चूपचाप पूजा की. यहां यह शंका होती है कि इस मंत्रका जप ही नहीं हो सकता? इसका उत्तर देते हैं कि यह प्रत्यगाशी मन्त्र है, उस कारणसे इससे पूजा न हो यह उचित ही है. 'क्रियोक्ता' अर्थात् व्रतका अंगभूत पूजारूप कर्म कहा है.

एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतसः।
भद्रकालीं समानर्चुर्भूयान् नन्दसुतः पतिः ।।५।।

इस प्रकार कुमारिकाओंने एक मास तक व्रत किया और कृष्णमया चित्तरूप हुई. फिर भद्रकाली देवताकी ''नन्द सुत पति होवे'' इस मंत्रसे पूजा की।।५।।

इस तरह अप्रत्यक्षरूपसे(कात्यायनीके द्वारा) एक महिने तक कुमारिकाओंने व्रत किया. इससे काल(कितने समय तक)का वर्णन किया और व्रतका उपसहांर भी कह दिया. इस तरह छः अंग सहित व्रतरूप कर्मका निरूपण किया. इस व्रतका फल उन्हें मिल गया यह 'कृष्ण चेतसः' पदसे कहते हैं. कृष्ण ही जिनका चित्तरूप है ऐसी हो गई. तब कृष्णके सिवाय अन्यकी प्रार्थना नहीं की. इससे चित्तका दोष दूर हो जानेसे आगे चलकर कृष्णकी ही प्रार्थना करेंगी. आरम्भ किये हुवे व्रतके गौण फलकी प्राप्ति हो जाने पर भी परम फल अभी नहीं मिला, इससे एक मास तक फिर भी व्रत करना कहते हैं भद्रकाली कात्यायनीमें ही अवस्था विशेष अथवा देवता विशेष भद्रकाली रहती है. (भद्र)भगवत्सम्बन्धको प्राप्त करानेवाला काल ही भद्रकालीरूप है इसलिए उसकी अच्छी प्रकार पूजा की. वहां पीछे 'भूयान्नन्दसुतः पतिः' दूसरे मन्त्रका दर्शन हुआ. नन्दसुत स्वयं ही पति होवें इस पति होनेमें काल निमित्तकारण है, इसलिए कालकी अभिमानिनी देवताकी पूजा की. पति होनेमें कालके निमित्त होनेसे उनको भगवत्सम्बन्ध कादाचित्क हुआ, सर्वदा नहीं हुआ. नन्दके पुत्र आप कृपालुतासे हुवे हो कृपालुतासे ही हमारे पति भी होओ ऐसी प्रार्थना की. वह भी भगवानकी ही की, दूसरेकी नहीं की. यहां प्रत्येककी भिन्न-भिन्न प्रार्थनाका निरूपण नहीं है तो भी

समुदायसे भी भगवानने ही रमण किया और, इसीसे आगे कहेंगे 'एकैकशः प्रतिच्छन्तु सहैव' कि एक-एक आकर अथवा इकट्ठी ही आकर वस्त्र ले जाओ.

यह मन्त्र फलवाचक है(पतिरूप फल). पूजाका अंगरूप नहीं है. इससे पहिलेके मन्त्रकी तरह यह भी पूजाका अंग न हो जाय इसलिए स्वरूपसे ही कीर्तन किया. अन्तमें इति शब्दका प्रयोग नहीं किया यदि इति शब्दका प्रयोग किया होता तो इस मन्त्रके कीर्त्तनमें गौणता आ जाती. प्रार्थना करनेसे भगवानने स्वयं वरण किया और प्रार्थना अन्तःकरणका धर्म है, इससे भगवान् अन्तःकरणमें ही पतिरूप हुवे क्योंकि भगवानका वचन है कि ''जो जिस रीतिसे मेरी शरण आता है, उसे उसी प्रकारसे मैं भजता हूं''. तब वे अन्तःकरणमें भगवानको धारण करनेवाली और शंकारहित हो गई ।।५।।

टिप्पणी : यहां ही आगे चित्तदोषस्य गतत्वात् भ्रम उत्पन्न दोषसे होता है अर्थात् जिससे भ्रम उत्पन्न होता है, उसे दोष कहते हैं. ये कुमारिकाएं तो व्रत करनेसे पहिले भी भगवदीय ही थी. इससे व्रत करनेका हेतु संशय है और वह द्वितीय कोटिके भ्रमकी स्फूर्तिरूप ज्ञात होता है, उनका चित्त कृष्णमें ही लगा होनेसे उन्हे भगवान् पति होंगे ऐसा निश्चय हो गया था इससे उनकी दूसरी कोटिरूप भ्रमकी स्फूर्ति नष्ट हो गई थी इस अर्थ(बात)को ध्यानमें रखकर ''चितदोषस्य गतत्वात्'' कहा है. भगवान् हमारे पति होंगे या नहीं ऐसा अनिश्चय ही उनके चित्तका दोष समझना चाहिए और इसका कारण भगवान् पर उनका स्नेहाधिक्य ही है, क्योंकि संशय पैदाकर देना स्नेहका स्वभाव है. स्नेहके साथ ही उनका चित्त कृष्णमें ही था, इससे उनके चित्तमें भ्रमका विरोधी निश्चय उत्पन्न हो जानेसे उपर्युक्त भ्रमरूप अनिश्चयका मिट जाना उचित ही है उनका चित्त सदा कृष्णमें था ही, फिर भी 'कृष्णचेतस्त्व' पदसे उनमें कुछ विशेष अथवा आधिक्य कहना चाहिए और यह 'कृष्णचेतस्त्व' व्रतके पीछे कहा है. इसलिए फलरूप होना ही इस कथनमें विशेषता है और इसी आशयसे फलरूप कहा है. किन्तु आगे चलकर फिर साधनरूप कहनेसे इसे अवान्तर गौणफल समझना. इससे इन्हें पहिलेकी अपेक्षा इतनी विलक्षणता प्राप्त हो चुकी है. ऐसा समझमें आता है.

व्याख्यामें 'फलवाचकत्वात्'से 'कृतम्' तकका तात्पर्य कहते हैं कि

पहिले एक मासमें समाप्त होनेवाले व्रतका उपसंहार करके फिर पूजा और पूज्य देवताके नामोंके भेदसे भिन्न मन्त्र और कालका भेद बतलाया है इससे और 'धृतव्रता' (श्लोक१९) भगवानके इस वाक्यसे यह कोई दूसरा ही व्रत ज्ञात होता है. और यह भी है कि भगवान् पति हो केवल इसलिए व्रत किया था उनके चित्तमें कृष्ण थे इससे उन्हें अपने हृदयमें कृष्णके पति होनेका निश्चय था ही और वह पति होना केवल भगवान् स्वयंसे ही हो सकता है यह भी वे जानती थी. अतः पहिला व्रत करना भी संभव नहीं है. किन्तु वे अब फिर बाहर भी भगवानरूप पति चाहती है इसमें वैसा काल ही कारण है और यह कालकी अभिमानिनी देवता हैं–ऐसा समझकर यहां इसकी ही पूजा करना कहा गया है. इसीसे भगवानने उसके चौदह नामोंमें भद्रकाली नाम कहा है. मंत्रमें भी बाहिर प्रकटरूपसे पति होनेकी ही प्रार्थना है नहीं तो प्रार्थना करना ही व्यर्थ है क्योंकि हृदयमें भगवान् पति है ऐसा इन्हें निश्चय था ही. इसीसे इसका विषय भिन्न होनेसे यह प्रार्थना पूजाका अंगरूप नहीं है. दूसरी बात यह भी है कि पहिले दूसरेकी प्रार्थना की थी तो उसके आग्रहसे पति होनेसे और स्वतः पति न होनेसे नीरसता हो(आ) जाती है. उसको दूर करनेकेलिए ही प्रार्थना की. इसीसे भगवानकी अलग पूजा नहीं की, क्योंकि इनकी भगवानमें पतिरूपकी भावना है. यहां ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि यदि इस प्रकार पूर्वोक्त मंत्र पूजाका अंग है, तो निष्प्रयोजन होनेसे, वह मंत्र, मंत्र ही नहीं कहा जाएगा, क्योंकि भावका क्रम ही ऐसा है जो प्रथमभाव दूसरेभावको उत्पन्नकर देनेका कारण है. इसीसे कृष्णचेतस्त्वको व्रतका फलरूप कहा है. इस विषयका प्रतिपादन पहले हो चुका है. इस मंत्रमें अर्थकी भावना ही प्रधान है, जप मुख्य नहीं है. इसीसे इसका जप करना नहीं कहा है. यहां यह पूजा भी अपने वाञ्छित प्रकारसे प्रिय भगवानकी भावनारूप ही है. इसी बातको भगवानने मदर्चनात्(मेरी पूजासे) २५वें श्लोकमें कहा है. और भगवानेव गुणातीतः इस पक्षमें तो सब ठीक है, क्योंकि इसमें दोनों ही मंत्र एक है, तोभी पहिली पूजाकी अपेक्षा पीछेकी हुई पूजामें, अधिक गुण होनेसे(दोनोंका) भेद सिद्ध होता है और पूजा भेदके कारण व्रत भेद भी सिद्ध है.

शंका: जब एक कार्यमें ही अवान्तरफल और परमफल कहे जा सकते हैं तो यहां व्रतके भेदको लेकर व्याख्यामें अवान्तरफल और परमफल आचार्य–

चरणोंका कथन संगत नहीं होगा–ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यहां केवल स्वामिनी कुमारिकाओंके उद्देश्यसे ही फलकी परमता उत्कृष्टता और अवान्तरता गौणता अपेक्षित है. इस कारणसे एक ही कर्मसे उक्त दोनों फलोकी सिद्धि हो सकनेका कोई कारण नहीं है–ऐसा समझना चाहिए. अर्थात् एक कर्मके ही दो फल कहे जा सकते हैं तब फिर व्याख्यामें गौण और परम फल भेदका कारण व्रत भेदको बतलाना असंगत सा प्रतीत होता है? इसका समाधान करते है कि यहां फलकी गौणता अथवा मुख्यतामें स्वामिनी ''उन कुमारिकाओंका उद्देश्य ही हेतु है, उनके उद्देश्यानुसार ही फल भेद कहना संगत ही है'' इसीसे एक ही फल पुरुषके भेदसे एकके प्रति गौणफल ही दूसरेकेलिए परमफल भी हो सकता है. इस तरह ज्ञानमार्गके अनुसार मोक्ष चाहनेवालेके योगसे दोष दूर होते हैं और ज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होता है यह बात भी संगत हो सकती है.

लेख : ''एवं इदं चेरूः ततः कृष्णचेतसः सत्यः अग्रिमं कृतवत्यः'' ऐसा सम्बन्ध है. (इस प्रकार यह व्रत किया, पीछे कृष्णमें चित्तवाली होकर आगेका कार्य किया–ऐसा सम्बन्ध है) भगवत्सम्बन्ध इत्यादि जिस कालमें भगवानका सम्बन्ध अवश्य हो ऐसा काल. 'निमित्तम्'के पहिले 'पतित्वे'का अध्याहार समझना अर्थात् पति होनेमें कारण. क्योंकि 'कादाचित्कत्वात्' लक्ष्मीजीकी तरह सदा पति–पत्नीभाव स्थापन करानेकी इच्छा न होनेसे. अतः पतिभावमें काल हेतु होनेसे 'प्रार्थयन्ति' अर्थात् 'पति मे कुरु'में पति करा देना कात्यायनीके हाथ है और यहां पति बनना भगवानके ही आधीन है(कात्यायनी अथवा दूसरेकी अपेक्षा बिना) ऐसा भाव है. 'फलवाचकत्वात्' इत्यादि पहिलेके मंत्रमें 'पति मे कुरु'से कात्यायनीसे पतिरूप फलकी प्रार्थना की है, इससे वह प्रार्थना पूजाका अंग है और यहा 'स्वयं पति होओ' ऐसा केवल फलका स्वरूप ही कहा है इससे पूजाका अंगभूत नहीं होनेसे यह मंत्र ही नहीं है. 'मंत्रवत् इति' इससे 'तच्चोदकेषु मंत्राख्या' मंत्रके लक्षणके अनुसार यह मंत्र ही नहीं है. 'अन्तःकरणधर्मत्वात्'के पहिले 'प्रार्थनायाः'का अध्याहार समझना अर्थात् प्रार्थना अन्तःकरणका धर्म होनेसे.

योजना: 'फलवाचकवात्' इत्यादि इससे (होओ) इस तरह यह मंत्र फलवाचक है. पति होना यह फल है और यह फल पूजाका अंग नहीं है, इस कारणसे

''भूयान्नन्दसुतः पतिः'' इस वाक्यमें देवताकी प्रार्थना न करके ''नन्दसुत पति होवे'' इस आशासे भद्रकालीकी पूजा की. इससे यह पूजाका अंग नहीं है. ('मंत्रवत् इति') कात्यायनीके मंत्रकी तरह यह मंत्र पूजाका अंग नहीं है. इससे 'स्वरूपेणैव कीर्तनम्' भगवान् पति हो इस प्रकार स्वरूपसे ही भगवानका कीर्तन किया, किसी अन्य देवताके प्रति भगवानको पति करानेकी प्रार्थना नहीं की. ''इति शब्द प्रयोगे गौणता स्यात्'' इससे 'भूयान्नन्दसुतः पतिः' इसके पीछे 'इति उच्चार्य' ऐसा उच्चारण करके अथवा इति 'जपच'-आदिके साथ इति शब्दका प्रयोग करें, तो मंत्र द्वारा देवताकी प्रार्थना हो जाए और यदि देवताकी कृपासे, भगवानकी प्राप्ति होवे, तो अपनी स्नेहरूप भक्ति गौण हो जाएगी, इसी आशयको 'प्रार्थनाया'से आरम्भ करके 'पतिर्जातः' (भगवानका स्वयं ही वरण किया, इसलिए प्रार्थनाके अन्तःकरणका धर्म होनेसे भगवान् पति हुए) इस वाक्यसे कहा है.

उषस्युत्थाय गोत्रैः स्वैरन्योन्याबद्धबाहवः।
कृष्णम् उच्चैर्जगुर्गान्त्यः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम् ।।६।।

वे बडे सबेरे उठकर एक-एकको नाम लेकर पुकारती थी और फिर एक-एकका हाथ पकड़कर यमुनामें नित्य स्नान करने जाती हुई ऊंचे स्वरसे कृष्णकी लीलाओंका गान करती थी ।।६।।

फिर बाहरी प्रत्यक्ष पूजाको छोड़कर भगवानका गान करती हुई वे कामना 'काम्य' स्नानकेलिए यमुनातट पर गई यह 'उपस्युत्थाय' इस श्लोकसे कहते हैं. अब निःशंक होकर सूर्योदयसे पहले ही उठकर अपने-अपने नामसे ओरोंको उठाकर कृष्णका ऊंचे स्वरसे गान करने लगी. यहां गोत्र शब्दका अर्थ नाम भी है. इसलिए अपना-अपना नाम लेकर पहिले जगी हुई ओरोंको उनका नाम ले-लेकर जगाती हैं ऐसा व्यावहारिक अर्थ है. वे सब गोत्रके प्रवर्तक ऋषि हैं और यज्ञ करनेमें लगे हैं. इस कारणसे आर्षज्ञानके द्वारा अपने गोत्रसे निर्भय होकर सदानन्द तथा स्वयं पुरुषार्थरूप कृष्णका गान करने लगी. अपने बीचमें भगवानकी कल्पना करके रासमण्डलकी तरह आपसमें एक दूसरेका हाथ पकड़े हुवे वे प्रत्यक्ष(में) भगवानकी पत्नियां(पतिपनवाली) लगी. इससे जलक्रीड़ा करनेकेलिए गोपिकाओंसे घिरे हुवे कृष्णका गान करती हुई वे कालिन्दी पर स्नान करने गई. इनमें गान करना मुख्य है और यमुना पर जाना तथा स्नान करना गौण

है. प्रतिदिनका यही नियम था. इस प्रकार हेमन्त ऋतुका नियम पूर्ण हुआ तथा अन्य 'दूसरे' व्रतोंका विधान भी नहीं रहा. गानमें ही सबका समावेश हो गया. (कलिंद्यतीति)कलह अथवा कलिकालका खण्डन करनेवाले कलिन्द पर्वत हैं अतः उनकी कन्या कालिन्दी भी कलिका खण्डन करनेवाली है. अतः कालिन्दी पदसे यह सूचित हुआ कि इनके तीनों १.परस्पर सोतपनेका, २.भगवानके साथ मानादिका और ३.कलिकालसे चित्तकी अशुद्धिके दोष दूर हो जावेंगे. इसीसे, फिर शुद्ध भावकेलिए, कालिन्दीमें स्नान करती थीं. प्रातःकाल, सब कामोंकेलिए प्रशंसनीय है और गर्गाचार्य भी भगवत्क्रीड़ाकेलिए प्रातःकालकी प्रशंसा करते हैं इसलिए वे प्रातःकाल 'बड़े सबेरे' गई. प्रतिदिन पदसे इतने समयसे इतने समय तक इत्यादि कालका परिमाण नहीं है. इससे अपनेमें अप्रकटरूपसे भगवानकी सदा स्थितिका ज्ञान, सदा गुणगान, आपसमें सदा ईर्ष्याका अभाव, भगवानके साथ सदा स्थिति और दोषोंकी निवृत्ति सदाकेलिए हो गई. कभी भी इन दोषोंका कुछ भी अंश उनमें फिर नहीं आने पाया ।।६।।

लेख: 'तथात्वम्' भगवान् है पति जिनके ऐसा भाव. अतः इसके पीछे प्रातःकालमें. मूलमें ''एवं जगुः ततः उषसि स्नातुं यान्त्यः जाताः'' ऐसे सम्बन्धके अभिप्रायसे कहते है ''गायन्त्य एव गानं मुख्यम्'' कालसे परिच्छिन्न नहीं है नित्य है. 'स्नानगमने गौणे' कालसे परिच्छिन्न है अर्थात् अमुक काल तक स्नान और गमन अनेन अर्थात् 'अन्वह' इस मूलोक्त पदसे. यदि ऐसा नहीं होता तो पहलेकी तरह एक मासका व्रत करना कहते. 'अन्योन्यं कलहः' अन्य गोपिकाको सौत सपत्नी समझकर कलह. 'भगवता सह कलहः' मानादिकसे होनेवाला. 'कलिकालजनितः' हम तो इतने कष्ट उठा रही हैं, भगवान् आ नहीं रहे हैं इत्यादिक क्रूरतादि दोषोंका भगवान् पर अपने चित्तकी अशुद्धिसे आरोपणरूप. ''नात्र इति अन्वहम् इत्यस्य यान्त्य इति अनेन अन्वयात् गमने अपरिच्छिन्नः कालो न, किन्तु दिनैः परिच्छिन्न एव'' प्रतिदिन जाती हुई ऐसा कहनेसे जानेमें काल अपरिमित नहीं है. किन्तु अमुक इतने दिन तकका है. अतः जाना अमुक दिन तकका परिमित होनेसे भगवानकी स्थिति, गान, स्पर्धाका अभाव दोषका अभाव आदि नित्य सदा ही उनमें थे. इसीसे गमनको कालसे परिच्छिन्न कहना वाक्यार्थ है. 'संघाताभावः'का भगवानके साथ स्थिति और भगवानके साथ कलहका अभाव ऐसा तात्पर्य है।।६।।

नद्यां कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत् ।
वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजहुः सलिले मुदा ।।७।।

किसी एक दिन वे कुमारिकाऐं यमुनापर आकर और नित्यकी तरह किनारे पर वस्त्रोंको रखकर कृष्णके गुणोंको गाती हुई जलमें आनन्दपूर्वक विहार करने लगी ।।७।।

ऐसा होने पर, भगवान् स्वयं ही वहां प्रकट हुवे इस बातको कहनेकेलिए 'नद्यां' श्लोकसे उपाख्यानका आरम्भ करते हैं. कदाचित् जब फिर, शुभ समयके आने पर कालिन्दीका कलिमलनिवर्तनरूप, प्रयोजन सिद्ध हो जानेसे, कालिन्दी शब्दका प्रयोग न करके–नदी शब्द कहा है. पहिलेकी तरह ही, गुण–गान करके, उससे मस्त होकर वे अपने आपको भूल गई. और अपने पहिने हुवे वस्त्रोंको किनारे पर उतारकर–भगवानके साथमें जल क्रीड़ा करनेकेलिये जलमें घुसकर आनन्द पूर्वक जलमें विहार करने लगीं. स्नान करते समय मौनका परित्याग और वस्त्रोंका परित्याग, जलमें क्रीड़ा तथा नियम धारण करनेवाली कुमारियोंका देहविस्मरण–इस प्रकार उनके इन चार दोषोंको 'मुदा' आनन्द शब्दसे बतलाया. अर्थात् कर्ममार्गके अनुसार ये दोष हैं. भक्तिमार्गमें तो ये दोष नहीं, किन्तु गुण हैं ।।७।।

लेख: मत्तः–वस्त्रका परित्याग उन्मत ही करता है, यह भाव है. आभासमें बीचके प्रकरणका अर्थ कहा है. 'स्नाने'से आरम्भ करके 'गुणाः' तकका वाक्यार्थ कहा.

योजना : भगवानका कीर्तन करनेकेलिए मौनका परित्याग करना उचित ही है. इसी स्कन्धमें गर्भ स्तुतिके वाक्यमें कहा है कि क्रियाओंमें[१] भगवानके मंगलमय नामों और स्वरूपोंका श्रवण, उच्चारण, स्मरण और चिन्तन करता हुवा जो पुरुष आपके चरणारविन्दमें अपने चित्तको लगा देता है, वह फिर संसारमें जन्म–मरणमें नहीं पडता है. इससे प्रत्येक कार्यमें भगवानका कीर्तन आवश्यक है. इसलिए भक्तिमार्गमें मौनका त्याग करना गुण है. वस्त्रोंका परित्याग भक्तिसे (उत्पन्न) होनेवाले मदका सुचक है, इससे यह भी गुण है. ''आपसमें[२] आपके गुणगानरूपी अमृतसे जिनके देहधर्म दूर हो गए है'' इस वाक्यसे परम भक्तिमें देहधर्म दूर हो जाते हैं यहां भी मदसे देह धर्मकी निवृत्ति और वस्त्रके परित्यागसे मदको सूचित किया. इसलिए भक्तिजन्य मदके कारण वस्त्र त्याग भी गुण ही

है. 'विजहुः' पदसे कही हुई क्रीडा भी गुण है, क्योंकि–प्रसन्न होते हैं, रमण करते हैं–इस प्रमाणसे भक्तिका उत्कर्ष होने पर ही क्रीडा होती है. इसी प्रकार देह–विस्मरण गुण ही है. क्योंकि[३] ''भगवानमें चित्तवाले भगवानका गुणगान करनेवाले, भगवानकी चेष्टा करनेवाले भगवद्रूप हुए और भगवानका गुणगान करनेवाले व्रजभक्त अपने शरीर और घरोंको भूल गए थे.'' इस प्रकार देहका विस्मरण भी गुणरूप कहा है. इस तरह ये चारों दोष भक्तिमार्गमें गुण रूप है.

१.शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्चिन्तयन्नामानि रूपाणि च मंगलानि ते,
क्रियासुयस्त्वच्चरणारविंदयोशविष्ट चेतान भवाय कल्पते ।।भा.१०।।

२.परस्परं ते गुणावादसीधु.

३.तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः,
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरूः ।।भा.१०।।

भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।।
वयस्यैरागतस्तत्र वृतस्तद्व्रतसिद्धये ।।

योगेश्वरोंके ईश्वर भगवान् कृष्ण उनके दोषोंको जानकर उनका निवारण करने और उन्हे व्रतका फल देनेकेलिए अपने सखाओंके साथ यहां स्वयं पधारे।।८।।

इस प्रकार कर्ममार्गके अनुसार उनमें चार दोष उत्पन्न हो गये थे यद्यपि भक्तिमार्गमें तो वे गुण ही कहे जाते हैं तथापि कर्ममार्गके अनुसार उनका दोष दूर करनेकेलिए उनके व्रतके पूरे हो जाने पर भगवान् स्वयं पधारे इस अर्थको 'भगवांस्तदभिप्रेत्य' श्लोकसे कहते हैं. उनके अपराधको जानकर उसको निवृत्त दूर करनेकेलिए पधारे. कृष्ण स्त्रियोंका हित करनेवाले हैं. आनन्द स्त्रियोंमें स्थित होकर रहता है. इससे पधारे. कृष्ण स्वयं सदानन्दरूप हैं, इसलिए दोषोंकी निवृत्ति करनी ही चाहिये. अन्तःस्थित भीतरके दोषोंको भी दूरकर देनेकी सामर्थ्य भगवानमें है इस अर्थको 'योगेश्वरेश्वरः' पद सूचित करता है योगेश्वर तो योगबलसे भीतर प्रवेश करके उस–उस स्थलके दोषोंको दूर करते हैं उन योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवानको तो दोष दूर करनेकेलिए भीतर प्रवेश करनेकी आवश्यकता नहीं होती.

ये बालक पूतनामें स्थित थे भगवानने जब पूतनाके प्राणोंका पान किया था तब वे भगवानमें पूतनाके प्राणोंके साथ आ गये थे. ये कुमारिकाओंके

आधिदैविकरूप होनेसे उनके पुरुष भावरूप थे, यदि ये कुमारिकाओंमें पुरुषरूपसे अधिष्ठित नहीं होते, तो वे स्वच्छन्दतापूर्वक भोग करने योग्य नहीं होती. (विपरीत रस क्रीड़ाके योग्य नहीं होती) इसलिए, भगवानने दृष्टिके द्वारा उनका प्रवेश कुमारिकाओंमें किया, उन्होंने भी भगवानके साथ भोग करनेकी प्रार्थना की थी और उसी स्थान पर कुमारिकाओंने भी 'भूयान् नन्दसुतः पतिः' ऐसी प्रार्थना की थी इस विषयको ध्यानमें रखकर, वयस्योंके साथ स्वयं वहां पधारे. वरण भी वहां ही किया था. इसलिए उस व्रतका फल देनेकेलिए वहां पधारे ।।८।।

टिप्पणी: व्याख्यामें यहां ही 'वयस्यैरागतः' इस श्लोकके विवरणमें 'एते हि बालका'से लेकर 'तद्भोगार्थ'का तात्पर्य इस प्रकार बतलाया है सृष्टिको रचनेवाले भगवानने कितने ही जीवोंको तो पुरुषकी प्रकृतिवाले और कितनेहीको स्त्रीके स्वभाववाले उत्पन्न किए. पुरुषके शरीरमें स्त्री प्राकृतिक जीवका स्वभाव स्त्री जैसा और स्त्रीकी देहमें पुरुषकी प्रकृतिवाले जीवका स्वभाव पुरुष जैसा होता है पुरुष प्रकृतिवाले जीवोंमें पुरुषके अंशका प्रवेश होता है इससे वे हरिका भजन करते है. अन्य जीव भजन नहीं करते है क्योंकि उनमें केवल प्रकृतिका ही अंश होता है इसीसे, जहां-जहां भगवानका भजन करना लिखा हैं, वहां 'को नु राजन्निन्द्रियवान्' इत्यादि स्थलोंमें 'कः'आदि पदोंसे पुरुषको भगवानके भजनका अधिकारी कहा है. यदि ऐसा न हो तो फिर स्त्रियोंका तो भगवद्भजन करनेमें कहीं भी उनका विधान न होनेसे अधिकार ही नहीं रहेगा तात्पर्य है कि पुरुष शरीर अथवा स्त्री शरीर भजन करनेमें उपयोगी नहीं है. किन्तु यह पुरुष प्रकृति अथवा स्त्री प्रकृति ही शास्त्रानुसार भजन करनेमें अपेक्षित है. इससे देहके बिना केवल जीवोंमें पुरुषभाव अथवा स्त्रीभावका रहना सूचित होता है. इस प्रकार पूर्वोक्त ऋषि भी पुरुष प्रकृतिवाले थे और वे भगवानको अत्यन्त प्रिय थे, इसलिए उनकी सम्बन्धी सब वस्तु भगवानको प्रिय थी इस तरह उन पर अत्यन्त कृपा करके उनके धर्मोंका भी अंगीकार ग्रहण किया और उनका सम्बन्धी कुछ भी व्यर्थ न हो, इसलिए उनके पुरुषधर्मका इन कुमारिकाओंमें स्थापन करनेकेलिए, उस-उस स्थान पर उनका अवतार किया. यह ही इनकी आधिदैविकता है. इसीसे भगवानने इनकी ऋषि दशामें अपने कहे हुए वचन सत्य किए. 'तदिमेविदुः' उसको ये पुरुष जानते है और इसीसे उन्हे साक्षीरूप(११ श्लोकमें) कहेंगे. स्त्रीका अवलोकन आदि

होने पर, विकार होना, उनमें सहज दोष हैं. दोष होने पर भगवानका अपराध हो और उससे अनर्थका सम्बन्ध हो जावे, इससे जैसे क्षारसे मैल दूर किया जाता है, उसी प्रकार उनका दोष दूर करनेकेलिए क्षाररूप अत्यन्त क्रूर पूतनामें पहले सम्बन्ध कराया. वे स्वयं भी महापुरुष थे और उस समय पूतनाने भी यह भगवान् है. कि यह भगवान् है इस प्रकार भगवद् भाववाली होकर ही उनको निगला था. इसीसे पूतनाके भीतर (उनकी) स्थिति होने पर भी (पूतनामें भगवद्भावके होनेसे) उनमें आसुरभावका प्रवेश नहीं हुआ. उनमें आसुरभावके न आने पर तपकी तरह पूतनाके सम्बन्धसे उत्पन्न क्लेशरूप तपसे दोष दूर हो गए. मेरेलिए ही पूतनाने इन्हें खाया है भगवानने इस विचारसे उन्हे अपने आनन्दका दान करनेकेलिए पूतनाके प्राणोंके साथ उनका प्रवेश भी अपनेमें कराया. कुमारिकाओंमें उक्त रीतिसे अपनी प्रसादरूप शक्तिका अथवा स्वयं अपना(भगवानका) प्रवेश करके अपने भोगकी योग्यताका सम्पादन किया उन्हें अपने भोग करने योग्य बनाया. सहज पुरुषभावका तो उनमें स्थापन किया ही. यदि पुरुषभावका स्थापन न करते तो उनमें काम भाव ही उत्पन्न होता, क्योंकि (यत्राप्यातिशयो दृष्टः स स्वार्थनतिलंघनात्) ''जहां कुछ भी विशेषता दिखाई पडती है, वह स्वार्थका विचार करके ही होती है'' इस न्यायसे स्त्रीभावके कारण और स्त्रियोंका ऐसा ही स्वभाव होनेसे उनमें कामभाव ही उत्पन्न होता है सर्वात्मभाव उत्पन्न नहीं होता किन्तु सहज पुरुषभावका स्थापन करनेसे उनमें प्रौढभावकी उत्पत्ति हुई और उसीसे उन्होंने लोक-वेदकी अपेक्षा न रखकर सर्वात्मभावसे भगवानका भजन किया. भगवानने भी स्वच्छन्द भोग इनमें ही किया और इनका ही किया. यद्यपि यह कहा जा सकता है कि भगवान् किसी साधनके बिना ही सबकुछ कर सकते हैं तो भी उस वस्तुकी मर्यादामें रहकर ही भोग करनेसे अधिक रस प्राप्त होता है. इसलिए सारे रसोंका भोग करनेवाले भगवानने भी, उक्त मर्यादापूर्वक ही भोग किया. नहीं तो भगवान् स्त्रीभावके बिना ही, अपने आनन्दका दानकर देते. परन्तु रसकी मर्यादाकी रक्षाकेलिए वात्स्यायनके कामशास्त्रके अनुसार ही (भगवान्) रमण करते हैं. 'भगवानपि रन्तु मनश्चक्रे' भगवानने स्वयं भगवान् होते हुए भी रमण करनेका मन किया इस फल प्रकरणके वाक्यानुसार सब उचित ही हैं.

लेख: कर्मणि हेमन्त ऋतुके नियम आदिरूप कर्ममें, उस कर्मके करते रहने पर,

इन चार दोषोंके होनेसे वह कर्म केवल कर्ममार्गमें सर्वथा दोषरूप ही होता तो, भगवान् उसकी उपेक्षा ही कर देते. 'स्वयम्' अबतक जिनकी भावनाकर रही थी. वे अब स्वयं प्रकट पधारे. 'आनन्दस्तत्र रमादीनां' अन्न आदिकी तरह उपस्थेन्द्रिय विषयक आनन्द स्त्रियोंके भीतर स्थित हो रहा है. ''भगवत्त्वात् समागतः कृष्णत्वाच्च इति मूल वासनया किञ्च इति उक्तम्'' स्वयं भगवान् होने और कृष्ण होनेसे मूल वासनाके द्वारा भी पधारे. ऐसा अर्थ 'किञ्च' पदसे सूचित होता है. 'पुनः' इत्यादि नायिकारूपसे भोग सिद्ध हो जानेके पीछे नायकरूपसे फिर, भोग करनेकेलिए दृष्टि द्वारा अर्थात् 'तास्तथावनता दृष्ट्वा' इस इक्कीसवें श्लोकमें कही जानेवाली सर्वां विषयिणी दृष्टिके द्वारा.

योजना: 'आधिदैविकरूपाः' इन कुमारिकाओंका पुरुषभावरूप. इसकी युक्तिमें प्रमाण प्रकरणकी योजनामें निरूपण किया जा चुका है. 'अनधिष्ठिताः' इत्यादिका यदि ये कुमारिकाएं इस पुरुषभावसे अधिष्ठित नहीं होती तो ये विपरीत रसक्रीडामें होनेवाले स्वच्छन्द भोगके योग्य नहीं होती. इससे विपरीत रसके अनुभवकेलिए इनमें इस पुरुषभावकी स्थापना की ऐसा अर्थ है.

तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरम्।
हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह ।।९।।

भगवान् उनके वस्त्रोंको अपने पास लेकर उठाकर झट एक कदम्बके वृक्ष पर जा चढ़े और हंसनेवाले बालकोंके साथ स्वयं भी हंसते हुए यों हंसीके वचन बोले।।९।।

फिर (कुमारिकाओंके द्वारा की हुई प्रतिबन्ध निवृत्तिकी प्रार्थनासे और भगवानके वरणसे वर-कन्याके विवाहमें दूर हटाये जानेवाले आन्तरपटकी तरह) भगवानने अपने और उनके बीचमें रहनेवाले परदारूप वस्त्र ले लिये. इसे 'तासांवासांसि' श्लोकसे कहते हैं उपादाय अपने पास लेकर, अपने भीतर रहनेवाले बड़े भारी जगतको भी ढंकनेकेलिए उन वस्त्रोंसे ऐसे जगतको ढंककर, झटसे कदम्ब पर चढ गये. 'नीप'का अर्थ 'कदम्ब' है. यदि शीघ्र कदम्ब पर नहीं चढते, तो भीतर रहनेवालोंके ढंक जाने पर, उनमें दैत्यका प्रवेश हो जाता. ''वृक्ष वैष्णव हैं'' इससे, उसमें दैत्यका प्रवेश न होने देनेकेलिए, जैसे बन सका वैसे झट कदम्ब पर चढ गये. उनके आवरणको दूसरी जगह धर दिया. निरन्तर कामदेवको पीने अथवा पालनेवालेका नाम 'नीप' है. इससे भगवानने उनमें, अपने सम्बन्धी

कामका स्थापन किया. यदि उनमें, काम स्थापित नहीं करते तो, वे निष्काम हो जाती. भगवान् जब काम रक्षक नीप कदम्ब पर चढ गये, तब वहां रहनेवालोंकी निष्काम होनेकी शंका ही नहीं रहती. हंसनेवाले बालकोंके साथ स्वयं भी हंसनेवाले भगवानने उनका स्वाभाविक काम दूर करके उनमें अपने प्रहसनरूप आधिदैविक कामका योग कर दिया है. वे बालक भगवानकी चतुराई और फूर्तिको देखकर और अपने जीवनकी सफलताको समझकर, सन्तोष पूर्वक हंसने लगे, क्योंकि वे बालक थे और बालकार्यको करनेकेलिए ही वहां लाये गये थे. इसीलिए आगे चलकर उनको यथोचित भोगकेलिए ज्ञानशक्तिका दान करेंगे. उन बालकोंकी भी आधिदैविकी माया कुमारिकाओंमें घुस गई, इससे वे पहिले बुलाने पर नहीं आई, ऐसा करके हंसते-हंसते भगवान् उनके सारे अभिमान, अहंकार अथवा 'मैं'पनको दूर करनेकेलिए बोले. भगवान् सर्वेश्वरका इस प्रकार कहना आश्चर्य जनक है इस अर्थको बतलानेकेलिए अन्तमें 'ह' अव्यय पद दिया है ।।९।।

टिप्पणी : यहां ही आगे 'वासांस्युपादाय' इस श्लोककी व्याख्यामें 'उपादाय'से लेकर 'अन्यत्र स्थापितम्' तक वाक्यका तात्पर्य बतलाते हैं 'आदाय'का अर्थ वस्त्रोंको लेकर होता है. और 'लेना'का सहज अर्थ ग्रहण की हुई वस्तुका ग्रहीताके पास आना ही तो है, फिर यहां सामीप्य अर्थको बतानेवाले 'उप' उपसर्गके प्रयोगका कोई विशेष अभिप्राय होना चाहिए व्याख्यामें उसी अभिप्रायका 'स्वान्तः स्थित' इत्यादिके द्वारा निरूपण किया गया है.

इस विषयमें शंका होती है कि ''यः पृथिव्यां तिष्ठन्'' जो पृथिवीमें रहता है इत्यादि श्रुतिके अनुसार स्वाभाविक ब्रह्मके धर्मवाले जगतका वस्त्रोसें ढकना कहना ठीक नहीं जंचता क्योंकि भगवानके साथ व्यवधान अथवा आच्छादन नहीं हो सकता. और इसी कारणसे दैत्यका प्रवेश होना भी असम्भव है. आच्छादन करनेका प्रयोजन भी समजमें नहीं आता तो फिर उस आच्छादन या दैत्यके प्रवेशको रोकनेकेलिए 'नीप'(कदम्ब) पर चढ़नेका कथन भी अनुचित ही प्रतीत होता है. और जब भगवान् स्वयं कदम्ब पर चढ़े हैं. तो उनके साथ उनके भीतर रहनेवाले जगतका भी कदम्बके साथ सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है ही. ऐसी दशामें साक्षात् भगवानमें रहनेवाले जगतमें भगवत्सम्बन्धके कारण दैत्यका प्रवेश (करना) ही नहीं हो सकता है तो

उस(दैत्य प्रवेश)को रोकनेकेलिए कदम्ब पर क्यों चढ़े?

इस शंकाका समाधान करते है कि कई पुरुष तो शास्त्रके द्वारा भगवान् तथा उनके माहात्म्यको जानकर उनका भजन करते हैं. वह भजन भी साक्षात् भजन नहीं है, क्योंकि वह श्रवण आदि धर्मके द्वारा भजन है. वास्तवमें तो वे धर्मोंको ही भजतें हैं और इस कारण वे लोग वैदिक कहलाते हैं, और कुछ लोग पुत्रभाव आदि धर्मको लेकर, लौकिक धर्मके द्वारा भजन करते है. इसलिए भगवान् उनकेलिए लोकानुसार ही फल देते है. इन कुमारिकाओंकी केवल भगवानके धर्मोमें ही बुद्धि नहीं है, किन्तु भगवान् भगवानके स्वरूपमें भी है और वह भी नारदजी आदि तथा यशोदाजी आदिकी तरह धर्मके द्वारा नहीं है. इसीसे (एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानाम्) ''मेरेलिए ही तुमने लोक, वेद और अपने परिवारका त्याग किया है''भगवान् आगे ऐसा कहेंगे. स्त्रीका स्वाभाविक धर्म 'लज्जा'का त्याग भी उन्होंने भगवानके स्वरूपकी प्राप्तिकेलिए ही किया था. जब उन्होंने लोक-वेदकी सारी मर्यादा त्यागकर भगवानका भजन किया था तो भगवानने भी इनकेलिए अपने स्वरूपकी मर्यादाको त्याग दिया था, क्योंकि भगवानने गीतामें भक्तोंके भजनके अनुसार ही उनका स्वयं भजन करना कहा है. (ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्) इसीसे आगे आत्माराम भी भगवानने 'रमण किया' (आत्मारामोऽप्यरीरमत्)ऐसा कहेंगे. और इसीसे भगवानने स्वयं कहा है कि ''भक्तोंका हृदय मैं हूं और मेरा हृदय भक्त हैं, भक्त केवल मुझे जानते हैं, और मैं भी भक्तोंके सिवाय किसी ओरको नहीं पहचानता हूं''(साधवो हृदयं मह्यं... मदन्यत्तेन जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि). यदि ऐसा न करते, अर्थात् सारी मर्यादाओंको त्यागकर भजनेवाले भक्तोंको भजनवाले भगवान् अपने स्वरूपकी मर्यादाका त्याग नहीं करते तो अकुण्ठित ज्ञान शक्तिवाले भगवानका साधुओंके अतिरिक्तका न जानना कहना उचित नहीं होता. यह तो पुष्टि(अनुग्रह)लीला है. इसमें मर्यादामार्गसे विपरीतता दोष नहीं है, प्रत्युत गुण है क्योंकि पुष्टिमार्ग ही इस तरहका है. तब मर्यादा त्यागपूर्वक ऐसे(इतनेसे) स्वरूपका दर्शन अपने पुष्टिभक्तोंके सिवाय दूसरोंको न होने देनेकेलिए अपनेमें रहनेवाले जगतका आच्छादन किया. यह आच्छादन करनेका मर्म है.

उनके अतिरिक्त मैं भी किसीको नहीं जानता, इस वाक्यके अनुसार,

जैसे दूसरा कोई भी भगवानको नहीं जानता है, वैसे ही अपना स्वरूप भी भगवानने उनकेलिए ही प्रकट किया है, इसलिए उन पुष्टिमार्गीय भक्तोंके सिवाय(कोई दूसरे उस स्वरूपको न देख सके) किसी दूसरेके साथ उस स्वरूपका सम्बन्ध नहीं है. इसीसे भगवानके साथ व्यवधान तथा आच्छादन भी सम्भावित है यह अलौकिक अर्थ भगवानके वचन बल और श्रद्धाशक्तिसे भरे हुए हृदयसे ही जानने योग्य है. भगवान् व्यापक हैं, इससे पूर्वोक्त आच्छादनकी असम्भवताकी शंका नहीं करनी चाहिए. नहीं तो फिर व्यापकका हृदयमें धारण करना और भक्तके हृदयको क्षणभर भी न छोडना कहना असंगत हो जाएगा. ''वह दूर भी है वह पास भी है'' इस श्रुतिका भी यही तात्पर्य है इससे भगवानरूप वस्तुके विरुद्धधर्माश्रय होनेसे और भगवानका ग्रहण करानेवाले प्रमाणोंसे, उस वस्तुके वैसे ही सिद्ध होनेसे, इसमें कोई कथन असंगत नहीं है, सभी उचित है.

कदम्ब पर चढनेके विषयमें, उठाई हुई आपत्तिका समाधान इस तरह है, कि भगवान् लीला करते-करते, शास्त्रार्थका बोध भी कराते हैं. भगवानमें इन कुमारिकाओंका सा भाव, रखनेवाले भक्तोंको ही साक्षात् पुरुषोत्तमका सम्बन्ध होता है, ओरोंको कभी नहीं होता. उनमें आसुर धर्मका प्रवेश आवश्यक है. उनका वह आसुरावेश, भगवानसे अधिष्ठित वैष्णव अथवा श्रवण कीर्तन आदि, वैष्णव धर्मोके द्वारा शीघ्र ही दूर किया इस बातको बतलानेकेलिए आच्छादन और कदम्ब पर चढना आदि कहते हैं. इसलिए यहां कुछ भी असंगत कथन नहीं है.

सेवकोंके रहते हुए भी स्वयं ईश्वर(भगवान)ने ही वस्त्र क्यों लिए? वस्त्रोंको लिए बिना ही उन्हे अपने पास क्यों नहीं बुला लिया? इत्यादि शंकाका समाधान यह है कि 'तासामावरणम्' यहां केवल वस्त्र ग्रहण करना ही तात्पर्य नहीं है, किन्तु इनका साक्षात् भगवत्सम्बन्धमें अन्तराय(जो किसी अन्य प्रकारसे दूर करने योग्य नहीं था)को वस्त्रोंको हरनेके बहानेसे दूर करके दूसरे स्थान पर रख दिया ऐसा है. भगवानके कार्य लौकिक जैसे दिखाई देते हैं, परन्तु वे वास्तवमें अलौकिक हैं. उनकी अलौकिकताका ज्ञान भगवद् दृष्टिसे ही होता है, अन्य किसी रीतिसे नहीं हो सकता हैं.

इसके आगे ''हसद्भिः प्रहसन बालैः''की व्याख्यामें 'तेषामपि

मायाधिदैविकी' इत्यादिका भाव कहते हैं. यदि ये कुमारिकाएं, इन बालकोंको, आधिदैविक सम्बन्धसे अपने सम्बन्धी ही जान लेती तो, भगवानके एक बार(प्रथम) बुलाने पर ही चली जातीं, क्योंकि उनमें पराए पुरुषका ज्ञान न रहनेसे, उनकी इन पर दृष्टि पड जाने पर भी, कुछ भय तो था नहीं, किन्तु उन बालकोंने हंसकर उन्हे अपने सम्बन्धका ज्ञान न कराकर विपरीत (अन्यपनेका) ही ज्ञान करा दिया. यह बालकोंका कपट किंवा माया है. इससे उन बालकोंमे पराये पुरुषके और अपने आपमें भगवानसे अनन्य अभिन्न होनेके ज्ञानसे, उनके देख लेनेकी शंकासे, वे बाहर नहीं आई. वे आधिदैविक थे और भगवानकी इच्छाके अनुसार बर्ताव करनेवाले थे. यही उनमें आधिदैविकता थी. भगवानकी ऐसी इच्छा तो, उन्हे विशेष आनन्द उत्पन्न कराने और उनकी परीक्षा करानेकेलिए थी.

लेख: 'अन्तरास्थितम् इति' प्रतिबन्धकी निवृत्तिकी प्रार्थनाकर चुकी थी, विवाहमें वर-कन्याका अन्तरपट, दूर कराया जाता ही है और वरणकर लिया गया था, इन कारणोंसे वस्त्रोंका हरण किया इस आशयसे, आभास शब्दका व्याख्यामें प्रयोग है. 'किञ्च' इत्यादि कदम्बके ऊपर चढनेसे निष्कामपनकी शंका दूरकर दी और 'प्रहसन' पदसे हंसनारूप कामकी उनमें स्थापना करनेसे भी निष्कामपनका न होना बतलाया. 'बलकार्यार्थमेव' बलके कार्यकेलिए अर्थात् उसमें पुरुषभावसे रसका अनुभव करानेकेलिए. 'अतएव' इत्यादिका तात्पर्य यह है, कि दृष्टिके द्वारा स्थापन करनेसे यथोचित भोगके अनुकूल ज्ञानशक्तिका दान इन बालकोंकेलिए करेंगे.

योजना: 'नीप' 'नितरां ई कामं पिबति' इति नीप इति हमेशा कामदेवका पान करनेवाला नीप=कदम्ब. मंत्रशास्त्रके अनुसार 'ई' काम बीज प्रसिद्ध है. इससे कार्यको सफल करानेकेलिए वहां वस्त्र ग्रहण करनेके स्थान पर उनको ले गए. इस प्रकार टिप्पणीमें कहे हुए 'स्वान्तः स्थितैः' आदि पदोंके अर्थमें युक्ति बताई है. (इस अध्यायमें श्रीसुबोधिनीकी पंक्तियोंका अर्थ अत्यन्त गूढ है. उनका व्याख्यान करना आवश्यक हैं, किन्तु श्रीमत्प्रभुचरणोंने टिप्पणीमें उनका विस्तारपूर्वक व्याख्यानकर दिया है, वहां देख लेना चाहिए)।।९।।

अत्रागत्याबलाः कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम्।
सत्यं ब्रुवाणि नो नर्म यद् यूयं व्रतकर्शिताः ।।१०।।

हे अबलाओं! तुम यहां मेरे पास आकर अपने-अपने वस्त्र ले जाओ. मैं तुमसे सच ही कह रहा हूं, हंसी नहीं करता, क्योंकि तुम व्रत करनेके कारण निर्बल और कृश हो रही हो ।।१०।।

हमारा काम वहां नहीं जाता है. इससे यहां ही आकर कामरूपी वस्त्र अर्थात् वस्त्ररूप आच्छादकको(ग्रहण करो और) काममय होनेसे अपनी-अपनी इच्छा अनुसार ले जाओ ऐसा लोकरीतिसे अर्थ है. सारे ही कामका आधिदैविक स्वरूप इन वस्त्रोंमें ही रह रहा है. इस कारण भगवानके द्वारा दिये गये कामरूपी वस्त्रोंका सम्बन्ध होनेके पहिले वे निष्काम ही थीं. अब फिर भी, पहिलेके कामकी तरह अथवा वस्त्रकी तरह, हरणकर लेने पर, तो ग्रहण करना ही निष्फल होता है? ऐसी आशंका करके कहते हैं, 'प्रगृह्यताम्' कि भली भांति ले लो(कोई जान न सके, ऐसी रीतिसे पकड़ लो) कामको देनेमें प्रयोजन यह है कि तुम अबला हो, इस वस्त्रसे ही तुमको बल मिलेगा, इसीलिए इन्द्रियरहित(सामर्थ्यरहित) स्त्रियोंको अबला कहते हैं. 'अबलाः' पदमें बहुव्रीहि समास करने(मानने)में निमित्त स्वार्थ ही है अर्थात् भगवानने अपनेलिए ही उन्हें काम अथवा वस्त्र दिये, जिससे वे, भगवानके साथ रमण करनेका बल प्राप्तकर सकीं. ऐसा नहीं किया जाता तो, रसशास्त्रकी मर्यादाका भंग हो जाता. वस्त्र भी मेरे भीतर रहनेवाले बलसे ले लो ऐसा ध्वनित होता है. जो हमारी हैं वे ही पहिले छोड़ी हुई वस्तुको ले लो नहीं तो अनिष्ट हो जायेगा.

ये बालकोंकी हास्यरूप मायासे व्याप्त हो रही है, इसलिए मेरे वचनको सच्चा नहीं 'मानेगी' यह समझकर भगवान् उनसे कहते हैं कि 'सत्यं ब्रुवाणि' मैं सत्य कहता हूं. इस कथनसे स्त्रियोंके साथ असत्य व्यवहार निन्दित नहीं होता (स्त्रीषु नर्मविवाहे च...नानृतंस्याज्जुगुप्सितम्. भाग.पुरा.८) इस सिद्धान्तका निराकरणकर दिया. आपका कथन झूठ तो नहीं है, किन्तु हमें नग्न(नंगी) देखकर हमारी हंसी करनेकेलिए ऐसा कह रहे हो? तुम ऐसी शंका भी मत करो, क्योंकि 'नो नर्म' यह हंसी भी नहीं है. यद्यपि साधारण दृष्टिसे तो हंसी सी ज्ञात होती है, वास्तवमें हंसी नहीं है इसमें युक्ति देते हैं कि 'यद् यूयं व्रतकर्शिताः' तुम व्रतके करनेसे दुबली पड़ गई हो और व्रत करनेवालों और थके हुओंके साथ हंसी करना उचित नहीं है. नहीं तो वह हंसी वैर उत्पन्नकर देती है ।।१०।।

टिप्पणी: व्याख्यामें 'अस्मदीयः कामः'(हमारा काम इत्यादि) कथनका तात्पर्य

कहते हैं लोकमें कोई बुलानेवाला अपने पास बुलानेमें 'आना' और अपनेसे दूर भेजनेमें 'जाना' शब्दका उपयोग करता है. इस लोक सिद्ध नियमके अनुसार इस श्लोकमें आकर 'आगत्य' शब्दसे ही पासके स्थानका बोध हो जायेगा, तो फिर 'अत्र' यहां पदका प्रयोग क्यों किया? और कदाचित् यह कहा जाए कि 'आङ्' उपसर्गका तो केवल सम्मुख अर्थ है. इसलिए किसी विशेष स्थानकी आकांक्षाको पूरा करनेकेलिए 'अत्र' पदका प्रयोग आवश्यक है तो यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि ''स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम्'' अपने-अपने वस्त्र ले लो इस वाक्यसे वस्त्र लेनेकेलिए ही आगमन(आना) है और वह वस्त्र लाभ अन्य स्थान पर जानेसे हो नहीं सकता था. इसलिए वस्त्र लेने योग्य स्थानका बोध स्वतः हो जानेसे 'अत्र' यह पद निरर्थक ही है? जैसे 'दण्डेनघट कुरु' दण्डसे घडा बनानेकेलिए कहनेसे घडेकी मजबूतीका ज्ञान स्वतः ही हो जाता है.

और यदि अत्र इसका अभिमुख अर्थ है तो अभिमुख पदके अर्थका विचार करना आवश्यक है. केवल सम्मुख कहना अभिमुख पदका अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि यदि सम्मुख होनेमें ही अभिमुख पदका अर्थ हो जाता हो सामने ठहरकर पीछे पैरोंसे लौट जाने पर भी 'आता है' आना ही कहा जाता आता नहीं किन्तु वह तो सम्मुख होकर भी जा रहा है. इसलिए यहां बुलानेवालेके पासके स्थान पर आना ही अभिमुख पदका अर्थ होनेसे मूलमें 'अत्र' पद निरर्थक ही है. लोकमें जैसे वहां आया 'तत्रागता'का वहां गयाके अर्थमें भी प्रयोग होना दिखाई देता है. इसी तरहसे 'अत्र' पदके प्रयोगको सार्थक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पास आनेके अभिप्रायवाला, बुलानेवाला तो अवश्य ही 'आङ्'का प्रयोग करता ही है. इसलिए पास बुलानेके अर्थमें 'आङ्'की शक्ति है. और वहां आया-इत्यादि प्रयोगमें तो किसी स्थान पर आया, इस तरह स्थानको बतलानेवाले और उस स्थान पर अपनी उपस्थिति माननेवाले बुलानेवालेका 'अत्र' प्रयोग तुम्हें भी औपचारिक गौण ही मानना पडेगा. इस शंकाका समाधान इस तरह करते हैं, 'उच्यते' साक्षात् भगवान् प्रकट न हो तब तक भक्त सब कुछ भावनासे ही करते हैं और साक्षात् प्रकट हो जाने पर भावना उचित नहीं हैं, क्योंकि ये दोनों साक्षात् और भावना एक सा नहीं हैं. इस नियमसे, अबतक भगवान् प्रकट नहीं हुए थे अतः इन कुमारिकाओंने भावनासे ही सब कुछ किया था और प्रकटके पीछे होने भी

पहलेकी भावनाकी स्थिति उचित नहीं है. इसीसे भावना और उसके कार्यका त्याग करके 'अत्र' यहां प्रकट हुए मेरे पास आकर वस्त्र ले जाओ 'यह' 'अत्र' पदका तात्पर्य हैं. अबतक इनकी भावनासे ही इनका काम सिद्ध हो रहा था, जो मुख्य काम नहीं, किन्तु उसका आभास कामाभास मात्र था इसलिए मैं तुम्हें मुख्यकाम देता हूं यद्यपि यह लोक दृष्टिसे वस्त्र थे किन्तु वास्तवमें, यह कामरूप हैं ऐसा कहकर भगवानने उन्हें वस्त्रके बहानेसे, अपने मुख्यकामका दान किया. इसीलिए 'कामं' 'वासः' दोनों पदोंका सामानाधिकरण्य(समान विभक्ति) है. अब आगे उनकी कामपूर्ति साक्षात् सम्बन्धके बिना केवल भावना मात्रसे नहीं होगी इसी आशयको लेकर व्याख्यामें 'अस्मदीयः कामः' 'मेरा मुख्य काम' इत्यादि कहा है. भावनासे किया हुआ काम मुख्य कामभाव नहीं होता है.

अन्यथा इत्यादिका नहीं तो ईश्वर होकर भी उनके साथ रसका अनुभव करानेकी सामर्थ्य न हो तो रसकी मर्यादाका भंग हो जाए यह तात्पर्य हैं. दी हुई वस्तुको ले लेना ग्रहण शब्दका अर्थ है. यहां प्रकर्षवाची 'प्र' उपसर्गसे यह ध्वनित होता हैं कि रससे वशीभूत हुए प्रिय भगवानके, उनके अधीन हो जाने पर, उनके न दिए हुए वस्त्रको भी रसकी अधिकता अथवा बलसे लिया जा सकता हैं. इसी अभिप्रायसे व्याख्यामें 'वासोऽपि' इत्यादि कहा है. यहां 'स्वं' मेरे वस्त्रको 'स्वं' तुम्हारे अपने हुएकी तरह ले लो यह भी अर्थ है. इससे यह भी सूचित किया ''मेरे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे मैं तुम्हें न दे सकूं'' अबलाः इस सम्बोधनसे यह बतलाया है कि पहिले निर्बल भी तुम मेरे निकट आकर, उक्त बलवाली हो जाओ.

शंका: उपर्युक्त वाच्यअर्थमें यह बिना कहे ही सिद्ध है कि वे वस्त्र कुमारिकाओंके ही थे फिर मूलके 'स्वं स्वं' कहे हुए पदोंकी व्यर्थताको दूर करनेकेलिए व्याख्यामें 'अस्मदीयाभिः' इत्यादिसे पक्षान्तर करके ध्वनित अर्थको बतलाते है, कि अबतक, ये वस्त्रकी तरह, कामभावका भी त्याग करके ही विहारकर रही है और 'मुदा' पदसे ज्ञात होता है, कि भावना मात्रसे ही पूर्ण मनोरथ वाली थीं. 'अबलाः' सम्बोधनसे वे स्वतन्त्र नहीं, किन्तु भगवानके अधीन भगवदीय(स्वकीय) थी. इसीसे उन्हें, वस्त्र ले लेनेका अधिकार प्राप्त हो चुका था. 'स्वं स्वं' पदोंसे पूर्व सिद्ध स्वत्वका अनुवाद किया गया है. इससे

ऋषिदशामें प्रार्थना करनेका कारणभूत प्रथम काम अथवा इसी समयका पूर्वकालिक काम(की ध्वनी निकलती है) ध्वनित होता है. यही व्याख्यामें ''अस्मदीयाभिरेव पूर्व परिग्रहः कर्तव्यः'' जो मेरे हैं वे ही पूर्ण परिग्रह करें अर्थात् जिसका पहिले त्याग किया, उसी पदार्थको फिरसे ले लो.

अन्यथा यदि वे ऐसा मान ले कि हमें अबतक जो मिला है, वह हमारे व्रतके बलसे मिला है और व्रतके बलसे ही और भी प्राप्तकर लेगी, तो उनमें भगवानकी अधीनताका भाव न रहनेसे, भगवानके द्वारा दिए जानेवाले वस्त्रको ले लेनेका अधिकार प्राप्त नहीं होगा और व्रतरूपी कर्मका फल थोडा होनेसे, व्रतके फलरूपसे मिले हुए वस्त्र, अथवा कामके ग्रहणका परिणाम अनिष्ट होगा. सर्वात्मभाव और शरणागतिके द्वारा प्राप्त हुआ रस इष्ट है और इससे भिन्न स्वबल अथवा व्रतबलसे मिला हुआ अनिष्ट है. इससे 'स्वं' पहले जो तुम्हारा स्वकीय था, उसे अभी त्यागकर 'स्वं' फिरसे वह तुम्हारा हो जावे इस रीति(प्रकार) मुझसे ले जाओ यह अर्थ भी ध्वनित होता है. तात्पर्य यह है कि तुम अत्यधिक 'सर्वतोधिक' भाववाली बनो. वही भाव भगवानको इष्ट है, क्योंकि ऐसा नहीं होगा तो रसाभास हो जाएगा. इसी अभिप्रायको व्याख्यामें 'अन्यथानिष्टः स्यात्' इस वाक्यसे कहा है. अथवा 'स्वं स्वं' दो बार कहनेसे यह भी ज्ञात होता है कि नायिकाके भेदसे जिस कुमारिकाका जैसा भाव हो वह अपने-अपने भावके अनुकूल ही वस्त्र ले जाय अपने भावके प्रतिकूल वस्त्रको मत ले यदि ऐसा करोगी तो रसका पोषण नहीं होगा. यही 'अन्यथा' इत्यादि पदोंसे कहा है. रसके उच्छलित होकर अत्यन्त बढ जाने पर तो व्यवस्था दूसरी हो ही जाती है. इसलिए तब तो कुछ भी असंगत नहीं है, क्योंकि रसकी वृद्धिकेलिए ही यह सब लीला है. अथवा इस प्रकरणमें त्याग कब करना, कब न करना, इत्यादिका निर्णय किया जा रहा है. इसलिए 'अस्मदीयाभिः' इत्यादि पदोंसे उस निर्णयकी ध्वनि भी निकलती है. यहां आशय यह है, कि इस समय उन्हें आगे होनेवाली अवस्था विशेषकी स्फूर्ति होती, तो अपनपे(देह)के अनुसन्धान पूर्वक, तीर पर वस्त्र उतारती किन्तु कदाचित्, ये प्रत्येक यह चाहे, कि रसकी अधिकतासे हुई, मेरी यह दशा सदा ही बनी रहे, तो मैं प्रिय भगवानका उत्तरीय वस्त्र(उपरना)को ले लूंगी. ऐसे भावके (प्रत्येक गोपीजनके मनमें) उत्पन्न होनेके कारण, वस्त्रोका उन्होने त्याग ही किया, केवल किनारे

पर धरे हीं नहीं. तब तो त्यागी हुई वस्तुको फिर ले लेना तो अनुचित होगा? ऐसी शंकाका तो यहां अवसर ही नहीं है, क्योंकि छोडी हुई वस्तुका पुनःग्रहण करनेमें निषेध तो मर्यादामार्गमें है और ये केवल धर्मी(भगवान)में ही तत्पर हैं वेद वाक्यके आधीन नहीं है, किन्तु केवल भगवानके वशीभूत हैं. इसलिए पहिले त्यागी हुई वस्तुको भी यदि भगवान् दे रहे हैं, तो ले लेना उचित ही है. अन्यथा न लेने पर तो मर्यादा मार्गीयता हो जायगी. इसलिए वापस ले लिए, और बात तो यह है, कि उन्होंने केवल वस्त्रोंका त्याग किया था और भगवान् इन्हें अपने कामरूप वस्त्र दे रहे हैं, इसलिए यहां यह त्याग की हुई वस्तु(वस्त्र)का ग्रहण भी नहीं रहा. आचार्यचरणोंने ऐसा समाधान लोकदृष्टिकी अपेक्षा रखकर और त्यागके निर्णयको कहनेकेलिए किया है.

अथवा – पूर्वपरिग्रह पदमें 'नञ्'का प्रश्लेष योग्य करके अपूर्वपरिग्रह ऐसा पढो और यह अर्थ करो कि अपूर्व अनन्यपूर्वा अर्थात् जो हमारी हैं, उन्हें ही वस्त्र देता हूं वे ही यहां आकर ले.

अथवा – पूर्वपरिग्रह पदमें पूर्व शब्दसे पहला पुरुष भावरूप धर्म ऐसा अर्थ है. यदि पुरुषभाव न हो तो सर्वात्मभाव और शरणागति न हो, ऐसा कार्य–कारणभाव पहिले कहा जा चुका है. इस कारणसे पहिले दण्डकारण्यमें जो पुरुष थे, वे ही गोकुलमें आकर स्त्रियां हुई हैं. इससे अपना उनके साथ प्रथम सम्बन्धका स्मरण कराया है. 'अत्रागत्याबलाः' यहां आकर हे अबलाओं! इस तरह सम्बोधन करके उनका कर्त्तव्य बतलाया है. यहां 'वासः' पदमें योगविभागसे, 'वा' ऐसा छेद है. तब 'सः' यह पूर्व परामर्शी होनेसे प्रथमके पुरुष भावरूप धर्मका बोधक है. अर्थात् उस पहिले जन्मके पुरुष भावरूप धर्मको ले जाओ एसा भी अर्थ है. और 'स्वं स्वं' यह अव्यय पद होकर ध्वनित अर्थसे लिंग आदिकी विवक्षा न रहनेसे 'सः' छेद पदका विशेषण माना जा सकता है. अथवा, 'स्वं स्वं'को क्रिया विशेषण मान लो. सर्वात्मभावसे शरणमें आई हुई कुमारिकाओंको ही अपने आनन्दका दान शृंगाररसकी रीतिसे ही करेंगे. और वह शृंगाररस मान, खण्डिता आदि भावोंके द्वारा ही पूरा होता है. सर्वात्मभावकी स्फूर्ति होने पर तो मान, खण्डिता आदि भाव निरन्तर हो नहीं सकते. इसलिए ये भाव कभी होंगे, कभी नहीं होंगे इस विकल्पसे गृहणरूप अर्थका बोध 'वा सः'के 'वा' इस प्रथम च्छेदसे होता है. 'स' यहां विसर्गका

लोप छान्दस वैदिक प्रयोगरूपसे नहीं हुआ. इससे मूलमें यह अर्थ ध्वनित हुआ समझना चाहिए.

लेख: व्याख्यामें 'काममयत्वात्' इत्यादिका तात्पर्य यह है कि 'सोमायवासः' सोमकेलिए वस्त्र यहां ''क इदं कस्मा अददात् कामः कामाय'' किसने इसको किसकेलिए दिया, कामने कामकेलिए दिया इस श्रुतिके अनुसार वस्त्र कामरूप हैं, आधिदैविकम्–आधिदैविकस्वरूप वस्त्रोमें. निरिन्द्रियाः इन्द्रियसामर्थ्यके बिना अर्थात् असमर्थ. यदि बहुव्रीहि समास माने तो भी असमर्थ भोग नहींकर सकते, इसलिए मैं बलका दान करुंगा और वह भी अपने ही वास्ते. इससे यह वस्त्रदान अपने(भगवानके)लिए ही यह सिद्ध होता है. षष्ठ्यन्त बहुव्रीहि समासमें भी ''न बलं याभ्यः, यन्निमित्तकं बलं मम नास्ति, अहं भवदधीनः, अतो ददामि'' जिनके निमित्तका बल मेरे पास नहीं है, मैं तुम्हारे आधीन हूं, इससे देता हूं ऐसा अर्थ है. इस प्रकार निमित्तमें बहुव्रीहि करे तो निमित्त बोधक चतुर्थ्यन्त बहुव्रीहिमें भी सिद्ध होता है. माययाच यहां 'चकार'से परिहासका वचन भी कहा ऐसा समझना चाहिए ।।१०।।

योजना: 'अत्रागत्याबाला' इस श्लोककी सुबोधिनीमें ''बहुव्रीहावपि निमित्ततायां'' पंक्ति है, जिसका अन्वय ''निमित्ततायां बहुव्रीहौ'' होगा जिसका आशय है कि बहुव्रीहि समास निमित्तता जनाता है. भगवान् कहते हैं कि सबकेलिए मुझे बल है, किन्तु आपकेलिए मेरेमें बल नहीं है. क्योंकि ''मैं भक्तके पराधीन हूं'' इत्यारभ्य ''मुझे भक्तिसे वश करते हैं'' यहां तक और ''यथा भक्तिमतामिह'' (जैसा मैं भक्तोंके आधीन हूं वैसा अन्य किसीके नहीं हूं) इत्यादि वाक्योंके अनुसार मैं आपके आधीन हूं अतः आपमें मेरा बल नहीं हैं.

जो मैं कामरूप वस्त्र आपको नहीं दूं तो आप अबला ही रह जाओगी, आपमें जो रमणकेलिए बल चाहिए वह न होगा यों होने पर मुझसे रमण करने योग्य न बनोगी. मेरे कामका आपमें अभाव होगा तो रसकी पूर्णता प्राप्त न कर सकोगी, ऐसी दशामें रसकी मर्यादाका भंग होगा.

जो मेरे भक्त हैं, वे वैसे रस पूर्ण मेरे आनन्द लेनेकी योग्य न हो उनको योग्य बनाकर यदि मैं आनन्दका अनुभव नहीं कराऊं तो ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते'' इस गीतामें कहे भक्तिमार्गकी मर्यादाका भंग होगा. वास(वस्त्र) जो काममय हैं

वे मुझमें ही स्थित हैं, जिसका अर्थ टिप्पणीमें स्पष्ट ही है. गोपबालकोंके साथ आप भी हंसीकर रहे हो इसलिए आपके ये वचन हम परिहासरूप ही समझती हैं, गोपियोंके इस शंकाके निवारणार्थ भगवानने कहा है कि 'सत्यं ब्रुवाणि' ''मैं सत्य कह रहा हूं'' अतः यहां आकर काममय वस्त्र लेकर पूर्ण रसका अनुभव कीजिए।।१०।।

न मयोदितपूर्वं वा अनृतं तदिमे विदुः।
एकैकशः प्रतीच्छध्वं सहैवोत सुमध्यमाः।।११।।

मैंने अब तक पहिले जो कुछ कहा वह झूठ नहीं है. इस बातको मेरे साथी ये सब गोप जानते हैं. हे सुन्दरियों! तुम एक-एक करके अथवा सभी एक साथ आकर अपने वस्त्र ले जाओ।।११।।

और हमारे स्वरूपके विचारसे भी, यह झूठ नहीं हो सकता, इसे 'न मया' इस श्लोकसे कहते हैं. 'वा' अनादर और समुच्चय अर्थमें प्रयुक्त हुआ है. मैंने पहिले अबतक जो कुछ कह दिया, वह कभी भी झूठ नहीं होता है. उदितम् कहा हुआ. पहिले कहा हुआ 'उदितपूर्वं' पदका अर्थ हैं. अथवा मैं जगत् कर्ता हूं. इसलिए मैंने मेरे जैसा जगत् उत्पन्न किया है. मुझसे कभी असत्य वस्तु उत्पन्न नहीं हुई होती. यह 'वै' निश्चय है. इसके ये आधिदैविक ऋषि साक्षी हैं, और ये जानते हैं. तुमने आधिदैविक स्वरूपको त्याग दिया है और उन बालकोंकी मायासे मोहित हो रही हो, इसलिए तुम्हे सन्देह हो रहा है. वस्त्रोंको लेने आनेकी विधि बताते हैं 'एकैकशः प्रतीच्छध्वम्' एक-एक आकर, अपने-अपने वस्त्रको ले लो, अलग-अलग आने पर प्रत्येकका भोग हो सकेगा अथवा यदि तुम मत्सर दोषरहित और परम भक्त हो तो एक साथ इकट्ठी आकर भी ले लो. इकट्ठी आनेका यह पक्ष ज्यादा अच्छा है.

शंका: भगवान् ऐसी न करने योग्य बातका उपदेश क्यों करते हैं? उत्तर: सुमध्यमाः. उनका मध्यमस्थान सुन्दर है अर्थात् वे शुद्ध अन्तःकरणवाली हैं और (वात्स्यायनोक्त) सारे बन्धनोंकी सिद्धिकेलिए भगवानने उन्हें पूर्ण ज्ञानदृष्टिसे देखा (था) है. इससे वे सारी रीतिसे शोभारूप हो गई हैं।।११।।

लेख : 'मया वा इति' मेरा उत्पन्न किया जगत् मिथ्या नहीं, किन्तु सत्य ही है. यह अर्थ है.

तस्य तत् क्ष्वेलितं दृष्ट्वा गोप्यः प्रेमपरिप्लुताः।

व्रीडिताः प्रेक्ष्य चान्योन्यं जातहासा न निर्ययुः ।।१२।।

भगवानके उस हंसी भरे कार्यको देखकर गोपिया प्रेममें डूब गई और लज्जित हो गई. फिर वे एक दूसरीकी ओर देखकर मुसकराने लगी और जलसे बाहर नही निकली ।।१२।।

भगवानके इस प्रकार करने पर भी, वे नहीं आई, यह 'तस्यतत्' इस श्लोकसे कहते हैं उन निरोध करनेवाले भगवानके उस प्रसिद्ध हंसीके कार्यको देखकर, वे नहीं आई. यों हंसी समझकर उन्होंने भगवानके वाक्यके अर्थका विचार नहीं किया और उनके उस समयको देखकर, उनके उस हास्यका निश्चय करके और उस हास्यरसमें अपने आपको प्रविष्ट हुई मानकर, वे गोपियां विशेष विचार करनेकी शक्तिसे शून्य केवल भगवानके प्रेममें डूब गई. पहले तो स्नेहसे ही डूबी थीं, फिर भावनासे भगवानके साथ अन्तः सम्बन्ध हुआ था और जब बाहर ज्ञान हुआ तब लज्जित हुई. तब प्रत्यक्ष रीतिसे, भगवानके द्वारा अपने आपको भोगी हुई सी समझकर, सम्मतिकेलिए वे एक दूसरीको देखने लगी. उस समय, परस्परके सम्बन्धका ज्ञान न होनेसे, उसे कौतुक हास्यरस जानकर हंसने लगीं. लोकरीतिसे भी उन्हें हंसी आ गई और वे जलसे बाहर नहीं आई।।१२।।

लेख : 'अनेन' हास्य वचन समझनेसे. वे विचारशक्तिसे रहित अर्थात् उनमें विचारशक्तिके न होनेसे, उन्हे हंसीपनका ही ज्ञान हुआ. हास्य वचन समझनेमें 'किञ्च'से दूसरा कारण कहते हैं 'अन्योन्य सम्बन्धाभावात्' एक दूसरेको भगवानके साथ सम्बन्धका ज्ञान न होनेसे, 'कौतुकं' अपना ही भगवानके साथ अन्तः सम्बन्ध हुआ, दूसरीका नहीं हुआ ऐसे समझनेसे कौतुक उत्पन्न हुआ।।१२।।

एवं ब्रुवति गोविन्दे नर्मणाक्षिप्तचेतसः ।
आकण्ठमग्नाः शीतोदे वेपमानास्तमब्रुवन् ।।१३।।

भगवानके फिर भी इसी प्रकार कहने पर, परिहास(हंसी)के वचनसे मोहित हुई, कण्ठतक ठंडे जलमें डूबी हुई और कांपती हुई वे भगवानसे यों कहने लगी।।१३।।

उनके हृदयके भावको देख करके, भगवान् फिर भी पहलेकी तरह ही बोले, यह 'एवं ब्रुवति' इस श्लोकसे कहते हैं. जब भगवानने, फिर भी वैसा ही कहा, तब बाहरसे, हंसीके वचन जेसे लगनेवाले, हास्यरसको उत्पन्नकर देनेवाले

भगवानके वचनसे उनका चित्त मोहित हो गया और अर्थका विचार न करके यों समझीं; कि बाहर निकल जाने पर भगवान् क्रोध करेंगे अथवा हमें निर्लज्ज जानेंगे. इसलिए कण्ठतक जलमें इस प्रकार डूबी रहीं कि जिससे उनके शरीरका कोई भी भाग नहीं दिखाई दे रहा था. फिर उनका चित्त लौकिक रस तथा भयसे भर गया और बाहरी ज्ञान(देहानुसन्धान) हो जानेसे ठण्डे जलमें कांपने लगीं. तदनन्तर उस देहभावके दृढ हो जाने पर, अपने प्रथम भावको भूल गई और साक्षियोंसे व्यामोहित होकर यथार्थ ज्ञानके न रहनेसे, वे भगवानसे कुछ कहने लगीं ।।१३।।

लेख : ''साक्षिभिः व्यामोहिताः'' साक्षियोंके द्वारा व्यामोहित हुई. साक्षी, जो उनके पुरुषभावरूप थे. जिन्हें कुमारिकाओंकी कुछ भी अपेक्षा नहीं थी. जो भगवानकी ही स्वच्छन्दता सम्पादन करके, उनके ही कार्यको सिद्ध करते थे, और भगवानके साथ हास्य करते थे, उन साक्षियोंसे व्यामोहित हुई. भगवान् और बालक हमे हंसते हैं, ऐसा समझकर यथार्थ ज्ञानसे रहित हो गई थीं ।।१३।।

मानयं भो कृथास्त्वां तु नन्दगोपसुतं प्रियम् ।
जानीमोऽङ्ग व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः ।।१४।।

हे श्रीकृष्ण! आप अनीति न करो. हम आपको जानती हैं. आप नन्दगोपके पुत्र और हमारे प्रिय हो. हे अंग! सारे व्रजमें आपकी कीर्ति फैल रही है. हमारे वस्त्र दे दो. हम ठण्डके मारे कांप रही है ।।१४।।

'माऽनयं भो कृथा' इस श्लोकसे उनके वाक्यका वर्णन करते हैं. भगवान् भर्ता(पति) हैं, इससे नाम नहीं लिया. 'भोः' इस सम्बोधनसे यह बतलाया कि ये इन बालकोंको सम्बोधित नहीं करती हैं. नय=न्याय. अनय=अन्याय. अन्याय मत करो. हम अभी तक कुलीन स्त्रियां हैं. हमारे अंगका दर्शन अन्य पुरुषकी दृष्टिसे अबतक नहीं हुआ है. इसलिए इस समय बालकोंकी दृष्टि हम पर नहीं पड़नी चाहिये. यद्यपि आपके वचनका आदर करके हमें बाहर आ जाना चाहिये, क्योंकि भगवानकी आज्ञानुसार कार्य करनेमें अधर्म नहीं है. तो भी नीति तथा लोक विरुद्ध करनेमें अन्याय तो होता है. आप यह भी न मान लें, कि ये कुमारिकाएं मुझे नहीं जानती हैं और बिना विचारे आचरण करने पर इनको ही दोष लगेगा, क्योंकि हम आपको साक्षात् भगवान् जानती हैं, किन्तु ऐसा ज्ञान हमारा

हितकारक नहीं है. इसलिए 'तु' शब्दसे इस पक्षका निवारण किया है. हम तो आपको नन्दगोपके पुत्र जानती हैं. आप हमारे स्वामीके पुत्र हैं. प्रभु पुत्र कभी अनीति नहीं करते हैं, फिर आप हमारे अत्यन्त प्रिय हो परम प्रीतिके विषय हो. इस कथनसे यह सूचित किया कि (एकाकी) आपकी दृष्टि हमारे अंग पर न पड़े यह हमारा अभिप्राय नहीं है. हे अंग! इस सम्बोधनसे यह बतलाती हैं, कि हम स्वयं भगवानके अंगरूप हैं. अथवा नन्दगोपका प्यारा पुत्र जानती हैं ऐसा विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध है. प्रभुका प्यारा पुत्र अत्यन्त लाडला होनेसे किसीको कुछ नहीं गिनता है और कभी अन्याय भी करना चाहता है. इसलिए आप उसे(अन्याय)को मत करो.

शंका: अन्याय हो तो हो, क्या हुआ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि आप व्रजश्लाघ्य हैं, सारे व्रजमें आप ही प्रशंसाके पात्र हो. इसलिए अन्याय करनेसे, आपकी अपकीर्ति होगी. कई व्यक्तियोंके मनमें यों आवेगा कि ये स्त्रियोंको दबा रहे हैं और कई यों सोचेंगे कि अनुचित बातका प्रदर्शन करा रहे हैं. इस कारणसे जलसे बाहर निकलनेके पहिले ही हमारे वस्त्र दे दो. दया करनेकेलिए कहती हैं हम कांप रही हैं।।१४।।

श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम्।
देहि वासांसि धर्मज्ञ नो चेद् राज्ञे ब्रुवामहे।।१५।।

हे श्यामसुन्दर! हम तो आपकी दासी हैं, आपकी आज्ञाका पालन करनेको हम तैयार हैं. हे धर्मके जानकार! हमारे वस्त्र दे दो. यदि नहीं दोगे, तो हम राजाके पास जाकर कहेंगी।।१५।।

'श्यामसुन्दर' इस श्लोकसे दण्डको भी स्वीकार करती हैं. 'सुन्दर' इस सम्बोधनसे यह बताया कि यह ठगना(धोका देना) नहीं है, क्योंकि जो बराबर हो, उसे ही ठगा जाता है और हम तो आपके समान नहीं है. स्त्रीभावको छोड़कर, दासी भावको कहती हैं, कि हम आपकी दासी हैं, आपके सम्बन्धियों तथा इन बालकोंकी दासी नहीं हैं.

शंका: दास्य कहनेसे क्या दर्शनकी इच्छा दूर हो जाती है? उत्तर देती हैं कि तुम्हारी आज्ञा पालन करनेको हम तैयार हैं. दास्यभावमें ही, केवल आप जो कुछ कहोंगे, उसे हम करेंगी इसी अभिप्रायसे मूलमें 'तव' एकवचनका प्रयोग है, और कभी कहा हुआ तो बहुतोंका वाक्य हैं. जब तुम मेरी दासी हो तो मेरे

सम्बन्धियोंकी भी दासी बनों? इसका उत्तर देती हैं कि हमारे वस्त्र दे दो, अर्थात् हमें आप सबकी दासी होना स्वीकार है. अथवा दासीभाव(भोग्य दासी भाव)की सिद्धिकेलिए वस्त्र दे दो. और धर्मशास्त्रमें कहा है कि ''कन्यायोनि, पशुक्रीड़ा, नग्न स्त्री, खुले स्तनवाली, उन्मत्त, पतित, क्रोधी और सम्भोग करते मनुष्यको नहीं देखे''. (''कन्यायोनिं पशुक्रीड़ां नग्नस्त्री प्रकटस्तनीम्, उन्मत्तं पतितं क्रुद्धं यन्त्रस्थं नावलोकयेत्'') इस प्रमाणसे नंगी स्त्रीके देखनेका निषेध होनेसे कहती हैं हे धर्मज्ञ! आप धर्म जानते हो. इसलिए ऐसा करना उचित नहीं है. इतना कहने पर भी जब वस्त्र नहीं दिये तब दुःखी होकर, बहुत समय तक बाहर निकलें अथवा न निकलें, ऐसा सोचती रहीं और फिर कष्टपूर्वक बोली कि हम राजा(नन्दरायजी)से कहेगी (विज्ञापन करेंगी).

अथवा- यहां १४-१५ इन दो श्लोकोंमें कहे हुवे नो पदोंके द्वारा गोपीजनोंके नो भेदोंका वर्णन किया है वह इस प्रकार है १.माऽनयं भोः कृथाः, २.नन्दगोपसुतं, ३.प्रियं, ४.व्रजश्लाघ्यं, ५.वेपिताः, ६.श्यामसुन्दर ते दास्यः, ७.करवाम तवोदितं, ८.धर्मज्ञ, ९.नो चेद्राज्ञे ब्रुवामहे,से क्रमसे १.राजस-राजसी अथवा राजस-तामसी, २.राजस-राजसी, ३.राजस-सात्विकी, ४.सात्विक-राजसी, ५.सात्विक-सात्विकी, ६.सात्विक-तामसी, ७.तामस-सात्विकी, ८.तामस-राजसी, ९.तामस-तामसी,के वचन हैं।।१५।।

टिप्पणी: 'माऽनयं भोः कृथाः' इसकी व्याख्यामें जिन गुणोंका वर्णन आया है, वे गुण स्वामिनियोंके परस्पर भिन्न-भिन्न भावोंको बतानेकेलिए दृष्टान्तरूपसे कहे गए हैं, न कि, इससे इनके इन भावोंको प्राकृत बतानेके अभिप्रायसे. यदि कोई हठी वादी ''प्रकृतिके इन गुणोसे रहित कोई वस्तु त्रिलोकीमें नहीं हैं'' (''न तदस्ति पृथिव्यां वा''गीता १८।४०) भगवानके वचनानुसार इन भावोंको भी प्राकृत ही कहे तो इसका उत्तर यह है कि यहां ये भाव ही गुणरूप है, प्राकृत प्रकृतिके गुण यहां नहीं है. इससे यह समझना चाहिए कि यहां यह प्रकृति भी सामान्य प्रकृति नहीं है, किन्तु भिन्न जातिकी विशेष प्रकृति है, और वह रसरूप भगवानकी स्थाई भावरूप ही है. इसलिए गीतामें भगवानने पृथिवी आदि ऐसा विशेषरूपसे कहा है, सामान्यरीतिसे नहीं कहा है. लीलासृष्टि तो अलौकिक और नित्य है. पृथिवी आदिमें उसका स्थान नहीं है, वह तो ब्रह्मके समान है. लीलासृष्टिकी अलौकिकता और नित्यताका हमने विद्वन्मण्डनमें विस्तारसे

प्रतिपादन कर दिया है।।१५।।

श्रीभगवानुवाच

भवत्यो यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ ।

अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिताः ।।१६।।

भगवानने कहा, यदि तुम मेरी दासी हो अथवा मेरा कहा करोगी, तो हे पवित्र मुस्कुराहटवाली कुमारियों! यहां आकर अपने वस्त्र ले जाओ ।।१६।।

उनके इन प्रकारके वचनोंको सुनकर और उन्हें आधिदैविक स्वरूपसे मोहित होनेके कारण भगवानकी अपेक्षा न रखकर अपनी इच्छासे ही इस तरह हुई जानकर भगवानने लौकिक युक्तिपूर्वक 'भवत्यः' श्लोकसे उनसे कहा. भगवान् उन्हें बोध कराते हैं कि यदि तुम मेरे कहनेके अनुसार नहीं चलती हो तो स्वयं तुमने कहा वह तो करो. तुमने अपनेलिए 'श्यामसुन्दर ते दास्यः', 'करवाम तवोदितम्' हम तुम्हारी दासी हैं, आप कहो सो करेंगी ये दो वाक्य कहें हैं. इनमें दास्यभाव यदि लौकिक रीतिसे अनुचित प्रतीत होता हैं, तो उसका विचार नहीं करना चाहिये और यदि अपने वाक्यके अनुसार करना हो, तो यहां आकर अपने वस्त्र ले लो. उपर्युक्त दोनों वाक्योंमें कहनेके अनुसार नहीं करोगी तो तुम्हारा असत्य बोलनेवालोंमें प्रवेश हो जायेगा और तब तो नाश ही है. दासीभावमें तो केवल स्वामीका सुख ही कर्त्तव्य है. इसके सिवाय दासियोंकेलिए कोई मर्यादा नहीं हैं किसी मर्यादाका पालन आवश्यक नहीं है. इसलिए कोई तुम्हारे नग्न शरीरको देख भी ले तो कोई दोष नहीं हैं. यह मनकी निष्ठा(स्थिरता) और अपने कहे अनुसार करनेमें वाणीकी निष्ठा(सत्यता) है. इन दोनोंके अनुसार नहीं तो देह निष्ठा होने पर, नाश हो जायेगा. 'पतिं में कुरु' इस प्रार्थनासे यह सूचित किया कि भगवानमें पतिभाव और अपनेमें पत्नीभाव पहिले सम्मत है. इसीसे अभी भगवानने यदि मेरी दासी हो तो मेरा कहा करो ऐसा कहा है ।।१६।।

लेख : व्याख्यामें 'तर्हि' जो तुम मेरा कहना करती हो तो 'दास्योपि मत्सम्बधिनाम्' इस पदका अध्याहार समझ लेना. मेरे सम्बन्धियोंकी भी दासियां होओ ऐसा अर्थ है. हम ऐसा नहीं करेंगी ''हमारे वस्त्र दे दो'' इस कथनसे तो भगवानके अनुसार करनारूप अर्थ नहीं निकलता. तब इस अरुचिसे दूसरा पक्ष करते हैं कि ''दासीत्व सिद्धयर्थम्'' दासी भावकी सिद्धिकेलिए. यदि हम वस्त्र पहिन लेंगी तो आपकी आज्ञाका पालन और दासी

भाव दोनों सिद्ध हो जाएगे यह भाव है.

योजना : 'दासीत्वसिद्ध्यर्थं वा' भोग्य दासीभावकी सिद्धिकेलिए वस्त्र भूषण आदिसे सुसज्जित दासी ही भोग करने लायक होती है यह तो परम अनुग्रहका कार्य है. यदि अभी ऐसा अनुग्रह न करो तो सामान्य अनुग्रह तो करो इस अभिप्रायको लेकर कहती हैं. कि ''दास्य सिद्ध्यर्थं वा'' परिचर्या, अथवा सेवा लेनेकेलिए हमें वस्त्र दे दो, क्योंकि वस्त्र रहित(नग्न) परिचारिकाओंकी शोभा नहीं होती है इसलिए वस्त्रका दे देना उचित है, यह भाव है।।१६।।

ततो जलाशयात् सर्वा दारिकाः शीतवेपिताः।
पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकर्शिताः ।।१७।।

तब तो असह्य शीतसे पीडित और ठण्डके मारे कांप रही सब कुमारिकाएं हाथोंसे गुप्त अंगको ढककर जलाशयसे बाहर निकली ।।१७।।

भगवानके इस ईश्वरभावसे कहे गये वाक्यके अर्थको न समझकर भी, वे आ गई, यह 'ततः' इत्यादि श्लोकसे कहते हैं. जलके स्थानसे जल जड़के स्थानसे वे बाहर आई. जल शब्दका अभिप्राय यह है कि नहीं जाना चाहिये, क्योंकि अज्ञानियोंकी तो मर्यादाका पालन करनेमें ही शुद्धिकी सम्भावना है. (पाठभेद क्योंकि अज्ञानीजन मर्यादामें रहकर अशुद्ध हो सकते हैं). उस मर्यादाकी अपेक्षा भगवानके वाक्यमें निष्ठा रखना अधिक श्रेष्ठ हैं. 'सर्वाः' सब शब्दका तात्पर्य यह है, कि भगवानके वाक्यसे उनमें रहनेवाले भिन्न-भिन्न सब गुणोंका तिरोभाव हो गया था. मूलमें दारिका शब्दका प्रयोग उनके बालभावको बतलाता है. यदि श्रीशुकदेवजी 'दारिका' शब्द नहीं कहते तो सभा और राजा परीक्षितका उन पर दुष्टभाव हो जाता. प्रश्न होता है, कि वे तो अत्यन्त तामसी तमोगुणवाली थीं, उनकी भगवानके वचन पर निष्ठा कैसे हुई. उत्तरमें कहते हैं कि 'शीतवेपिताः' वे ठण्डसे कांप रही थीं. इसलिए बाहर कांपने और भीतर ठण्डसे दुःखी होकर स्वभावके वशीभूत ही हुई, वे बाहर निकली. इससे परीक्षाकेलिए उनकी जाति स्वरूपका वर्णन किया है. नहीं तो ब्रह्मको लौकिक माननेसे शुकदेवजीका मस्तक गिर जाता ।।१७।।

टिप्पणी : 'ततो जलाशयात्'की व्याख्यामें. मूलमें 'ततः' पदका केवल आनन्तर्य अर्थ हैं. न कि सुनकर समझ पडने पर आई. इसीलिए व्याख्यामें 'वाक्यार्थापरिज्ञानेपि' वाक्यार्थ समझमें न आने पर भी वे बाहर आ गई. वह

ईश्वर स्वामीके वाक्यानुसार ही करना चाहिए इत्यादिसे कहा गया है. 'ईश्वर वाक्येन' इत्यादिका धर्म यह है कि गत श्लोककी व्याख्यामे कहे हुए राजस-राजस आदि भाववाले गुणोंके कारण उन्होंने केवल वैसे ही वचन कहे थे, आई नहीं थीं. तब भगवानने ''तुम दासी हो इसलिए आओ'' ऐसा न कहकर ''यदि तुम दासी हो तो आजाओ'' ऐसा कहा है. इससे यह बताया कि न आने पर, तुम्हारा दासीभाव भी सिद्ध नहीं होगा. यह तो बहुत ही अनिष्ट होता, ऐसा भय उत्पन्न हुआ. उत्पन्न हुए भयके द्वारा ही उनके सारे भाव तिरोहित हो गए. भगवानके वाक्यके द्वारा उन भावोंके तिरोभूत होनेसे वे सब एकरूप होकर एक ही रूपसे आ गई.

अत्यन्त तामसी कहनेका तात्पर्य यह है, कि भगवान् चाहे कितना ही कहे, परन्तु हम तो पराए पुरुष होनेसे, इन बालकोंको अपने नग्न शरीरके दर्शन नहीं कराएंगी उनके इस आग्रहको ही 'तमः' शब्दसे कहा है. बालक तो कुमारिकाओंके ही धर्मरूप-आधिदैविक स्वरूप थे, कोई पर पुरुष नहीं थे, किन्तु इसका ज्ञान न होनेके कारण वे नहीं आई अर्थात् ऐसा आग्रह किया.

ऐसा आग्रह होने पर, भगवानका वचन मानकर, अपना बाहर निकलना उचित नहीं हो सकता ऐसा समझनेवाली वे फिर बाहर क्यों आई? इस शंकाके उत्तरमें यह आशय है कि उन्हें अपने पास बुलाना है और सब रीतिसे, परीक्षा करनेकेलिए, बालकोंका आधिदैविक स्वरूप नहीं बताना है. इन दोनों कार्यको करनेकेलिए लीलामें उपयोगी और भगवानके मुख्यसेवक आधिदैविक कालने अपने शीतधर्मको, भीतर और बाहर प्रकटकर दिया, जिससे ये अधिक समय तक, जलमें न रह सकी. इससे पहले जल विहारमें तो इन्हें ठण्ड नहीं लगी थी और अब शीतधर्मके प्रकट होनेसे, जलमें अधिक ठहर न सकी. 'शितकर्शिताः' ठण्डसे दुःखी हो जानेके कारण, पूर्वोक्त आग्रहका भी तिरोभाव होनेसे बाहर आई. इसी आशयको व्याख्यामें 'स्वभावाधीना एव' पदोंसे कहा है.

शंका: ऐसा मानने पर तो, उनकी कालाधीनता हो जायेगी. वे भगवानके आधीन न रहेंगी? उत्तर:यदि वे भगवानकी आज्ञासे नहीं आई होती तो कालाधीनता हो जाती. ऐसा तो नहीं हुआ. वे तो प्रथम अपने स्वयं कहे हुए, फिर भगवानके द्वारा अनुवाद किए हुए दासीभाव और आज्ञापालनरूप धर्मोंकी

सिद्धिकेलिए आई थीं, क्योंकि भगवानने वैसा ही कहा है और 'यदि' पदसे अभी न आने पर पूर्व कथित दोनों धर्मोंका सिद्ध न होना बतलाया है. इससे आगे भी भगवान् जो कहें, वही हमें करना चाहिए इस विचारसे ही और अभी भी, भगवानका कथन ही किया. इससे भगवानके वचनानुसार आनेसे, पूर्वोक्त शंका नहीं टिकती है. शीतका कथन उनके आग्रहकी दृढताको बतलानेकेलिए किया है. अर्थात् अत्यन्त ठण्डसे कांपती हुई भी, आग्रहवश पहले बाहर नहीं आई. फिर भगवानके ऐसे वाक्य सुनकर, तो आ ही गई. यदि इत्यादि 'भगवान्' पदको सुनकर भगवानके आग्रहको अपने आग्रहसे विपरीत जानकर और अपने अनिष्टको जानकर, जलसे बाहर निकली, तो भी अपने गुह्य(गुप्त) अंगको ढककर ही निकली. तात्पर्य यह है कि उन्होंने अपने कुछ आग्रहका त्याग तो नहीं किया, इसी अभिप्रायसे व्याख्यामें 'स्वभावाधीना एव' श्रीआचार्यचरणोंने उन्हे स्वभावके आधीन कहा. भगवानकी आज्ञानुसार कार्य न करने पर, कालके धर्म बाधा करते हैं. इस बातको बतलानेकेलिए ठण्डका लगना(बाधा करना) कहा. इससे, बालकोंको परपुरुष, अंग न दिखानेकी शंकाके समाधानमें कहा हुआ, हमारा आशय पूर्णतया निर्दोष ही है.

लेख : 'परीक्षार्थम्' सबप्रकारसे विचार करनेकेलिए. 'प्रमेयं निरूप्यम्' स्वरूपका निरूपण करना चाहिए. इस कारणसे योनिको ढककर इत्यादिसे जातिका वर्णन किया. शंका: ऐसा होने पर भी स्वभावकी आधीनता किसी दूसरी तरहसे करना चाहिए था. सभामें ऐसे शब्दोंका प्रयोग उचित नहीं था? समाधान–यदि लीलास्थ भगवद्रूप सब जीवोंको लौकिक मानकर संकोचवश सभामें उनके स्वरूपका कथन न होता तो, ब्रह्मको लौकिक माननेसे शाकल्यके मस्तक पतनकी तरह, शुकदेवजीका भी मस्तक पतन हो जाता.

योजना : व्याख्यामें 'अकथने शुकस्य इति' यदि शुकदेवजी उनमें लौकिक भावको मानकर, रहस्यका वर्णन नहीं करते, तो उनके मस्तकका पतन सम्भव था. उन्होंने तो उन्हें साक्षात् पुरुषोत्तम स्वरूप समझकर, पुरुषोत्तमके सभी अंगोके वर्णनमें जैसे कोई दोष नहीं है, उसी तरह इनके गूढ अंगका वर्णन किया है इसलिए इस वर्णनमें जैसे कोई दोष नहीं है, वास्तवमें तो यह साक्षात् श्रीकृष्ण स्वरूप ही हैं. भृगुजीसे ब्रह्माजीके ''हे पुत्र! व्रजसुन्दरियां स्त्रियां नहीं है, वे तो श्रुतियां हैं''(''न स्त्रियो व्रजसुन्दर्यः पुत्र ताः श्रुतयः किल'') इस कथनका

अनुसन्धान रखकर श्रीशुकदेवजीने रहस्य वर्णन किया है. ''यदि ऐसा वर्णन नहीं करते तो तेरा मस्तक गिर जाएगा'' (''मुर्धा ते विपतिष्यति'') श्रुतिके अनुसार उनका मस्तक गिर जाता।।१७।।

भगवान् आहता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः।
स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितः ।।१८।।

भगवान् उन्हें सब भांति दोष रहित देखकर, उनके शुद्धभावसे प्रसन्न हो गए और वृक्षकी शाखा पर वस्त्रोंको रखकर प्रसन्नतापूर्वक मुस्कुराते हुए यों कहने लगे।।१८।।

भगवान् उन्हें सब प्रकारसे निर्दुष्ट(निर्दोष) देखकर, अथवा बालकोंकी दृष्टिको न पड़ने देनेकेलिए कुछ संग्रह करनेके कारण कुछ दोषवाली देखकर अपनी ज्ञान दृष्टि सब स्थानोंमें व्याप्त न होने देनेसे, उन पर क्रुद्ध तो हुवे, और उन्हें त्याज्य मानकर भी उनके शुद्धभावसे, शुद्ध अन्तःकरणसे, प्रसन्न हो गये. और फिर ज्ञान शक्तिको प्रकट करके, वृक्षके स्कन्ध(डाली) पर वस्त्रोंको रखकर, उनके आवरणोंको वैष्णव बना, उनके कारणको सुनकर और थोड़ासा मोह करके मन्द हास्यपूर्वक इस तरह बोले, कि वे उनके वचन स्वीकारकर लें. यदि भगवान् मन्द मुस्कुराहट पूर्वक नहीं बोलते तो वे मुक्त हो जाती ।।१८।।

टिप्पणी: व्याख्यामें ''ज्ञान दृष्टि सर्वत्र न व्याप्ता'' ज्ञान दृष्टि सब ठौर व्याप्त नहीं हुई इत्यादिका तात्पर्य यह है कि भगवान् उनके सारे अंगोको देखना प्रचूरतासे चाहते थे. भगवानकी इच्छाके रूक जानेसे क्रोध हो आया. इससे 'अतस्त्याज्याः' त्याग देनेका भाव उत्पन्न हुआ. बीचमें पसन्द हो जानेके कथनसे, यह अर्थ होता है. भगवान् जब हाथके व्यवधानको भी नहीं सहनकर सकते है तो फिर वस्त्र क्यों दिए? इस शंकाको दूर करनेकेलिए वृक्षके स्कन्ध पर वस्त्रोंको रखनेका तात्पर्य 'तासामावरणानि'(उनके आवरणोंको) इत्यादिसे कहते हैं. इसका आशय यह है कि पहले भगवानके साथ अन्तराय होनेसे दूसरे स्थान पर धरे थे फिर जैसे वैष्णवका संग भगवानकी प्राप्ति करानेवाला है, वैसे ही इन वस्त्रोंको वृक्षके स्कन्ध पर रखनेसे वैष्णव धर्म युक्त किया, क्योंकि वस्त्रोंके भगवानको प्राप्त करा देनारूप परोपकारको भगवान् अभी हालहीमें कहेंगे. वस्त्र रसके उद्‌बोधक होनेके कारण, भगवानकी प्राप्ति करानेवाले है. इसीलिए ऐसा विशेष स्थान वैष्णव वृक्षके स्कन्ध पर रखना लक्षित होता है.

उस समय भगवानके विशेष प्रसन्न होनेके कारणकी अपेक्षामें कहते हैं कि ''तासां निदानं श्रुत्वा''(उनके निदानको सुनकर) आप वयस्य सहित हो, आपके कहनेसे हमें आना चाहिए या नहीं आना चाहिए और हमारा आना उचित है या अनुचित है इत्यादि हम जानती हैं, हम तो केवल एक मात्र आपके आधीन हैं. हमारे क्या करने पर आप क्या मानते है, इस तरह शंकित हृदयवाली हम कुमारिकाओंकी यथोचित रक्षा आप ही करें. इत्यादि रूप वचन सुनकर और उनके अनन्य भावको जानकर भगवान् अति प्रसन्न हो गए.

अथवा-'निदानं' अपने स्वरूपको. पद्मिनी स्त्रियोंकी नीवी(अधोवस्त्रकी ग्रन्थि)में पद्मकी सुगन्ध होती है. तो जब वृक्षके स्कन्धपर वस्त्रोंको धरा तब भंवरोका झुण्ड आकर गुंजार करने लगा. उनके गुंजारका सुनना ही निदान श्रवण है. इससे उन्हें अपने अनुकूल उत्तम नायिका जानकर रसभावके उद्बोध होनेके कारण विशेष प्रसन्न हुए.

लेख: अन्यार्थं इत्यादि. बालकोंकी दृष्टि न पडने देनेकेलिए इतना संग्रह किया हुआ जानकर अपनी ज्ञान दृष्टि सब स्थान पर व्याप्त न होनेसे उन्हें कुछ दोष युक्त माना. 'ततः पुनः' और फिर पहले देखते हुए भी भगवान् गुप्त अंग छिपाया हुआ देखकर नहीं देख रहेसे हो गए किन्तु सुन्दर मध्य भागको देखकर प्रसन्न हो गए और प्रसन्नता पूर्वक फिर देखने लग गए.

योजना: आ सब प्रकारसे. अहताः-किसी भी अंशसे दुष्ट नहीं. यहां (आ) अभिविधि(उसको भी साथ लेकर) अर्थमें प्रयुक्त हुआ है. इसलिए 'आ-अहताः'में सन्धि 'आङ्'के 'ङित्'के कारण महाभाष्यकार ऋषि पतञ्जलिने सिद्ध की है, इससे आर्ष है क्योंकि 'ङित्' होनेके कारण प्रकृतिभाव न होनेसे दीर्घ सन्धि सुखेन हो गई. ''ज्ञान दृष्टिः सर्वत्र न व्याप्ता'' व्याख्याके इन पदोंका अर्थ टिप्पणीमें स्पष्टकर दिया है और ''तदावरणानि वैष्णवानि कृत्वा पश्चात्तासां निदानं श्रुत्वा'' (उनके वस्त्रोंको वैष्णव करके फिर उनके कथनको सुनकर) इत्यादि व्याख्याके पदोंका अर्थ टिप्पणीजीमें विस्तारपूर्वक कह दिया है।।१८।।

यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत् तदु देवहेलनम् ।
बद्धवाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः कृत्वा नमो वो वसनं प्रगृह्यताम् ।।१९।।

व्रत धारण करनेवाली तुमने निपट नंगी होकर जलके भीतर घुसकर स्नान

किया है. तुम्हारा यह कृत्य जलके देवता वरुणका अपमानजनक है. इसलिए इस पापको दूर करनेकेलिए मस्तक पर हाथ जोडकर प्रणाम करो और प्रत्येक अपना वस्त्र ले जाओ।।१९।।

'यूयं' इत्यादि श्लोकसे भगवानका वाक्य कहते हैं जलमें अग्नि और देवता निवास करते हैं. अतः जलमें मूत्र और शौच न करे, न थूकें, नग्न होकर स्नान न करे(''अप्सु अग्निर्देवताश्च तिष्ठान्ति अतो न अप्सु विवसनः स्नायात्''). यह ढकी आग है जो जलाती नहीं है इत्यादि श्रुतिके अनुसार नग्न स्नान करनेसे जलके भीतर रहनेवाली अग्नि और देवता व्रत आदि सारे शुभ कर्मोंका नाशकर देते हैं. इसलिए इसका प्रायश्चित करना चाहिये. भगवान् उस कर्मकी सिद्धिकेलिए आये थे. इसलिए स्वतन्त्रता पूर्वक फल देनार्थ उसकी पवित्रताकेलिए कहने लगे तुमने व्रत धारणकर रक्खा है, फिर नग्न होकर जलमें स्नान किया है स्नान ही नहीं, किन्तु क्रीड़ा करके जलमें विशेष क्षोभ किया हैं. क्रीड़ा और वस्त्रके अभावसे दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकारसे जलका आलोडन क्षोभ किया है. यह देवकी प्रसिद्ध अवहेलना है. 'उ' अव्ययका निश्चय अर्थ है.

इस प्रकार दोषका निरूपण करके उसके प्रायश्चितका निरूपण करते हैं–अंजलि बान्धकर, हाथ जोडकर, माथे पर रखकर, पापका नाश करनेकेलिए नमस्कार करके तुम्हारे इस वस्त्रको ले जाओ. जो क्रियाशक्ति हाथ, अभिमानकी रक्षाकेलिए स्थापित की थी, उस क्रियाशक्ति हाथको, अपराधको नाश करनेकेलिए जोडो और उसको भी ज्ञानशक्ति(मस्तक) सहित जोडो. ऐसा करनेसे ही देवता प्रसन्न होंगे, क्योंकि दोनों हाथोका(क्रियाशक्तिका) मूल(मस्तक)की ज्ञानशक्तिसे व्याप्त होगा. शास्त्रको जाननेवाले कहते हैं कि यह ही प्रवाहरूप क्रियाशक्ति है, वह यदि ज्ञानसे व्याप्त हो, तो फल सिद्ध हो जाता है और कृतार्थ भी हो जाता है।।१९।।

लेख: 'यूयम्' इत्यादि श्लोककी व्याख्यामें ''तत्रापि ज्ञान सहिता''का अर्थ यह हैं, कि उस क्रियाशक्तिका योग, मेरी ज्ञान शक्तिके साथ करो. हाथोंको शिरके ऊपर तक लानेसे, ऐसा हो जाता है यह भाव है. ''एषैव प्रौधरूपा शक्तिः'' यह क्रियाशक्ति ही प्रकृष्ट ओध प्रवाहरूप प्रावाहिक शक्ति है. 'तद्विदः' शास्त्रसे सिद्ध है कि कर्मोंका बहुत अधिक फल होता है. ज्ञानशक्ति केवल ब्रह्मरूपी फलको देनेवाली है. ऐसी ज्ञान शक्ति यहां अपेक्षित नहीं है यह बतलानेकेलिए

'एव' पदका प्रयोग किया है. वह शक्ति यदि ज्ञानसे व्याप्त हो, तो मोक्षरूपी मुख्य फलकी सिद्धि होती है. क्योंकि ज्ञानीको उस शक्तिकी अभिव्यक्ति(प्राप्ति.) होने पर क्रमसे मोक्ष सिद्ध होता है ऐसा सिद्धान्त है. इस पर भी वह प्रावाहिक अभिमानकी रक्षा करनेवाली क्रियाशक्ति यदि मेरी शक्तिसे व्याप्त हो जाय तो प्रावाहिकपनका त्याग हो जाता है और अनन्यभाव सिद्ध हो जाता है. तब भगवत्सम्बन्धी फल सिद्ध हो जाता है कर्म भी उत्तम गुणवाला हो जाता है और कृतार्थ भी हो जाता है (कृत=साध लिया है व्रतरूपी अर्थ जिसने ऐसा हो जाता है). सामान्य रीतिसे कहे जानेके अभिप्रायसे पुल्लिंगका प्रयोग किया है.

योजना:''या क्रियाशक्तिरभिमानरक्षार्थं स्थापिता'' जो क्रियाशक्ति अभिमानकी रक्षाकेलिए स्थापन की इत्यादि हाथ क्रियाशक्तिरूप है. लज्जाकी रक्षाकेलिए स्थापित किये हुए दोंनो हाथोंको मस्तकके ऊपर रखकर, अपराधकी निवृत्ति कराना उचित है. मस्तकके ऊपर हाथ जोडनेसे, मेरी ज्ञानशक्तिके साथ उनका योग हो जाता है. 'क्रियामूलस्यापि' हाथोंको मस्तक पर रखनेसे, क्रियामूल भुजाओका मूल भी, भगवानकी ज्ञानशक्तिसे व्याप्त हो जाएगा. तब अच्छी प्रकार निरीक्षण करनेसे, भगवानमें विशेष भाव जागृत होगा. 'एषैव'(एषा) लज्जाकी रक्षाकेलिए धरी हुई हाथरूपी क्रियाशक्ति प्रकृष्ठ ओध(प्रवाहरूप) भगवानकी इच्छाके विरूद्धसे ''प्रवाह सम्बन्धिनी होकर अहंता-ममतारूप संसारको ही उत्पन्न करेगी'' यह अर्थ है. वह क्रियाशक्ति भगवानकी सेवामें लगा दी जानी चाहिए, इस प्रकारके ज्ञानसे युक्त हो जाय. तो वह प्रवाहकी गतिको दूर करके भगवत्सम्बन्धसे अलौकिक होकर, पुष्टिमार्गके फलको सिद्धकर देती है ।।१९।।

इत्यच्युतेनाभिहिता व्रजाबला मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिम् ।
तत्पूर्तिकामास्तदशेषकर्मणां साक्षात् कृतं नेमुरवद्यमृग् यतः ।।२०।।

अच्युत भगवानके द्वारा इस प्रकार कही गई उन व्रजकी अबलाओंने नग्न स्नानको व्रत भंगका करनेवाला मानकर भगवानकी इच्छाको पूर्ण करनेकेलिए व्रत तथा सारे सत्कर्मोके साक्षात् फलरूप भगवानको नमस्कार किया, क्योंकि नमस्कार करनेसे सब पापोंका नाश हो जाता है ।।२०।।

उन कुमारिकाओंने भगवानके अभिप्रायको जानकर उनके कथनसे भी

और अधिक किया यह 'इत्यच्युतेन' श्लोकसे कहते हैं. अच्युत(किसी भी अंशसे च्युति रहित, अस्खलित) पूर्ण शक्तिमान् भगवानके द्वारा इस प्रकार कही गई वचन द्वारा ज्ञानको प्राप्त हुई और स्वभावसे चतुराई, छल आदि दोषोंसे रहित वे व्रजकी अबलाएं नग्न स्नानको व्रतके भंगका कारण मान और अपने हृदयमें भी इस बातको सत्य मानकर, इसकी पूर्ति अथवा व्रतको पूर्ण करनेवाले भगवानकी इच्छासे भगवानको नमस्कार करने लगीं. केवल देवताके अपराधकी निवृत्ति केलिए नहीं, किन्तु इस व्रत तथा सारे कर्मोंका साक्षात्काररूप(साक्षात् फलरूप) भगवानको नमस्कार किया. फलकी प्राप्ति हो जाने पर, साधनकी कमी व्यर्थ है, अर्थात् भगवानको पति करानेमें, प्रतिबन्धक कुछ नहीं रहा. इस प्रकार फलकी दृष्टिवाली, उन्होंने फलको सम्पादन करानेवाले फलरूप भगवानको नमस्कार किया. कोई टीकाकार नमस्कारका अर्थ साष्टांग प्रणाम करते हैं. वह भी उचित ही है, क्योंकि नमस्कार करनेसे पापोंका नाश होता है. देवताका अपराध शान्त हो जाने पर भी जलक्रीड़ा करनेसे, कर्म अपूर्ण हो जायेगा तो फलकी प्राप्ति नहीं होगी. इसलिए दोनों एकके ही करनेसे निवृत्त हो जाये वैसा किया (नमस्कार किया) अथवा उन भगवानकी इच्छाको पूरी करानेकी इच्छासे प्रणाम किया.

पहिले व्रत भंगका भय कहा है, इसलिए 'तत्' पद उस व्रत भंगका सूचक है ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यदि ऐसा अर्थ करेंगे तो व्रत और सारे कर्मोंका भगवानको फलरूप कहना ही अर्थ हो जायेगा और दृढ़ं प्रलब्धाः! इत्यादि असूया आदिके कारणोंका कहना अनुचित हो जायेगा. व्रतके पूर्ण होनेके पक्षमें उसकेलिए ही कहा हुआ सब भगवानने करा लिया इसलिए असूया आदिका कुछ कारण रहा ही नहीं. उनके हितके वचन अथवा हितकी कृतिसे असूयाका आरोप असम्भव है, किन्तु उससे विपरीत भावकी ही सम्भावना है.

शंका: व्रतकी च्युति मानकर फिर उन्होंने उसकी उपेक्षा करके प्रिय भगवानको ही नमस्कार क्यों किया? इसका उत्तर यह है कि व्रत आदि सारे शुभ कर्मोंका फल भगवान् हैं, इसलिए उन्हें ही नमस्कार किया. इससे व्रत च्युतिके कथनको व्यर्थताकी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि उस समयके भावोंकी उत्कृष्टताका यह निरूपण है. नहीं तो 'अवद्यमृग्' 'पापोंका नाशक' विशेषण व्यर्थ हो जायेगा ।।२०।।

लेख: व्याख्यामें 'अभिप्रायमपि' वाक्यको सुनकर और उसके अभिप्रायको भी

समझकर. 'उक्तादप्यधिकम्' भगवानने जो कुछ कहा था. उनने उससे भी अधिक ही किया, अर्थात् भगवानकी आज्ञाका पालन तो कुछ संकोच रखकर भी हो सकता था, किन्तु तब उनका सर्वांग दर्शन जिसको भगवान् चाहते थे भगवानको नहीं होता. इसलिए भगवानकी वैसी इच्छाको जानकर और उसे पूरी करनेकेलिए निःशंक होकर भगवदिच्छानुसार ही किया. थोडा भी संकोच नहीं किया. साष्टांग प्रणामके पक्षमें प्रणाम ही नमस्कारसे अधिक किया अर्थ है. 'तदशेषकर्मणाम्' उस विषयमें पूर्णता करनेकी इच्छासे. यहां 'तत्' यह शब्द सप्तमी विभक्ति बोधक अव्यय है और यदि 'तत्' इस पदका 'तस्य' षष्ठी अर्थ करें तो आगेके 'अशेष कर्मणां' पदके साथ द्वन्द्व समास करना चाहिए. 'फले जाते' भगवानके आजाने पर. इन पदोंका 'नेमुः'के साथ अन्वय है अर्थात् भगवानके पधार आने पर फलरूप उनको नमस्कार किया. व्यर्था अर्थात् विरुद्ध(पतिरूप फलमें प्रतिबन्ध करनेवाली) 'तादृशं' वैसे पतिरूप फलका सम्पादन करके देनेवाले. ''कर्मच्छिद्रस्य जातत्वात्'' क्रीडा करनेसे कर्ममें अन्तरायके उत्पन्न हो जानेसे नमन किया ।।२०।।

तास्तथावनता दृष्ट्वा भगवान् देवकीसुतः ।
वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत् करुणस्तेन तोषितः ।।२१।।

भगवान् देवकीनन्दनने उन कुमारिकाओंको अपनी आज्ञानुसार प्रणाम करती हुई देखकर और उससे सन्तुष्ट होकर, उन्हें(अपूर्व) वस्त्रोंका दान किया।।२१।।

तब भगवानने प्रसन्न हो वस्त्र दे दिये. यह 'तास्तथावनताः' इस श्लोकसे कहते हैं यदि वे नमस्कार करनेमें चतुराई(छलं) करती, तो भगवान् असन्तुष्ट ही होते, किन्तु उस तरह भगवानके कथनसे भी अधिक रीतिसे नम्र देखकर सन्तुष्ट हुवे. केवल चतुराईकेलिए इनने नमस्कार नहीं किया है, किन्तु मेरी इच्छाको जानकर और उसे पूरी करनेकेलिए ही नमस्कार किया है, यह जानकर सन्तुष्ट हुवे, क्योंकि आप भगवान् हैं. प्रसन्न होनेमें यह कारण है कि आप देवकीसुत हैं अर्थात् देवकीजी पर कृपा करके जैसे उनके पुत्र हुवे, वैसे ही इन कुमारिकाओं पर कृपा करके, इनके पति हुवे. तब उनकेलिए वस्त्र प्रकर्षतापूर्वक दिये. 'ताभ्यः' यह चतुर्थी विभक्ति अपूर्व दानकी सूचना करती है. इसलिए अपूर्वदानरूप विशेष अर्थ होनेसे 'दात्र्' और 'दाण्' धातुओंमेंसे यहां 'दाण्' धातुका जिसे 'यच्छ'

आदेश हो जाता है ही प्रयोग किया है. तात्पर्य है, कि जैसे 'दाण्' धातूके 'दा' पूर्वरूपकी निवृत्ति होकर 'यच्छ' नया अपूर्वरूप आदेश हो जाता है, वैसे ही यहां दिये जाने योग्य वस्त्रोंमें केवल पहिले वस्त्रपनेकी निवृत्ति करके, अपूर्व नवीन भगवद्भावात्मक कामरूप वस्त्र सम्पादन करके वे भगवानने उनकेलिए दिये. इसीलिए 'प्रेष्ठसंगमसज्जिताः' २३वें श्लोकमें यह नवीन वस्त्रदान ही हेतुरूपसे कहा गया है, क्योंकि 'परिधाय स्ववासांसि' यहां अपने-अपने वस्त्रोंका पहिनना कहा है. 'स्व' पदका प्रयोग भी इसीलिए किया है कि नायिकाओंका भगवानमें प्रिय अत्यन्त उत्कट भाव उत्पन्न हो और 'स्व' भगवानका वस्त्रोंमें अपने द्वारा ही दान किएका भाव उत्पन्न हो यदि यहां यह तात्पर्य नहीं होता, तो व्यर्थ 'स्व' पदका प्रयोग क्यों करते. अर्थात् उन्हें वस्त्र इस प्रकर्षतासे दिए कि जिससे, उनमें पूर्व कथित काम सिद्ध हो. इसीसे, जलक्रीड़ा आदिमें, वस्त्रोंको दिव्य करनेकेलिए, वस्त्रोंको उतारने और फिर पहिननेकी अपेक्षा नहीं है, इस प्रकार वस्त्र देनेका क्या कारण है? इसके उत्तरमें कहते हैं 'करुणः' कि उन पर अत्यन्त करुणासे, दुःख दूर करने और आनन्दका आविर्भाव करनेकी भगवानकी इच्छा उत्पन्न हुई तब वस्त्र दिये. फिर शंका होती है, कि मुक्तिका दान न करके वस्त्र ही क्यों दिए, मुक्ति देते? इसका उत्तर यह है कि 'तेन तोषितः' उनके उस नमस्कारसे, भोले-भालेपनसे, साष्टांग प्रणामसे, भगवान् सन्तुष्ट हो गये थे (यदि ऐसा नहीं होता तो केवल ब्रह्मभावका सम्पादन करके मुक्ति ही देते) इससे ब्रह्मभाव प्राप्त हो जानेके अनन्तर भगवानके साथ उनका रमण करानेकी इच्छासे, रमणके उपयोगी अवयव आदि सामग्रीका सम्पादन करनेकेलिए कामरूपी वस्त्रका दान किया, जिस(वस्त्र दान)से इन्हें कोई दूसरा देख भी नहीं सकेगा ।।२१।।

टिप्पणी: लोक और वेदमें मुक्तिका दान परम फलरूपसे प्रसिद्ध है किन्तु भक्तिमार्गमें तो मुक्ति अल्पफल है और वस्त्र दान परमफल है इस बातको बतलानेकेलिए व्याख्यामें ''ननु तर्हि मुक्तिमेव दद्यात्'' तो फिर मुक्ति ही देते? इत्यादि शंका करके समाधान किया है. सारे दुःखोंका अभाव ही मुक्ति है और परम करुणाका अर्थ केवल दुःखोंका अभाव करना ही नहीं है, किन्तु आनन्दका आविर्भाव भी जब होवे तब परम पदकी सार्थकता है. जिन पर भगवान् इस तरह प्रसन्न नहीं होते हैं उनको ही मुक्ति देते है. इस वस्त्रोके दानमें

परम करूणा कारण है. इससे इन व्रज भक्तोंको मुक्ति न देकर वस्त्र दिए. इस कथनसे यह स्पष्ट है कि इस काम भावकी अपेक्षा मुक्ति अल्प वस्तु है.

लेख: 'तथा ज्ञाने' भगवानने ऐसा जाना. अर्थात् भगवानने स्वयं आन्तरभाव ज्ञान सहित भगवान् होनेके कारण यह जान लिया कि ये गोपीजन मेरा अभिप्राय जान गई हैं और मेरी इच्छाको पूरी करनेकेलिए ही यह सब कुछ किया है और तब देवकीसुत होनेके कारण, सन्तुष्ट होकर वस्त्रोंका दान किया. मूलमें 'करुणः' पद अतिशय बोधक 'मत्वर्थीय' प्रत्ययान्त होनेके अभिप्रायसे, परम करुणासे, भगवानको उन पर दुःखके अत्यन्त नाशपूर्वक आनन्दको प्रकट करनेकी इच्छा हुई. केवल दुःख दूर करने पर तो, आनन्दका तिरोभाव ही बना रहता है और आनन्दका उनमें आविर्भाव करना ही उन पर परम कृपा है. उनमें आनन्दको प्रकट करनेकी इच्छा परम कृपा है. 'ब्रह्मभूतानां'का अर्थ यह है कि ब्रह्मभावके प्राप्त होनेके पीछे जिनमें आनन्द प्रकट हो गया है ऐसे. इस प्रकार यदि भगवानको सन्तोष नहीं होता तो केवल ब्रह्मभावका ही सम्पादन करते और जिससे, उनकी मुक्ति ही होती. यहां तो भगवान् सन्तुष्ट हुए हैं. इससे उनके साथ आगे रमण भी होगा. इसलिए रमणके योग्य अवयव आदि सामग्री सिद्ध करनेवाला वस्त्रदानरूप ब्रह्मभाव सिद्धकर दिया ।।२१।।

दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः ।
वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृताः ।।२२।।

भगवानने उनके साथ वंचना(ठगाई) की, उनको लज्जा छोडनेकेलिए विवश किया, उनका अपमान किया, उनके वस्त्र हर लिए और कठपुतलीकी तरह भांति-भांतिके नाच (उनको) नचाए, तो भी उन गोपिकाओंके मनमें भगवानके प्रति ईर्ष्या उत्पन्न नहीं हुई किन्तु प्रिय भगवानके संगसे वे अत्यन्त प्रसन्न हुई ।।२२।।

शंका: ये गोपीजन अनेक प्रकारकी थी 'भवत्यो यदिमें दास्यः' भगवानके इस वाक्यको सुननेसे पहिले उनके अनेक भाव कहें जा चुके हैं. फिर वस्त्र पहिन लेनेके अनन्तर पहलेकी भिन्न-भिन्न भाववाली, उस वासनाके द्वारा होनेवाला दोष, उनके मनमें उत्पन्न क्यों नहीं हुआ? इस शंकाके समाधानमें 'दृढ़ं प्रलब्धाः' यह श्लोक कहते हैं यहां यह विचार किया जाता है, कि उनकी लौकिक दृष्टि हुई या नहीं हुई? भगवानके वचन पर इन्हें विश्वास आया,

भगवानमें स्नेह उत्पन्न हुआ, भगवानकी अक्षरशः सत्यवक्तृता पर विश्वास हुआ, और अपने दोषकी स्फूर्ति हुई. उस दोषके दूर करनेका एक मात्र उपाय नमस्कार ही उन्हे सूझा, नहीं तो अभिमानको सर्वथा त्याग देनेवाली उनकी फिर जिज्ञासा भगवत्संगमकी इच्छा नहीं होती. 'तुमने नग्न होकर जलमें विहार किया?' इत्यादि वचनोंसे भगवानने उन्हें ठगा, 'यहां आकर अपने वस्त्र ले जाओ' कहकर, उनकी लज्जा छुड़ा दी, जो कि उनका सर्वस्व थी. इस प्रकार प्रथम वाक्यसे, उन पर दोष लगाया, दूसरेसे उनमें गुणका अभाव कहा और 'च'से उन्हें निर्लज्जकर दिया. 'यदि तुम मेरी दासी हो' इत्यादि उनके ही वाक्योंको लेकर उन्हें निरुत्तर किया यही उनका अपमान किया, क्योंकि स्तोभ वाक्य बुरे वाक्यके प्रकर्षसे(उत्तमता, श्रेष्ठता) अपकार(हानि) करना ही अपमान है. 'शिर पर हाथ जोड़ो' कहकर, उनके साथ कठपुतलीका सा खिलवाड किया, बालकके साथ जैसा व्यवहार किया और यह सब कुछ करा लेने पर भी वस्त्र तो उनके हर ही लिये थे. इस तरहसे उन पर ये पांच दोष लगाए जाने पर भी, उनको भगवान् पर इर्ष्या नहीं हुई. इर्ष्या तो, हृदयमें दुःख होने पर होती है. भगवानके ये वचन तो उन्हें, धधकती हुई अग्नि पर जलकी तरह ठण्डक करनेवाले लगे. जिन्हें भगवानने अपने स्वरूपका ही आनन्द प्राप्त कराया है, उन्हें इन वाक्योंसे दुःख कैसे उत्पन्न हो सकता है. वे तो भगवानके आनन्दसे सुखी (हैं) थीं. इसलिए भगवानके आधिदैविक वाक्योंसे भी उनका कुछ अपकार नहीं हो सका, क्योंकि, वे तो प्रिय भगवानके वस्त्र द्वारा संगसे परम सुखी थीं. यहां प्रमेयबलसे प्रमाणबल दुर्बल हो गया. (प्रमेलबल भगवानके स्वरूपका बलके आगे प्रमाणबल भगवानके वचनोंका बल दुर्बल हो गया.) इससे 'प्रायच्छत्' उन्हें भगवानने वस्त्र केवल दिये ही नहीं, किन्तु देते-देते, पहना भी दिये. करूणा पदसे यह भाव है कि उस समयके होनेवाले दूसरे आंसू पोंछना, मस्तक पर हाथ रखना आदि उपचार भी किये. इससे वे प्रसन्न हुई और उन स्वयंमें दोष न रहनेसे भगवान् पर भी दोषारोप नहीं किया ।।२२।।

टिप्पणी: उनकी लौकिक दृष्टि न होना नहीं समझें, तो दोष आता है. उसे व्याख्यामें 'अन्यथा' पदसे कहते हैं. लोकमें, जो धर्म, असूया-ईर्ष्याके कारणरूपसे प्रसिद्ध है उनका अनुभव करते हुए भी गोपीजनोंके मनमें ईर्ष्याके न होनेसे सिद्ध है कि उनका भाव अलौकिक था इसी आशयसे मूलमें उन

असूयाके कारणोंको बतलाया है. भगवानमें केवल स्नेह होना ही ईर्ष्या न होनेका कारण नहीं है, क्योंकि, यदि स्नेहके कारण ही ईर्ष्या आदि न होते तो, फिर स्नेहवाली खण्डिता, कलहान्तरिता आदि नायिकाओंमें भी ईर्ष्या नहीं होनी चाहिए. परन्तु स्नेह होने पर भी, उनमें उक्त ईर्ष्यादि रहते ही हैं और भगवानमें ईर्ष्या करनेसे, अनिष्ट फल होता है, ऐसा शास्त्रका ज्ञान रखनेवाले स्नेह शून्योंमे भी ईर्ष्यादि दोष नहीं पाए जाते. इस अन्वय-व्यतिरेक व्यभिचारदोषसे, स्नेह असूयादि न होनेका कारण नहीं कहा जा सकता.

और यह भी कहना अनुचित है, कि खण्डितादिको प्रिय भगवानका संग न होनेसे, उनमें उक्त दोष होते हैं, ये तो 'प्रिय संगनिर्वृताः' प्रिय भगवानके संगसे सुखी थी, इससे इनमें असूयादि दोष उत्पन्न नहीं हुए, क्योंकि खण्डिताका भगवानको उपालम्भ देना आगामी संगमके अभावकेलिए होता है और वह इसीसे, भगवानको उपालम्भ देती है परन्तु उपालम्भ देनेके समयमें तो उसे भी भगवानका संग ही है, संगका अभाव नहीं है. खण्डिताका भगवानसे ईर्ष्या करना पहले हुए संगके अभावसे हुआ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उपालम्भ देते समय भगवानका संग होने पर पहले संगका अभाव बाधित(दूर) हो गया.

फिर शंका करते हैं कि उपालम्भ देते समय, संग होने पर भी, पूर्वकालमें हो चुका संगका अभाव(जो अत्यन्त अभावरूप है) तो दूर नहीं होता है. यद्यपि वह अभाव (अत्यन्ताभावरूप) नहीं दीख पडता, तो भी किसी अंशमें तो अभावरूपसे दृष्टिमें आता ही है. उत्तर देते हैं कि आगे हुए संगके अतिरिक्त कोई दूसरा संग उस अत्यन्ताभावका प्रतियोगी(विरोधी, प्रतिपक्ष) स्वीकार करनेमें कोई प्रमाण नहीं है, और कोई प्रतियोगी मान लेने पर गौरव दोष आ जानेसे, अत्यन्ताभावका अभाव हो जायगा. इससे गोपीजनोकी अलौकिक दृष्टि होनेके कारण ही ईर्ष्यादि नहीं हुए.

इनकी अलौकिक दृष्टि तो नहीं थी किन्तु केवल दोषका अभाव ही था ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि दोषके मूलकारण अभिमानका तो हाथोंकी अंजलि बांधकर मस्तक पर धरने तक भगवानके वाक्योंके स्वीकारकर लेनेसे नाश होना कहा जा चुका है. इसी बातको व्याख्यामें 'सर्वथा निरभिमानानाम्' ''सर्वथा निरभिमान हुई'' इत्यादि पदसे कहा है.

इस प्रकार लोकमें ईर्ष्या उत्पन्न करनेवाले सब कारणोंका उन्हें अनुभव होने पर भी ईर्ष्याके न होनेसे उनके भाव और उनकी दृष्टिके अलौकिक होनेमें कोई सन्देह नहीं है. और वह भाव रूखा नहीं, किन्तु महान रसरूप या उस भावकी महारसरूपता भगवानमें विश्वास, स्नेह, आप्तता और स्वयंके दोषकी स्फूर्ति आदि विशेषणोंसे स्पष्ट ज्ञात होती है जिसे व्याख्यामें 'भगवद्वचने च' इत्यादि पदोंसे बतलाया है. इनके ऐसे विशुद्ध भावके कारण ही इन्हें वस्त्र दानके साथ ही वस्त्र द्वारा ही भगवानके साथ साक्षात् सम्बन्धका अनुभव हुआ. इसीको 'प्रियसंगनिर्वृताः' पदसे कहा है. इस प्रियसंग जनित आनन्दके कारण असूयादि उत्पन्न नहीं हुए, यदि ऐसा न माने, तो असूयाके 'दृढं प्रलब्धाः' कारण कहे पीछे शीघ्र असूयाके होनेके प्रतिबन्धक दोषको रोकनेका किसी भी कारणके न होने पर, ईर्ष्याके उत्पन्न न होनेका कोई अन्य कारण नहीं दीखता.

लेख: व्याख्यामें 'पूर्ववासनया' ''जो तुम मेरी दासी हो'' इस वाक्यको सुननेके पहिले, उनके भिन्न-भिन्न भावोंकी वासनाके द्वारा. ''वस्त्राणि अपहृतानि'' परीक्षाकेलिए उन्हें खिलौना सा किया और वस्त्र भी नमस्कार कराये बिना नहीं दिए और इसीसे इस विशेषणका यह अर्थ कहा है कि उसकी निवृतिका दूसरा कोई उपाय नहीं है ।।२२।।

परिधाय स्ववासांसि प्रेष्ठसङ्गमसज्जिताः ।
गृहीतचित्ता नो चेलुस्तस्मिंल्लज्जायितेक्षणाः ।।२३।।

वे गोपिकाएं अपने-अपने वस्त्र पहिनकर प्रेष्ठ(परम प्रिय) भगवानके संगमकेलिए तैयार हो गई और प्रियके परम प्रिय समागममें उनका मन ऐसा लग गया था कि वे आगे नहीं बढ सकी, वहीं खडी होकर, लज्जापूर्ण दृष्टिसे भगवानकी और निहारने लगी ।।२३।।

इसके पीछे जो हुआ उसे 'परिधाय' इस श्लोकसे कहते हैं. अपने-अपने वस्त्रोंको पहिनकर प्रेष्ठ भगवानके संगमकेलिए तृतीय पुरुषार्थ कामकी सिद्धिकेलिए वे तैयार हुई वे रसकी निधिरूप हुई. अन्यथा यदि उन्हें रसकी निधि न मानें तो शृंगार रसके आश्रय आलम्बनका भंग हो जायेगा, अथवा क्षीण रसकी उत्पत्ति होगी. इस कथनसे, उनके देहकी व्यवस्थाका निरूपण करके, अब 'गृहीतचित्ताः' पदसे, अन्तःकरणकी व्यवस्थाको कहते हैं. कुमारिकाओंने भगवानका चित्त ग्रहण किया, अथवा भगवानने उनके चित्तको ग्रहण किया.

सम्बन्धी और कर्ताके ज्ञानकी किसका (चित्त) किसने ग्रहण किया अपेक्षामें भगवान(सम्बन्धकारक)का चित्त गोपीजनों(कर्तृकारक)ने वस्त्र पहननेसे ग्रहण किया अथवा (सम्बन्ध कारक) गोपीजनोंका चित्त (कर्तृकारक) भगवानने 'तोषितः' पदसे ग्रहण किया. (इस प्रकार दोनोंके चित्त ग्रहणसे परस्पर दोनों ही कारण हुवे). इस तरह चित्तके संकल्प-विकल्पसे अंकुर कामकी उत्पत्ति हुई, फिर क्रियाशक्तिके कुण्ठित हो जानेसे, वे वहांसे चल न सकीं. और ज्ञानशक्ति भी कुण्ठित हुई कहनेकेलिए उसका भी, उस रसमें ही विनियोग 'लज्जायि तेक्षणाः' पदसे कहते हैं कि उनके नेत्र भगवानकी तरफ लज्जासे देख रहे थे, अथवा जिनके नेत्रोंका अर्पण लज्जासे, भगवानमें हो गया है. कितनेक टीकाकार कहते हैं कि अपने पहिले दोषके अनुसन्धानके कारण ऐसा हुआ. (पहले बुलाने पर न आनारूप दोष). वस्तु स्थिति तो यह है, कि उस समय, ऐसी भाववाली हुई. इस तरह, उनके शरीर, अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी वृत्तिका निरूपण किया गया है।।२३।।

टिप्पणी: 'परिधायेत्यादि' श्लोककी व्याख्यामें 'रसाकरा जाताः'का अर्थ यह है, कि रसकी खानरूप हुई. रस शृंगाररस शृंगारके योग्य अवयवोंमें ही, प्रकट होता है, यह रसशास्त्रका नियम है. यदि अंग रसके योग्य न होवें तो वे रसके आश्रयरूप नहीं हो सकते हैं. इसलिए यहां वे रसके योग्य हुए. इस बातको बतानेकेलिए ही धनुष, कवच आदिसे रणकेलिए सज्जित हुए वीरकी तरह, वे कुमारीकाएं अत्यन्त प्रिय भगवानके संगमकेलिए तैयार हुई. कामरूपी वस्त्रों देनेके पीछे वे इस योग्य हुई.

कुमारिकाओंका उसी समय इस तरह शृंगाररसके योग्य हो जाना युक्ति विरुद्ध है? ऐसी शंका नहीं करना चाहिये क्योंकि, यदि वैसी अवस्था, अंग आदि प्राप्त नहीं होते तो, कामशास्त्रमें कहे हुए नखक्षत, दन्तक्षत, ताडन आदि व्यापार द्वारा उद्‌बोध होने योग्य रसका वे अंग आश्रय नहीं बन सकते और तब मूलमें कहे गये संगम पदके बाधका प्रसंग(हो) आजायेगा. यदि रसानुकूल अवस्था, अवयव आदिके न होने पर भी जैसे-तैसे संगम होने पर पूर्ण रस प्रकट न होनेसे, रसाभास अथवा क्षीणरसता हो जायेगी. इनकेलिए पहले 'दारिका', 'कुमारी' आदि शब्दोंका प्रयोग करके, अभी रसकी खान कहनेका तात्पर्य यह है, कि पूर्व कथित गुणातीत भगवानने ही, उनमें प्रवेश करके, उनके देह इन्द्रिय,

अन्तःकरण, आदिको भगवत्स्वरूपकर दिया. इसीसे कालके क्रमके बिना ही, कुमारिका अवस्थामें ही सब सिद्ध हो गया.

'लज्जायितेक्षणाः'की व्याख्यामें ''पूर्व स्वदोषेति, पहिले बुलाने पर नहीं आनारूप दोष. वस्तु स्थिति तो यह है कि इस समय उनकी ऐसी भाववाली दृष्टि हुई, अर्थात् वे भगवानके द्वारा इस समय प्रकट किए हुए रसके भारसे भरी हो जानेके कारण, उनको भगवानके सिवाय कोई दूसरा(किसी दूसरेका) अनुसन्धान ही नहीं रहा. उनकी ऐसी भाव दृष्टिको ही, व्याख्यामें 'तदा इयं भावदृष्टिः' इन पदोंसे कहा है.

लेख: 'अंकुर उत्पन्ने' स्मर-कामकी दूसरी दशा उत्पन्न हुई तब आगेकी संकल्प आदि दशाओंमें क्रियाकी निवृति हो गई. इसको बतानेकेलिए क्रियाशक्तिका कुण्ठित होना कहा है.

योजना: 'गृहीतचित्ताः'की व्याख्यामें ''सम्बन्धिनः कर्तुश्चापेक्षितत्वाद्''का अर्थ यह है कि किसका चित्त ग्रहण किया इस सम्बन्धकी जिज्ञाशामें ''गृहीतं चित्तं यासां''से सम्बन्धी गोपकुमारियोंका निरुपण किया और चित्त किसने ग्रहण किया इस कर्ताकी जिज्ञाशामें ''गृहीतं चित्तं याभिः'' इस विग्रहसे चित्तको ग्रहणवाली उनको बताया. इस प्रकार भगवान् और कुमारिकाओं दोनोंके चित्तका ग्रहण करनेमें परस्पर दोनों ही कारण हैं. ''तस्मिन् लज्जायिते-क्षणाः''की व्याख्या ''भगवति लज्जया अर्पितानि वा'' इस पक्षमें 'लज्जर्पिते-क्षणाः' ऐसा पाठ जानना चाहिये. शरीरेन्द्रियान्तःकरण वृत्तय उक्ताः अर्थात् ''परिधाय स्ववासांसि'' पदसे शरीरकी 'गृहीत चित्ताः' पदसे अन्तःकरणकी और 'लज्जायितेक्षणाः' पदसे इन्द्रियोकी वृत्तियां कही हैं ।।२३।।

तासां विज्ञाय भगवान् स्वपादस्पर्शकाम्यया ।
धृतवतानां सङ्कल्पमाह दामोदरोऽबलाः ।।२४।।

अपने चरणोंका स्पर्श करनेकी कामनासे व्रतको धारण करनेवाली उन गोपीजनोंके विशेष संकल्पको जानकर दामोदर भगवानने उनसे कहा ।।२४।।

तब भगवानने जो करना उचित था, वह किया यह 'तासां विज्ञाय' श्लोकसे कहते हैं. उनेक संकल्पको जानकर, बोले ऐसा सम्बन्ध है (भगवान् शब्दसे सर्व सामर्थ्य कही है, जिससे जानकर यथोचित करेंगे यह सिद्ध है.) भगवान् सर्व सामर्थ्ययुक्त होनेसे जानकर जो उचित है उसीको करेंगे यह सिद्ध है.

उत्पत्ति और युक्ति दोनों प्रकारसे जान लिया, यह 'विज्ञाय'में 'वि' उपसर्गका अर्थ है. उन दोनों प्रकारके ज्ञानमें, विषयका निर्धार कहते हैं, कि वे लौकिक स्त्रियोंकी तरह विवाहकेलिए नहीं आई थीं, लोकसे विरुद्ध होकर भी नहीं आई थीं और न ज्ञान प्राप्त करनेकेलिए ही, किन्तु सब प्रकारसे विचार करके भक्तिकेलिए ही आई थी यह 'स्वपाद स्पर्शकाम्यया' पदसे कहते है. 'स्वस्य' भगवानका ही(अन्यका नहीं) उसमें भी भक्तिसे ही और भक्तिमें भी केवल चरणस्पर्शकी इच्छासे ही, न कि श्रवण भक्तिसे सख्य भक्ति तककी भी कामनासे आई थीं. केवल कामना ही नहीं थी, किन्तु उसकेलिए उन्होंने देह इन्द्रिय आदिका विनियोग भी कर दिया था. यह 'धृतव्रतानां' इस पदसे कहा है. धारण किया है कात्यायनीकी पूजाका व्रत जिन्होंने वे ऐसी थीं. 'धृत' शब्दसे व्रत चालू है, समाप्त नहीं किया ऐसा अर्थ सूचित होता है और यदि व्रतकी निवृत्तिका अर्थ अपेक्षित होता तो 'कृतव्रतानां' ऐसा कहा जाता. इससे उनका अभी व्रत समाप्त करना सिद्ध नहीं है. संकल्पका अर्थ मानसिक नियम है. इससे इनका देह, इन्द्रिय, मन आदिका संघात सारा उत्तम भक्तिकेलिए ही है. भगवान् ऐसा निश्चय करके, फिर जिसके करनेसे ऐसी भक्ति सिद्ध हो, उस उपायको कहते हैं.

शंका: इस प्रकार विचार(आग्रह) करके कहनेका क्या प्रयोजन है? 'दामोदर' पदसे इसका समाधान करते हैं. भगवान् दामोदर हैं. दामोदर पदसे गोपिका (यशोदाजी)के वशमें होनेका निरूपण है. इससे भगवान् यदि यशोदाजीकी इच्छासे उनके वशमें हुवे थे तो यहां इन गोपिजनोंकी इच्छासे इनके वशमें होंगे यह सूचित किया. पहिले जिस पदसे, उनके स्वरूपका बोध हो उस पदको सम्बोधनरूपसे कहते हैं. हे अबलाः वे अबला हो गई थीं. यह पद रसका बोधक है. रसके कारण, सब अंगोंमें काम व्याप्त हो जानेसे, वे अबला हो गई थी और भगवान् दामोदर गोपीकाओंके वशीभूत हो गये थे. इस तरह दोनोंका परस्पर वशीभूत होना सूचित किया है ।।२४।।

लेख: 'तासां'की व्याख्यामें 'तत्र' उत्पत्ति और उपपत्तिके द्वारा ज्ञान हो जाने पर 'लोक विरोधेन' स्त्रियोंका अपने पतिके अतिरिक्त दूसरे पुरुषके साथ सख्य करना तो लोक विरुद्ध है किन्तु चरणस्पर्श करनेमें कुछ लोक विरोध नहीं है. चरणस्पर्शकी कामना आना कहनेसे ज्ञानकेलिए नहीं आई थी यह सूचित किया. 'सम्बोधनम्' उनके स्वरूपका अच्छी तरह बोध करानेवाला 'अबलाः'

यह पद भगवानके कहे वचनोंके पहले कहा है, यह अर्थ है।।२४।।

सङ्कल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनात्।
मयानुमोदितः सोसौ सत्यो भवितुमर्हति।।२५।।

हे साध्वियों! तुम्हारे द्वारा की हुई मेरी पूजासे तुम्हारा मनोरथ मैंने जान लिया है. मैं भी उसका अनुमोदन करता हूं. इसलिए वह पूर्ण होने योग्य है।।२५।।

उन व्रजभक्तोंके मनमें यह था, कि अपना अभिप्राय भगवानको बतलावें, इसलिए कहते हैं कि तुम्हारा संकल्प मैंने जान लिया 'संकल्पो विदितः' श्लोकसे यह कहते हैं. तुम्हारे अभिप्रायको मैंने जान लिया, ऐसा कहकर, यह बतलाया कि अब तुम्हारे कहनेकी आवश्यकता नहीं है. कहनेसे, रस पुष्ट नहीं होता. इसीसे, भगवान् स्वयं भी, उसको नहीं कह रहे हैं. इनका संकल्प अयोग्य होगा? इस शंकाके समाधानमें 'साध्व्यः' पद दिया है. सब दोषोंसे रहित अर्थात् पतिव्रता होनेके कारण, उनका ऐसा संकल्प करनेका अधिकार था और वही सफल होता है. इस कथनसे भगवानके द्वारा उन गोपिकाओंका किसी अन्यकेलिए दिया जाना अथवा किसी अंशमें, उनका उपयोग करके, फिर अन्य किसीकेलिए दिया जानेका निषेध सूचित किया है. 'भवतीनाम्' तुम सबोंका, कि जिनका स्वरूप जान लिया गया है (अथवा नहीं जाना गया है पाठ भेदसे) यद्यपि कात्यायनीकी पूजासे, यह अर्थ सिद्ध हो गया था, तो भी दूसरी बार, तुमने मेरी ही पूजा की. प्रबुद्ध(जागृत) हुई देवताको ही पूजकके संकल्पका ज्ञान उसी समय होता है. परन्तु भावनापूर्वक किये गये उस पूजनका साक्षात् मेरा स्पर्श नहीं होता. इसलिए वह संकल्प मिथ्या होता है और देवताकी आज्ञाके बिना की हुई होनेसे, वह पूजा फलदायक भी नहीं होती है. इससे अभी सन्तोषसे उक्त दोनों न्यूनता(कमी)को पूरा करते हैं 'मयानुमोदित' अर्थात् स्वरूपसे और फलसे उस संकल्पको पूरा करते हैं 'मयानुमोदितः' कि वह संकल्प मेरे द्वारा अनुमोदित हुआ है और 'अनु' पीछे मैं मेरे मोदको प्राप्त हुआ है. 'स' अर्थात् वह प्रसिद्ध संकल्प पूजामें प्रकट हुवा भावपूर्वक दृष्टिसे पुष्प आदि पदार्थोंकी भावनासे भावित हुवे भगवानकेलिए समर्पणरूप संकल्प भावनासे सिद्ध होनेके कारण, भावनामय उस पूजा सामग्रीका साक्षात् भगवानके स्वरूपमें समर्पण न होनेसे, असत्य था, किन्तु अभी तो वह स्वरूपसे सत्य होकर फलका बोधक हो गया. वह 'असौ' पदसे कहा गया है. अभी मैं प्रत्यक्ष हूं मैंने तुम्हें अन्तःकामका दान किया है, यह दृष्टि

भी भावोंको प्रकट करनेवाली है और तुम्हारा सर्वस्व ही निवेदनकी वस्तु है. इससे पूर्व आकृति पूजाके तुल्य यह सब जो अभी हुआ है वह 'असौ' पदसे कहा है. यह संकल्प स्वरूपसे सत्य है और सत्य संकल्पसे सत्य फल भी उचित ही है. इससे तुम्हारे और तुम्हारे संकल्पके सब प्रकारसे योग्य होनेके कारण फल अवश्य प्राप्त होगा चिन्ता नहीं करनी चाहिये ऐसा भाव है. इस कथनसे इस संकल्पके गोपिकाओंके कार्यके आधीन होनेसे फल भी गोपिकाओंके आधीन है यह बतलाकर वचनका सन्देह भी दूरकर दिया ।।२५।।

टिप्पणी: व्याख्यामें 'भवतीनां'का तात्पर्य यह है, कि ज्ञान दो प्रकारसे होता है वस्तुके स्वरूपसे और वस्तुके गुणोंसे यहां 'भवतीनां संकल्पः' इन दो पदोंके अलग देनेसे अभी संकल्पका ही ज्ञान होना और स्वरूपका ज्ञान अभी न होना सूचित होता है. इनका स्वरूप रसात्मक है, केवल अनुभवसे ही जाना जा सकता है इसलिए उनके उस स्वरूपका ज्ञान अभी आगे होनेवाला है. अभी तो मैंने तुम्हारा स्वरूप ही जाना है, यहां यह रसोक्ति समझना चाहिये ''लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्''(ब्र.सू.२।१। ३३) इस सूत्रानुसार भगवान् रसमर्यादामें रहकर ही इनके स्वरूपका अनुभव करेंगे इस अभिप्रायसे ऐसा कहा है.

लेख: 'संकल्पः' श्लोककी व्याख्यामें 'तदैव ज्ञानम्' तब ही ज्ञान होता है. देवता जब जागृत हो, उस समय पूजा की हो, तब ही पूजकके संकल्पका देवताको ज्ञान होता है. परम् अर्चनम्–भावनापूर्वक की हुई पूजाका साक्षात् स्पर्श न होनेके कारण, वह संकल्प स्वरूपसे असत्य होगा और देवताकी आज्ञाके बिना की हुई पूजाके कारण वह फलसे भी मिथ्या ही होगा. 'द्वयं पूर्यते' इन दोनों प्रकारकी(स्वरूप और फलसे) न्यूनताको 'असौ सत्यः' इन दो पदोंसे पूर्ण किया है. उक्त दोनों पदोंसे यह सूचित होता है कि वह संकल्प स्वरूप और फलसे सत्य ही है. 'तत्र' श्लोकके उत्तरार्धमें. पहले कही हुई प्रतीकको उत्तरार्धकी समझनी चाहिये. व्याख्यामें 'स संकल्पः'से आरम्भ करके 'इति भावः' तकके कथनसे संकल्पको फल देनेवाला कहा है. 'स तु अस्तु' वह संकल्प तो केवल भावनारूप है, इससे उसमें पूजाकी कोई वस्तु होती ही नहीं, इस कारण, वह असत्य है, किन्तु अभी वह स्वरूपसे सत्य होकर फलको बतानेवाला हो गया है. 'तज्जापितम्' फलको उत्पन्न करा देनेवाला. 'असौ' यह 'अर्हति' यहां तकका प्रतीक है केवल एक पदका नहीं है. फल कार्यके

आधीन होता है, कार्य गोपिकाओंके आधीन है इसलिए फल भी उनके ही आधीन सिद्ध है ।।२५।।

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।
भर्जिताः क्वथिता धाना भूयो बीजाय नेशते ।।२६।।

जिनकी बुद्धि मेरेमें लगी हुई हैं, उनकी कामना अन्य कामनाको उत्पन्न नहींकर सकती है. भूनी हुई अथवा पकी हुई धाणी फिर बीजको उत्पन्न नहींकर सकती।।२६।।

शंका करते हैं कि समर्पित की हुई सामग्री भी असमर्पित सामग्रीके साथ मिलनेसे फिर कभी कालान्तरमें पहली अवस्था असमर्पितावस्थाको प्राप्त हो जायेगी. तदवस्थ वैसीकी वैसी नहीं रहेगी? इसका सामान्यन्यायसे 'न मयि' इस श्लोक द्वारा समाधान करते हैं. यह सामग्रीका संस्कार है. अर्थात्, भगवानमें बुद्धिका आवेश संघात देहेन्द्रियादिका संस्कार है. इस कारणसे, जैसे एकबार संस्कार पाया हुआ ब्राह्मण संस्कार रहित पुरुषोंके साथ रहनेसे बिना संस्कारका नहीं होता और न फिर उसका दुबारा संस्कार ही होता है, उसी तरह यहां भी बुद्धिका आवेश संस्काररूप होनेसे, भगवानमें अर्पण की हुई सामग्री भगवदीय हो जाती है और वह फिर कभी असंस्कृत नहीं होती. भगवान् करोड़ों सूर्यसे भी अधिक ज्ञानाग्निरूप हैं, और सब बुद्धिके आधीन है. बुद्धि समर्पितकर दी, तब तो सबका ही समर्पण हो गया. इसलिए बुद्धि समर्पण ही, 'मय्यावेशितधियां' पदोंसे कहा है. बुद्धिका केवल समर्पण ही नहीं किया किन्तु उसका आवेश भगवानके ऊपर स्थापित करना कहा है.

बुद्धिके आधीन काम है और इच्छा ज्ञानके आधीन है 'कामः संकल्पः' इत्यादि श्रुतिमें 'सर्व मन एव' सब मन ही है सब मनका धर्म होनेसे 'मनसस्तु पराबुद्धिः' मनसे बुद्धि परे है सब बुद्धिके आधीन ही है. जैसे राजाके पकड़ लिये जाने पर सारा राज्य ही पकड़नेवालेके आधीन हो जाता है, ऐसे ही बुद्धिका निवेदनकर देने पर, सबका ही भगवानमें निवेदन हो जाता है. इससे पहली अवस्थामें, जो रूप था वह उनका नहीं होता है(पर भगवदीय हो गया). 'काममय एवायं पुरुष' इस श्रुतिके अनुसार काम पुरुषात्मक है. यदि कामकेलिए कामका सृजन नहीं होता तो आगे उस संघात(देह)से दूसरा संघात उत्पन्न नहीं होता, किन्तु बुद्धिके साथ कामके भी जल जानेके कारण, वही अन्तिम संघात होता है.

संघात काममय है. इस बातको कि भगवान् पर बुद्धि(कामरूप)का आवेशकर देने पर काम फिर अन्य कामोंको उत्पन्न नहीं करता दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं, 'भर्जिता' भुने हुवे 'जौ'आदिको (धानास्तु भ्रष्टयवाः) धाना कहते हैं. जैसे धनसे धन उत्पन्न होता है इसी तरह जौ,जौको उत्पन्न करते हैं, किन्तु भाड़में भुन जाने पर(धाना हो जाने पर) वे फिर अन्य जौको उत्पन्न नहींकर सकते. इसलिए पहली अवस्थाका त्याग करके, सम्बन्ध मात्रसे भी, जो तदीय-भगवदीय हो जाते हैं, वे फिर उनका दूसरेको उत्पन्न करनारूप कार्य नहीं करते हैं. कई बीज ऐसे भी होते हैं, कि जिनकी बीजशक्ति(उत्पादकशक्ति) केवल अग्निसे नष्ट नहीं होती है. उनकेलिए दूसरा दृष्टान्त देते हैं, कि कथिता जल और अग्निके सहयोगसे उनकी भी बीजशक्ति नष्ट हो जाती है. यह 'भर्जिता कथिता' भूना हुआ और पकाया हुवा धान्यका तो केवल दृष्टान्त मात्र है. इससे यह सिद्ध है, कि जिससे जिसकी बीजशक्ति नष्ट हो जाती है, फिर वह उस कार्य अन्य स्वसदृश्यकी उत्पत्तिको नहींकर सकता है. जैसे धाना फिर बीजकेलिए समर्थ नहीं हो सकती.

अथवा ''अन्न धानासु लीयते'', 'धाना भूमौ प्रलीयन्ते' इस श्रुतिमें धाना शब्दसे बीजमें तण्डुल कहे हैं तो यहां भी वैसा ही समझ लेना चाहिये. इसलिए भर्जिता भुने हुवे कहा है. इस कारणसे, जब मेरेलिए अर्पण किया गया काम, दूसरे कामको उत्पन्न नहीं करेगा, तो फिर कभी भी अपनी पहली स्थिति पर नहीं आ सकेगा. इसमें तो कहना ही क्या? 'अधिकं तत्रानुप्रविष्टम्' अर्थात् यह तो स्वतः सिद्ध ही है ।।२६।।

लेख: व्याख्यामें 'ननु' आदिसे शंका करते हैं, कि भगवानको निवेदन किया हुआ संघात निवेदन नहीं किए हुएके साथ संग प्राप्त होनेसे, अनिवेदित हो जायेगा? 'अयम्' यह सामग्री भगवानमें किया हुआ बुद्धि आदिका आवेश है. 'अतः' बुद्धिका आवेश संस्काररूप होनेसे 'जातां' इस पदके पीछे ''तथा असंस्कृता न भवति'' इतने पदोंका अध्याहार जानना चाहीये. 'अकार्यत्वम्' वह जिससे फिर दूसरा कार्य कामादि नहीं हो सकता. 'धाना' धनकी अवस्थाविशेष धनकी अवस्थामें जौ,जौको उत्पन्नकर सकते हैं. भुन जानेके पीछे नहीं कर सकते, क्योंकि धाना अवस्थामें, वे धनके केवल सम्बन्धी हैं, धनरूप नहीं है. इसी अभिप्रायसे व्याख्यामें 'अतः' पदका प्रयोग किया है. सुतराम् यदि दूसरे कामको उत्पन्न करेगा भी तो मेरे सम्बन्धी कामको ही उत्पन्न करेगा. पूर्व सिद्ध

कामको उत्पन्न नहीं करेगा ।।२६।।

याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः ।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्याचर्चनं सतीः ।।२७।।

हे अबलाओं! तुम व्रजमें जाओ. तुम्हारा संकल्प सिद्ध हो गया. हे सतियों! जिस(रमण)के उद्देश्यसे तुमने कात्यायनीका पूजनरूप यह व्रत किया है वह रमण तुम मेरे साथ इन रात्रियों(जिनका मैं तुम्हें दर्शन करा रहा हूं)में करोगी ।।२७।।

जहां कहीं भी रहो, अब तुम्हारी फिर प्राकृत अवस्था नहीं होयेगी. इसलिए तुम जाओ यह 'याताबला' इस श्लोकसे कहते हैं. स्वकीय मानकर फिर अबलाः किया हुआ सम्बोधन स्नेहको सूचित करता है. भाव यह है, कि मेरे साथ-साथ घूमना, बल(शक्ति)का काम है और तुम तो अबला हो. जैसे पृथ्वी दूसरे स्थान पर नहीं ले जाई जा सकती, किन्तु उसके निरर्थक घास फूस आदि अंकुरोंको ही दूर किया जा सकता है, इसी तरह तुम्हें भी दूर ले जानेकी आवश्यकता नहीं है. शंका: यद्यपि पृथ्वी दूसरे स्थान पर नहीं ले जाई जा सकती, तो भी, उस पर संस्कारकेलिए खोदना आदि व्यापार तो होता है इस तरह आप ही विराजकर हमारी योग्यता सिद्ध करनेकेलिए कोई व्यापार करें? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि 'सिद्धा' तुम सिद्ध हो चुकी हो. तुममें अब, कुछ सिद्ध करना बाकी नहीं है, तुम सिद्ध ही हो. इसलिए तुम व्रजको जाओ. उन्हें अलौकिक दृष्टि देकर कहते हैं कि, 'मयेमा रंस्यथ क्षपाः' इन रात्रियोंमें तुम मेरे साथ रमण करोगी. 'इमाः' जिन रात्रियोंको मैं तुम्हें दिखा रहा हूं, जो मेरे भीतर ही स्थित हैं, इन रात्रियोंमें मेरे साथ रमण करोंगी. (रात्रीः) क्षपाः यहां अत्यन्त संयोगमें द्वितीया विभक्ति है. रमण सहित रात्रियोंका दर्शन कराया इससे रमणमें सन्देह नहीं है.

शंका: भगवानने उन्हें अपना नित्यसम्बन्ध अथवा (कभी रात कभी दिन) रात दिनका सम्बन्ध न देकर यह रमणरूप फल ही क्यों दिया? उत्तरमें कहते हैं कि यदूद्दिश्य रमणको ही उद्देश्य करके आर्या(कात्यायनी)का अर्चनरूप व्रत किया था.

भगवानकी पूजा करनेका तो उनकी भावनाके मनोरथका सत्य होना फल है (भगवानकी पूजासे तो संकल्प सत्य हुआ) और रमण तो कात्यायनीके व्रतका फल है. उसमें भी, एक मास ही नियामक था और रात्रिके अन्तमें पूजन किया था.

इससे रात्रिमें परिमित अथवा निश्चित किए हुवे समयमें ही रमण हुआ दिनमें अथवा अपरिमित समयमें नहीं हुआ. 'सतीः' तुम सतीरूप हो सतियोंका रमण दिनमें अथवा इच्छानुसार सदा नहीं होता है. इससे विवाहिताके न्यायसे रमण होगा ऐसा भाव है. भगवानके पहिले वाक्यको सुनकर ही, यदि ये आ जाती तो भगवानकी आज्ञाका पालन करनेसे इन्हें अक्षय फलकी प्राप्ति होती. कर्मका फल तो क्षयवाला है।।२७।।

टिप्पणी: 'यातावलाः'की व्याख्यामें 'यथा भूमि?' जैसे भूमि इत्यादि. भगवानके विषयका काम अन्य कामको उत्पन्न नहीं करता इसमें धाना(धाणी)का दृष्टान्त दिया है. जैसे जौ पूर्वावस्था(यव-जौ)की अवस्थामें पृथ्वीमें बोए जाएं तो अंकुर उत्पन्न करते हैं. उसमें विजातीय अंकुरको उत्पत्तिको रोकने और (भूमि) उसकी रक्षा करनेकेलिए पृथ्वीको किसी दूसरे स्थानमें नहीं ले जाया जाता, किन्तु उसके उपर्युक्त दोष ही दूर किये जाते हैं.

यहां इस प्रकृत(चालू) प्रसंगमें इन स्वामिनी(गोपीजनों)के हृदयमें यह इच्छा थी कि अबसे भगवान् जहां कहीं भी, हमें अपने साथ ही ले पधारें. किन्तु रसकी पुष्टिकेलिए और लोकसे विरुद्ध होनेके कारण रसाभास हो जानेकी सम्भावनासे अभी, सदा संग रखना उचित न समझकर, भगवानने उन्हें आज्ञा दी, कि है अबलाओं! तुम व्रजको जाओ.

अथवा भूमि सम्बन्धी हल कूली आदिक ही भूमिके पास ले जाये जाते हैं पृथ्वीको दूसरे स्थान पर नहीं ले जाया जाता ऐसा अर्थ है. इससे जब-जब आवश्यकता होगी, तब-तब सन्ध्या आदिके समयमें, मैं तुम्हारेलिए व्रजमें आऊंगा, यह भाव सूचित होता है. 'रमण, सहितास्ताः' रमण सहित रात्रियोंका दर्शन कराया. ये रात्रियां केवल रमणकेलिए ही प्रकट हुई हैं इस अर्थको बतलानेवाला धर्म उनमें स्थित है. ऐसी उन रात्रियोंके दर्शनसे उन्हें अपने रमणका निश्चय भी हो गया.

लेख: 'यातावलाः'की व्याख्यामें रात्रि और रमणका अत्यन्त संयोग अर्थ है ''रमण सहितास्ताः प्रदर्शिताः'' (रमण सहित रात्रियोंका दर्शन कराया) इन पदोंसे रमण सहित उन भावी आनेवाली रात्रियोंका दर्शन करा देनेसे भविष्यका कोई सन्देह नहीं रहा. इसको अक्षरार्थ समझो. नित्यसम्बन्ध अन्तर्गृहिताकी तरह सर्वदा नित्य सम्बन्ध. यदि ऐसा नहीं हो तो इनको अन्तर्गृहिताकी तरह

विप्रयोगका अनुभव न हो. इस अरुचिसे दूसरा अर्थ 'अहोरात्र' पदसे कहते हैं कि कभी दिन-रातमें, कभी दिन-दिनमें, इस तरह प्रतिदिन.

योजना: 'याताबलाः'की व्याख्यामें तथापि संस्कारार्थ कर्षणवत्(तोभी संस्कारकेलिए खोदते हैं जैसे). यद्यपि भूमिके दोष ही दूसरे स्थान पर ले जाए हटाए जाते हैं भूमिको नहीं ले जाया जाता, तो भी उसके ऊपरका कूडा आदि तो हल कूली आदि चलाकर दूर किया जाता है, इसी तरह हमारेलिए भी आपका भजन करनेमें उपयोगी संस्कार करना उचित है. 'इमाः क्षपाः' ये रात्रियां मेरेमें ही रही हुई रात्रियां.

शंका: यह वस्त्रहरण लीला हेमन्त ऋतुमें और दिनमें हुई थी, तब 'इमाः क्षपाः' ये रात्रियां ऐसा क्यों कहा गया और यदि रात्रिके विषयमें कहा हैं, तब रात्रियोंकी समानताको लेकर कहा गया है तो शरद् ऋतुकी रात्रियां ऐसा अर्थ हो सकता है. किन्तु यहां तो शरद् ऋतु नहीं किन्तु हेमन्त है और रात्रि नहीं किन्तु दिन है. इस कारणसे ये रात्रियां कहना उचित नहीं है, क्योंकि रमण तो 'शरदोत्फुल्ल-मल्लिकाः' इस पदके अनुसार शरद् ऋतुमें हुआ है?

समाधान-ये रात्रियां अलौकिक हैं, भगवद्रमणकी आधारभूत हैं, नित्य रमण सहित हैं तथा जगतकी इन लौकिक रात्रियोंसे भिन्न हैं. अलौकिक शरद् ऋतु सम्बन्धी हैं और भगवानमें नित्य स्थित है. इससे भगवानने हेमन्त ऋतु और दिनमें भी, उन रात्रियोंका दर्शन गोपीजनोंको कराया यह सब 'इमाः' शब्दसे सिद्ध होता है क्योंकि 'इदम्'[१] शब्दका प्रयोग समीप रहनेवालोंकेलिए किया जाता है।।२७।।

१. ''इदम् अस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्, अदसस्तु विप्रकृष्टे तद् इति परोक्षे जानीयात्''.

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टा भगवता लब्धकामाः कुमारिकाः।
ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजं कृच्छ्रात् निर्विविशुर्व्रजम्।।२८।।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार भगवानके कहनेसे अपने मनोरथको सिद्ध हुआ माननेवाली वे कुमारिकाएं भगवानके चरणोंका ध्यान करती हुई बडे कष्टसे व्रजको लौटकर गई।।२८।।

आज्ञाके उल्लंघनसे डरी हुई वे भगवानकी आज्ञा पाकर व्रजमें गई यह

'इत्यादिष्टा' श्लोकसे कहते हैं. यद्यपि उनका काम रमणका था, वह रमण तो अभी हुआ नहीं, तब ''लब्धकामाः'' क्यों कहा गया? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं, कि यद्यपि उनका काम अथवा मनोरथ तो बहुत बड़ा था जो भगवानकी इच्छासे बाधित(रुक) हो गया था; तोभी, पति होनारूप मनोरथ तो प्राप्त हो गया था, किन्तु साक्षात् विवाहके न होनेसे, वे अभी कुमारिका ही रहीं. उनको अन्य रस(रसान्तर) नहीं हुआ इसको बतानेकेलिए 'ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोज'से उनकी भक्तिका वर्णन करते हैं. वे अपने हृदयमें भगवानके चरणकमलका ध्यान करती थीं. 'कृच्छ्रात्' दुःख पाकर जानेमें असमर्थ हुई भी वे ज्यों-त्यों करके व्रजको गई. घर जानेकी आज्ञासे उन्हें इतना सन्ताप हुआ कि, जिससे, जीवन रहना भी उस समय असम्भव हो जाता. यदि उन्हें चरणकमलका ध्यान न होता. चरणकमलोंका ध्यान करने पर, कमलमें सन्ताप दूर करनेका गुण होनेके कारण, जीवन तो रहा, किन्तु वह केवल जीवनको ही रख सका, तापको दूर नहींकर सका यह ज्ञात होता है. इस प्रकार साढे अट्ठाईस श्लोकोंसे उनकी अर्धभक्तिका और तत्त्वोंके अतिक्रमका भी निरूपण किया है।।२८।।

टिप्पणी: 'तासामर्धभक्तिः' अंग-संग न होनेके कारण अर्धभक्ति कही है.

लेख: 'इत्यादिष्टाः'की व्याख्यामें शंका करते हैं, कि उनका काम तो रमणका था और वह अब तक तो हुआ नहीं था, तो फिर 'लब्धकामाः'(सिद्ध कामवाली) कैसे कहा गया? इसका उत्तर गये श्लोक 'याताबलाः'में 'सिद्धाः' पदसे कहा गया है, कि मनोरथ और भगवानका पतिभाव उन्हें प्राप्त हो चुका है.

योजना: 'साधिकैस्तत्वैः' साढे अठ्ठाईस तत्त्वरूप श्लोकोंसे ।।२८।।

अथ गोपैः परिवृतो भगवान् देवकीसुतः।
वृन्दावनाद् गतो दूरं चारयन् गाः सहाग्रजः ।।२९।।

इसके पीछे नया प्रकरण आरम्भ करते हुए कहते हैं कि गोपगण सहित देवकीनन्दन भगवान् बडे भाई बलदेवजीके साथ गाएं चराते हुए वृन्दावनसे दूर निकल गये ।।२९।।

अब भगवानने गोपोंको ज्ञान दिया इसका निरूपण करते हैं. ज्ञान अर्थात् अपना सारा संघात(शरीर, देह) परोपकारकेलिए ही होना चाहिये, ऐसा ज्ञान दिया. यदि उनको ऐसा ज्ञान दिया. यदि उनको ऐसा ज्ञान नहीं होता, तो उनकेलिए परिणाम अच्छा नहीं होता(अनर्थमय होता). यदि वे ऐसा जान लें कि शरीर

इन्द्रियादि सब संघात परोपकारकेलिए हैं तो, धीरे-धीरे यह भी जान जायेंगे, कि व्रजकी सारी वस्तुएं भगवानकेलिए ही हैं. इस कारणसे, उन्हें परोपकाररूप विद्या(विद्याका)के प्रथम पर्वका ज्ञान देनेकेलिए भगवान् दूसरे स्थान पर गये यह 'अथ गोपैः' इस श्लोकसे आरम्भ करके दश श्लोकोंसे कहते हैं.

'अथ' कहनेसे यहांसे नए प्रकरणका आरम्भ होता है. भक्तोंका उद्धार करनेकेलिए ही सारी लीलाप्रवृत्ति करनेवाले भगवान् वृन्दावनसे दूर पधारे. (वृन्दावनको छोड़कर आगे गये) वृन्दावनमें स्त्रियोंकी प्रधानताके कारण यहां गोपोंको ज्ञान न होगा ऐसा विचार करके, वृन्दावनको छोड़कर आगे चले गये. वहां साथमें गये हुवे गोपोंको ज्ञान देनेकेलिए पहले 'चार यनूगाः' पदोंसे धर्मका निरूपण करते हैं. 'अथ गोपैः' इत्यादि पदोंसे ऐसा जाना जाता है कि भगवानके साथ पहिले तो गाएं, गोप और बलभद्रजी कोई भी नहीं थे उसी समय आकर पीछे ही मिले थे।।२९।।

टिप्पणी: 'अथ गोपैः' इस श्लोकमें कहे गए गोप पहलेके साथी वयस्य नहीं थे. ये तो उनसे भिन्न ही थे, क्योंकि भगवानके 'व्यस्य' कोई गोपाल नहीं थे. इसीसे उनकेलिए 'वयस्य' न कहकर 'गोप' कहा गया है. यदि स्तोक आदिको यह ज्ञान नहीं होता, कि व्रजकी सारी वस्तुएं भगवानकेलिए ही है, तो कुमारिकाओंका वृत्तान्त सुनकर, भगवान् पर दोषारोप करते. यह दोषारोप ही अनर्थरूप है और यदि सब पदार्थ भगवानकेलिए ही है, ऐसा जाना जाए तो दोषारोपकी संभावता ही न हो.

''वृन्दावनस्य स्त्रीप्राधान्यात्''(वृन्दावनके स्त्रीजन प्रधान होनेसे) इत्यादि. यहां ज्ञान शब्दका(अन्यकेलिए) व्रजके पदार्थोंको दूसरोंकेलिए जानना ऐसा अर्थ है. भगवदीय व्रजकी स्त्रियोंको तो यह दृढ ज्ञान हैं, कि भगवानका प्राकट्य केवल हमारेलिए ही है और इसका कारण, रसभावनाकी प्रचुरता ही था. इसीसे वे आगे कहेंगे कि ''व्रजजनकी आर्ति दूर करनेकेलिए ही आप प्रकट हुए हो, यह स्पष्ट है'' (''व्यक्तं भवान् व्रजजनार्तिहरो अभिजातः'' -गोपीगीत). ऐसी स्थितिमें व्रजकी स्त्रियोंको वृन्दावनमें यही ज्ञान दृढ है कि भगवानकेलिए ही अपना सर्वस्व है. इसके विपरीत अपना सर्वस्व किसी ओर(दूसरे)केलिए हैं ज्ञान उनमें सम्भव नहीं है. भगवानसे अतिरिक्त वस्तुओंमें तो, उनकी उपेक्षा ही है. इसलिए वृन्दावनमें, सभी भगवानकेलिए

होनेके कारण दूसरा और दूसरेकेलिए ऐसे ज्ञानकी वहां सम्भावना नहीं है.

लेख: प्रथम पर्वरूपाम् प्रथम पर्व है. टिप्पणीमें इस अध्यायके प्रारम्भमें ही 'विद्या पंचकम्' ऐसा कहा गया है. उसके अर्थमें कहा हुआ प्रथम पर्वरूप.

योजना: 'प्रथम पर्वरूपाम्' जो प्रथम पर्व है. वैराग्य, सांख्य, योग, तप, और केशवमें भक्ति ये पांच विद्याके पर्व हैं जिस विद्यासे, विद्वान् हरिमें प्रवेश करता है, इस वाक्यमें 'वैराग्य'का नाम प्रथम कहा है. इससे प्रथम पर्वरूपाका अर्थ वैराग्यरूप विद्या समझना चाहिए. वैराग्यके होने पर ही, परोपकारकेलिए ही अपना सर्वस्व है ऐसा ज्ञान होता है ।।२९।।

निदाघार्कातपे तिग्मे छायाभिः स्वाभिरात्मनः ।
आतपत्रायितान् वीक्ष्य द्रुमान् आह व्रजौकसः ।।३०।।

उष्णकालके सूर्यकी घोर घाममें अपनी छायाके द्वारा अपने ऊपर छत्ररूप हुए वृक्षोंको देखकर, भगवानने व्रजवासियोंसे कहा ।।३०।।

फिर कुछ दूर जाकर, उन सबके थककर किसी छायाके स्थानमें बैठ जाने पर, भगवानने उपदेशकेलिए, उनसे कुछ कहा. यह 'निदाघार्कातपे' इस श्लोकसे कहते हैं. उष्णकालमें सूर्यकी तीक्ष्ण घाममें भी(भगवानके ऊपर श्वेत छत्रकेरूप) अपनी छायाके द्वारा भगवान् पर स्वेत छत्रके रूपमें छाये हुवे पूर्व वर्णित वृक्षोंको देखकर, भगवानने गोपोंसे कहा व्रजमें उत्पन्न होनेवालोंकी अपेक्षा वनमें उत्पन्न होनेवाले वृक्ष ही अधिक अच्छे हैं. वृक्षोंके दृष्टान्तसे, पञ्चपर्वा विद्याका ज्ञान, भगवान् गोपोंको करावेंगे. वृक्षोंमें, विद्याके चार भेद हैं और गोपोंमें एक भेद है. जिस प्रकारसे, गोपोंमें भी विद्याके एक भेदके चार भेद हों, उसी प्रकार, भगवान् उपदेश देते हैं. यद्यपि अभी न तो उष्णकाल ही है और न ये वृक्ष ही छत्ररूप हो रहे हैं, किन्तु उनकी पहली अवस्थाका स्मरण करके इस समय वृक्षोंको देखकर बोले।।३०।।

टिप्पणी: 'निदाघार्कातपे'की व्याख्यामें 'व्रजजातपेक्षया'(व्रजमें उत्पन्न होनेवालोंकी अपेक्षा) इत्यादि व्रजमें उत्पन्न होनेवाले तो भगवानके पास जानेसे ही रोकते हैं और ये वनजात वृक्ष तो भगवानके रमणके अनुकूल हैं. इस कारणसे व्रजवासियोंकी अपेक्षा, ये वृक्ष अधिक उत्तम है. अथवा यहां वृक्षोंकेलिए ही कहा गया है. व्रजके वृक्षोंका लीला विशेषमें, उपयोग नही है और वनजात वृक्षोंका तो है. इसीलिए उनसे ये उत्तम हैं ।।३०।।

हे कृष्ण! स्तोक! हे अंसो! श्रीदामन्! सुबलार्जुन!।
विशालर्षभ! तेजस्विन्! देवप्रस्थ! वरुथप!।।३१।।

हे कृष्ण, स्तोक, हे अंशु, श्रीदामा, सुबल, अर्जुन, हे विशाल, ऋषभ, तेजस्वी, देवप्रस्थ और वरूथप मित्रों।।३१।।

यहां ग्यारह मुख्य अधिकारी गोप ग्यारह इन्द्रियोंके अधिष्ठाता हैं. यदि वे परोपकार परायण हो जाते हैं, तो सब ही सिद्ध हो जाता है. इसलिए 'हे कृष्ण' इस श्लोकसे उन्हें सम्बोधन करते हुवे कहते हैं.

हे कृष्ण! भगवानका नामकरण हुआ, तब किसी और गोपियोंने भी अपने पुत्रोंका नाम यही रखा था. स्तोक दूसरा, तीसरा अंसु, श्रीदामा, सुबल, अर्जुन, विशाल, ऋषभ, तेजस्वी, देवप्रस्थ और वरूथप. वरूथप मनका अधिष्ठाता है. जो जिसके पास हो, वही उसका अधिष्ठाता है. कृष्ण वाणीका, स्तोक रसका अधिष्ठाता है. वाणी और रस दोनों एकस्थान पर रहते हैं इससे दोनों कृष्ण,स्तोकका साथ ही सम्बोधन है, और फिर ओरोंका भिन्न-भिन्न सम्बोधन किया है. अंसु घ्राण(नाक)का अधिष्ठाता है. श्रीदामा नेत्रका, सुबल भुजाओंका, अर्जुन कानोंका, विशाल त्वचाका, ऋषभ पैरोंका, और बाकी रहा तेजस्वी पचानेका कार्य करनेवाला होनेसे, पायु(गुदा)का अधिष्ठाता, देवप्रस्थ उपस्थ(गुप्त स्थान)का अधिष्ठाता है, इन सबका भगवानके साथ ठीक व्यवहार होना एक बड़े भारी पर्वका सिद्ध होना है. इस बातका उनको सम्बोधन करके निरूपण किया है।।३१।।

लेख: 'हे कृष्ण'की व्याख्यामें ''इन्द्रियाधिष्ठातृरूपाः'' जिनके रूपोंमें इन्द्रियोंके अधिष्ठाता हैं वे. 'पाकज्ञापकत्वात्' अश्रु आदि पायु इन्द्रियोंका कार्य है. उनके द्वारा अन्तःस्वेद(पसीना) और पाक होता है तेजसे ही चांवल आदिका पाक होता है यही भाव है.

योजना: 'हे कृष्णस्तोक'की व्याख्यामें, 'कृष्ण' नामवाले गोपसे प्रारम्भ करके 'वरूथप' नामके गोप तक एकादश हैं. जिन भक्तोंका निरोध कराना है उनकी एकादश इन्द्रियोंके अधिष्ठाता ये गोप हैं. ''सारे वैकुण्ठको पृथ्वी पर उतार लाए''. कृष्णोप-निषत्के कथानुसार कृष्णावतारका सारा परिकर वैकुण्ठवासी है. अतः ये सखा भी वैकुण्ठवासी हैं और व्रजमें जिन भक्तोंका निरोध कराना है उनकी एकादश इन्द्रियोंके अधिष्ठाता(रूपसे) भगवानके साथ ही यहां

अवतरित हुये हैं ऐसा समझना चाहिये. व्रजवासी सब अलौकिक हैं इसलिए उनकी इन्द्रियोंके अधिष्ठाताओंका भी प्रपञ्चसे अतीत वैकुण्ठका परिकररूप होना उचित ही है ।।३१।।

पश्यतैतान् महाभागान् परार्थैकान्तजीवनान्।
वातवर्षातपहिमान् सहन्तो वारयन्ति नः ।।३२।।

इन महाभाग्यशाली वृक्षोंको देखो, इनका जीवन केवल परोपकारकेलिए ही है. ये स्वयं आंधी, वर्षा, धूप और पाला सहकर उनसे हमको बचाते हैं।।३२।।

विद्याके दूसरे पर्वको 'पश्यतैतान्' इस श्लोकसे कहते हैं. धर्म उन बाकी चारमेंसे प्रथमपर्व है. सबका परित्याग करके परोपकार परायण होना दूसरापर्व है. सब स्थानोंमें भगवद्बुद्धि रखना तृतीयपर्व है, जो सबकी सेवासे जाना जाता है. अकाम-निष्काम होना चौथापर्व है. इन चारोंकी प्राप्ति होने पर, भगवदीय कृतार्थ होते हैं. पहिले, जिस प्रकारके धर्मकी आवश्यकता है, उस धर्मका वर्णन 'पश्यत' श्लोकसे करते हैं. धर्ममें सन्देह हो तो धर्मात्मा पुरुषोंको देखो. धर्म भाग्यशाली पुरुषोंको ही फल देता है. बिना भाग्यके धर्मका आचरण करनेमें विघ्न होता है. भाग्य भी महापुरुषोंका देखना चाहिये. भाग्यका ज्ञान यशसे होता है. यश वह है, जिसका सब गुण गान करें. उस यशको 'महाभागान्' पदसे कहा है 'परार्थ' इत्यादि पदसे धर्मका स्वरूप कहते हैं जीवन और जीवनका उपकरण सब सामग्री. इनमें भी यदि जीवन परोपकारकेलिए हो जाये, तो अन्तमें धर्म सिद्ध हो गया यह निरूपण किया. वही मुख्य धर्म है क्योंकि अन्तमें जैसी मति होती है, वैसी ही गति होती है इस सामान्य पक्षका निवारण करते हैं, अर्थात् सामान्य रीतिसे, सब धर्म ऐसा नहीं है, किन्तु जो अन्तमें सिद्ध हो, वही धर्म है.

परोपकार ही जिनका वास्तविक जीवन है यह 'एकान्तजीवनान्' पदका तात्पर्य है. जिनका जीवन कुछ अपनेलिए और कुछ परोपकारकेलिए होता है, वे मध्यम हैं. और जिनका जीवन केवल अपनेलिए ही हो, वे तो अधम हैं. इस प्रकार स्वरूपसे अन्तमें धर्मका निरूपण करके बाह्य धर्म वर्णन करते हैं 'वातवर्षेत्यादि'के द्वारा जीवनसे शरीर बढ़ता है. वह वृद्धि भी परायेकी इच्छासे ही होती है. यदि पराया पुरुष उन वृक्षोंके बढने देनेकी इच्छा न करे और उतनी सी ही लकडीसे अपना कार्य करना चाह लेता है तो वृक्षको काटकर उसकी वृद्धिको

रोक देता है इससे सिद्ध है कि वृद्धिका आधार दूसरोंकी इच्छा ही है. इस प्रकार जीवन हो तो, परार्थता सिद्ध होती है. इसी तरह धर्म भी परार्थ हो तब ही सिद्ध हो. यदि केवल स्वार्थ ही हो तो अधम है और जो स्वार्थ और परार्थ दोनोंकेलिए होता है वह काम्य होनेके कारण मध्यम है. इसमें उपवासोंका दृष्टान्त देते हैं. अपने पासके अन्नको दूसरोंकेलिए देकर स्वयं रन्तिदेवकी तरह उपवाससे रह जाना ऐसा उपवास मोक्ष देनेवाला है और उत्तम है. अपने पास भी अन्न न हो और देनेमें दाताओंकी पीड़ा होनेका विचार करके ओरोंसे भी अन्न न मांगकर किया हुआ उपवास मध्यम है और दोनोंके अभावमें अपने पास भी अन्न न हो और ओरोंसे भी अन्न न मिलनेके कारण किया हुआ उपवास क्लेशात्मक होनेसे, अधम है. वह अधम उपवास भी यदि अपना अथवा दूसरोंका हित करनेके संकल्प बिना 'निहैतुक' हो तो उत्तम है. अपने या परायेके हितके संकल्पसे किया हो तो मध्यम और परायेका अपकार(बुरा, अनिष्ट) करनेकेलिए किया हुआ उपवास तो, अधममें अधम है.

इनमें उत्तम धर्मका निरूपण 'वातवर्षातपयेत्यादि' पदसे करते हैं. वात, वर्षा, आतप और हिम इनमें तीन वर्षा, धूप और शीत तो वर्षाकाल, उष्णकाल और शीतकाल कालके गुण हैं और पहला वायु इन तीनोंका सहकारी(सहायक) है, क्योंकि वायुके साथ रहने पर, ये तीनों असह्य तथा घोर पीड़ाजनक हो जाते हैं. ये(वृक्ष) स्वयं इन सबको सह करके भी दूसरोंकेलिए वर्षा, आतप हिमको दूर करते हैं, 'नः' हमारा स्वयंके वर्षादिको दूर करते हैं, न केवल ओरोंके ही, किन्तु हमारे भी, वर्षादि जनित क्लेशको दूर करते हैं. इस कथनसे प्रमाण भी सूचित किया और प्रत्युपकारका अभाव भी निरूपित किया. बाह्य तप यह ही है अनशन आदि तो प्रायश्चित होनेसे, धर्ममें उनकी गणना नहीं है. अन्य सब भेद, हीन हैं ।।३२।।

टिप्पणी : 'पश्यतैतान्'की व्याख्यामें ''तदा अन्ते धर्मः'' इत्यादि. 'परार्थजीवनान्' दूसरोंकेलिए जिनका जीवन है इतना कहनेसे ही, यहां अभिष्ट अर्थकी प्रतीति हो जाती है फिर भी एकान्त इन दोनों पदोंके कहनेका तात्पर्य कहते हैं जीवन परोपकार करनेका साधन है इस कारणसे, उसके पहिलेके जीवनको भी, परोपकारका साधन ही कहना चाहिये इससे यह सिद्ध हुआ कि पीछेसे सिद्ध हुआ परोपकार परार्थ पूर्वकालके जीवनके अन्तमें होता है. यह परार्थ किसी

प्रसंगको लेकर होनेवाला परार्थ नहीं है, किन्तु समझकर परार्थके उद्देश्यसे ही किया हुआ होनेके कारण वह मुख्य परार्थ है. इसीलिए 'एक' पदका प्रयोग किया है. ''अन्ते या मतिः सा गतिः'' इत्यादिसे, व्याख्यामें यही बात कही है. इसी प्रकार परार्थ ही है एक मुख्य जिसके अन्तमें होता है, यह मूलका अर्थ सिद्ध होता है. इसी पक्षमें दूसरी रीतिसे भी हो सकनेवाली योजनाको एकान्ततः इत्यादिसे कहते हैं. 'यथोपवासाः' इत्यादि. उसीका विवरण 'विद्यमानं' इत्यादिसे किया है. वह यों है, कि अपने पास जो अन्न था, उसे दूसरोंको देकर उस अन्नाभावसे जो उपवास रन्तिदेवके हुए थे वे मोक्षके कारण हुए. इससे उसकी तरह हुए उपवास उत्तम हैं. 'स्वतः इति', अपने पास अन्न न होनेसे (अपने पासके अन्नको दूसरोंकेलिए दानमें दे देनेसे नहीं) और दूसरोंसे अन्न मिलना सम्भव होने पर भी और स्वयंको अन्नकी अपेक्षा होने पर भी, दूसरोंको पीडा न हो इसलिए ओरोंके द्वारा दिए जानेवाले अन्नको न लेकर जो उपवास हो, वह मध्यम उपवास है. 'तदुभयाभावे' अपने पास भी अन्न न हो और दूसरोंसे भी न मिले तथा अन्नकी कामना रहते हुए जो उपवास हो, वह अधम उपवास है. 'निर्हेतुश्च' ऐसा अधम भी यह उपवास यदि इस उपवासको मैं दूसरेके तथा अपने(स्वयं) कल्याणकी कामनासे करता हूं ऐसे संकल्पके बिना किया जाय तो अधमोंमें उत्तम है, यदि कल्याणका संकल्प रखकर करें, तो अधमोंमें मध्यम हैं और यदि दूसरोंका अपकारके संकल्पसे यह अधम किया जाये, तो उसे अधममें भी अधम उपवास समझना चाहिये. 'आद्यश्चतुर्णाम्' चारोंमें पहले(वात)को तीनोंका सहकारी समझो अथवा मन्द वायु भी अपने सजातीय अनेक पवनोंके सहकारसे बहुत भारी कार्यकर देती है. इस आशयसे आद्यश्चतुर्णा इत्यादि कहा गया है. ऐसा समझना चाहिये.

लेख: 'पश्यतैतान्'की व्याख्यामें प्रथमपर्व(चारमें पहिला) वृक्षोंमें विद्याके चार पर्वोंमेंसे प्रथमपर्व हैं. 'वात वर्षा' इसके पूर्वार्धमें आन्तर धर्मका निरूपण किया है इससे आन्तर जीवनका भी निरूपण हो गया. यहां बाह्य धर्मका निरूपण करना उचित है उसे 'जीवनेन' इत्यादिसे कहते हैं. वृद्धि बाह्य जीवन. 'न मन्यते'के पीछे व्याख्यामें 'तदा' पदका अध्याहार है. वे वृक्ष वातवर्षादिको सहते हैं इसलिए मनुष्य उन वातवर्षादिके निवारणकी इच्छा न करें और उतनी सी बुद्धिसे ही अपने कार्यकी सिद्धि मान ले, तब ऐसा होता है. ऐसा अर्थ होनेसे

'तदा तथैव भवति' इतना अध्याहार समझना चाहिये. 'यदि'के अनन्तर 'भवेत्' 'तदा' इन दो पदोंका अध्याहार है. जब-तक परपुरुष अन्नदान आदिकी इच्छा रखता है, तब-तक ही यदि हो तो, परार्थकेलिए ही हो. 'केवलश्चेन्' स्वार्थकेलिए हो तो, अधम है. निर्हेतुश्च इत्यादिसे (जीवनकी तरह) अधममें तीन प्रकार बतलाए हैं.

योजना: 'पश्यतैतान्'की व्याख्यामें 'सावृद्धिः' उन वृक्षोंकी वृद्धि दूसरोंकी इच्छासे ही अर्थात् दूसरों पर उपकार करनेकी इच्छासे ही होती है. इसको व्याख्यामें यदि इत्यादिसे स्पष्ट किया है. 'परः काष्ठ'की आकांक्षावाला. (वृद्धिं न मन्यते) वृद्धिको नहीं चाहता तो छोटे वृक्षको काट देता है तब वृद्धि नहीं होती है. इससे वृक्षकी वृद्धि दूसरोंकी इच्छासे ही होती है ऐसा अर्थ है. 'उभयार्थश्चैत्' स्वार्थ और परार्थ दोनों हो तो. 'आद्यश्चतुर्णा' इति वायु, वर्षा, गरमी और हिम इन चारोंमें वात प्रथम है, यह वात, वर्षा, आतप और हिमका सहकारी समझा जाता है. इससे वर्षा भी यदि वातके साथ हो तो अधिक पीडा करती है इस प्रकार ग्रीष्ममें घाम और शीतकालमें हिमको वातका सहकारी समझ लेना चाहिये ।।३२।।

अहो एषां वरं जन्म सर्वप्राण्युपजीवनम् ।
सुजनस्येव येषां वै विमुखा यान्ति नार्थिनः ।।३३।।

अहो इनका जन्म धन्य है. जिससे अन्य प्राणियोंका काम निकलता है. जैसे सज्जन पुरुषके पास जाकर, याचक विमुख नहीं लौटते, वैसे ही इनके भी पास जाकर, कोई प्राणी विमुख या निराश होकर नहीं लौटता ।।३३।।

इस प्रकार धर्मका निरूपण करके परोपकार लक्षण अर्थरूप पर्वका वर्णन 'अहो एषां' श्लोकसे करते हैं. इनका ही जन्म धन्य है, कि जिन्हें देह धारण करनेके पीछे कोई भी स्वार्थकी अपेक्षा नहीं है. इसको 'सुजनस्येव' इस दृष्टान्तसे सिद्ध करते हैं. अहो! आश्चर्य है, कि ऐसा भी जन्म होता है, जिसमें अपना कार्य कुछ नहीं होता है. भगवानके अवतारमें भी, लीला होती है. यद्यपि वह ओरोंकेलिए परार्थ होती है, तोभी लोक प्रसिद्धिसे वह स्वार्थ(भगवान)केलिए भी होती है. इसलिए भगवानको भी आश्चर्य होता है. केवल कर्म फल भोगनेमें मेंढकोंकी तरह स्थितिमें कोई परोपकार नहीं होता. इसलिए इनका ही जन्म उत्तम है, क्योंकि इनसे सब प्राणियोंका उपजीवन है. ये सारे प्राणियोंको जिवाते हैं. ये

सफल जीवनवाले हैं. वह सफल जीवन जिस कारणसे होता है, वह कारण सज्जनोंमें प्रसिद्ध है, सज्जनोंके घर पर आया हुआ याचक, घरमें द्रव्य रहते हुवे जैसे विमुख नहीं जाता. ऐसे सुजनका होना दुर्लभ है इसलिए मूलमें सुजनस्य एकवचन दिया है. 'येषां' इस सर्वनामसे सारे वृक्ष इसी प्रकारके होते हैं यह कहकर उनका अतिशय सूचित किया है. 'वै' निश्चय ही ग्रहण करने योग्य हैं. उनके पास याचक भावसे जाया जाये याचना की जाये तो याचक विमुख नहीं होते. आगे भी देह त्याग करनेके पीछे वीनां पक्षियोंके मुखमें नहीं पड़ते हैं, किन्तु वृक्षोंके काष्ठ हो तो उनकी देहको भस्म करनेमें सहायक होते हैं. और 'वि' शब्दका 'काल' अर्थ करें तो वे याचक वृक्षभिक्षुक परमहंस हों तो कालके मुखमें पड़ते ही नहीं ।।३३।।

टिप्पणी: 'अहो एषां'की व्याख्यामें 'अग्रेपि' आगे भी देहत्याग करनेके पीछे. वीनां पक्षीयों गीध आदिके (मुख) खानेकेलिए होते हैं, जिनमें विमुख वे अर्थी नहीं होते हैं किन्तु काष्ठ होनेके कारण, देह जलकर भस्म हो जाती हैं. 'वि' शब्दका अर्थ 'काल' करें तो कालके मुखमें नहीं पडते. केवल वृक्षोंसे ही भिक्षा मांगनेवाले परमहंस कहे जाते हैं.

लेख: 'अहो एषां'की व्याख्यामें 'तदुयेनेति' वह सफल जीवन जिसके द्वारा. जिससे सबका उपजीवन होता हैं. 'सर्वनाम्ना' सर्वनामसे. महासंज्ञाकरणके योग्य आशयको स्वीकार करनेसे. 'गृहीतु'के पीछे 'स्वसाधर्म्येण' पदका अध्याहार अपने समान धर्मपनसे समझना चाहिये ।।३३।।

पत्रपुष्पफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः ।
गन्धनिर्यासभस्मास्थितोक्मैः कामान् वितन्वते ।।३४।।

ये वृक्ष पत्ते, फूल, फल, छाया, जड, छाल, लकडी, गन्ध, गोन्द, कोयला, भस्म और शाखाओंसे लोगोंके काममें आते हैं, मनोरथ पूरा करते हैं ।।३४।।

इस प्रकार अर्थकी उत्तमताका निरूपण करके कामकी उत्तमताको निरूपण करते हुवे उनका कामसे उत्पन्न हुआ भी सब परोपकारकेलिए ही है यह 'पत्रपुष्पेत्यादि' श्लोकसे कहते हैं. पत्र वृक्षमें लगे हुवे पदार्थ शरीरमें केश, दांत आदिकी तरह. उनमें पत्तोंका उपयोग सबकेलिए होता है. मनुष्यके केशोंका उपयोग तो किसी भी भांति नहीं हो सकता. पुष्प रजोरूप हैं. वे पुष्प सब

पुरुषार्थको सिद्ध करनेवाले हैं. स्त्रियोंका रज तो उन स्त्रियोंका अपकार करनेवाला है. फल पुत्रोंके समान हैं. परन्तु मनुष्य तो पुत्रोंकेलिए दूसरोंको मरवा देते हैं, पुत्रोंको दूसरोंकेलिए नहीं देते हैं. छाया घरके समान है. घरमें तो सबको प्रवेश नहीं मिलता और यदि प्रवेश मिल भी जाये तो वह तापयुक्त होता है, शीत आदिका भय और वर्षा आदिका भय दुःखवाला है. (वृक्ष तो छायासे ताप, शीत और वर्षा तीनोंका निवारण करते हैं) मूल ही (जड़) वृक्षोंका धर्म है. प्राणियोंके धर्ममें पशुओंकी हिंसा होती है. यहां तो वृक्ष अपने मूलको औषधकेलिए ओरोंको देते हैं यह धर्म है, वल्कल घट-पट आदिकी तरह सामग्री. 'दारूणिः' सूखी लकड़ियां वृक्ष दूसरोंको देते हैं और मनुष्य तो उपभोग करनेके पीछे बचे हुवे इंधनसे भी ओरोंका उपकार नहीं करता. स्त्री शरीर आदिमें वैसी(ही) प्रसिद्धि है. गन्ध-चन्दन आदिमें गन्ध, कीर्तिरूप है. मनुष्य तो कीर्तिसे प्रसिद्ध नामवाले भी, नामसे भी उपकार नहीं करते हैं. निर्यास भीतरका सार वाक्यरूप है. भस्म वृक्षोंकी भस्म उपयोगमें आती है. मनुष्यकी भस्म तो उपयोगमें आती ही नहीं हैं, किन्तु मनुष्य तो मर जानेके पीछे भी प्रेत होता है, इसलिए उसके श्राद्धादि करना आवश्यक होनेसे अपकार ही करता है. वृक्षकी भस्म तो धोना, मांजना आदिके काममें आती है. अस्थि वृक्षके अंगारे सब जगह तेजके कामोंमें उपकार करते हैं. मनुष्यकी अस्थि तो किसीके उपयोगमें नहीं आती किन्तु ओर दोषका (नारंस्पृष्ट्वा) निमित्त होती है. तोक्माः सूक्ष्म वृक्ष शाखारूप दास-दासियोंके समान उपयोगमें आते हैं. इस प्रकार वृक्ष अपनी सब वस्तुओंसे सबके मनोरथ पूरे करते हैं ।।३४।।

लेख: 'पत्रेत्यादि' श्लोककी व्याख्यामें 'शीतवदिति' छाया ताप शीत और वृष्टिका निवारण करती है. और घरमें तो ये तीन उत्पन्न होते हैं. शीतके स्थान पर भय और वृष्टि(वर्षा)के स्थान पर दुःखोंको समझना चाहिये ।।३४।।

एतावद् जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु ।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय एवाचरेत् सदा ।।३५।।

देहधारियोंमें उन ही देहधारियोंकी यही जन्मकी सफलता है कि प्राण, धन, बुद्धि और वाणीसे सदा दूसरोंका कल्याण करते रहें ।।३५।।

और केवल परार्थ और स्वार्थ दोनोंकेलिए ही उपयोग नहीं करते हैं, किन्तु परोपकारकेलिए ही वृक्ष अपने पत्रादिक उपयोग करते हैं. इससे ये मोक्ष

स्वरूप हैं, विरक्त हैं, ज्ञानी हैं, और पूर्ण स्वार्थको पा चुके हैं यह बतलानेकेलिए 'एतावद्' इत्यादि श्लोकको कहते हैं. 'एतावत्' धर्मयुक्त जीवन ही सफल जीवन है. इसलिए यही एक कहे जानेवाली जन्मकी सफलता है. 'देहिनां' देह ग्रहण करनेवालोंका. 'देहिषु' उन देहधारियोंमें भी अपना और पुत्रादिका देह ग्रहण केवल भगवानकी इच्छासे ही हुआ माननेवालों अपनी कुछ क्रिया अथवा प्रारब्ध आदिके द्वारा हुआ न माननेवालोंका तो यही जन्म साफल्य है. फिर भगवदिच्छासे देहधारण करनेके पीछे संस्कारोंके द्वारा ज्ञान सिद्ध होने पर यदि स्वयं सब जगतकी तरह स्वार्थ परायण हो जाता है तो उससे कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता. भगवानने तो सबकेलिए सबको उत्पन्न किया है. इससे अपने आपको और अपने सर्वस्वको सबके उपयोगमें लगावे तो भगवानके समान हो जाता है. अर्थात् जैसे भगवानका अवतार परोपकारकेलिए होता है, वैसे ही देही भी स्वयंको और अपने सब कुछको परोपकारमें लगाकर जन्मको सफल करता है. यदि ऐसा नहीं करता तो प्रवाहके समान ही होता है. परोपकारकेलिए ही अपना सर्वस्व समझनेमें स्वार्थताकी सम्भावना हो ही नहीं सकती इसको 'प्राणैरर्भैः' कहते हैं. यद्यपि इन प्राण आदि चारोंका सभी पुरुषार्थोंमें उपयोग है, तो भी धर्म आदिमें एक-एकका इनका स्वतन्त्रतासे योग है. इससे प्राणोंसे सिद्ध होनेवाले धर्मको परोपकारकेलिए करे. अर्थका व्यय परोपकारार्थ ही करे. बुद्धि कामरूप है, क्योंकि विषयोंमें उसका उपयोग होता है. इसलिए बुद्धिका उपयोग भी दूसरोंके कार्योंको सिद्ध करनेमें ही करे. उपदेशमयी वाणीसे मोक्ष प्राप्त होता हैं. इस प्रकार इन चारोंके द्वारा सबको सदा सारे पुरुषार्थ सिद्धकर लेने चाहिये. इति यह पद समाप्तिका सूचक है. यद्यपि ऐसा उपदेश करके इस प्रकार नहीं कहा, तो भी पहिलेकी तरह ही समझना चाहिये. 'भगवानके इन वचनोंको भी लीलामध्यपाती समझो' नहीं तो यह लीला नहीं रहेगी. भगवानकी क्रियाओंके वर्णनकी तरह भगवानके वाक्योंका वर्णन भी किया गया ।।३५।।

टिप्पणी: 'एतावन्' श्लोककी व्याख्यामें 'यदि सर्वतुल्यता' यदि सब जगतकी तरह स्वार्थ परायण इत्यादि. ज्ञान प्राप्त होनेके पीछे भी यदि स्वार्थ परायणता हो तो, किसी भी पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती. जैसे कुण्डलवाले पुरुषको कुण्डली कहते हैं. कुण्डलके अतिरिक्त अन्य कुछ कुण्डलीपन नहीं है. इसी तरह यहां भी 'एतावत्'का अर्थ समझना चाहिये.

लेख: 'देहिनाम्' सामान्यरीतिसे ''देहियोंमें और विशेष करके देह धारण करनेवालोंमें'' विशेषको 'देह ग्रहणं'से कहते हैं. अपना और पुत्र आदिका देह ग्रहण जिनका भगवानकी इच्छासे ही है. अपनी किसी क्रिया प्रारब्ध वश नहीं हुआ है. ऐसे उन विशेष देहधारियोंका देहधारण ही जन्मकी सफलता है. 'ततः' भगवानकी इच्छासे देह ग्रहण करनेसे, ज्ञान सिद्ध हो जाने पर भी, कहे जानेवाले धर्मसे ही, जन्मकी सफलता होती है – यह अर्थ है।।३५।।

इतिप्रवालस्तबकफलपुष्पदलोत्करैः।
तरूणां नम्रशाखानां मध्येन यमुनां गतः ।।३६।।

नवीन पल्लवोंके गुच्छों, फल पुष्प और पत्तोंके बोझसे जिनकी डालें झुक रही हैं, उन परोपकारी वृक्षोंके नीचे–नीचे चलकर भगवान् यमुना तट पर पहुंचे।।३६।।

तदनन्तर भगवानने जो किया, उसका वर्णन 'इति' इस श्लोकसे करते हैं. उनकी प्रसिद्ध परोपकार परायणताको प्रदर्शित करते हुवे उनके बीचमें होकर, यमुनातट पर चले गये ऐसा सम्बन्ध है. जिन वृक्षोंमें इन पांच अंगोंका समूह है १.प्रवाल(कोमलरूप) २.स्तबक(पुष्पों अथवा पत्तोंके गुच्छे) ३.फल, ४.पुष्प और ५.केवल पत्ते इन पांच प्रकारके अंगोंके समूहोंसे झुकी हुई शाखावाले वृक्षोंके. दूसरोंकेलिए अपनेको और अपने सर्वस्वको देकर भी जो अत्यन्त नम्र हैं, उन वृक्षोंके बीचमें होकर जाना उनके गुणोंके सम्बन्धकेलिए था. यमुनाजी भी फिर ऐसे ही परोपकार धर्मवाली हैं. इससे यमुना पर गये ।।३६।।

योजना: 'पंचांगानाम्' प्रवाल, स्तबक, फल, पुष्प, और दल इन पांच अंगोके ।।३६।।

तत्र गाः पाययित्वापः सुमृष्टाः शीतलाः शिवाः।
ततो नृप स्वयं गोपाः कामं स्वादु पपुर्जलम् ।।३७ १/२।।

हे राजन्! वहां जाकर गौओंको स्वच्छ, ठंडा कल्याणकारी जल पिलाया और स्वयंने भी मधुर जल पिया ।।३७।।

भगवानने वहां जाकर जो कार्य किया, उसका वर्णन 'तत्र गाः' श्लोकसे करते हैं. तत्र यमुना पर गौओंको जल पिलाकर, फिर गोपोंने तथा स्वयं भगवानने भी, यथेच्छ जल पिया. दिन निकलते ही घरसे निकले हुवे, भोजनके न मिलनेसे, भूखसे व्याकुल हुवे और भगवानकी इच्छासे भक्ष्य पदार्थोंको पाकर भी, घर जानेकी इच्छा नहीं रखनेवाले गोपोंने, जलका ही पान किया. 'आपः' यह 'अप्'

शब्द स्त्री प्रकृति नित्य स्त्रीलिंगवाला है. इससे अपनी जैसी प्रकृतिवाली गायोंको ही 'अप्'का पान कराया. सुमृष्टाः उज्ज्वल पंक आदि दोषोंसे रहित. शीतलाः–ठण्डे गुणवाला. शिवाः–परिणाममें आरोग्य करनेवाला. जल शब्द यद्यपि नपुंसकलिंग है. तथापि कामरूप स्वादिष्ट होनेके कारण अधिक पिया जा सकता है. यह कहा है ।।३७।।

योजनाः ''तत्र गाः पाययित्वायः''की व्याख्यामें 'स्त्री प्रकृतिकाः' (''स्त्रीणां प्रकृतिः याभिः'' स्त्रियोंकी प्रकृति जिनसे)में व्यधिकरण पद बहुव्रीहि समास है. 'स्त्री' शब्द व्रजसुन्दरी वाचक है और प्रकृति शब्दका 'स्वभाव' अर्थ हैं. भाव यह है, कि व्रजरत्नरूप गोपिकाओंके हृदयमें भगवद्विषयक परम स्नेहरूप भावको सिद्ध करनेवाला श्रीयमुनाजीका जल गायोंको पिलानेसे गायोंका भी भगवानमें विशेष भाव उत्पन्न हुआ. और श्रीयमुनाका नपुंसक प्रकृतिवाला जल गोपोंको पिलानेका तात्पर्य यह है कि उस जलके पीनेसे गोपोंको भगवानकी अन्तरंग लीलाके दर्शन आदिमें पुंभावरूप दोष नहीं हुआ. इस प्रकार 'आपः' स्त्रीलिंग जल नपुंसकलिंग शब्दसे यह तारतम्य सूचित किया गया है. यहां यदि ऐसा अभिप्राय नहीं होता तो गायों और गोपोंको पान करानेमें 'आपः' और 'जल' भिन्न–भिन्न पदोंका प्रयोग नहीं किया जाता ।।३७।।

श्रीहरिरायजीकृत 'तत्र गाः' श्लोक पर स्वतन्त्रलेखानुवाद

श्रीयमुनाजीमें वृक्षोंकी तरह परार्थता केवल परोपकाररूप धर्म है, यह निरूपण किया गया है. उसके सम्बन्ध मात्रसे गायोंको परार्थताका ज्ञान उत्पन्न होना अनुचित है, क्योंकि उन गायोंका भाव भगवानमें स्वामिनियोंका भाव सा है. यह भाव 'गावश्चकृष्णमुख' इस श्लोककी व्याख्यामें स्पष्ट कहा है. वहां यह कहा गया है कि प्रभुने स्वामिनीजीके भावके सी सामग्री प्रकट करके स्वबलसे उपर्युक्त भाव उत्पन्न किया. वह भाव प्रभुके योग्य है. इससे विपरीत भाववालेके सम्बन्धी रसका भगवान् भोग नहीं करते हैं. जन्मोत्सवके अध्यायकी 'गन्धरूपम्' इस कारिकामें स्वामिनियोंमें भगवद्भोगके योग्य पांच विषयोंका निरूपण किया है. इसीसे श्रीआचार्यचरणोंने 'रसो नवीनतस्य' रस नवनीतका आदि कहा है. परार्थ ज्ञान तो उनको हो सकता है, जिनका भाव स्वामिनीजीके भावसे विजातीय हो. प्रभुका प्राकट्य हमारेलिए ही है स्वामिनीयोंको यह दृढ ज्ञान था इससे, अपनी वस्तुओंमें भी भगवदीयपनका

ज्ञान दृढ था. इसीसे पान करनेके जलके एक होते हुए भी उसके वाचक 'आपः' और 'जलं'का तात्पर्य श्रीआचार्यचरण 'स्त्री प्रकृतिका' इत्यादि पदोंसे करते हैं.

श्रीयमुनाजीमें दो प्रकार हैं उनमें स्वामिनी सहित क्रीडाका सम्बन्ध होनेके कारण, स्वामिनी भावको उत्पन्न करनारूप हैं. इसीसे यमुनाजीकी स्तुतिमें आचार्यचरणोंने ''इयं तव कथा अधिका''(यह तेरी कथा अधिक है) ऐसा कहा है. और दोष मात्रको निवृत्त करनेकेलिए समानतासे स्वरूप द्वारा भगवद्भाव उत्पन्न करानारूप भी उनमें है. इसीसे ''स्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीम्''(भगवानकी शोभाको धारण करनेवालीको) ऐसा स्तुतिमें ही कहा है. और प्रभुचरण श्रीगुसांईजीने उसका ऐसा विवरण किया है. इस कारणसे जो जल स्त्री स्वभाववाला है और अपने प्रवेशसे स्त्रीस्वभाव सम्पादन करनेवाला है उस 'आपः' जलका पान स्वसजातीय भाववाली गायोंको कराया. जिससे गायोंका वह भाव(स्वीयत्व अभिमान भाव हमारी ये सब वस्तुएं भगवानके उपयोगकी हैं ऐसा) दृढ हो. और गोपोंको तो केवल जल पिलाया. वह कामरूप होनेसे, भगवद्भावको उत्पन्न करनेवाला और नपुंसक होनेके कारण, भगवानमें दोषारोपका मूलकारण पुंभावरूप दुष्ट स्वभावका जय करनेवाला है. ऐसे जलका पान कराया. इसलिए श्रीमहाप्रभुजीके विवरणमें कोई भी बाधा नहीं आती है. संक्षेपमें सार यह है कि सज्जन पुरुष अपने चित्तमें कोई शंका न करें.

तस्या उपवने कामं चारयन्तः पशून् नृप ।
कृष्णरामावुपागम्य क्षुधार्ता इदमब्रुवन् ।।३८।।

हे राजन्! यमुनाके उपवनमें गायोंको चराते-चराते गोपलोग भूखसे व्याकुल हुए, और कृष्ण और बलरामके पास आकर इस प्रकार कहने लगे।।३८।।

ऐसा होनेसे केवल ऊपरसे ही भूख निवृत्त हुई. इस कारणसे विशेष प्रार्थना करनेकेलिए भगवानने इस प्रकार विज्ञापना की, यह 'तस्या उपवने' इस श्लोकसे कहते हैं. वे गोप कालिन्दीके उपवनमें पशुओंको चराते-चराते कृष्ण और बलरामके पास आकर तालके फलके न्याय(ताल फलके विषयमें किया वैसे ही)से कुछ वचन बोले. गोप विवेक रहित. राजन् यह सम्बोधन स्नेहसे कथामें रस उत्पन्न करनेकेलिए सब स्थानमें प्रयुक्त हुआ. और 'राजन्' यह सम्बोधन महत्वका सूचक भी है. इससे सभी अर्थकी प्राप्तिकेलिए भगवानसे ही प्रार्थना

करना चाहिये. यही विद्याका फल इस प्रकार अन्तमें सूचित किया गया है ।।३८।।

लेख: 'तस्याउपवने'की व्याख्यामें गोपोंको अविवेकी कहनेका कारण यह है कि 'विवेकधैर्याश्रय' ग्रन्थमें कहा है कि दैहिक वस्तुओंकेलिए प्रभुसे प्रार्थना नहीं करना, परन्तु प्रभु अन्तःकरण गोचर हैं दैहिक विषयसे अन्य भिन्न विषयकी प्रार्थना करना ।।३८।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके दशमस्कन्धके अध्याय १९की (तथा प्रचलित क्रमानुसार अध्याय २२की) श्रीवल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी 'संस्कृत टीका'के (तामस साधनप्रकरणके ऐश्वर्य निरूपक प्रथम) अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ.

अध्याय २०

यज्ञपत्नियों पर कृपा

कर्मज्ञाने वैदिके तु विंशत्यध्याय उक्तवान् ।
उभयोर्निर्णयो यादृक् सोऽप्यत्र विनिरूप्यते ।।का.१।।

कारिकार्थ: इस बीसवें अध्यायमें वैदिक कर्म तथा वैदिक ज्ञानका वर्णन है और उन कर्म, ज्ञानका जैसा निर्णय है, उस निर्णयका भी निरूपण इसी अध्यायमें किया जाता है

टिप्पणी: उभयोनिर्णयो यादृक् इति(उभयोः) कर्म, ज्ञान दोनोंका भगवत्सम्बन्धके बिना किया हुआ कर्म सत्वकी शुद्धि नहीं कर सकता. जिस कर्मका भगवानके साथ सम्बन्धकर दिया गया हो, वही कर्म सत्वका शोधक होता है. यदि भगवत्सम्बन्धसे रहित कर्मसे भी सत्वकी शुद्धि हो सकती होती तो गोपोंके वाक्योंसे ही ब्राह्मणोंके हृदयमें भगवद्भाव हो जाता.

यद्यपि उन ब्राह्मणोंका वह कर्मानुष्ठान भगवत्सम्बन्धी नहीं था, तो भी वह वैदिककर्म था और उसका तात्पर्य भगवानमें ही होनेसे (उनके उस कर्मका) परिणाम भक्तिमें ही हुआ है. और वह भी उन ब्राह्मणोंके कर्तव्यसे नहीं, किन्तु उनकी भगवद्भक्त पत्नियोंके संग से ही हुआ है. भक्ति नहीं होती तो कर्म व्यर्थ हो जाता. द्वितीय(१०।२०।२) श्लोकमें 'भक्तायाः' इस पदसे एकपत्नीके प्रसंगसे अन्य पत्नियोंका अंगीकार हुआ है और उनके संगसे ही पुरुषों(उनके पतियों)की भक्ति हुई है.

''गृह्णन्ति नो न पतयः''(१०।२०।३०) हमको हमारे पति स्वीकार नहीं करेंगे. इस वाक्यको सुनकर भगवानने उसका समाधान करके उन्हें पीछे घर चले जानेकी आज्ञा दी और वे चली भी गई. इससे यह सिद्ध हुआ, कि किसी दूसरेको मुख्य मानकर, प्रभुका भजन करे, तो प्रभु उस भजनको स्वीकार नहीं करते हैं. इससे तो भगवदन्तराय ही होता है पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती. अन्य पत्नियोंका भी भगवानमें स्नेह तो था ही, किन्तु यह तो प्रसादका विषय था. जिसका कारण उसका भक्त होना कहा है और जो अन्य भावकी अपेक्षा इस एक विप्रपत्निके भावमें विलक्षणता बताता है. उसका वह भाव ही सर्वात्मभाव है. पुष्टिमार्गमें अंगीकार ही यहां प्रसाद है. इसीसे, उसकी सद्योमुक्ति नहीं हुई. यदि पूतना आदि

पर हुआ प्रसाद जैसा ही प्रसाद यहां कहा गया होता. तो इसको प्रसाद विशेष कहना विरुद्ध होता. शरीर मर्यादामार्गीय है. उसका नाश करके जो देने योग्य था, भगवानने वह दिया यह मर्म है. इस प्रकार यहां कर्म और ज्ञानका निर्णय कहा है.

लेख: कर्म ज्ञाने इति विप्र और विप्र पत्नियोंके मर्यादा तथा पुष्टिरूप भेदोंसे दो प्रकारके कर्म और ज्ञानका निरूपण इस बीसवें अध्यायमें किया है.

योजना: इत्युक्ता(१०।२०।३३) श्लोकमें कहा गया वैदिक कर्म और देशः कालः(१०।२०।१०) श्लोकमें कहा हुआ वैदिक ज्ञान इन दोनोंका इस अध्यायमें वर्णन होगा।।१।।

साक्षाद् भगवतोक्तं हि यथा पूर्वं न भासते।
परम्परोक्तम् अप्येवं स्त्रिया भावस्तथापरः ।।का.२।।

कारिकार्थ: साक्षात् भगवानका कथन भी, तात्पर्य ज्ञान सहित समझनेमें नहीं आता (नहीं तो विप्रपत्नियां घर लौट जाना स्वीकार नहीं करती) परम्परासे कहा हुआ अर्थात् गोपों द्वारा ब्राह्मणोंकेलिए कहलाया हुआ भी उन ब्राह्मणोंके जो उत्तमाधिकारी नहीं थे समझमें नहीं आया, इसी तरह यज्ञपत्नीके भगवानमें परम भावको, अन्य विप्रपत्नियां नहीं जान सकी. इसका कारण भी यही है।।२।।

टिप्पणी: शंका: नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति(१०।२०।२६) तथा प्राण, बुद्धि, मनः स्वात्मा(१०।२०।२७) इत्यादि वाक्योंके द्वारा भगवानने भगवानमें सहज प्रियत्व और अपनेसे भिन्न स्त्री पुत्रादि लौकिकमें, उपाधिसे कृत्रिम प्रियत्व बतलाकर, उस उपाधिकृत प्रियत्वको पुरुषार्थरूप नहीं कहा है. इस बातको सुनकर भी, यज्ञपत्नियां घर कैसे चली गई ? उत्तर:भगवानका कथन भी पहलेसे तात्पर्य ज्ञानपूर्वक समझमें नहीं आता और गोपोंके द्वारा ब्राह्मणोंसे जो कहलाया, वह परम्परोक्तम् परम्परासे कहा गया था, क्योंकि वे ब्राह्मण उत्तमाधिकारी नहीं थे, यह बात प्रायः श्रुतः(१०।२०।२३) श्लोकके विवरणमें स्पष्ट होगी.

शंका: उत्कट भावसे उस यज्ञपत्नीका देहत्याग करना अन्य यज्ञपत्नियोंने पहलेसे ही जान लिया होगा. फिर उन्होंने क्यों नहीं रोका? इसका उत्तर यह है, अन्य सब पत्नियोंकी अपेक्षा उत्तम, उस नायिकाका वह उत्कृष्ट सर्वात्मभाव उनकी समजमें पहिले नहीं आया था क्योंकि यह सर्वात्मभावरूप वस्तु ही इस प्रकारकी है.

अथवा फिर शंका करते हैं, कि जब परम्परासे अर्थात् गोपोंके द्वारा

कहलाने पर ब्राह्मणोंको भान नहीं हो सका तो स्त्रियोंको उस भावका ज्ञान क्यों कर हुआ? इसका उत्तर कारिकामें 'स्त्रिया भावः' इन पदोंसे दिया है अर्थात् जैसे भगवानके वचन दुर्बोध है, वैसे ही स्त्रियोंका भाव भी उत्कृष्ट था इसलिए प्रिय भगवान् सम्बन्धी वार्ताके श्रवण करनेसे, वह उत्कट भाव उत्पन्न हुआ जिसके द्वारा ही, वे भगवानके पास आई थीं, भगवानके वचनोंका तात्पर्य समझकर नहीं आई थीं. कारिकामें 'स्त्रियां' यह एकवचन जातिके अभिप्रायसे सारी स्त्रियोंका वाचक है.

अथवा 'प्रसीदन्'(१०।२०।२) इस वाक्यसे यज्ञपत्नियों पर भगवानकी प्रसन्नता अवश्य कहना चाहिए उन पर भगवानके उस प्रसादको शरीर त्याग, अथवा सद्योमुक्ति तो नहीं कह सकते; क्योंकि पूर्वोक्त दोनों प्रकारका प्रसाद तो पूतना आदि पर भी किया है. इनके अतिरिक्त अन्य प्रसाद स्पष्ट नहीं कहा गया; तो फिर वह प्रसाद क्या है? ऐसी शंकाके उत्तरमें 'स्त्रिया भावः' कहते हैं कि व्रजसीमन्तिनियोंके सर्वोत्कृष्ट भावके समान ही, इस यज्ञपत्नीका भाव परम उत्कट सर्वात्मभावरूप था, इसीसे उन व्रजसीमन्तिनियोंके साथ भगवानने जैसी लीला की थी वैसी ही इस यज्ञपत्नीके साथ भी की. इसका शरीर मर्यादामार्गीय था अतः उसका नाश कर दिया. यदि वह यज्ञपत्नी भी, भगवानके पास आ जाती, तो सर्वात्मभाव सिद्ध हो जानेके कारण यह अन्य पत्नीयोंकी तरह, फिर वापस लौटकर नहीं जाती. इसलिए उसके प्रतिबन्धरूप मर्यादा शरीरका नाश करके भगवान् उसको ले गये. यह उस यज्ञपत्नी पर भगवानका प्रसाद समझना चाहिये. नहीं तो 'ये यथा मां' जो जिस भावसे मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं वैसे ही मिलता हूं. इस प्रतिज्ञाका भंग हो जायेगा.

अन्य यज्ञपत्नियों पर ऐसी कृपा न करके, इस एक पर ही उत्कट कृपा करनेका कारण यह था, कि जैसा उत्कृष्ट भाव भगवान् पर इस एकका था वैसा भाव ओरोंका नहीं था. इसलिए उन दूसरियों पर वैसी कृपा नहीं हुई।।२।।

गोपा ऊचुः

राम राम महावीर्य कृष्ण दुष्टनिबर्हण।
एषा वै बाधते क्षुन्नस्तच्छान्तिं कर्तुमर्हथ।।१।।

श्लोकार्थः गोप लोग बोले कि हे महाबली बलभद्र! हे दुष्टोंके दमनकर्ता कृष्णचन्द्र! हमको इस समय बडी भूख लगी है. कृपा करके इस भूखकी शांतिका

कुछ उपाय कीजिये।।१।।

व्याख्यार्थ: पहले अध्यायमें किये गये पंचपर्वाविद्याके उपदेशसे सारा मोह तो मिट गया, किन्तु भूख प्यास आदि देहके धर्म नहीं गये. इनके मिटने पर ही हम गोपोंकी कृतार्थता है ऐसा निश्चय करके सब गोप जो उत्तम अधिकारी थे प्रार्थना करते हैं.

राम–राम यह आदरकेलिए दो बार कहा है. 'योगी' लोग अनन्त, सत्यानन्द, चिदात्मामें रमण करते हैं, अतः राम पदसे यह परब्रह्म कहा जाता है. इससे आत्मामें जैसी रति होती है वैसा स्नेह करनेकी प्रार्थना इस नामसे की गई है. 'महावीर्य' पदसे उनकी सामर्थ्यका बोध होता है. ये ज्ञानात्मक श्रुतिरूप और आवेशी हैं. कृष्ण दुष्टनिबर्हण पदोंसे भगवानसे प्रार्थना करते हैं, 'क्षुधा' मनुष्यकी सहज शत्रु है. इस श्रुतिके अनुसार सदानन्दका तिरोभाव करनेवाली भूख, सदानन्दसे ही दूर हो सकती है इस अभिप्रायसे 'कृष्ण' यह सम्बोधन कहा है. यद्यपि यह क्षुधा बाधक और मृत्युरूप है तथापि निवारण करने योग्य है इस अभिप्रायसे मूलमें दुष्टनिबर्हण सम्बोधन दिया है. सब दुष्टोंको आप निवारण करते हैं. क्षुधा स्त्रीके निवारण करनेमें हमारी शक्ति नहीं है. स्त्रीरूप विद्यासे स्त्रीरूप क्षुधा दूर नहीं की जा सकती. यह क्षुधा हम गोपोंको पीड़ा दे रही है.

क्षुधाकी निवृत्ति क्षुधाके अभावमें तो शीघ्र शरीरका पात हो जायेगा तो भगवानके साथ लीला नहीं होगी इस शंकाका समाधान 'तच्छान्ति कर्तृमर्हथः' इस वाक्यसे किया है. आप उस क्षुधाकी शान्ति ही करें, जिससे वह बाधा न करे. अर्थात् अज्ञानादि दोषोंकी निवृत्तिके जैसे ज्ञानादिक उपाय शास्त्रके बतलाये हैं, उसी प्रकार इस क्षुधाकी शान्तिका भी कोई ज्ञानरूप उपाय कहिये।।१।।

लेख: 'कृतार्था भवन्ति' अर्थात् 'सर्व परार्थ कुर्यात्' भगवानके इस उपदेशको सिद्ध करनेवाले हो. अयं हि इस पदसे प्रथम तीन चरणोंके तीन अर्थ कहे गये हैं – प्रथम 'राम' पदसे योगियोंके रमण करनेका स्थान कहकर, ज्ञानरूपता कही, द्वितीय 'राम' पदसे, संकर्षण कहकर, श्रुतिरूपता बतलाई और महावीर्य पदसे, आवेशिरूपताका वर्णन किया; महान् बलवान् होना आवेशका कार्य है दुष्ट होनेसे सतका तिरोभाव तथा दुःखरूप होनेके कारण क्षुधा, आनन्दका तिरोभाव करनेवाली है. अभावका नाश प्रतियोगीके द्वारा ही होता यह 'एव' पदका अर्थ है. क्षुधाकी दुष्टतामें यह श्रुति प्रमाण है. मूलमें एषा स्त्रीरूप

अक्षरार्थ है. इसकी व्याख्यामें ''स्त्री निवारणे, विद्यया स्त्रिया'' स्त्रीरूप विद्या स्त्रीरूप क्षुधाकी शांति नहीं कर सकती. सब भगवदीय हैं भगवानके इस ज्ञानोपदेशसे यह सिद्ध होता है कि भगवानसे अतिरिक्त परतन्त्र हैं, इसलिए ज्ञानमें भी, भगवदधीनतारूप स्त्रीत्व है. अतः विषयाकार होनेसे ज्ञान भी स्त्रीरूप है.

योजना: व्याख्यामें श्रुतिसे, 'राम' शब्दका निर्वाचन किया है. यद्यपि श्रीरामतापिनी उपनिषदकी यह श्रुति श्रीरामचन्द्र विषयक है तो भी, बलदेवजीमें भी, पुरुषोत्तमका आवेश होनेसे बलदेवजी परब्रह्म है, इसीलिए उन पर इस श्रुतिकी योजना उचित ही है. पांचवे स्कन्धके भागवतार्थ प्रकरण निबन्धमें राम कदाचित् पुरुषोत्तम है इत्यादि कथनसे रामचन्द्रजीको भी पुरुषोत्तमरूप निर्णीत किया है. और नवम स्कन्धमें भी रघुनाथजी, पुरुषोत्तम कहे जाते हैं ऐसा वर्णन है.

श्रीशुक उवाच

इति विज्ञापितो गोपैर्भगवान् देवकीसुतः।
भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीदन्निदमब्रवीत्।।२।।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि गोपोंके यों प्रार्थना करने पर, देवकीनन्दन भगवानने अपनी भक्त, ब्राह्मण पत्नी पर अनुग्रह करनेकेलिए इस प्रकार कहा।।२।।

गोपोंकी प्रार्थना सुनकर भगवानने विचार किया कि इनका वर्तमान संसार(अहन्ता-ममता) नष्ट करके फिर उसे(संसारको) उत्पन्न न होने देना, स्त्रियों पर और उनमें भी ब्राह्मण स्त्रियों पर जो कि पुरुषोंके अधिकारसे सर्वथा वंचित हैं उपकार अवश्य करना, धर्म(भक्ति)मार्गकी स्थापना करना और ज्ञानियोंका भिक्षा मांगना ही मुख्य है ऐसा सोचकर, उनको पहिले पुरुषोंके पास भिक्षा मांगने भेजा; क्योंकि पुरुष ही धनके स्वामी होते हैं.

अलौकिक उपायोंके द्वारा स्त्रियोंकी मुक्ति नहीं होती और न सबको सत्संग ही होता है. सत्संगके अभावमें तो, सम्प्रदायका उच्छेद हो जाता, इससे, भिक्षा मांगनारूप लौकिक उत्तर दिया. इन्हें इसलिए दीनता नहीं थी. भगवानकी कृपासे, लोकमें उन्हें किसीसे कोई भिक्षा मांगनेकी आवश्यकता भी नहीं थी. उन्हें केवल उपदेश देनेकी इच्छासे, (भिक्षा मांगना) यही उत्तर देते हुवे बोले. भगवान्

सर्व शक्तिमान् तथा देवकीसुत परम दयालु हैं. स्त्रियों पर अत्यन्त कृपा करनेवाले और भक्तिमार्गके प्रवर्तक हैं. इसलिए अपनी भक्त ब्राह्मण पत्नी पर अनुग्रह करना सोचकर, भिक्षारूप उत्तर देने लगे।।२।।

लेख: गोपोंने तो ज्ञान आदि उपायके द्वारा क्षुधा शान्ति करनेकी प्रार्थना की थी, उसके विपरीत और भगवानकी अपनी सामर्थ्यके विपरीत भिक्षा मांगनेका उपदेश देनेका कारण यह है कि भगवान् देवकी सुत हैं. इसलिए भक्त विप्रपत्नि पर कृपा करनेकी इच्छासे ही, भिक्षा मांगनेका उपदेश करते थे इत्यादि व्याख्यामें 'विज्ञापितोपि' कहे गये 'अपि' शब्दका तात्पर्य है.

योजना: ज्ञानके उपदेशके द्वारा गोपोंका संसार निवृत्त करना है और वह आगे पीछे क्रमसे होगा एक साथ संभव नहीं है. इसलिए क्रमसे, संसारके धर्मोंकी निवृत्ति करनेकी इच्छासे ज्ञानका उपदेश न करके, पुरुषोंसे भिक्षा मांगनेका ही उपदेश दिया. सत्संगके अभावमें, भक्तिमार्ग सम्प्रदायका उच्छेद हो जायेगा; क्योंकि स्वयं भगवानने एकादश स्कन्धमें उद्धवजीके प्रति सत्संगको अत्यावश्यक बतलाया है. अभिमानसे भिक्षा मांगनेमें दीनता होती है. गोपोंमें तो, अभिमान था ही नहीं अतः दीनता भी नहीं आई. दूसरी बात यह भी है कि बराबरीवालेसे मांगनेमें अभिमान रहनेसे, दीनता हो सकती है. ये तो दीक्षित पूज्य ब्राह्मण है. पूज्योंके आगे अभिमान न रहनेसे, दीनताका होना भी सम्भव नहीं था. भगवानकी कृपासे मांगनेसे आनेवाली लोकमें प्रसिद्ध दीनता भी गोपोंमें नहीं आ पाई।।२।।

प्रयात देवयजनं ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः।
सत्रमाङ्गिरसं नाम ह्यासते स्वर्गकाम्यया ।।३।।

वेदपाठी ब्राह्मण लोग स्वर्गकी कामनासे, आंगिरस नामका यज्ञ कर रहे हैं. तुम उस देवयजन स्थान पर जाओ।।३।।

बीजरूप ब्रह्मात्मक ज्ञानकी परिपुष्टि यदि ब्रह्मके द्वारा ही होवे तो वह ज्ञान ब्रह्म योग्य हो सकता है. जैसे ब्राह्मणीमें परिपुष्ट हुआ बीज, ब्राह्मणके अन्नसे ही बढा हुआ, ब्रह्म संस्कारों तथा ब्रह्म(वेद)से व्याप्त होकर ब्रह्मभावके योग्य होता है, वैसे ही, अभी उत्पन्न हुआ ज्ञान, यदि ब्राह्मणोंके अन्नसे ही पुष्ट होवे तो फलदायक हो. ब्राह्मण भी साधारण नहीं; किन्तु पूर्ण ज्ञान कर्मनिष्ठ हैं. ज्ञानका मूल अन्न ही है. 'अन्नेन प्राणाः' इत्यादि और 'विज्ञानेनात्मानं रेदयति' इति

पर्यन्तकी परम्परासे श्रुतिमें यही निरूपण किया गया है.

अन्नका दान करनेवाला इन सारी वस्तुओंका दान करता है. वह ब्राह्मणका दिया हुआ ही अन्न खाया जाये तो ज्ञानको उत्पन्न करता है. अन्नदानसे सबके दानका फल प्राप्त हो जाता है. इसलिए वह ज्ञान ब्राह्मणमें ही सुस्थिर रहता है. अन्यके अन्नसे उत्पन्न हुआ ज्ञान तो, ब्राह्मणके द्वारा कहा हुआ न होनेसे वह ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकेगा. इसलिए भगवान् पहले ब्राह्मणका स्वरूप कहते हैं और फिर याचना कहेंगे. देवयजन देवोंकी पूजाका स्थान(यज्ञभूमि) अयोग्य स्थानमें यज्ञ करनेका निषेध बतलानेकेलिए वेदमें उनके कई भेद कहे हैं. वे सभी ब्राह्मण थे, उनमें कोई क्षत्रिय यजमान नहीं था. वे सब अपने धर्मसे पवित्र, ब्रह्म वेद तथा वेदार्थके ज्ञाता थे. ऐसे मुख्य अधिकारी वे ब्राह्मण आंगिरस चौबीस रात्रिमें समाप्त होनेवाले यज्ञको स्वर्गकी प्राप्तिकी कामनासे कर रहे थे(''चत्वारः षडहा नामेति प्रसिद्धम्'' ''अङ्गिरसौ वै सत्रमासतते सुवर्गं लोकमायन्''). स्वर्ग भगवानका आनन्दांश किंवा भगवानका अवतारूप है. अतः सर्वोत्तम याज्ञिक ब्राह्मण थे।।३।।

टिप्पणी: व्याख्यामें कहे गये 'ज्ञानं ही ब्रह्मात्मकं'से लेकर 'कार्मक्षमं भवति' तक वाक्यका अभिप्राय यह है. पहले अध्यायमें यहांकी सभी वस्तुएं भगवदर्थ है अपने उपयोगमें लेनेकी नहीं है, ऐसा ज्ञानोपदेश किया है तब तो भगवदर्थ उन वस्तुओंको अपने काममें लेने पर व्यवहारका और लीलाका भी विरोध होगा. क्षुधाकी निवृत्ति भी अत्यावश्यक है और भगवदीय वस्तुका उपयोग न हो जाये ऐसा भय भी है. इसीसे नई वस्तुकी प्रार्थना की. नहीं तो फल आदिसे भी भूखकी (निवारण)शान्ति हो सकती थी, फिर प्रार्थना करना व्यर्थ होता. अतः जिस वस्तुका उपयोग करनेमें भगवानकी इच्छा है, उसका उपयोग करना और जिसके उपयोग करनेमें उनका संकेत न हो उसका उपयोग न करना इस प्रकारके (भगवानके) संकेतके ज्ञानकी भी आवश्यकता है. इतने पर भी इस वस्तुका भोग मैं ही करूंगा, यदि भगवानका ऐसा आग्रह होवे, तब ही बाललीलामें रस आवे. नहीं तो आग्रह बिना शांतरसके मध्यपाती होनेसे, रसाभास हो जायेगा. और जब तक पहले दिया हुआ ज्ञानोपदेश जागृत रहेगा, तब तक ऐसा होना सम्भव नहीं है. इसलिए आरंभमें लोकके अनुकूल और अन्तमें भगवत्सम्बन्धी ज्ञान जिसके द्वारा होगा वह यह अन्न है ऐसा कहते थे. अन्नके स्वामी ब्राह्मण

बहिर्मुख और अन्नको अर्पण करनेवाली स्त्रियां भक्त थी. इस प्रकार अन्नके दो भेद है. श्रुतियोंमें अन्नको ज्ञानका पोषक बतलाया है.

लेख: स्वर्ग भगवानके आनन्दका अंश है, इसलिए स्वर्गकी कामनासे किया हुआ भी वह कर्मसत्र विकृत नहीं था।।३।

तत्र गत्वौदनं गोपा याचतास्मद्विसर्जिताः।
कीर्तयन्तो भगवत आर्यस्य मम चाभिधाम्।।४।।

हे गोपों! हमारे द्वारा भेजे हुए तुम वहां जाकर भगवान् आर्य बलदेवजीका और मेरा नाम लेकर उनसे ओदन(भोजन) मांगो।।४।।

वहां जाकर याचना करनेकेलिए इस श्लोकमें कहते हैं. स्वतन्त्रतासे अपने आप जानेमें, अपराध होगा, इसलिए हमारे भेजे हुवे जाओ. हमारे नामसे मांगो अर्थात् आर्य बलभद्रजीके और मेरे नामका कीर्तन करते हुवे मांगना।।४।।

इत्यादिष्टा भगवता गत्वायाचन्त ते तथा
कृताञ्जलिपुटा विप्रान् दण्डवत् पतिता भुवि।।५।।

भगवानकी आज्ञाके अनुसार वे वहां गये और हाथ जोड़कर पृथिवी पर दण्डवत् प्रणाम करके विप्रोंसे भोजन मांगने लगे।।५।।

गोपोंने वैसा ही किया यह 'इत्यादिष्टा' इस श्लोकमें कहते हैं. उन्हें भगवानने भेजा था, वे उनकी आज्ञाके विपरीत करनेमें समर्थ नहीं थे. इसलिए उन्होंने गर्वके नाशकेलिए हाथ जोड़े और पृथ्वी पर दण्डवत् गिरकर ब्राह्मणोंसे अन्न मांगा।।५।।

हे भूमिदेवाः! शृणुत कृष्णस्यादेशकारिणः।
आप्ताञ् जानीत भद्रं वो गोपान् नो रामचोदितान्।।६।।

हे पूजनीय ब्राह्मणों! सुनिये आपका कल्याण हो, हम लोग कृष्ण और बलरामजीकी आज्ञासे आपकी सेवामें उपस्थित हुए हैं।।६।।

'हे भूमिदेवाः' इत्यादि तीन श्लोकोंके द्वारा गोपोंके अन्न मांगनेके वचन कहते हैं. भूमि पर प्रत्यक्ष देवता ब्राह्मण हैं. सुननेकी प्रार्थना करनेवाले वे गोप, अपना परिचय देते हुवे कहते हैं कि कृष्ण सदानन्द फलरूप भगवानके आज्ञापालक हैं. हम लोग आप्त हैं अर्थात् शब्दको प्रमाण माननेवाले यथादृष्ट कहनेवाले हैं (मिथ्यावादी नहीं है). याचकोंको याचनाके पहिले आशीर्वाद देना उचित है. इससे आशीर्वाद देते हैं आपका कल्याण हो. अथवा हमारे वचन

आपके कल्याणकेलिए ही हैं. हम गोप हैं और बलभद्रजीने हमें भेजा है. क्योंकि सदानन्द भगवान् तो अपने भक्तोंको याचना कार्यमें प्रवृत्त नहीं करते हैं अर्थात् भक्तोंसे भिक्षा नहीं मंगवाते हैं.

यद्यपि भगवानने इनसे हमारे भेजे हुवे ऐसा कहा था, तो भी, भगवानके वेदरूप उस वाक्यका बलभद्रजीसे ही सम्बन्ध है. इससे बलभद्रजीके कहनेसे, गोपोंका आना बतलाना ही उचित है(था)।।६।।

गाश्चारयन्तावविदूर ओदनं रामाच्युतौ वो लषतो बुभुक्षितौ।
तयोर्द्विजा ओदनमर्थिनोर्यदि श्रद्धा च वो यच्छत धर्मवित्तमाः ।।७।।

यहां पासमें ही गोचारण करनेवाले राम–कृष्ण दोनों भाईयोंको भूख लगी है. वे आपसे भोजन मांगते हैं. इसलिए हे ब्राह्मणों! यदि उन प्राथियों पर तुम्हारी श्रद्धा हो और तुम्हारा ही अन्न हो तो दीजिए. आप लोग धर्मके जाननेवालोंमे श्रेष्ठ हैं।।७।।

इस प्रकार पूर्व पीठिका कहकर गाश्चारयन्तौ इस श्लोकसे याचना करते हैं. गोचारणरूप धर्मके प्रवर्तक हैं. (राम–कृष्ण ब्रह्म और परमात्मा) पासमें ही स्थित हैं. भूखे हैं इससे आपका अन्न चाहते हैं. भूख न लगी होती, तो आपके अन्नकी याचना नहीं करते क्योंकि भिखारीसे कोई कुछ याचना नहीं करता. वे भगवानके 'कीर्तयन्तो भगवतः' वचनोंका अभिप्राय न समझकर 'बुभूक्षितौ' भूखे हैं ऐसा ही समझें. उनके द्वारा भगवान् याचना करते हैं यह अभिप्राय जाना. जैसे कोई बड़ा स्वामी, सेवकसे कुछ मांगकर फिर उसे देता है, इसी तरह ब्राह्मणोंसे मांगकर देना है. इसीसे भूखे हैं ऐसा कहा है. द्विजाः! यह सम्बोधन अज्ञानताके कारण अथवा रुढिसे कहा है. उन रामकृष्णकेलिए ओदन देओ. भूखे अन्नदानके पात्र हैं और मांगते हैं यह योग्यता पात्रताका द्वितीय अंग है. नहीं तो एकादशीके दिन भी भूखेकेलिए अन्नदान वैध हो जायेगा.

क्षुधा और याचना दोनों प्रकारसे योग्यता होने पर भी, यदि आपकी श्रद्धा आस्तिक्य बुद्धि हो, अर्थात् इनको देनेसे हम कृतार्थ होंगे तो देओ. ओदन होवे और आपका ही होवे, प्रसंगवश किसीसे आया हुआ न होवे तो देओ. इस विषयमें, विधि निषेधका परिज्ञान आपको ही है, क्योंकि धर्मके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ हैं।।७।।

लेख: व्याख्यामें अतः क्षुधाके ज्ञानसे.

योजना: व्याख्यामें 'ब्रह्म परमात्मानौ'का तात्पर्य यह है कि योगिजनोंके रमण करनेका स्थान होनेसे राम ब्रह्म है और अच्युत कृष्ण-कृषिर्भूवाचकः इस श्रुतिके अनुसार परमानन्दरूप है।।७।।

दीक्षायाः पशुसंस्थायाः सौत्रामण्याश्च सत्तमाः।
अन्यत्र दीक्षितस्यापि नान्नमश्नन् हि दुष्यति ।।८।।

बलि दानके पहले दे देनेसे, अन्नके उच्छिष्ट हो जानेका भय मत करो, क्योंकि हे सज्जनोंमें श्रेष्ठों! यज्ञमें दीक्षा लेनेके पीछे बलिदानके पहले तक और सौत्रमण्य दीक्षा तथा अन्य दीक्षाओंमें अन्न देनेसे उच्छिष्ट नहीं होता है।।८।।

जब ''न दीक्षित वसनं परिदधीत नास्य पापं कीर्तयेन्नान्नमश्नीयात्'' श्रुतिमें दीक्षितोंके अन्नको अभोज्य न खाने योग्य(निषिद्ध) बतलाया है तो फिर, भगवानने उनका अन्न कैसे मंगवाया? इस प्रश्नके उत्तरमें 'दीक्षायाः' यह श्लोक कहते हैं. दीक्षाके पहले, दीक्षितका भी अन्न खाया जा सकता है. दीक्षा तथा बलिदानके दिनोंमें, दीक्षितका अन्न ग्रहणका निषेध है. सौत्रामणि होममें, सुराकी प्रधानता होती है और सुरा अन्नका मल है. इसलिए सौत्रामण्य होमके दिन भी, दीक्षितका अन्न ग्रहण करने लायक नहीं होता है. द्रव्य अन्नका निर्देश किया गया है या नहीं किया ऐसे सन्देहके कारण, अन्नके भेदका पक्ष नहीं कहा. अर्थात् तीन प्रकार आज्य, पशु, पुरोडाशीय अन्नमें कौनसा अन्न ग्रहण करने योग्य होता है और कौनसा नहीं यह पक्ष नहीं कहा गया है. अन्यत्र इन बताई हुई परिस्थितियोंके अतिरिक्त दीक्षितका अन्न खानेवाला दूषित नहीं होता है. श्रुतिके अनुसार 'हि' यह अर्थ उचित है।।८।।

लेख: अन्यत्र बलिदानके पश्चात् भी दीक्षितका अन्न खानेमें दोष नहीं है।।८।।

इति ते भगवद्याञ्चां शृण्वन्तोपि न शुश्रुवुः।
क्षुद्राशा भूरिकर्माणो बालिशा वृद्धमानिनः ।।९।।

तुच्छ स्वर्गसुखकी कामना रखकर, परिश्रम साध्य यज्ञ करनेवाले बडप्पनके अभिमानी उन बेसमझ ब्राह्मणोंने गोपोंके द्वारा की हुई भगवानकी याञ्चाको सुनकर भी अनसुनी कर दी ।।९।।

इस प्रकार युक्ति पूर्वक, अन्न मांगने पर भी, ब्राह्मणोंने अन्न नहीं दिया, क्योंकि, उन्होंने गोपोंके वचनोंको बालकका कथन समझकर सुना ही नहीं. शास्त्रमें, संस्कार रहित बालकोंके, स्त्रियोंके और शूद्रोंके साथ भाषणका निषेध

है. इन गोपोंने तो, भगवानके नामसे अन्न मांगा था, तब भी, भोजन न देनेसे उन ब्राह्मणोंके दोषको श्रीशुकदेवजी इति ते इस श्लोकसे कहते हैं.

वे भगवानकी याञ्चाको सुनते हुवे भी, नहीं सुनते थे दत्तचित्त नहीं हुवे. इसके चार कारण थे. १.क्षुद्राशाः वे तुच्छ वस्तुकी प्राप्तिकी आशावाले थे. क्योंकि परमानन्दकी अपेक्षा स्वर्गानन्द तुच्छ है. वेदमें कहा है कि ''अस्यैव आनन्दस्य अन्यानि मात्राम् उपजीवन्ति'' इस परमानन्दके आनन्दकी मात्रा अंशसे अन्य जीवित है. अंग सहित विधिपूर्वक किये गये वैदिक कर्मसे, फलकी प्राप्ति अवश्य होती है. प्रमाण बल(मर्यादा)में निष्ठा रखनेवाले वे ऐसा समझते थे. भगवान् सर्वरूप हैं, सब ठौर बिराजते हैं. कहीं पर विशेष प्राकट्यके पक्षमें, यज्ञ भी 'नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' भगवान् हैं. इसलिए सबकी ही आरम्भ की हुई मूर्ति(यज्ञ)का ही सन्तोष करना चाहिये. यज्ञमें जैसे अपराध न आवे, वैसा ही करें. नहीं तो इच्छानुसार चाहे जैसा कर लेने पर तो, विधि-निषेध ही न होते. उन ब्राह्मणोंने तो अधिकतया द्रव्यका नाम भी प्रकट कर दिया है. (आज्य, पशु, पुरोडाश ये मेरे यज्ञकेलिए हैं, जब तक यज्ञमें मैं इनका भोग करुं, तब तक ये मेरे यज्ञकेलिए हैं. बचे हुवेका उपभोग ब्राह्मण करें). यहां आये हुवे ब्राह्मण पदको सुनकर उन ब्राह्मणोंने भगवानकेलिए भी भोजन नहीं दिया; क्योंकि, वे भगवानसे भिन्न मान रहे थे. इस प्रकार उनकी क्षुद्र आशा थी और बहुत बड़ा कर्म करनेवाले थे. यद्यपि छोटे यज्ञका भी, वही(उतना ही) फल होता तो भी समान स्वर्गकी प्राप्ति फल होने पर भी, छोटा यज्ञ न करके बहुत बड़ा यज्ञ कर रहे थे. बड़े यज्ञसे जितने स्वर्गकी प्राप्ति होती है; उतना ही, उससे भी अधिक स्वर्गफल भगवानकेलिए अन्नदान अर्पण करनेसे होता है, क्योंकि, भगवान् सर्व यज्ञ स्वरूप हैं. तब भी भगवानकेलिए भोजन नहीं दिया. कर्मके तारतम्यसे फलमें न्यूनाधिक (तारतम्य) होता है इस न्यायसे, उन्होंने ऐसा नहीं किया. अन्यथा(नहीं तो) पूर्ण भगवानकेलिए आहुति देनेसे, सब लोकोंकी सिद्धि हो जाने पर, सत्रका आरम्भ करना निरर्थक होगा. इसलिए जैसे फल बराबर रहने पर भी, छोटे कर्म नहीं किये जाते हैं, वैसे यह भी नहीं किया. न देता है और न पकाता है इस वाक्यसे, वे बड़ा यज्ञकर्म करनेवाले थे. स्थूलकर्ममें ही उनकी आसक्ति थी. कर्मका नाश होनेकी शंकासे अन्न नहीं दिया; क्योंकि, वे बालिश अज्ञानी थे. कर्मसे देवता प्रसन्न होते हैं. आधिदैविक भूतदेवता, भगवानके सन्तुष्ट होने पर ही सन्तुष्ट होते हैं.

भगवानके सन्तुष्ट न होने पर देवता भी सन्तुष्ट नहीं होते. इसलिए पासमें ही यदि मधु(शहद) मिल जाये, तो फिर उसकेलिए पर्वत पर क्यों जाया जाये इस न्यायसे भी, सब फलस्वरूप, सब देवतामय और थोड़ेसे साधनसे ही सन्तुष्ट होनेवाले भगवानका ही आदर करना उचित था वह नहीं किया, क्योंकि उनने यह नहीं जाना कि सच्ची वस्तु(भगवान)के अज्ञानसे यज्ञ भगवान् प्रकट नहीं होते. वे तो यज्ञके स्वरूपको भी नहीं जानते थे, नहीं तो सबके मूल भगवानमें अनादर करनेसे कर्ममें बहुत विघ्न आवेंगे ऐसा समझते. किन्तु केवल भ्रमसे यही कर्तव्य है ऐसा समझकर अन्न नहीं दिया; क्योंकि वे अज्ञानी ही थे और उन्हें जैसे इस सब वस्तुका ज्ञान नहीं था, उसी तरह वे अपने दोषको भी नहीं जानते थे. नहीं तो, उन्हें कोई बता भी देता. अपनी अज्ञानताको न जाननेका कारण यह था कि वे वृद्धमानी थे सारे वेदोंका अर्थ हम ही जानते हैं. ऐसे मिथ्या आग्रहवाले थे।।९।।

लेख: 'इति ते' श्लोककी व्याख्यामें 'दत्तचित्ताः'का अभिप्राय यह हैं, कि सुनने पर भी चित्तमें ग्रहण करने योग्य नहीं समझा.

देशः कालः पृथग् द्रव्यं मन्त्रतन्त्रद्विजाग्नयः।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ।।१०।।

जो देश, काल, यज्ञकी सारी सामग्री, मंत्र, तंत्र, ब्राह्मण, अग्नि, देवता यजमान, ऋतु और धर्म स्वरूप हैं।।१०।।

सब वस्तुओंके यथार्थ स्वरूप निरूपणके द्वारा 'देशः' श्लोकसे उनके अज्ञानको प्रकट करते हैं. इन देश काल आदि ग्यारह अथवा बारहमेंसे किसी एकके स्वरूपको भी वे नहीं जानते थे. कर्मका तो यह नियम है, कि जानकर ही कर्म करना चाहिये. 'देशः' देवोंका यजन पूजन करनेका स्थान. 'कालः' वसन्त आदि ऋतुएं. पृथक् सब वस्तुओंमें भेद अथवा भिन्न-भिन्न सामग्रियां. मन्त्र ऋचा आदि. 'तन्त्रम्' आनुपूर्वी कर्मका क्रम अथवा क्रिया समूह. द्विजाः ब्राह्मण जिनके भार्गव 'होता' होता है इत्यादि भेद हैं. अग्नयः आहवनीय आदि अनेक प्रकारकी है. देवता अग्नि आदिक. यजमानः ब्राह्मण आदिक, जिनके सिक्तरेता आदि अनेक भेद हैं. ऋतुः यज्ञकी अधिष्ठात्री देवता. धर्मः यज्ञ. 'च'से यज्ञके सारे अंग. अथवा आध्यात्मिक भेदसे ऋतुः यज्ञ. धर्मः यज्ञसे उत्पन्न हुआ अपूर्व. ये सब जिससे भगवन्मय हैं।।१०।।

तद् ब्रह्म परमं साक्षाद्भगवन्तमधोक्षजम्।

मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा मर्त्यात्मानो न मेनिरे ।।११।।

उन साक्षात् प्रत्यक्ष परब्रह्म अधोक्षज(इन्द्रियजन्य ज्ञानसे ग्रहण करनेमें न आनेवाले) सर्व शक्तिमानका मन्द बुद्धिवाले देहाभिमानी ब्राह्मणोंने मनुष्य दृष्टि (अज्ञान)से आदर नहीं किया।।११।।

जब यह सब ब्रह्मात्मक है तो रहे. यहां उन विप्रोंको उपालम्भ कैसे ? इस शंकाके उत्तरमें तद् ब्रह्म श्लोक कहते हैं. यह सब ब्रह्म ही नहीं, किन्तु परम ब्रह्म है. ब्रह्म शब्दके वेद, ब्राह्मण, ब्रह्मा और परब्रह्म चार अर्थ हैं. इनमें यहां अन्य तीन अर्थोंका निषेध करनेकेलिए मूलमें 'परमं' विशेषण दिया है. वह ही यह साक्षात् है. साक्षात् पदसे, उपचार, कार्य, अंश, सगुण आदि पक्षोंका निषेध किया है. परब्रह्म ही नहीं, किन्तु उससे भी उत्कृष्ट भगवान् छः ऐश्वर्योंसे सुशोभित पुरुषोत्तम यहां भगवान् शब्दका अर्थ 'भगवान् कालिदास' आदिकी तरह प्राकृत नहीं है, क्योंकि यह अधोक्षज है इन्द्रियजन्य ज्ञान इनका स्पर्श नहीं कर सकता है.

इस प्रकारके स्वतः प्रकाश सर्वोत्कृष्ट भगवद्रूप वस्तुके प्रकट रहने पर भी द्विजोंके अज्ञानका कारण, मूलमें 'मनुष्य दृष्टया' पदसे बतलाते हैं. विपरीत ज्ञानसे उन्हें अज्ञान था. यदि विपरीतभाव नहीं होता, तो वे विचार करनेमें और ज्ञानके उपायमें लगते. विपरीतज्ञानका कारण यह था, कि वे दुष्प्रज्ञ थे दुष्ट बुद्धिवाले थे. बुद्धिके दोषके कारण ही, उनका सभी स्थानोंमें होनेवाला विपरीत ज्ञान यहां भी भगवानमें भी हो गया.

शंका: भगवानमें अन्यथा ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि, ओरोंमें, उनके समान धर्म नहीं है. उनमें विषयताका अभाव है, आरोपकी योग्यता नहीं है और स्वयं प्रकाशमान है. विषय सब प्रकारसे शुद्ध है, फिर उसमें अन्यथा बुद्धि क्यों हुई? इस शंकाका उत्तर मूलमें 'मर्त्यात्मानः' पदसे दिया है. यहां उनकी बुद्धि विषयका स्पर्श नहीं करती विषय तक नहीं पहुंचती है, किन्तु मायाका अवलम्बन करती है. जैसेकी घूमनेवालोंकी दृष्टिमें, भूमि, वृक्ष आदि घूमते दिखाई देते हैं. परन्तु भूमि आदि कभी घूमते नहीं है. इसलिए अपने अधिकारसे बीचमें ही, दृष्टिके भ्रमणसे भूमिमें भ्रमणका आरोप किया जाता है, अर्थात् निश्चल भूमि आदि घूमती सी दीखती है. यदि वस्तु भूमि, पर्वत आदिमें भ्रमणधर्म मान लेने पर तो, सीपमें चांदीके भ्रमकी तरह किसी और व्यक्तिको भी घूमते दीखने चाहिये तथा उस घूमती हुई दृष्टिवालेको भी स्थिर दृष्टि रहने पर भूमि घूमती हुई दीखनी

चाहिये. किन्तु ऐसा नहीं होता. इसीसे, मनुष्य भावसे ही व्याप्त थे. हम मनुष्य हैं ऐसा माननेवाले, उन ब्राह्मणोंने भगवानको भी अपना सा मनुष्य ही समझ लिया, जैसे चोर ओरोंको भी चोर मानता है, उसी तरह वे मूर्ख, आये हुवे देवको भी, अपने तुल्य मानते थे. अपनी अपेक्षा दूसरोंमें विलक्षणताके अज्ञानसे, जैसे वधिक, तपस्वीको वधिक समझता है. इसलिए उन्हें अपने दोषसे ही, निर्दोष वस्तु भगवानमें विपरीत मनुष्यका भान हुआ. मर्त्यात्मा उनने अपनी आत्माको भी मरण धर्मवाला कर दिया, तो भगवानको मर्त्य माननेमें उन्हें क्या परिश्रम हो. इस कारण भगवत् शास्त्रको जानकर भी, उन्होंने उन्हें भगवान् नहीं माना।।११।।

लेख: तद्ब्रह्मकी व्याख्यामें अन्यथा ज्ञानके सम्भव न होनेका कारण 'समानधर्माभावात्' पदसे देते हैं. भगवानमें जो धर्म विराजते हैं, वे ओरों(जीवों)में नहीं है. सीपमें चांदीके समान ही चमक-दमक होने से, चांदीका आरोप हो सकता है इसलिए बुद्धि सीपमें चांदीका आरोप करके सीपको चांदीपनेके ज्ञानका विषयकर लेती हैं. अर्थात् सीपमें चांदी मान लेती है. भगवानमें मनुष्यके समान धर्मोका अभाव है. इसलिए उनमें, मनुष्यताका आरोप तो अनुचित है इस न्यायसे, जब भगवानमें मनुष्यभावका आरोप ही सम्भव नहीं है, तो फिर उनमें ये भी साधारण मनुष्य हैं ऐसा ज्ञान भी नहीं हो सकता. इसलिए भगवानमें, इस प्रकारका ज्ञान असंभव है. व्याख्यामें, अन्यथा ज्ञानका कथन होनेसे यहां भी अन्यथा ख्यातिके पक्षसे ही विवेचन किया है.

समान धर्मका अभाव कहनेका कारण 'स्वप्रकाशत्वात्' यह है, कि स्वयं प्रकाशमान होनेसे, वह ब्रह्मरूप विषय सब प्रकारसे, शुद्ध है, उसमें किसी भी प्रकारसे मनुष्य जैसे धर्म सम्भव नहीं है. उनकी बुद्धि पदार्थके औत्पत्तिक सहज धर्मोंका विचार नहीं कर सकी; क्योंकि उनका विचारकर लेने पर तो समान और असमान धर्मोंका निर्णय हो सकता है. इसलिए बीच(माया)के धर्मोंका ही, उनकी बुद्धिने विचार किया. पदार्थके वास्तविक धर्मो तक नहीं पहुंच सकी; क्योंकि वे जीवको देहरूप मान रहे थे. अपने आपमें माने हुए, मरण धर्मको भगवानमें भी मानते थे. स्वयं प्रकाशरूप धर्मको, भगवानमें नहीं मान रहे थे. इसी कारण, मनुष्य दृष्टिसे, उन्होंने भगवानके वाक्यको स्वीकार नहीं किया. भगवच्छास्त्र वेदादिको देखकर भी उनका तात्पर्य न जाननेके कारण वे जीवको मर्त्य मानते थे.

योजना: तद् ब्रह्म परमं श्लोककी व्याख्यामें ''न ह्यत्र तेषां बुद्धिः विषयं स्पृशति'' इत्यादि की योजना इस प्रकार है. भ्रमके सोपाधिक भ्रम(उपाधि सहित) और निरूपाधिक भ्रम(उपाधि रहित) दो भेद हैं. घड़ा घूमता है, शंख पीला है, शक्कर कड़वी है इत्यादि भ्रम सोपाधिक भ्रमके उदाहरण हैं. वहां अधिष्ठान घड़ेका आंखके द्वारा ग्रहण करने पर भ्रमरिकाकी उपाधिको लेकर भगवानकी शक्ति माया घड़ेमें झूठा भ्रमण उत्पन्न कर देती है. वहां मायाकृत मिथ्या भ्रमण और सत्य घड़ा ये दोनों ही दिखाई देते हैं.

इस प्रसंगको ऋतेर्थं यत्प्रतीयेत इस श्लोककी व्याख्यामें विषयता मायाजन्या, विषयो भगवान् विषये विषयता काचित् स्वीकर्तव्या इत्यादि वाक्योंसे स्पष्ट किया है. विषय घडेमें भ्रमणरूप धर्म विषयता है अर्थात् घड़ा विषय हैं और उसमें भ्रमण विषयता. वह भ्रमणरूप विषयता मायाजन्य मिथ्या है और विषय घट भगवद्रूप सत्य है. घड़ेमें घड़ेका यथार्थ ज्ञान विषयजन्य है और घूमनेका ज्ञान विषयता जन्य है. वहां आंखे विषय(घट) और विषयता(भ्रमण) दोनोंका प्रत्यक्ष करती है. इससे घड़ा घूमता है ऐसा भान होता है. वहां हमारी घूमती हुई आंखसे घडेमें मिथ्या भ्रमण(माया कल्पित) दिखाई दे रहा है, सत्य भ्रमण नहीं है बालकोंको ऐसा ज्ञान नहीं होता है. उनकी बुद्धि तमोगुणसे दबी हुई हो जानेके कारण वे तो घड़ेको घूमता ही मान लेते हैं.

भागवत् सिद्धान्तमें, बुद्धि ही सब प्रकारका ज्ञान करानेवाली है. इसलिए बुद्धिके दोषसे, घड़ा घूमता दीखने लगता है. अर्थात् तमोगुणसे व्याप्त हुई बुद्धि, घड़ेको घूमता हुआ ही निर्धार करती है. उस समय उनकी बुद्धि शुद्ध घड़ेका ग्रहण न करके घूमते हुए घड़ेका ग्रहण करती है. चक्षु इन्द्रिय तो शुद्ध घड़ेका मायाकृत मिथ्या भ्रमण सहित ग्रहण करती है. यह मन और इन्द्रियजन्य ज्ञान सामान्यज्ञान है और घड़ा घूमता है यह अन्यथा प्रतीति है. मन सहित चक्षु इन्द्रियसे घड़ा घूमता है ऐसी प्रतीतिके पश्चात् बालकोंकी तमोगुणसे व्याप्त हुई बुद्धि घड़ेको घूमता हुआ निश्चय कर लेती है. बुद्धिसे कल्पना किया हुआ, यह घूमता हुवा घड़ा बुद्धिमें ही रहता है. बाहिर तो मायाजनित भ्रमणवाला शुद्ध ही घड़ा है. उसे चक्षु ही देखती है, बुद्धिसे उसका ग्रहण नहीं होता. इस कारणसे चक्षुसे देखा हुआ घड़ा मिथ्या नहीं है किन्तु बुद्धिसे कल्पना किया हुआ ही मिथ्या है. इस प्रकार इन्द्रियोंका शुद्ध घड़ेके साथ सम्बन्ध होने पर भी, तमोगुणसे मलीन हुई बालकोंकी बुद्धिका उस

शुद्ध घड़ेके साथ सम्बन्ध नहीं होता. इसी अर्थको, व्याख्यामें ''न ह्यत्र तेषां बुद्धिः''से लेकर 'स्वाधिकारादारोप्यते' यहां तकके वाक्योंमे लिखा है.

उन अज्ञानियोंकी बुद्धि विषयका स्पर्श नहीं करती. मन सहित इन्द्रियां तो शुद्ध विषय घटादिको ही देखती है. इन्द्रिय सहकृत मन, विषयको ग्रहण करता हुआ भी, भ्रमात्मक अथवा निश्चयात्मक ज्ञानको उत्पन्न नहीं कर सकता, किन्तु केवल सामान्य ज्ञानको उत्पन्न करता है. विशेष ज्ञानको तो बुद्धि उत्पन्न करती है; क्योंकि तृतीय स्कन्धमें कपिलदेवजीने 'संशयोऽथ विपर्यासः' संशय आदि ज्ञानको बुद्धि वृत्तियां कही है. सत्वगुण सहित बुद्धि निश्चयात्मक ज्ञानको, रजोगुण युक्त बुद्धि संशयात्मक ज्ञानको तमोगुण सहित बुद्धि भ्रमात्मक ज्ञानको उत्पन्न करती है.

सीपमें चांदीका भान इत्यादि निरूपाधिक भ्रममें तो चांदी मायाजनित नहीं है; तमोगुण युक्त बुद्धि कल्पित है. उस बुद्धि कल्पित और बुद्धिमें ही रहनेवाली चांदीको बुद्धि ही ग्रहण करती है. चक्षु उसका ग्रहण नहीं करती. यद्यपि वहां मनसे युक्त चक्षु इन्द्रिय सीपका ही ग्रहण करती हैं, तो भी चांदीके संस्कारोंकी प्रबलतासे, तमोगुणसे व्याप्त हुई बुद्धि उसमें चांदीका भान करा देती है. उस बुद्धि कल्पित चांदीको बुद्धि ही ग्रहण करती है. इसी अर्थका अन्तरात्वयि विभाति मृषैकरसे वेद स्तुतिकी व्याख्यामें ''रंचतं तु तदन्तरं बुद्धयाजन्यते'' इत्यादि वाक्योंसे वर्णन किया है. अर्थात् पीछे बुद्धि चांदी मान लेती है, आंखसे तो सीपका ही ग्रहण होता है. इस कारणसे चक्षु इन्द्रियसे संयुक्त सीपमें अन्यकी चांदीकी ख्याति अन्यथा ख्याति है. यह सिद्धान्त है.

''शंख पीला है''इत्यादिरूप सोपाधिक भ्रमें विषय शंखादि पदार्थ भ्रमके कारण नहीं है; किन्तु कांचकामलादि(पीलिया) नेत्ररोगरूप उपाधि भ्रमका कारण है. इसका व्याख्यामें विषय धर्माणां इत्यादि वाक्योंसे विवरण किया है. जैसे सीपमें चांदीका भ्रम विषय सीपमें स्थित चमक-दमक आदिको लेकर होता है; वैसे शंखके पीलेपन आदिमें विषय शंखके धर्मसे भ्रम नहीं होता किन्तु नेत्ररागेके कारणसे एक नेत्ररोगीको ही होता है. नेत्ररोग रहित अन्य व्यक्तियोंको और उसी नेत्ररोगीको भी नेत्ररोग मिट जानेके पीछे शंख पीला नहीं दिखता है. इससे शंख पीला है इत्यादि सोपाधिक भ्रम शंखादि पदार्थके धर्मोके कारणसे न होकर नेत्ररोगरूपी उपाधिके कारण ही होता है यह सिद्ध है.

वह सीपमें चांदीरूप निरूपाधिक भ्रम अधिष्ठान सीपका ज्ञान हो जाने पर मिट जाता है. और शंख पीला इत्यादि सोपाधिक भ्रम तो शंख पीला नहीं होता, ऐसा ज्ञान होते हुए भी होता है. इसलिए वह भ्रम अधिष्ठान शंखका ज्ञान होने पर दूर नहीं होता, किन्तु नेत्ररोगरूप उपाधिका नाश होने पर मिटता है, यही इन दोनो भ्रमोंमें भेद है.

यहां इन ब्राह्मणोंकी भगवानमें भक्ति न होनेके कारण, उनकी बुद्धिमें दोष हो गया जिससे, वे भगवानकी इच्छासे दिखाए हुए अवास्तविक मिथ्या मनुष्य धर्मोंको भगवानमें देखते थे और उनमें उनकी मनुष्य बुद्धि थी. इसलिए उनका यह सोपाधिक बुद्धिदोषजनित भ्रम था. जब भगवानकी इच्छासे उनकी वह भगवद्भक्तिका न होनारूप उपाधि दूर होगी, तभी वह भ्रम मिटेगा यह निश्चय है.

भ्रमके स्वरूपका विशेष विचार हमने प्रमेयरत्नार्णव ग्रन्थके ख्याति विवेक नामक प्रकरणमें स्पष्ट किया है. विशेष जानकारीकेलिए उसको वहां देखो।।११।।

न ते यदोमिति प्रोचुर्न नेति च परन्तप।
गोपा निराशाः प्रत्येत्य तथोचुः कृष्णरामयोः ।।१२।।

हे शत्रुदमन परीक्षित! जब उन विप्रोंने उन्हें हां–ना का कुछ भी उत्तर न दिया तब वे गोप निराश होकर वापस आ गये. उन्होंने कृष्ण और बलभद्रजीसे सारी बात कही।।१२।।

फिर 'न ते यदोमिति' श्लोकसे आगेके प्रसंगको कहते हैं. 'ओम्'का अर्थ अंगीकार करना है और 'न' का अर्थ निषेध करना है. यदि वे निषेधकर देते तो गोप किसी दूसरे उपायमें लगते अथवा उन द्विजोंके धर्मसे सन्तुष्ट होते. उन्होंने ना ऐसा निषेध भी नहीं किया जो असत्य था. इस कारणसे, उनमें सत्यकी निवृत्ति होना सिद्ध होनेसे वे गोप निराश होकर पीछे चले गये. परन्तप! यह सम्बोधन अपनेमें स्थित आधिदैविक शुकमें कोपका निषेध करनेकेलिए कहा गया है. अथवा परन्तप यह सम्बोधन राजा परीक्षितकेलिए दिया है जो बड़भागीके घरसे ही अतिथि विमुख निराश नहीं जाते इसलिए राजाके भाग्यकी प्रशंसाके अभिप्रायसे आया है. पीछे फिरकर शीघ्र भगवानके पास जाकर कृष्ण और रामके आगे यों कहने लगे।।१२।।

लेख: जब विप्रोंने निषेध नहीं किया तो गोप निराश क्यों हुए? इस शंकाका उत्तर

'न' पदसे दिया है. असत्यमें अभिनिवेशसे वस्तुका यथार्थ ज्ञान न होने पर, निषेध हो, वह सत्यकी निवृत्ति तो उनके मौन रह जाने पर भी, सिद्ध थी. वस्तुका यथार्थ ज्ञान हो जाने पर, मौन क्यों रह जाते. इसलिए उनके 'न' न कहने पर भी (निषेध न करने पर भी) गोप लोग उन ब्राह्मणोंके अज्ञानका निश्चय करके निराश हो गये. परन्तप यह राजाका सम्बोधन है. निरोधलीलाके प्रारम्भमें अपनेमें आये हुए अपने आधिदैविक शुक भगवानके प्रति कोपका निषेध करनेकेलिए दिया है. हे परीक्षित! तू परन्तप है, इससे मेरे भीतर आविष्ट हुए भगवानको देखता है. इसलिए उसमें कोपके अभावको प्रत्यक्ष ही देख यह भाव है. राजाको शुकदेवजीमें आविष्ट स्थित भगवानका दर्शन होना अब तक स्पष्टरूपसे कहीं भी नहीं कहा गया इस अरूचिसे दूसरा पक्ष कहते हैं, अथवा परन्तप यह सम्बोधन राजामें कोपका निषेध करनेकेलिए है. उसका विशेष विवेचन व्याख्यामें महद् इत्यादि पदसे किया है. हे राजन्! तेरा ऐसा भाग्य है. वे ब्राह्मण भाग्यहीन थे. इसीसे उन्होंने ऐसा किया. इससे अज्ञानियों पर कोप करना उचित नहीं है यह तात्पर्य है.

योजना: ''न ते यदोमिति श्लोक''की व्याख्यामें ''नेत्य सत्ये सत्य निवृत्तेः'' इत्यादिका तात्पर्य यह है कि उन ब्राह्मणोंने 'ओम्' नहीं कहा, वह तो सत्य था क्योंकि उनका वैसा ही न देनेका ही अभिप्राय था और जो उन्होंने 'न नेति' नहीं निषेध नहीं कहा यह असत्य था क्योंकि वे वास्तवमें देना नहीं चाहते थे. इसलिए उन्हें निषेधकर देना ही उचित था, तो भी नहीं किया. इस कारणसे, निषेध न करनेका बोधक नकाराका प्रयोग मिथ्या था; क्योंकि वे निषेध करना ही चाहते थे. वह नहीं किया. इस निषेधका निषेध अर्थात् विधि अर्थको बतलानेवाले 'न' शब्दका प्रयोग मिथ्या अर्थमें था. इस प्रकार निषेधके निषेध(विधि)से ब्राह्मणोंके हृदयमें, असत्यके आग्रहका ही बोध होता है, इसीको व्याख्यामें 'सत्यानिवृत्तेः सिद्धत्वात्' पदोंसे कहा गया है अर्थात् मिथ्या होने पर सत्यकी निवृत्ति अपने आप स्वतः सिद्ध है. जहां असत्य हो, वहांसे सत्यका अवलम्बन करनेवाले पुरुषको सच्चे ही लौट जाना चाहिये. इससे गोप निराश होकर लौट गये.

व्याख्यामें ''परन्तपेति स्वाधिदैविक शुकं प्रति'' इत्यादिका तात्पर्य यह है कि इस दशम स्कन्धकी निरोधलीलाका वर्णन करनेके आरम्भमें शुकदेवजीमें

भगवानका आवेश हुआ था. इस प्रसंगको ''वैयासकिः स भगवानथ विष्णुरातं'' इस श्लोककी व्याख्यामें ''भगवता सह वर्तमानः स भगवान्'' इत्यादि कहकर स्पष्ट किया है. इसलिए इन शुकदेवजीमें आवेशसे स्थित हुए भगवान् आधिदैविक शुक कहे जाते है. उन(आधिदैविक) शुकदेवजीको लक्ष्य करके 'परन्तप' सम्बोधन है अर्थात् शुकदेवजीने 'परन्तप' यह सम्बोधन अपनेमें आविष्ट होकर स्थित हुए भगवानकेलिए कहा है और वह कोपके निषेधकेलिए कहा है. गोप लोगोंका निराश होकर लौट जाना इन शुकदेवजीके मुखसे सुनकर उन आविष्ट भगवान् शुकदेवजीको क्रोध आ जाये. उस क्रोधकी निवृत्तिकेलिए परं(क्रोधरूपी) शत्रुको (तापयति सन्तप्त करनेवाले हो)तपानेवाले परन्तप सम्बोधन आया है. आप परन्तप हो, इससे क्रोध नहीं करना चाहिये यह अभिप्राय है.

यह सेवक शुकदेवजीका अपनेमें आवेशसे विराजमान (भगवत्स्वरूप) आधिदैविक शुकरूप भगवानको क्रोध न करनेका उपदेश देना अनुचित समझकर व्याख्यामें 'आगतम्' आ गया है अर्थात् उस समयकी लीलामें तन्मय हुए शुकदेवजीके मुखसे ऐसा निकल गया. उन्होंने जानकर ऐसा नहीं कहा.

अथवा 'परन्तप' यह सम्बोधन राजा परीक्षितकेलिए कहा गया है. यहां भी प्रयोजन तो वही कोपका निषेध करना ही है. राजा परम वैष्णव है, इसलिए गोपोंका निराश होकर लौट जाना सुनकर उन ब्राह्मणों पर राजा क्रोध करे. उस क्रोधका निषेध इस 'परन्तप' सम्बोधनसे किया अर्थात् हे राजन्! तुम क्रोधरूपी शत्रुको ताप देनेवाले हो. इससे उन विप्रोंका अनुचित कार्य अन्याय देखकर भी उन पर तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिये; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मण्यदेव है और तुम उनके सेवक हो, यह भाव है।।१२।।

तदुपाकर्ण्य भगवान् प्रहस्य जगदीश्वरः।
व्याजहार पुनर्गोपान् दर्शयंल्लौकिकीं गतिम् ।।१३।।

गोपोंके वचन सुनकर जगतके ईश्वर भगवान् हंसे और लौकिक गतिको दिखाते हुए फिर कहने लगे।।१३।।

गोपोंके खेद आदि तथा उन ब्राह्मणोंकी भगवानसे विमुखता पर क्रोधको देखकर उनके खेद और क्रोधको दूर करनेकेलिए भगवान् हंसे. उन विप्रोंके भगवानकी आज्ञाका उल्लंघन करनेके कारण भगवानको उन पर क्रोध करना

चाहिये था. हंसे क्यों? इस शंकाका उत्तर जगदीश्वरः पदसे देते हैं. जगतके ये ही ईश्वर हैं. जगतके ईश्वर भगवानने उन्हें वैसा ही बोध कराया था, जैसाकि उनने बर्ताव किया. गोप लोग पहले याज्ञिकोंके निषेध पर उत्पन्न हुवे खेदको भूल गये थे. इस कारण भगवानने उनसे फिर कहा. और जाना द्विजपत्नियोंके पास जाना स्वीकार करनेका बोध कराया. उन्हें लौकिकी गति समझाई कि ऐसा ही होता है अर्थात् मांगने पर कहीं मिल जाता है, कहीं नहीं मिलता और कहीं तो कुछ उत्तर भी नहीं मिलता।।१३।।

मां ज्ञापयत पत्नीभ्यः ससङ्कर्षणमागतम्।
दास्यन्ति काममन्नं वः स्निग्धा मय्युषिता धिया।।१४।।

हे गोपजनों! अब तुम उन ब्राह्मणोंकी पत्नियोंके पास जाओ और कहो कि बलदाऊजीके साथ मैं उनके घरके पास आया हूं. वे तुम्हें बिना मांगे ही तुम्हारी इच्छानुसार अवश्य भोजन देंगी क्योंकि उनके मनमें मेरी भक्ति है अर्थात् उनका मन मुझमें लगा हुआ है।।१४।।

भगवानके वचन 'मां ज्ञापयत' इस श्लोकसे कहते हैं. यज्ञमें यजमानोंकी पत्नियोंको उनमें दोषका अभाव बतलानेकेलिए पत्नियां ही कहा जाता है. श्रुतिमें 'तस्मात् स्त्रियों निरिन्द्रिया' स्त्रियोंको निरिन्द्रिय सम्पत्तिमें भाग न पानेवाली और सेवक जैसी कहा है. इस कारणसे वे पत्नियां दोषरहित हैं. उनको तुम मेरे बलभद्रजी सहित यहां आनेकी सूचना करो. याचना तो मत करना, क्योंकि वे बिना मांगे ही दे देंगी. वे (कामं) यथेष्ट अन्न (वः) तुम्हारेलिए देंगी. यहां मूलमें कामं और वः पदोंसे उस अन्नका दोष निरूपण किया है. वे पत्नियां मुझ पर प्रेम करती हैं. इसलिए तुमसे मेरा यहां आना जानकर वे प्रसन्न होंगी और लोकमें जैसे प्यारेके समाचार लानेवालेकेलिए कुछ दिया जाता है, वैसे ही तुम्हारेलिए (अन्न) देंगी. और यह भी है, कि वे देह इन्द्रियादिके संघातमें बुद्धिसे, केबल बुद्धिसे ही नहीं; किन्तु ज्ञानशक्ति और अन्तःकरणसे तो मेरे पास ही रहती हैं. बाह्य क्रिया और देहसे घर पर रह रही हैं. उनकी ज्ञानशक्तिके मुझमें ही रहनेके कारणसे वे दे देंगी।।१४।।

टिप्पणी: 'मां ज्ञापयत' श्लोककी व्याख्यामें 'तस्यान्नदोषो निरूपितः' इत्यादिका तात्पर्य यह है. 'कामं' पदका पहले यथेष्ठ अर्थ किया था. अब इस 'कामं' पदको अन्नका विशेषण मानकर उसका तात्पर्य कहते हैं. उस अन्नका स्वयं

उपभोग करने पर दोष हो सकता है. यहां दोष कैसे निरूपण किया? ऐसी शंकामें व्याख्यामें 'काम पदात्' ऐसा कहा है. यहां यह निष्कर्ष है अन्नका स्वामी पुरुष होता है. उन याज्ञिकोंने वह अन्न स्वर्गकी कामनासे यज्ञ सम्बन्धी अन्य देवताका उद्देश्य करके संकल्पपूर्वक बनाया था. इसलिए वह सकाम भी अन्न कामनाकी प्रबलताके कारण कामरूप ही हो गया था. वह बतलानेकेलिए अन्नका विशेषण कहा है. इस कथनसे उन ब्राह्मणोंकी बहिर्मुखता सूचित होती है. इसलिए दूसरेके उद्देश्यसे सिद्ध किया हुआ अभक्त सम्बन्धी अन्न अपने उपभोग(खाने) योग्य नहीं होता है, इस प्रकारसे दोष बतलाया है. इसी प्रकार ''ब्राह्मण पत्नियोंसे मेरा आना कहो'' यों कहकर देनेके समयमें भी मुझे देगी ऐसा न कहकर अन्य गोपोंको दानपात्र कहनेसे भी अन्नका दोष ही प्रकट होता है. इस आशयसे ही व्याख्यामें वः इति पदाश्च ऐसा कहा गया है. यहां पूर्वोत्तर पहले और पीछेके वाक्योंकी संगति इस तरह होती है कि वे पत्नियां भक्त है, उन्हें मेरे यहां आनेकी सूचना देने पर तुम्हें(गोपोंको) मेरे सम्बन्धी जानकर तुम्हारेलिए भी दे देंगी इस अभिप्रायसे पहले 'स्व' कहा और फिर अन्नका दोष बतलानेकेलिए वः ऐसा कहा है. यदि यह अभिप्राय नहीं होता तो वे पत्नियां भी उन गोपोंको ही अन्न दे देती; वे स्वयं लेकर भगवानके पास नहीं आती.

तब फिर, वे उस अन्नको कैसे लाई और भगवानने उसे स्वीकार कैसे किया? इसके उत्तरमें ऐसा ज्ञात होता है कि पत्नी, पतिका अर्धांग होनेसे, उस अन्नमें उनका भाग हो सकता है और वह(अन्न) उन पत्नियोंके भगवद्भक्त होनेके कारण पूर्वोक्त दोष रहित हुआ मानना चाहिये. भाव यह है कि वह अन्न पहले पति पत्नियोंका इकट्ठा होनेसे और पतियोंके भक्त न होनेके कारण दोषयुक्त था और अब उन पत्नियोंने भगवानकेलिए अपने भागको अलगकर लेने पर 'भक्तिपूर्वक लाए हुए पदार्थको मैं ग्रहण करता हूं' इस वचनके अनुसार उस दोष रहित अन्नको भगवानने अवश्य ही स्वीकार किया.

अथवा आगे 'अन्नमादाय भाजनैः' इस १९वें श्लोकमें भाजन शब्दसे यदि उस अन्नमेंसे पत्नियोंका भागका अलग करना सम्भव न होने पर भी उस अन्नमें पहले अन्य यज्ञदेवताका उद्देश्य था. इससे वह दूषित था और उसमें भगवानका उद्देश हो जानेसे, वह अन्न निर्दोष हो गया था. इस तरह वह सारा ही अन्न भगवानके अंगीकार करने योग्य हो गया था. उन पत्नियोंकी भक्तिसे,

उन याज्ञिकोंका अन्न भाग निर्दोष कैसे हो गया? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि आगे चलकर उन पत्नियोंके सम्बन्धसे याज्ञिकोंका भी, भक्त होना कहा जायेगा.

अथवा 'कामं'का यथेष्ठ अर्थ करनेके पक्षमें भी 'तस्यान्नस्य दोषः' (उस अन्नका दोष) इत्यादिसे, उसका तात्पर्य कहा है. अर्थात् उन याज्ञिकोंने आधिदैविक यज्ञको सिद्ध करनेकेलिए चाहा था; किन्तु आधिदैविक यज्ञात्मक भगवानकी आज्ञासे आये हुए उन आध्यात्मिक गोपोंकी याचनाका जो भंग किया था. उसीको व्याख्यामें दोष पदसे कहा है. तब आधिभौतिक यज्ञ भी कैसे सिद्ध हो सकेगा ऐसा जानकर, साक्षात् आधिदैविक यज्ञरूप (मुझ) भगवानकेलिए नहीं दे सकेगी, तो आध्यात्मिक(यज्ञरूप) तुम्हारे(गोपोंके)लिए तो तुम्हारी तृप्तिके लायक अन्न दे देगी. उससे आधिदैविक(भगवान)की तृप्ति हो जायेगी और आधिभौतिक यज्ञ भी सिद्ध हो जायेगा. इस आशयसे व्याख्यामें ''कामपदात् वः पदाच्च'' ऐसा कहा गया है. यदि ऐसा अभिप्राय नहीं होता तो यज्ञकेलिए सिद्ध किये हुवे अन्नको, यज्ञकेलिए न रखकर, यथेष्ट देनेका कथन संगत नहीं होता. उन पत्नियोंको तो मूलका सिंचन करनेसे सारा वृक्ष हरा भरा रहता है ऐसा ज्ञान था. इस कारण आधिदैविक भगवानकेलिए देने(अर्पण करने)से ही सब सिद्ध हो इस अभिप्रायसे वे सारे उस अन्नको भगवानके पास ले आई. इसलिए यह सब उचित है।।१४।।

लेख: व्याख्यामें ''पत्युः स्त्री पत्नी'' ऐसा 'पुं'योग करनेसे वे पत्नियां पतिव्रता थी यह सूचित किया गया है. यहीं 'ताः' संघाते यह निर्धारण अर्थमें सप्तमी है अर्थात् सारे संघातमें बुद्धि अन्तःकरणसे वे मुझ(भगवान)में स्थित हैं और शेष देह इन्द्रियादिकसे घर पर रह रही हैं यह अर्थ है।।१४।।

गत्वाथ पत्नीशालायां दृष्ट्वासीनाः स्वलङ्कृताः।
नत्वा द्विजसतीर्गोपाः प्रश्रिता इदम् अब्रुवन्।।१५।।

भगवानकी आज्ञा पाकर वे गोप पत्नीशालामें गये. वहां वस्त्र आभूषणोंसे सुशोभित होकर बैठी हुई याज्ञिकपत्नियोंको देखकर नमस्कार किया और नम्रता पूर्वक यों कहने लगे।।१५।।

फिर वे गोपबालक पहिलेकी तरह ही जाकर वैसे ही मांगने लगे. यह गत्वाथ श्लोकसे कहते हैं. अथ शब्द प्रक्रम भेदका सूचक है अर्थात् जिस मार्गसे

और जिस रीतिसे पहले गये थे उससे भिन्न मार्ग और भिन्न रीतिसे गये. पत्नीशाला अलग ही प्राग्वंश(यज्ञशालाके पूर्वमें बाहर बैठनेका घर) अथवा सभा मण्डपमें होती है परन्तु वे प्राग्वंशमें ही अच्छी तरह अलंकृत निश्चिन्त बैठी हुई थीं. सौभाग्यवती पत्नियोंको ब्राह्मणोंके सम्बन्धसे नमन करके और पहले याचना भंगके दुःख तथा उनके सती(पतिव्रता) होनेके कारणसे विनीत होकर इस तरह कहने लगे।।१५।।

नमो वो विप्रपत्नीभ्यो निबोधत वचांसि नः।
इतोऽविदूरे चरता कृष्णेन प्रेषिता वयम्।।१६।।

हे विप्र पत्नियों! आपको नमस्कार है. हमारे वचनोंको सुनिये. यहां निकट ही परिभ्रमण क्रीड़ा करनेवाले भगवान् कृष्णने हमें (तुम्हारे पास) भेजा है।।१६।।

नमः इत्यादि दो श्लोकोंसे गोपोंके वचन कहे हैं. वैदिक धर्मको न जाननेके कारण विप्रपत्नीभ्यः (ब्राह्मण पत्नियोंकेलिए) ऐसा कहा है. वे अपना परिचय देते हुवे बोले कि यहां निकटमें ही परिभ्रमण करनेवाले अर्थात् क्रीड़ा करनेवाले सदानन्द श्रीकृष्णने हमे यहां भेजा है अथवा यों कहकर कार्यका निवेदन किया है।।१६।।

लेख: व्याख्यामें 'वैदिकार्था ज्ञानात्'का तात्पर्य यह है कि यजमानकी पत्नियां यज्ञमें पत्नियां ही कही जाती हैं इस अर्थका ज्ञान उन गोपोंको नहीं था. इससे उनने उन्हें विप्रपत्नियां कहा. यदि वे वैदिक अर्थको जानते होते तो केवल हे पत्नियों ऐसा कहते।।१६।।

गाश्चारयन् स गोपालैः सरामो दूरमागतः।
बुभुक्षितस्य तस्यान्नं सानुगस्य प्रदीयताम्।।१७।।

गायोंको चराते हुए वे कृष्ण गोप और बलभद्रजी सहित दूर आ गये है. हम सब ही को भूख लगी है. इसलिए सेवक सहित उनकेलिए भोजन दीजिये।।१७।।

'गाश्चारयन्' इस श्लोकसे गोप लोग अपने आनेका प्रयोजन बतलाते हैं. वे दूसरोंके अन्नको नहीं लेते हैं इसलिए भगवानके कहने पर भी, स्त्रियों-पत्नियोंके देने पर भी, उन्होंने(अपनेलिए) अन्न स्वयं नहीं लिया. वे तो भगवानकेलिए ही मांगते थे और उनका यह ही धर्म है. भगवानको भूख लगी है

यह दोषका कथन तो भगवानके स्वरूपके अज्ञानसे किया है. गायोंका चराना आवश्यक है. इस कारण गोपालोंके सहित घासवाले प्रदेशमें आ गये हैं. इससे अपने कृष्णके आने पर यहां सब ही आवें इस प्रकार कृष्णके आनेमें बाधाका वर्णन किया. मूलमें सराम(राम सहित) यह आदरकेलिए अथवा दूसरा कोई कार्य नहीं है इसलिए कहा गया है. इसमें दोषका कीर्तन भी नहीं है. इस कारणसे, सेवकों सहित भूखे उनकेलिए उनका ही अन्न वहां जाकर देओ. यथा योग्य देना, देनेमें उत्कर्ष है।।१७।।

लेख: व्याख्यामें 'अन्यान्नं' इत्यादिका तात्पर्य भगवत्सम्बन्ध रहित (असमर्पित) है. 'स्त्रीभिर्दत्तमपि' यहां अपि शब्दका सम्भावना अर्थ है अर्थात् जिस अन्नको स्त्रियां दे सकती है उसको भी नहीं लिया. दोषकीर्तनं(दोष कहा)का तात्पर्य भगवानको भूख लगी है यह कथन है.

योजना: व्याख्यामें 'दोषकीर्तनन्तु' इत्यादिका(दोषका कीर्तन तो अज्ञानसे किया है) अभिप्राय यह है कि ''माया मनुष्यस्य कपट मानुषः'' इत्यादि वाक्योंके अनुसार भूख-प्यास आदि मनुष्यके असाधारण धर्म भगवानमें मायासे प्रतीत होते हैं. वास्तवमें मनुष्योंके धर्म भगवानमें नहीं है. इससे ''क्षुत् खलु मनुष्यस्य भ्रातृव्यः'' (क्षुधा मनुष्यका शत्रु है) इस श्रुतिके अनुसार भूख मनुष्यका असाधारण धर्म है वह भूख-प्यास भगवानमें नहीं है, इस प्रकारके शास्त्रार्थके अज्ञानसे कहा है।।१७।।

श्रुत्वाच्युतमुपायान्तं नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः।
तत्कथाक्षिप्तमनसो बभूवुर्जात सम्भ्रमाः ।।१८।।

वे पत्नियां नित्य भगवानके गुणोंको सुनकर उनके दर्शनोंकेलिए बड़ी उत्सुक थी. आज उनको निकट आये हुए सुनकर सबको उनके दर्शनकी बडी चटपटी लगी।।१८।।

तदनन्तर जो हुआ उसे श्रुत्वाच्युतं इस श्लोकसे कहते हैं. मूलमें 'चरता' (भ्रमण करनेवालेने) कहकर यह बतलाया कि पीछे भगवान् भी आ रहे हैं. इसीलिए उपायान्तं (उप)समीपमें आनेवालोंको ऐसा कहा है. प्रथम तो वे पत्नियां भगवानके पास मनोरथसे गई और अब भगवान् यहां आते हैं. इनका मनोरथ तो भगवानके पास पहले जानेका था अर्थात् वे पहले भगवानके पास स्वयं जाना चाह रही थी किन्तु भगवानका स्वयं वहां पधारना सुनकर वे किंकर्तव्यताविमूढ आगे

कर्तव्य कार्यके ज्ञानसे रहित हो गई (विह्वल हो गई) उन्हें नित्य भगवानके दर्शनकी उत्कण्ठा हो रही है. इसलिए शीघ्र जाना चाहिये और 'भूखे हैं' इसलिए भोजन भी ले चलना चाहिये इन कारणोंसे व्याकुल हो गई. दूसरी बात यह भी थी कि भगवानकी कथाओंके द्वारा उनका मन आकर्षित हो रहा था. उन्होंने जहां कहीं भी लगे हुवे अपने मनको अच्छी तरहसे खींच लिया इसलिए वह भगवानमें चला गया अतः असंख्य मनोरथोंके कारणसे अब क्या करना इस तरहसे व्याकुल हो गई थीं।।१८।।

लेख: 'श्रुत्वाच्युतं'की व्याख्यामें 'मनोरथस्तु'(मनोरथ तो) इत्यादिका तात्पर्य यह है कि वे स्वयं भगवानके आनेके पहले ही भगवानके पास जाना चाहती थी और जाकर यों-यों करेंगी इस प्रकारका मनोरथ उनके सोचे हुए पहले जानेका अंगभूत हैं. भगवान् स्वयं आ गये ऐसा समजकर अपने मनोरथको भूलकर आकुल हो गई.

योजना: व्याख्यामें पूर्व तु 'तास्तत्रागताः' इत्यादिका (पहले तो वे वहां आ गई) तात्पर्य यह है कि वे पत्नियां भगवानके पास पहले ही आ गई. ''मनोरथस्तु पूर्व शेषः''(मनोरथ तो अंग था)का अभिप्राय रमणके मनोरथसे है, और वह(रमण) पहिले सोचे हुए भगवानके निकट जानेका कार्य है अर्थात् जब भगवानके समीप जाना होगा, तब रमण मनोरथ सिद्ध होगा. भगवान ही यहां आ रहे हैं तो फिर, मनकी अभिलाषा कैसे पूर्ण होगी ऐसा समजकर हक्की-बक्की हो गई।।१८।।

चतुर्विधं बहुगुणमन्नमादाय भाजनैः।
अभिसस्रुः प्रियं सर्वाः समुद्रमिव निम्नगाः ।।१९।।

जिस प्रकार नदियां समुद्रकी ओर वेगसे चल देती हैं उसी तरह वे पत्नियां चार प्रकारके भोजनको पात्रोंमें लेकर प्रिय भगवानके दर्शन करनेकेलिए चल दी।।१९।।

उस समय उचित आवश्यक कर्तव्यको विचारकर उनका सामग्री लेकर जाना चतुर्विधं श्लोकसे कहा गया है. भक्ष्य, पेय, चोष्य और लेह्य चार प्रकारका भोजन लेकर गई. भोजनमें ये चार प्रकारके पदार्थ नहीं हो तो भोजन ही नहीं हो. भक्ष्यमें दांतोंका, चोष्यमें मुखके दांत आदि सारे भागोंका, लेह्यमें जीभका और पेयमें मुखके भीतरी भागका उपयोग होता है अन्य तो एकदूसरेके सहायक है. इस

प्रकार चार तरहका ही पुरा भोजन होता है. गुण शब्दका अर्थ यहां व्यंजन अथवा धर्म है, अर्थात् जिस भोजनमें अन्न तो थोड़ा था और व्यंजन अधिक थे. आवश्यकतासे भी अधिक थे. पात्रोंसे निकालकर नहीं किन्तु जिन पात्रोंमें भोजन धरा था, उन पात्रों समेत ले आई. अभिसरण किया अर्थात् चारों ओरसे इकट्ठी होकर गई ऐसा प्रतीत होता है. सबके एक साथ जानेका कारण यह है, कि भगवान् सबके प्रिय हैं. प्यारेके पास सभी इकट्ठे हो जाते हैं. इसलिए वे सभी इकट्ठी होकर प्रिय भगवानके पास गई. वे सब पत्नियां एक स्थान पर एक साथ कैसे गई? इस शंकाका दृष्टान्तसे समाधान करते हुवे मूलमें समुद्रमिव निम्नगाः प्रतिबन्धका अभाव बतलाते हैं. नदियां बीचमें आनेवाले पर्वत आदि प्रतिबन्धोंकी परवाह नहीं करती हैं. उन नदियोंके पति देवता नहीं होते हैं, किन्तु जैसे उनका पति समुद्र ही है, वैसे (ही) यहां भी इनके पति भगवान् ही हैं. निम्नगा अर्थात् नीचे बहनेवाली होनेके कारण ऊंचे अहंकारसे भरे हुवे पति स्वीकार नहीं किये।।१९।।

लेख: व्याख्यामें 'धर्माः'का तात्पर्य मधुरता आदि है. 'साधारणं' अन्न तो सब पत्नियोंके पास साधारण था अलग-अलग नहीं था (समुदाय शक्तिसे) अर्थात् सभी इकट्ठी होकर गई।।१९।।

निषिध्यमानाः पतिभिर्भ्रातृभिर्बन्धुभिःसुतैः।
भगवत्युत्तमश्लोके दीर्घश्रुतधृताशयाः ।।२०।।

पतियों, भाईयों, बन्धुओं और पुत्रों ने उनको जानेसे रोका, तो भी वे नहीं रुकी. वे बहुत समयसे, भगवानके गुणोंको सुन रही थीं, इस कारणसे उनका चित्त उत्तम कीर्तिवाले भगवान् पर मोहित हो रहा था।।२०।।

उनको जानेसे किसीने नहीं रोका होगा? ऐसी शंकामें 'निषिध्यमानाः' यह श्लोक कहते हैं. उदासीन जिनका कोई सम्बन्ध नहीं वे तो रोक ही नहीं सकते (कुछ कह ही नहीं सकते). इसलिए सम्बन्धियोंने ही उन्हें रोका. और वही सम्बन्ध शृंखला अत्यन्त बाधक है. यहां रोकनेवालोंमें उनके पिता नहीं कहे. नहीं तो पिता भी रोकते और वे नहीं रुकती तो उत्पत्ति उत्पन्न करनेवालों पिताओंका विरोध होता. अर्थात् उनके जानेकी प्रवृत्तिमें प्रतिबन्ध हो जाता. युक्तिके विरोधमें तो शास्त्र ही दृढ़ प्रमाण है अर्थात् जाना चाहिये अथवा नहीं जाना चाहिये ऐसी शंका होने पर तो शास्त्रके कथनानुसार ही जैसा शास्त्रमें कहा हो वैसा ही कर लेना

चाहिये. पति धर्मको देनेवाला, अर्थको देनेवाला भाई, कामनाओं(काम)की अभिलाषित वस्तुओंको देनेवाले बान्धव और मोक्षको देनेवाले पुत्र इस प्रकारसे चारो रोकनेवाले उनेक चार पुरुषार्थोंको देनेवाले थे. उनके रोकने पर भी न रुकनेसे उन पत्नियोंके उक्त चारों पुरुषार्थोंको हानि हो जानेकी भी परवाह न करके पांचवे पुरुषार्थको ही मानती हुई वे वहां चली गई इस बातको मूलमें भगवति इत्यादि पदोंसे कहा गया है. भगवानके पास जानेसे ऐश्वर्य वीर्यादि छः गुण और सातवें स्वयं धर्मी इस प्रकार सात पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं. उन भगवानकी कीर्तिको (उत्तम) सिद्ध पुरुष गाते हैं. इससे आठवां पुरुषार्थ भक्ति सिद्ध होती है. और जो जिस पदार्थको चाहता है उसकेलिए वही पुरुषार्थ होता है. नहीं चाहा हुआ पुरुषार्थ नहीं होता. इसलिए ये धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप पुरुषार्थको नहीं चाहती. इससे ये पुरुषार्थ ही नहीं हैं. भगवान् ही पुरुषार्थ है. इस अभिप्रायसे मूलमें दीर्घश्रुतधृताशया(बहुत समय तक सुननेसे अपने चित्तको भगवानमें लगा देनेवाली) कहा है. अर्थात् जैसे फल सुनकर सुननेवालेका चित्त फलमें लग जाता है. उसी प्रकार उनका चित्त भगवानमें लग गया था ओर जगह नहीं लगता था. वे याज्ञिक विप्र यज्ञानुष्ठानमें संलग्न थे इसलिए उनने उन्हें वाणीसे ही जानेसे रोका. दूसरेकी स्त्रीको पराया नहीं छू सकता और स्पर्शकर लेने पर यज्ञका नाश हो जाये. इस कारणसे उसे यजमानोंकी पत्नियोंके अतिरिक्त सभी एकरूप होकर चली गई क्योंकि ऋत्विजों याज्ञिकोंने उन्हें इकट्ठी ही रोका था अथवा तरुण या वृद्धोंने रोका था. यजमान तो उन रोकनेवाले पति पुत्रादिकोंसे भिन्न भी हो सकता है. इनसे वे न रुकी चली ही गई।।२०।।

लेख: व्याख्यामें यजमानस्तु(यजमान तो) इत्यादिका अभिप्राय यह है कि यद्यपि 'यजमान' शब्द सभी याज्ञिकोंका बोधक है, तो भी यहां मुख्य याज्ञिकका ही वाचक है.

योजना: व्याख्यामें 'पंचममेव पुरुषार्थ...' इत्यादिका आशय यह है कि स्वतन्त्र भक्तिरूप, पुष्टिमार्गीय भजनको ही पुरुषार्थ माननेवाली गई।।२०।।

यमुनोपवनेऽशोक नवपल्लवमण्डिते।
विचरन्तं वृतं गोपैर्ददृशुः साग्रजं स्त्रियः ।।२१।।

वहां उन्होंने श्रीयमुनाजीके तट पर अशोक वृक्षोंके नये पत्तोंसे सुशोभित निकुंजमें विचरण भ्रमण करते हुए गोपोंके साथ बलभद्रजी सहित भगवानके दर्शन

किये।।२१।।

इस श्लोकमें गई हुई उन पत्नियोंको भगवानके दर्शन होनेका प्रकार कहते हैं. यमुनाजीतट पर निकुंजमें विचरते हुवे भगवानको देखा ऐसा सम्बन्ध है. (इस कथनसे) यह कहकर जलक्रीड़ा और स्थलक्रीड़ा करने योग्य भूमिकी सूचना की है. अर्थात् यहां इस स्थान पर उभयविध दोनों प्रकारकी क्रीड़ा हो सकती है. उपवनमें पुष्प, फल सदा ही रहते हैं, क्योंकि बगीचेमें पुष्प और फलवाले वृक्ष ही लगाये जाते हैं. यमुनाजी क्रूर हैं. इससे उपवनकी रक्षा थी और यमराजका भाग वहां नहीं था. (भगवानके पास गई हुई पत्नियोंको यज्ञशाला और घर दोनोंका त्याग करनेमें शोक हुआ होगा? इस शंकाकी निवृत्तिकेलिए अशोक वृक्षोंके नवीन पत्तोंसे सुशोभित कहा है.) वह उपवन अशोक वृक्षोंके नवीन पत्तोंसे सुशोभित था इससे उन जानेवाली पत्नियोंको यज्ञशाला और घरको छोड़नेमें शोक नहीं हुआ. इस कथनसे शय्याका निरूपण भी हो गया. विभावानुभावादिसे युक्त ऐसे उपवनमें (गोप) भोलेभाले गोपोंके बीचमें हंसकी चालसे चलते हुवे साग्रज क्रियाशक्ति सहित सब प्रकारसे रक्षा करनेमें समर्थ भगवानको देखा. वे स्त्रियां थीं, इसलिए अपनी मनोवाञ्छित अभिलाषाओंके साथ भगवानके दर्शन किये।।२१।।

लेख: इनको सर्वात्मभावकी प्राप्ति नहीं हुई थी, इसलिए व्याख्यामें समागम प्रकार कहा गया है अर्थात् अभिसरण(जाना) ही मुख्य था, दर्शन तो गमनके प्रकाररूपसे गौण था. क्रूरा पदका अभिप्राय यह है कि (तनुनवत्वमेतावता), नवीन शरीर(सेवोपयोगी)का दान करनेके दृष्टान्तसे श्रीयमुनाजी सारे विघ्नोंको दूर करनेवाली है. इस कारणसे उस उपवनमें विघ्न नहीं आवेंगे. 'यमराजका भाग नहीं है' इससे दूसरा यह तात्पर्य बतलाते हैं कि यमराजका दोष हटानेकेलिए ही यमुनाजीकी उत्पत्ति है, अर्थात् जीवोंको यमलोक(नरक)में (जानेसे रोकनेकेलिए) न जाने देनेकेलिए ही यमुनाजी भूतल पर पधारी हैं. साधारण रीतिसे भी बहिनमें भाईका भाग(हिस्सा) नहीं होता. इसलिए भगवानके निकट जानेवालोंका भगवानसे ही सम्बन्ध होता है. उनका फिर संसारमें आकर यमराजका सम्बन्ध नहीं होता है. उभय परित्यागे(दोनोंको छोड़नेमें)का अभिप्राय यह है कि भगवानकी न होनेकी बुद्धिसे जहां वे बैठी थी, उस स्थलका त्याग और शरीर आदिसे जहां रहती थी, उस घरका त्याग

किया. भगवानकी प्राप्ति न होने पर भी वैसे सर्व परित्यागसे भगवान् अवश्य मिल जायेंगे ऐसा निश्चय था इस कारणसे उन्हें शोक नहीं हुआ यह भाव है.

योजना: व्याख्यामें यमुना क्रूरा(यमुनाजी क्रूर है)का आशय यह है, कि भगवानके साथ सम्बन्ध होनेमें आनेवाले सारे विघ्नोंका नाश करनेवाली है, तो फिर केवल भगवान् ही की क्रीडाका स्थल अपने ही उपवन पर आनेवाले विघ्नोंका विनाश क्यों नहीं करेगी? करेगी ही. 'यमराजका भाग नहीं है'का तात्पर्य यह है कि यमराज कालरूप है और काल सबका भक्षण करनेवाला है तो कभी इस उपवनको भी नष्ट कर दे. परन्तु यहां बहिनके नातेसे विनाश न करके (रक्षा करना) बहिनके उपवनकी रक्षा ही करेगा जो उचित है. यह यमुना पदका तात्पर्य है।।२१।।

श्यामं हिरण्य–परिधिं वनमालि–बर्ह–धातु–प्रवाल–नट–वेषम् अनुव्रतांसे ।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ।।२२।।

जो श्याम स्वरूप, पीताम्बरधारी, और गलेमें वनमालासे सुशोभित थे. मोरपंखो, गैरु आदि धातुओंके रंगो और नवीन पल्लवोंसे सुसज्जित नटवर वेषसे मनोहर थे. एक सखाके कन्धे पर एक हाथ रखकर दूसरे हाथसे लिए हुए कमलको नचा रहे थे. कानों पर कमलके पुष्प, कपोलों पर काली अलकें और प्रसन्न मुखकमल पर मंद मुस्कानसे परम सुन्दर थे. ऐसे भगवानके दर्शन किये।।२२।।

उन पत्नियोंने वहां जाकर भगवानके जैसे स्वरूपको देखा उसका वर्णन करते हैं. नहीं तो यह भगवानका चरित्र नहीं रहेगा; क्योंकि वह अन्यकी गुणीभूत हो जायेगी. स्वरूप वर्णन करने पर तो उस रूपके प्राकट्यसे ऐसा निश्चय होता है कि स्वयं भगवान् ही अपनेको स्त्रियोंके देखने योग्यकर लेते हैं. यह इस 'श्यामं' श्लोकसे कहते हैं.

पहले वर्णका वर्णन करते हैं कि भगवानका श्याम वर्ण है. श्याम वर्ण शृंगार रसरूप, गौर वर्ण रजोरूप, तैजस लाल रंगका, जल प्रकृतिवाला सफेद और अव्यक्त रसवाला होता है. अन्न ही सब रसरूप और भोग्य होता है. (अन्न) वह केवल रसको उत्पन्न करनेवाला नहीं होगा? ऐसी शंकामें 'हिरण्यपरिधिं, वनमालिनं' इन पदोंसे दोनोंके सम्बन्धका निरूपण करते हैं. सोनेकी करधनी ही परिधिरूप है. कुण्डल, मुकुट, कण्ठके आभूषण, पीताम्बर, कडे, भुजबन्द आदि भी परिधिरूप ही जानने. इस प्रकार परिधि सहित अनन्त मूर्तिवाले श्याम

चन्द्रमाका निरूपण किया है. वे वनमाला पहने हुवे हैं. वह वनमाला सब भांतिके पुष्पोंकी बनी हुई और सफेद है. भगवानमें और भी सारे रसोंको बतलानेकेलिए बर्ह धातु प्रवाल इन तीन शब्दोंसे तीन साधनोंका वर्णन करते हैं. इन तीनोंका परस्पर सम्बन्ध होनेके कारण सब ही रसरूप है. बर्ह मोरकी चन्द्रिका चित्र विचित्र, गैरू आदि धातु लाल सफेद आदि अनेक रंगके और प्रवल लाल रंगके होते हैं. इनसे अद्‌भूत नट वेषवाले हैं. साक्षात् धर्मी सहित होकर रसदान करनेकेलिए आ गया है. अर्थात् केवल रस और धर्म सहित रस दोनों रसोंका दान करनेकेलिए भगवान् उपस्थित हुवे हैं. सामग्रीरूप लीलाको भी भगवान् स्वयं ही कर रहे हैं अनुव्रतांसे...कि गोपके कन्धे पर एक हाथ धरे हैं और दूसरे हाथसे कमलको घुमा रहे हैं. लीलाकी प्रधानताको दिखानेकेलिए भगवान् अपनी पराधीनताको बतला रहे हैं जो मित्रका सहारा ले रखा है. स्वतन्त्रतामें रस गुप्त हो जाता है. इसलिए अपने समान धर्मवाले आनुचरके कन्धे पर हाथ धरकर संयोग और विप्रयोग दोनो रसोंको प्रकट करते हुवे कमलरूप सारे विश्वको नचा रहे हैं. सारे विश्वको ही अन्यथा पलट दूंगा ऐसा बतलाते हुवे अपनी निर्भयताको सिद्ध कर रहे हैं. यह सब दासकी अनुकूलतामें ही होता है. थोड़ा भी भेद होने पर यह रस क्रियामें परिणत नहीं हो सकेगा. इस कारणसे क्रियाशक्तिके मूलरूप कन्धे पर ही हाथ रखनेका निरूपण किया है. दोनों हाथोंके एक स्थान पर रखने पर रस नहीं होता. इसलिए दूसरे हाथसे कमलको घुमा रहे हैं अर्थात् रसदानकेलिए ही कमलके मकरन्दको बरसा रहे हैं.

ज्ञान, क्रिया, मर्यादाशास्त्र, अंग और भक्तके विरोधकी शंकाको दूर करनेकेलिए 'कर्णोत्पलालक कपोल मुखाब्जहासं' यह पद कहा है. दोनों कानों पर कमल टके हैं और उन पर अलकें बाल सहित कमलों पर बैठे हुवे भौरोंकी तरह शोभा दे रही हैं. कपोलों और मुख पर मन्द मुस्कुराहट है. अर्थात् दोनों कपोलों और मुख पर हास्यका सम्बन्ध है. ये सभी अथवा कपोल और मुख ही कमल सरीखे हैं. दोनों कान योग और सांख्यरूप तथा प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गके बोधक शास्त्ररूप हैं. उत्पल(कमल) मर्यादारूप और अलक शास्त्ररूप तथा विद्वतारूप हैं. कपोल भक्तिके अंगरूप और मुख भक्तिरूप है. ये सभी सरस हैं. इसीलिए इन्हें कमलरूप कहा है. अर्थात् 'अब्ज' रसमेंसे उत्पन्न होनेवाले कहा है. इन सबमें मोह करानेवाला (सर्वव्यामोहक) भगवानका हास

फैला हुआ होनेसे उपर्युक्त ज्ञान-क्रिया आदि सबका विरोध दूर हो जाता है।।२२।।

टिप्पणी: व्याख्यामें 'ज्ञान क्रिययो:'से आरम्भ करके ''सर्व विरोधः परिहृती भवति''का आशय इस प्रकार है.

शंका: वे पत्नियां भगवानके संयोग तथा विप्रयोग शृंगाररूप ऐसे स्वरूपके दर्शन करके तत्काल पीछे लौट गई यह समजमें नहीं आता; क्योंकि ज्ञानका फल क्रियामें आता है अर्थात् रसरूप भगवानका ज्ञान होने पर तदनुसार रस योग ही की क्रिया करती. चली क्यों गई? इसलिए 'बर्ह धातु' आदिकी व्याख्यामें केवल धर्म सहित रसदानकेलिए आगमन, पराधीन होना, दोनों रसोंका प्रकट करनारूप क्रियाके वर्णनसे भगवानका ज्ञान भी उन्हें इस क्रियाके अनुकूल ही हुआ जाना जाता है. इसलिए लौट जाना क्रिया, ज्ञानके विरुद्ध थी. भगवानका ज्ञान, क्रिया आदि कभी विपरीत नहीं होते इससे मर्यादाका विरोध भी हुआ. कृष्णं 'घ्रिपद्ममधुलिट्' (कृष्णके चरणके मधु-मकरन्दका पान करनेवाला फिर छोड़े हुए घरमें पीछे नही जाता) इस भागवत् शास्त्र और रस शास्त्रका भी विरोध होता है. भगवानमें प्रीति पहले उनका श्रवण कीर्तन आदिके द्वारा उत्पन्न होती है इसलिए भगवत्प्रेमके अंग श्रवण कीर्तन आदिका विरोध होता है और भगवानकी संगति करनेवाली उन पत्नियोंका अन्य मनुष्योंको पतिरूपसे मानने पर भक्तिका विरोध भी होता है. उन पत्नियोंके पीछे घर चले जानेसे इस प्रकार ज्ञान क्रिया आदिके विरोधकी शंकाके समाधानमें व्याख्यामें व्यामोहको कारण बतलाया है अर्थात् इन सबका विरोध होते हुए भी वे मोहके कारण घर चली गई. तात्पर्य यह है कि इन सारे विरोधोंमेंसे उन्हें यदि किसी एककी भी स्फूर्ति होती (सांख्य, योग, मर्यादा, शास्त्र, अंग और भक्तिके विरोधमेंसे किसी एकके विरोधका भी उन्हें ध्यान रह जाता) तो वे भगवानके पास ही रहती, वापस घर नहीं लौट जाती. किन्तु मूलरूपमें इन सबोंका मोहरूप हास्यसे सम्बन्ध होनेके कारणसे उनमेंसे एककी भी जब स्फूर्ति नहीं हुई तो विरोधका कार्य भगवानके पास रुक जाना भी नहीं हुआ और वे पीछे घर चली गई.

अथवा भगवान् ब्रह्मरूप होनेसे सबमें समान है और ज्ञानशक्ति भी उनकी सबमें समान होनेसे ज्ञानशक्तिसे विकार उत्पन्न नहीं हुआ; किन्तु मोहने विकार उत्पन्नकर दिया. इस कारण वे घर चली गई. भगवानकी क्रियाशक्तिके

भी योगशास्त्र आदिमें किये हुए निरूपणके अनुसार मनकी समाधि(चित्तवृत्ति निरोध)का कारण होनेसे भी वे घर चली गई. ब्राह्मणियोंमें इस प्रकारके रस भावका प्रकट करना मर्यादाके विरुद्ध है. शास्त्र सबको अपने-अपने अधिकारके अनुसार भगवानका भजन करना बतलाते हैं; और तभी शुभ फल प्राप्त हो सकता है. अधिकारसे विरुद्ध करने पर विपरीत फल होता है. इन पत्नियोंको अपने अधिकारके अनुसार अपने विवाहित पतियोंका ही भजन करना उचित था. ऐसा न करके रस रीतिसे भगवानका भजन करना शास्त्र विरुद्ध था. शास्त्रानुकूल ही भजन भक्तिका अंग होता है. विपरीत रीतिसे शृंगारके भावोंको उत्पन्न करनेवाली रीतिसे भजन भक्तिके अंगका विरोधी होता है. ऐसे ही जाररूपसे भगवानका भजन करनेमें भक्तिका विरोध भी होता है. व्याख्यामें इन सब विरोधोंके समाधानमें व्यामोहको कारण बतलाया है अर्थात् पत्नियां व्यामोहसे घर चली गई. इसलिए सारे विरोध दूर हो गये.

तात्पर्य यह है कि जैसे लोकमें जो कोई जिस किसीका जिस कामको करानेकेलिए व्यामोह करता है. मोहित हुआ वह मोह करानेवालेके कथनानुसार ही कार्य करता है, अपनी इच्छानुकुल कुछ भी नहीं कर सकता. इसी तरह यहां भगवानने इन पत्नियोंका व्यामोह मर्यादाभावसे ही भजन करनेके अभिप्रायसे सिद्ध किया था. वो पुष्टिमार्गकी रीतिसे भजन करने जाती थी. इसलिए व्यामोह करके घर भेजकर पुष्टिमार्गीय भजनसे अलगकर दिया. इस कारणसे कुछ भी विरोध नहीं रहा.

अथवा प्रारंभमें ऐसी शंका की गई है कि जब भगवान् सब रसरूप हैं तो वे पत्नियां वहांसे घर कैसे चली गई? इसके समाधानमें व्याख्यामें 'सर्व व्यामोहात्' (सबके व्यामोहसे) यह पद कहा है. भगवानने उन सब पत्नियोंका किंवा सब अंशमें सब प्रकारसे उन पत्नियोंका ही ऐसा व्यामोहकर दिया कि जिससे भगवानके ज्ञान, क्रिया, मर्यादा, अंग और भक्ति आदि किसीका भी कार्य उन पर सिद्ध नहीं हो सका. इसलिए वे घर चली गई.

यहां तात्पर्य यह है कि उन पत्नियोंका घर चले जानेके वर्णनसे यह स्पष्ट है कि भगवानके ज्ञान क्रिया आदिका कार्य सिद्ध नहीं हुआ. तब उन व्यर्थ ज्ञान क्रियादिकका वर्णन क्यों किया गया? ऐसी शंकाको दूर करनेकेलिए उन ज्ञान क्रियादिकके कथनका प्रयोजन बतलाना आवश्यक है. वह प्रयोजन यह है कि

जिस पत्नीको मर्यादा देहसे अलग करके पुष्टिमार्गीय अलौकिक देह प्राप्त कराकर भगवान् अपने पास ले गये थे; उसीकेलिए भगवानने वे अपने ज्ञान क्रियादि धर्म प्रकट किये थे और उसी पर ही उन धर्मोंका भगवद्रस प्राप्तिरूप कार्य सिद्ध भी हुआ. घर चली जानेवाली पत्नियोंकेलिए तो वे धर्म प्रकट ही नहीं किये थे. इससे उन पर उन धर्मोंका कार्य सिद्ध नहीं हुआ. इस तरह कुछ भी विरोधकी आशंका ही नहीं रहती है. इस कारणसे इस श्लोकमें उनको भगवानका दर्शन होना नहीं लिखकर पहिलेके श्लोकमें ही दर्शन होना लिखा है. परन्तु अन्य पत्नियोंके और अन्तर्गृहगत एक पत्नीके द्वारा देखा हुआ भगवानका रूप एक ही है. इससे पहले श्लोकके साथ इस श्लोककी संगति की गई है. ज्ञान क्रियादिक धर्मोंकी प्रतीति होने पर भी अन्य पत्नियोंके हृदयोंमें उन धर्मोंका प्रवेश भगवानके हास्यरूप व्यामोहके कारणसे नहीं हो सका. पहले श्लोकमें तो उन्हें ज्ञान क्रियादिक भगवानके धर्मोंकी प्रतीति ही नहीं हुई और यहां इस श्लोकमें धर्मोंकी प्रतीति होने पर भी उनका उनके हृदयमें प्रवेश नहीं होना बतलाया गया है यह विशेषता इस श्लोकमें है.

लेख: व्याख्यामें रसके उद्दीपन करनेकी सामग्रीको 'रजः' पदसे बतलाया है. ऐसा टिप्पणीजीमें पहले कहा गया है. इस प्रकार रजोगुणको रसका उद्दीपक कहा है, रसरूप नहीं कहा है. इसी आशयसे 'एव' ही पदका प्रयोग किया है. गौर वर्ण शृंगारका उद्दीपक होता है और शृंगाररसका श्याम वर्ण है. वेदमें तैजसका लाल वर्ण कहा है. केवलं(केवल) तात्पर्य यह है कि रसके पक्षमें यदि उद्दीपक और रस गुप्त न रहे तो वह किसी अन्यके हृदयमें रसको उत्पन्न नहीं करता है. केवल 'बर्ह' पदसे नटवेष बताकर केवल रस कहा गया है. पहले कहे हुए श्याम आदि तीन विशेषणोंसे शृंगाररसको अन्यका सम्बन्धी बतलाकर धर्मसहित कहा है. 'सामग्रीरूपा' सामग्रीरूप लीलाको देखकर रस उद्बुद्ध जागृत होता है. इससे रसके उद्बोध करनेमें लीला सामग्री कारण है स्वातन्त्र्ये जब रस स्वतन्त्र होता है तब वह गुप्त रक्षितरस रहता है. उत्पलानां कमल ब्रह्माण्डरूप है इसलिए कमलरूप मर्यादाके कारण है.

लेख: शृंगारका श्यामरूप होनेसे शृंगार रसात्मक है, हिरण्य परिधि विशेषण द्वारा कहे गये सुवर्णके मेखलादि आभरण गौर है. इस कारण रजोरूप हैं. ''गौरो रजोरूप एव स्यात् तैजसश्च'' गौर वर्ण रजोरूप ही होता है और तैजस होता है

इत्यादि पदोंसे उसका स्वरूप कहा है. मूलमें 'वनमालिबर्ह' कही हुई वनमालाका स्वरूप व्याख्यामें ''शुक्लो जल प्रकृतिकः अव्यक्त रसः'' (सफेद वर्ण जलकी प्रकृतिवाला और अप्रकट गुप्त रसवाला होता है) इन पदोंसे बतलाया है. सोनेकी करधनी आदि तैजस पदार्थो और वनमाला आदि जल प्रकृतिवाले पदार्थों सहित भगवानके श्याम स्वरूपका वर्णन व्याख्यामें ''अन्नमेव ही सर्वरसात्मकं भोग्यं च'' (अन्न ही सब रसरूप और भोग्य है) इत्यादि पदोंसे किया है.

श्रुतिमें लालरूपको तैजस अग्निका, श्वेतरूपको जलका और श्यामरूपको अन्नका रूप बतलाकर अन्नकी श्यामता कही गई है. अन्न पृथिवीरूप है और पृथिवीमें सारे रस हैं और वे सबके भोग्य है. इस प्रकार यहां ''श्यामं हिरण्य परिधिं'' भगवानके श्याम स्वरूपके वर्णनसे भगवानकी अन्न–पृथिवीरूपता सर्वरसात्मकता और सर्वभोग्यता सिद्ध की है. तात्पर्य यह है कि शृंगार रसरूप श्यामवर्णवाले भगवान् वैसा शृंगार रसात्मक ही भाववाली स्त्रियोंके भोग्य हैं. ''अनेन परिधिसहितः सहस्रमूर्तिः श्यामश्चन्द्रो निरूपितः'' इत्यादि कथनसे इस प्रकारके विशेषणोंसे युक्त श्यामवर्णके वर्णन करनेसे, परिधिरूप सुवर्णकी मेखला मुकुट, कण्ठाभरण, पीताम्बर, कंकण, भुजबन्ध आदिसे युक्त असंख्य अवतार धारण करनेवाले कृष्णचन्द्र भगवानका वर्णन किया है यद्यपि परिधि पदसे, सूर्य और चन्द्र दोनोंका ग्रहण हो सकता है, किन्तु श्यामवर्ण कहने और शृंगाररसमें चन्द्रमा ही सहायक होनेके कारण, यहां चन्द्र ही कहा गया है. 'सहस्रमूर्ति' विशेषण तो मेखला आदि आभूषणोंके स्वरूपके विचारसे दिया है, अर्थात् द्वितीय स्कन्धकी सुबोधिनीजीमें वराहादि सारे अवतारोंको भगवानके प्रादेशमात्र आदि धर्मोंके अवतार कहे हैं. वहां मेखलाको वामनजीका और पीताम्बरका अवतार बतलाते हुए सभी अवतारोंमें भगवानके आभरणोंका वर्णन किया है. इस प्रकार मेखला आदि रूप वामन आदि अवताररूपोंसे युक्त कृष्णचन्द्रका वर्णन है. ''अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्वनिधेर्नृप''(सत्वनिधि भगवानके अवतार असंख्य है) इस प्रकार सूतजीके कथनसे वे अनन्त अवतार भगवानके असंख्य आभरण स्वरूप होनेके कारण सहस्र मूर्ति जो विशेषण दिया है वह उचित ही है.

''केवलं रसं धर्मसहितमपीति''(केवल रस और धर्मसहित रस) इत्यादि

व्याख्याका आशय यह है, कि मूलश्लोकमें बर्ह पदसे नाट्यके अनुसार वेषका वर्णन करनेसे केवल रस कहा है; क्योंकि वेणुगीतके अध्याय व्याख्या(सुबोधिनी)में ''केवलो नाट्ये प्रसिद्धः''(केवल रस नाट्यमें प्रसिद्ध है) केवल रसका नाट्यमें होना निर्धारितकर दिया है. वह केवल रस, विप्रयोग शृंगाररस है और श्याम, हिरण्य परिधि इत्यादि विशेषणोंसे धर्म सहित अर्थात् संयोग शृंगाररसका वर्णन किया है; क्योंकि वेणुगीतकी व्याख्यामें वहीं ''धर्म सहितः सम्भोगे''(सम्भोग शृंगारमें धर्म सहित है) सम्भोग शृंगारमें धर्म सहितका होना बतलाया है. 'ज्ञान क्रिययोः'से लेकर ''विरोधः परिहृतो भवति'' तक व्याख्याके पदोंका अर्थ टिप्पणीमें स्पष्ट कह दिया है. ''कर्णयोरुत्पले ये अलकाः'' इत्यादि व्याख्याका तात्पर्य यह है कि कान तो कमलकी नालरूप और उन पर स्थित कमलों पर गिरी हुई अलकें भौंरेरूप हैं।।२२।।

प्रायःश्रुतप्रियतमोदयकर्णपूरैः यस्मिन् निमग्न–मनसस्तम् अथाक्षिरन्ध्रैः ।
अन्तःप्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य तापं प्राज्ञं यथाभिमतयो विजहुर्नरेन्द्र ।।२३।।

नित्य बार–बार सुने हुए जिन प्रियतम कृष्णके गुणरूपी कानके आभरणोंके द्वारा जिनका मन उनमें लीन हो रहा था, वे पत्नियां भगवानको सामने देखकर नेत्रोंके द्वारा उन्हें हृदयमें बिठाकर सुषुप्तिके साक्षी प्राज्ञ पुरुष (भगवत्स्वरूप)में मिलकर जैसे अहंकारकी वृत्तियां शान्त होकर लीन हो जाती है; उसी प्रकार हे राजन् वे पत्नियां अपना ताप दूर करके भगवानके स्वरूपमें लीन हो गई।।२३।।

इस प्रकार भगवानके स्वरूपका वर्णन करके 'प्रायः' इस श्लोकसे उन पत्नियोंके स्वरूपका वर्णन करते हैं. बारंबार निरन्तर सुने हुवे और कानोंके भूषण बने हुवे भगवानके कीर्तिरूप गुणोंके द्वारा भगवानको हृदयसे लाकर, उनमें अपने मनको उन्होंने इस तरह लीन कर दिया, जैसे घरमें गंगाका प्रवाह आजाने पर, घर गंगामें लीन हो जाता है. हृदयमें रहे हुवे उन्हीं भगवानको फिर दूसरी तरहसे आंखोंके छिद्रोंके द्वारा हृदयमें प्रवेश कराकर(लाकर) पत्नियोंने अपने तापको दूर किया. पहले कानोंके द्वारा शब्दात्मक भगवानका उनके हृदयमें प्रवेश हुआ और अब नेत्र द्वारा रूपात्मक भगवान् प्रवेश करत हैं यह प्रवेशका प्रकार भेद, मूलमें आये हुवे अथ पदसे सूचित होता है. उस शब्दरूपसे कानों द्वारा हृदयमें प्रविष्ट हुवे

भगवानने पत्नियोंके संसार सम्बन्धी ताप ही दूरकर दिये थे. अलौकिक ताप दूर नहीं हुवे थे. रूपात्मक(नेत्र द्वारा हृदयमें बिराजमान्) भगवान् अलौकिक तापोंको दूर करते हैं. इसलिए मूलमें 'तापं जहुः' (ताप रहित हुई) ऐसा कहा है.

ताप तो, उन पत्नियोंके सारे ही अंगोंमें घुसा हुआ था और भगवानको तो, केवल हृदयमें बिठाया था. वह उनके सारे अंगोंमें रहनेवाला ताप एक मात्र हृदयमें, उनका प्रवेश करानेसे दूर कैसे हो गया? ऐसी शंकाका उत्तर 'सुचिरं परिरम्य' (बहुत अधिक समयतक भगवानका आलिंगन करके) पदोंसे देते हैं. बहुत देर तक आलिंगन करनेसे उनका सारा ताप मिट गया था. उनका वह ताप केवल शान्त(दूर) ही नहीं हुआ; किन्तु नष्ट ही हो गया; क्योंकि वे भगवानमें लीन हो गई थीं. इस बातको (प्राज्ञं यथाभिमतयः) दृष्टान्त देकर समझाते हैं. जैसे अहंकारकी वृत्तियां सुषुप्तिके साक्षी, अपनी आत्मा भगवत्स्वरूपको प्राप्त करके उसीमें लीन हो जाती है; ऐसे ही पत्नियोंने भगवानमें सायुज्य प्राप्तकर लिया था लीन हो चुकी थी. उनके संस्कार बाकी थे, इससे वे सायुज्यसे पीछे बाहर आ गई. यदि संस्कार शेष नहीं होते तो सायुज्य ही हो जाता. मूलमें आये हुवे 'प्रायः' शब्दका भाव यह है, कि पत्नियोंने भगवानके सभी गुणोंको नहीं सुना था. यदि वे सारे ही गुणोंको सुन लेती तो फिर भगवान् हमको मोहितकर रहे हैं इस प्रकार मोहमें नहीं पड़ती(सचेत हो जाती). केवल सुना ही था; किसी अनुभाव (सामर्थ्य)को नहीं देखा था. और वह सुनना भी प्रियतमरूप(कामभाव)से ही था, भक्तिका साधनरूप शुद्धभावसे नहीं था. यहां 'उदय' पदसे केवल कोमल भावोंको ही उन्हींनें सुना था यह जाना जाता है. वे कोमलभाव भी कानमें ही प्रवाहरूपसे प्रवेश करते हैं सारे अंगोंमें प्रविष्ट नहीं होते हैं क्योंकि देख लेनेके पीछे ही सारे अंगोंमें प्रवेश हो सकता है और अभी तो (इन्होंने भगवानको नहीं देखा) यहां ऐसा नहीं हुआ. इसलिए केवल मन ही भगवानमें लीन हुआ, शरीर आदि लीन नहीं हुवे. अभी तक भी भक्तिनिष्ठामें भी, वे ज्ञाननिष्ठ ही रही; क्योंकि भीतर ही (भगवानका) सत्कार किया और सायुज्यको प्राप्त किया. उनका ज्ञान तमोरूप, भक्ति रजोरूप और संग सत्वरूप था. इस कारणसे, यहां सुषुप्ति गाढ निद्राका दृष्टान्त दिया गया है. तापकी निवृत्ति फल हुआ और ज्ञान, भक्ति और संगके द्वारा तापरहित होकर आखोंसे पान करने योग्य भगवानके लावण्यरूपी अमृतका पान किया. नरेन्द्र यह सम्बोधन ध्यान देने और मोहित न

होनेकेलिए दिया गया है।।२३।।

टिप्पणी: 'प्रायःश्रुत' इत्यादि श्लोकमें 'कर्णपूर' पदकी व्याख्यामें ''दृष्टानन्तर्याभावात्''(दर्शनके पश्चात् प्रवेशका अभाव होनेसे) कहनेका अभिप्राय यह है कि दृष्ट दर्शनके आनन्तर्य पीछे प्रवेश होनेका अभाव था. तात्पर्य यह है कि यदि यहां वर्णन किये हुए भगवानके भावोंके अनुकूल ही उन पत्नियोंके भाव होते, तो पहिले अनुभवके अनुसार सभी अंगोंमें वह रस प्रकट होता. यहां तो भगवान् और उन पत्नियोंके भाव एकसे नहीं होनेसे, अर्थात् भिन्न-भिन्न होनेसे उन पत्नियोंको उस रसका आविर्भाव(अनुभव) नहीं हुआ.

लेख: 'अलौकिकाः' अलौकिक अर्थात् भगवानके विरहसे होनेवाले ताप भी नष्ट हो गये. 'ननू पशान्ता एव' (ताप शान्त ही हो गये होंगे नष्ट नहीं हुए होंगे) इत्यादिका आशय यह है, कि पिता-पुत्र, माता-पुत्र, मित्र-मित्र, गुरु-शिष्य आदि के आलिंगन भेदोंसे आलिंगनके अनेक प्रकार हैं. उनमें जैसे प्रियका आलिंगन करनेसे तापकी शान्ति ही होती है, इसी तरह उन पत्नियोंका भी ताप शान्त ही हुआ होगा; तापका नाश नहीं हुआ होगा? ऐसी शंकामें उन पत्नियोंके आलिंगनमें अभिमानकी वृत्तियोंको प्राज्ञकी प्राप्तिका दृष्टान्त दिया है इससे भेदरहित आलिंगन हो जानेके कारण, तापका नाश हो गया 'प्रियतमत्वेनैव' प्रियतमके भावसे ही सुननेके कारण, पत्नियोंका भगवानमें कामभाव ही था, भक्तिका साधनरूप ज्ञानसे शुद्धभाव नहीं था. 'इदानीमपि' भक्तिनिष्ठा होने पर भी. 'ज्ञानं हि' यहां 'एतासां' (इनका) पदका अध्याहार है. मनका लीन होनारूप ज्ञान कामभावसे होनेके कारण तमोरूप है. यह मूलमें आये हुए 'हि' अव्यय पदका अर्थ है. इसीलिए वृत्तियोंके लीन होनेका दृष्टान्त कहा है. आदर पूर्वक श्रीमुखके दर्शन करना भक्तिरूप है. देर तक गाढ आलिंगनरूप संग शान्तिरूप होनेसे सत्वरूप है. अन्यथा (केवल ज्ञान, भक्ति, संगके होनेसे) इस कथनसे श्लोकके अर्थका उपसंहार किया है. 'नेत्र' आदि शब्दोंसे महावाक्यका अर्थ कहते हैं. इस प्रकार 'ददृशुः स्त्रियः' (स्त्रियोंने देखा) इस पूर्वोक्त २१वें श्लोकमें कहा हुआ अभिसारका अंगरूप भगवानका दर्शन, भगवानका चरित्ररूप कहा था यह इन दो श्लोकोंसे सिद्ध किया. नरेन्द्र इस सम्बोधनका आशय है, कि ध्यानमें 'नर' मनुष्यका विशेष अधिकार होता है और नरोमें श्रेष्ठ(इन्द्र)को मोह नहीं होता है.

योजना: व्याख्यामें ''ज्ञानं हि तमोरूप'' (ज्ञान तमोरूप था)का अर्थ यह है कि पत्नियोंका भगवानमें कामीरूपका भाव होनेसे, वह भगवानका ज्ञान तमोरूपका था. 'रजोरूपा भक्तिः' इनकी भक्ति रजोरूप-राजसी थी. 'सत्वरूपः संगः' मूलमें ''सुचिरं परिरभ्य'' पदोंसे कहा हुआ बहुत देरतक किया हुआ आलिंगनरूप संग सत्वरूप-सात्विक था।।२३।।

तास्तथात्यक्तसर्वाशाः प्राप्ता आत्मदिदृक्षया।
विज्ञायाखिलदृग्द्रष्टा प्राह प्रहसिताननः ।।२४।।

वे पत्नियां सारी आशाओंको त्यागकर भगवानके दर्शनकी इच्छासे आई थी और इस बातको सभी मनुष्योंकी बुद्धिके सत्य साक्षी भगवान् जानते थे ही; तथापि (परीक्षाकेलिए) मुसकराकर कहने लगे।।२४।।

इसके पीछे 'तास्तथाः' इस श्लोकसे भगवानका कर्तव्य वर्णन करते हैं. पहले कही हुई रीतिसे, वे पत्नियां इस लोक और परलोककी सभी प्रकार इच्छाओं आशाओंका त्याग करके मेरे(भगवानके) दर्शन करनेकेलिए ही आई हैं ऐसा जानकर, भगवान् बोले. मर्यादामार्गमें तो इतना ही कर्तव्य है, कि भगवानका श्रवण करके उनके साक्षात् दर्शनकेलिए मनसे निदिध्यासन करना चाहिये वह भगवद्दर्शन (साक्षात्कार) तो पत्नियोंको हो ही गया. इसलिए विज्ञाय ऐसा जानकर, स्वयं ही किये हुवे रसरूपके प्रकारसे, विलक्षण रीतिसे, बोले. उनके स्वरूपको जानकर, अट्टहासयुक्त मुख करके बोले. दर्शन करनेके पीछे उत्पन्न होनेवाले भावोंका व्यामोह करनेकेलिए अत्याधिक(उच्च) हास किया. इस प्रकारसे व्यामोह करनेवाले वचन बोलना अनुचित है. ऐसी शंकाका समाधान अखिल दृग्द्रष्टा (सबकी बुद्धिके दृष्टा) पदसे करते हैं. भगवान् सबकी बुद्धियोंके दृष्टा-साक्षी हैं. सब गुणवाले धर्मियोंकी सभी भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियोंको जानते हैं. प्रवाहकी तरह सभी तरफ जानेवाले बाधक सहित और धर्म सहित धर्मियोंकी प्रवृत्तिमें आनेवाले तथा पीछेसे उत्पन्न होनेवाली सभी बाधाओंको भी भगवान् जानते हैं. इस कारणसे ये पत्नियां अन्तिम पक्षकी अधिकारिणी थीं अर्थात्, भगवद्दर्शनके पश्चात् भगवद्रसके अनुभव होनेमें बाधा(रुकावट)वाली थीं; इसलिए हास्यसे मोहक वचन बोली।।२४।।

स्वागतं वो महाभागा आस्यतां करवाम किम्।
यन्नो दिदृक्षया प्राप्ता उपपन्नमिदं हि वः ।।२५।।

हे महाभाग्यवतीओं! आओ बैठो. मैं तुम्हारा स्वागत करता हूं. कहो मैं तुम्हारा क्या सत्कार करुं. यदि तुम केवल मेरे दर्शनकेलिए आई हो तो तुमने बहुत अच्छा किया. मेरे दर्शनार्थ आना तुमने उचित ही किया।।२५।।

भगवतो वाक्यमाह स्वागतमितिचतुर्भिः।
पूर्वानुवादस्तत्रैव उपपत्तिश्च तद्विधाम्।
मर्यादायां प्रवेशश्च ततो गन्तव्यबोधनम्।।का.१।।

कारिकार्थ: भगवानके वचन स्वागतं इत्यादि चार श्लोकोंसे कहते हैं. प्रथम श्लोकमें पहिले कहे हुएका अनुवाद है. दूसरे श्लोकमें, उनके आगमनकी प्रशंसा अभिनन्दन है. तीसरे श्लोकमें उनका मर्यादामार्गमें प्रवेश और चौथे श्लोकमें घर चलेजानेका बोध किया है.

व्याख्यार्थ: अब तक हुई बातका पहले अनुवाद करते हैं. लौकिक रीतिसे कि तुम्हारा बहुत सुन्दर आगमन हुआ. यह कहकर कुशल पूछी. तुम महाभागाओं बड़भागिनियां हो. इसलिए बाहिरकी कोई भी वस्तु तुम्हें देनेलायक नहीं बाकी रहती. महत्व पदसे आन्तर भीतरी भाग्य भी सूचित होता है. इस कथनसे तुम्हें सब समृद्धि और साक्षात्कार भी सिद्ध है यह कहा(निरूपण किया). पासमें आई हुई उन्हें परिश्रम न हो इसलिए बैठो बैठनेकेलिए कहा. हम तुम्हारा क्या प्रिय करें? यह कहकर उनके आनेका प्रयोजन पूछते हैं. इससे जो वस्तु तुम्हारे पास नहीं है उस वस्तुका संग्रह करा दूं और अन्तमें शुद्ध गति मोक्ष प्राप्तकर दूं ऐसा कहा. इसको 'यज्ञपत्न्यस्तथा परे' यज्ञपत्नियां और अन्य भी मोक्षको प्राप्त हो गये इस प्रकार आगे कहेंगे. वैष्णवका संग भी करा दूंगा. इसलिए उन याज्ञिकोंको भगवान् ज्ञान देंगे. उस ज्ञानके द्वारा शुद्ध हुवे उनकी समागममें सर्वथा प्रवृत्ति होगी. (वे भी भगवानकी शरणमें आना चाहेंगे) फिर उनके द्वारा ये पत्नियां भी मोक्ष पाने योग्य होवेंगी. इससे तुम्हारेलिए जो कुछ करना उचित है वही करूंगा ऐसा कहा है. हम तो केवल आपके दर्शनकेलिए ही आई है, अधिक और कुछ कर्त्तव्य नहीं है ऐसी शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि जो तुम मेरे दर्शनोंकी इच्छासे आई हो, यह उचित है. मूलमें 'वः' इस बहुवचनसे केवल भावका निवारण किया है. इसलिए यह कहा है कि यह तुमने बहुत अच्छा किया, क्योंकि सारी सामग्रीसे युक्त भगवानके दर्शन करना चाहिये।।२५।।

नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति कुशलाः स्वार्थदर्शिनः।

अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा ।।२६।।

अपने सच्चे स्वार्थको जाननेवाले कुशल पुरुष प्रीतिपात्र (मुझ पर) मेरी निष्काम और देह इन्द्रियादिके आवरणसे रहित अनन्य भक्ति करते हैं।।२६।।

शंका होती है कि भगवान् आपने कहा, वैसा तो मर्यादामार्ग और ज्ञानमार्गमें होता है. हमारी तो आपमें अत्यधिक प्रीति है. इसलिए प्रभो आपने यह कैसे कहा कि तुम्हें यही करना मेरे दर्शनार्थ आना मात्र उचित है? इसका उत्तर नन्वद्धा इस श्लोकसे देते हैं. ननु (साक्षात्) शब्दका यहां कोमल सम्बोधन अर्थमें प्रयोग किया है. स्नेह भी मर्यादामें ही उचित है. इसीसे बिना किसी कामनाके साक्षात् मेरी भक्ति करते हैं. 'मयि'(मुझमें) पदसे भगवान् सबकी आत्मा है यह निरूपण किया है. एकवचनसे भगवानके अतिरिक्त अन्य(किसी और देवतादि) सबकी भक्ति करनेका निषेध किया है. कुर्वन्ति(करते हैं) पदका तात्पर्य यह है, कि भगवानमें ही भक्ति करना कोई नई बात नहीं है, यह तो परम्परासे ही सिद्ध है; क्योंकि वे(भक्त) कुशल हैं. मेरी भक्ति करनेसे सारे साधन बिना परिश्रमके सहज ही सिद्ध हो जाते हैं और फल भी सिद्ध हो जाता है. 'ते हि स्वार्थ कुशलाः' वे ही सच्चे स्वार्थको जानते हैं. अन्य सब कुछ इन्द्रियादिकोंके पोषणमें जाता है. केवल यही परमात्माकेलिए होता है. जब तक भगवानमें प्रेम नहीं होता, तब तक आत्मामें भी प्रेम नहीं होता; क्योंकि भगवानमें होनेवाला ही प्रेम आत्मामें आता है. जब तक आत्मामें स्नेह नहीं होता, तब तक अन्य पदार्थोंसे अनुराग नहीं छूटता. इसलिए उनको 'स्वार्थदर्शी' और कुशल कहा गया है. इसीसे वे निष्कारण और देह इन्द्रियादिके आवरणसे रहित प्रेमलक्षण भक्ति जैसी प्रीतिपात्र आत्मामें करते हैं, वैसे ही मुझमें करते हैं. ज्ञानियोंकेलिए आत्मा ही दृष्टान्त होता हैं, क्योंकि आत्मासे ऊपरकी कक्षा परमात्मा तक तो उनकी पहुंच ही नहीं है. लोकमें भी अपनी प्रीतिके विषयपात्र पति आदिकोंमें भी आत्माका ही दृष्टान्त दिया जाता है. इसी प्रकार लोकके दृष्टान्तसे ही अलौकिक पदार्थका ज्ञान भी किया जाता है अर्थात् अलौकिक पदार्थका ज्ञान करानेकेलिए लौकिक सिद्धका ही दृष्टान्त दिया जाता है।।२६।।

टिप्पणी: ''यावन्न भगवति प्रेम'' (जब तक भगवानमें प्रीति नहीं हो) इत्यादि व्याख्याका भाव यह है, कि भक्तिमार्गमें, भगवान ही स्वतन्त्र पुरुषार्थरूप है. इसलिए सारी उपाधियोंसे रहित निष्काम सबसे अधिक स्नेह भगवानमें ही होता

है, और अपनी आत्मा आदि पर स्नेह भी भगवान पर होनेवाले स्नेहका उपयोगी होनेके कारण ही होता है. यह सिद्धान्त है(ऐसी वस्तुस्थिति है). इसीसे महिषीगीतमें ''यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भगवत्प्रसादं जह्यामसून्'' (हे कमलनेत्र, यदि आपकी कृपा नहीं होगी तो प्राणोंका त्यागकर दूंगी) ऐसा कहा है. तात्पर्य यह है कि जैसे विषयी मनुष्योंको आत्माके अध्यासवाले देह इन्द्रिय आदिमें आत्माका ज्ञान न होने पर भी अत्यन्त स्नेह होता है. इसी प्रकार भगवानमें स्नेह न रखनेवाले मोक्षकी कामनावालोंका विषयोंसे वैराग्य हो जाता है.

लेख: व्याख्यामें 'एवं सति' इत्यादिका अभिप्राय यह है, कि भक्तिमार्गमें भगवान् पर ही स्नेह होना मुख्य है. इसीलिए भगवद्रूप आत्मामें स्नेह होता है. जिससे दूसरी वस्तुओं परसे स्नेह हट जाता है. यह हो सकता है, किन्तु मुमुक्षु(मोक्ष चाहनेवाले) लोगोंका तो भगवानमें ही स्नेह नहीं होता, तो फिर भगवद्रूप आत्मामें स्नेह कैसे सिद्ध होगा और जब आत्मामें स्नेह नहीं होगा, तो उनका(मुमुक्षु लोगोंका) विषयोंसे वैराग्य कैसे हो सकेगा? ऐसी शंकाका निवारण दृष्टान्त द्वारा करते हैं. जैसे विषयी पुरुषोंको आत्माका ज्ञान नहीं है. इसलिए उनका आत्मामें स्नेह भी नहीं होता. किन्तु तो भी आत्माकी उपाधिरूप देह, इन्द्रियादि पर स्नेह होता ही है. इसी प्रकार मुमुक्षु पुरुषोंका भगवानमें स्नेह न होने पर भी, भगवानकी उपाधिरूप आत्मामें स्नेह हो जाता है. विषय आत्माका नाश करनेवाले हैं. इसीलिए मुमुक्षु पुरुषोंका विषयोंसे वैसे ही वैराग्य हो जाता है, जैसे विषयी पुरुष, शरीरका नाशकर देनेवाले पदार्थोंसे द्वेष करते हैं. इससे यह सिद्ध हुआ की यद्यपि उपाधिका ज्ञान ही स्नेहका कारण है तो भी मूल साक्षात् भगवान् तक न पहोंचनेके कारण वह वैराग्य दृढ नहीं होता इसलिए व्याख्यामें जब तक भगवानमें स्नेह नही होता, तब तक आत्मामें स्नेह नहीं होता ऐसा कहा है. इसीसे भरतजीकी फिर विषयोंमे आसक्ति हो गई थी. व्याख्यामें 'भर्त्रादौ' पदके पीछे आत्मा दृष्टान्त ऐसा अध्याहार है. ज्ञानार्थं अर्थात् लौकिक दृष्टान्तसे अलौकिक ज्ञानकेलिए. इसीलिए 'न वा अरे पत्युः कामाय' इत्यादि श्रुतिमें दृष्टान्तपूर्वक आत्माका बोध कराया गया है. इसी अभिप्रायसे व्याख्यामें 'हि' शब्दका प्रयोग किया है.

योजना: तृतीय स्कन्धमें भगवानने ब्रह्माजीसे कहा है कि हे ब्रह्माजी! मैं आत्माओंकी आत्मा और प्यारोंसे प्यारा हूं. इसीलिए मेरे ऊपर स्नेह करो.

आत्माकेलिए ही देहादिक प्रिय लगते हैं ''यावनून भगवति स्नेहः'' इत्यादि व्याख्याके पदोंका अर्थ टिप्पणीमें स्फुट कह दिया गया है।।२६।।

प्राणबुद्धिमनःस्वात्म–दारापत्यधनादयः।
यत्सम्पर्कात् प्रिया आसंस्ततः कोऽन्वपरः प्रियः ।।२७।।

प्राण, बुद्धि, मन, अपनी आत्मा, स्त्री, पुत्र और धन सभी कुछ मेरे सम्बन्धसे प्रिय लगते हैं. इसलिए मुझसे अधिक कोई दूसरा प्यारा नहीं है।।२७।।

इसीका उपपादन प्राण बुद्धिः इस श्लोकसे करते हैं. प्राण आदि सभी पदार्थ आत्माके सम्बन्धसे प्यारे लगते हैं. आत्मा भी परमात्माके सम्बन्धसे ही प्रिय लगती है. परमानन्द भी तभी प्रिय लगता है, जब उसका आत्मासे सम्बन्ध होता है. केवल आत्मा तथा केवल आनन्द भी प्रिय नहीं लगता है. यदि केवल आनन्द भी प्रिय लगता हो तो दूसरेका आनन्द भी प्रिय लगना चाहिये. और यदि केवल आत्मा ही प्रिय लगता हो तो किसी दूसरे दुःखी जीवकी आत्मा भी प्रिय लगनी चाहिये. किन्तु ऐसा नहीं होता. इसलिए परमानन्द आत्मरूपसे और आत्मा परमात्माके सम्बन्धसे ही प्रिय होते हैं. इससे यह सिद्ध है, कि प्राण, बुद्धि आदिमें होनेवाला स्नेह उपाधिवाला है, सहज(स्वाभाविक) स्नेह तो मेरे ऊपर ही होता है. इस कारणसे दूसरा कोई कैसे प्रिय हो सकता है. प्राण इन्द्रियां और प्राण, बुद्धि जो मनको नियममें रखनेवाली है, मन, अपना शरीर, धन सम्पत्ति, आत्मा अर्थात् देह अथवा आत्मा, दारा(स्त्रियां) अपत्य(पुत्रादि) और धन पशु आदि सभी कुछ आत्माके सम्बन्धी हैं. और जिन–जिनका आत्मरूप मेरे साथ सम्बन्ध है, वे सभी प्रिय लगते हैं. इससे मेरे अतिरिक्त कौन प्रिय हो सकता है. मैं तो सबका नियामक हूं, नियम्य होता है, वह प्रिय नहीं होता है।।२७।।

लेखः मूलमें आए हुए अपर पदका अर्थ यह है कि 'पर' अर्थात् नियामक (सबको अपने वशमें रखनेवाले) भगवान् और अपर (जो पर न हो नियामक न हो) नियम्य(भगवानके वशीभूत) जीव अपर दूसरा तो नियम्य ही होता है।।२७।।

तद् यात देवयजनं पतयो वो द्विजातयः।
स्वसत्रं पारयिष्यन्ति युष्माभिर्गृहमेधिनः ।।२८।।

अब तुम देवयज्ञको लौट जाओ. तुम्हारे पति ब्राह्मण और गृहस्थी हैं. वे तुम्हारे साथ ही अपना यज्ञ पूरा करेंगे।।२८।।

तुम्हारे यहां आनेका कार्य सिद्ध हो गया मेरे दर्शन हो गये, अब घर चली

जाओ यह तद् यात इस श्लोकसे कहते हैं. यद्यपि मैं आत्मा हूं, तो भी बाहिर रमण करनेसे बुद्धिमें विकार उत्पन्न हो जायेगा. इसलिए वह उचित नहीं है, क्योंकि तुम पतिव्रता हो. विवाहादि संस्कारोंसे संस्कृत हो. इस कारणसे, देवयज्ञमें लौट जाओ. तुम्हारे पति ब्राह्मण हैं. संस्कारका नाश हो जाने पर, यज्ञ सिद्ध नहीं होता. इसलिए वे तुम्हारे साथ ही उनके यज्ञको पूरा करेंगे. क्योंकि वे गृहस्थ हैं. गृहस्थियोंको अपनी स्त्रियोंके साथ ही यज्ञ-यागादि कर्म करनेका अधिकार होता है. इस कारण तुम चली जाओ; क्योंकि तुम्हारा मेरा दर्शनरूपी कार्य सिद्ध हो गया है. तुम्हारे चले जानेसे वे तुम्हारी रक्षा करेंगे. तुम्हारे साथ ही वे अपना यज्ञ पूर्ण कर सकेंगे. इसलिए उन पर तुम्हारा उपकार होगा. उनकी जाति, यज्ञ, गृहस्थाश्रम सबको सिद्ध करनेकेलिए तुम्हें चले जाना चाहिये।।२८।।

पत्नय ऊचुः

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सत्यं कुरुष्व निगमं तव पादमूलम् ।
प्राप्ता वयं तुलसिदामपदावसृष्टं केशैर्निवोढुम् अतिलङ्घ्य समस्तबन्धून् ।।२९।

यज्ञपत्नियोंने कहा कि हे विभो(सर्व समर्थ) ऐसे क्रूर वचन कहना आपको उचित नहीं है. वेदके वचन अपनी प्रतिज्ञाको सत्य कीजिए. हम अपने बन्धु-बांधवोंको छोडकर आपकी अनादरके साथ भी दी हुई चरणोंसे दूर की हुई भी उच्छिष्ट(प्रसादी) तुलसीकी मालाकों अपने सिर पर धारण करने अर्थात् दासी होनेकेलिए आपके चरणोंके मूलमें निकट उपस्थित हुई हैं।।२९।।

पत्नियां तो सबका परित्याग करके आई हैं और भगवानका दर्शन पा चुकी हैं. अब फिर पहली जैसी अवस्थाको प्राप्त करना अनुचित है. ऐसा विचार करके घर न भेजनेकी प्रार्थना 'मैवं' इस श्लोकसे करती हैं. घर जाना तो अनुचित है और कर्तव्य नहीं है. तो भी यदि भगवानके वचनानुसार करना पड़े घर चले जाना पड़े, तो वमनको खानेके समान बहुत भारी भय उत्पन्न होनेकी शंका करके प्रार्थना करती हैं हे विभो! सब प्रकारसे सब कुछ करनेमें समर्थ आप इस प्रकार न कहें, क्योंकि ये वचन नृशंस है अर्थात् स्वरूप, फल और अर्थ सब प्रकारसे क्रूर हैं. स्वरूपसे क्रूरता तो यह है, कि पुष्टिमार्गकी प्रवृत्ति करनेकेलिए भगवानने अवतार लिया है, वे मर्यादाका स्थापन, हमारेलिए मर्यादामें रहनेकी आज्ञा, कैसे करते हैं? यह मर्यादा भी नहीं हैं, क्योंकि त्यागकर देनेके पीछे फिर उसी पदार्थका ग्रहण करना कह रहे हैं. यद्यपि स्त्रियोंकेलिए त्याग करना नहीं कहा है, तो भी,

जब आपने अवतार लिया है तब तो स्त्रियोंकेलिए भी त्याग उचित ही है; क्योंकि, आनन्दरूप भगवान् आप स्त्रियोंकेलिए ही प्रकट हुवे हो. दूसरे समय अवतारमें फलरूप आनन्द नहीं है (अभाव है). स्त्रियां भोग्य हैं. इससे उनका अन्यगामी होना आवश्यक होनेके कारण, भले ही उनकेलिए त्याग अनुचित हो, किन्तु यहां तो ऐसा नहीं है (इससे विपरीत है); क्योंकि आनन्दरूप भगवान् स्वयं ही भोग कर सकते हैं और फलका अनुभव भी स्वयं ही करा सकते हैं. इसलिए अन्यका त्याग करना उचित नहीं है. ऐसी दशामें फिर उसका ग्रहण करनेकेलिए कहना फलकी दृष्टिसे क्रूरताको सूचितकर रहा है. अब अर्थसे क्रूरताका वर्णन करती हैं, कि इस प्रकारके वचनोंसे दयाका अभाव सूचित होता है अर्थात् संसारकी दावानलसे निकले हुवेको, फिर उसीमें प्रवेश करा रहे हैं(जानेकेलिए कह रहे हैं). यदि ऐसा करने पर ही पुरुषार्थ सिद्ध होता हो, तो भी आपका हमको चले जानेकी आज्ञा देना उचित नहीं है; क्योंकि आप सर्व समर्थ हैं. इसलिए यहां ही पुरुषार्थ सिद्धिका प्रकार सिद्ध कर दो. आप स्वयं हमारे पतिरूप होकर किसी स्थान पर बिराजो, अथवा हमको अन्यथा गोपिकारूपमें दिखा दो, या आत्मारूप आपमें, हमारा प्रवेश करा लो. वृक्ष–लता आदि बना दो अथवा हमें अदृश्य कर दो. इस प्रकार सारे उपायोंके रहते हुवे संसारमें ही किसलिए भेज रहे हो? कदाचित् आप यों कहें, कि ये सारे उपाय तो सिद्ध करने लायक हैं और घर तो सिद्ध ही है. उसमें तो कोई नई बात नहीं करना है. इसके उत्तरमें कहती हैं कि 'सत्यं कुरुष्व' वेदके वाक्योंको सत्य करिए. वेदमें त्यागी हुई वस्तुका फिर ग्रहण करानेका निषेध किया है. 'तस्मान्न्यासमेषां तपसामति रिक्त माहुः' 'न च पुनरावर्तते', 'मामुपेत्यतु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते' श्रुतिमें लिखा है कि इन तपस्वियोंकेलिए त्याग करना उचित है, फिर नहीं लौटता है, फिर संसारमें नहीं आता है, हे अर्जुन! मुझको पाकर फिर जन्म नहीं लेता है. यह अनेक प्रकारके वेदके वचन यदि आप हमसे घर चले जानेकेलिए कहेंगे तो असत्य हो जायेंगे. इसलिए अपने वेदको सत्य करिये छोड़े हुवे घरको फिरसे ग्रहण मत कराइये. यदि आप यह कहें, कि मामुपेत्य मेरा सायुज्य होनेके पीछे जन्म नहीं होता और तुम्हारा तो मेरे साथ सायुज्य नहीं हुआ है, तुम तो मेरेसे भिन्न रह रही हो. इसलिए तुम्हारे चले जानेमें दोष नहीं है तो इसके उत्तरमें कहती हैं कि 'तव पादमूलं प्राप्ता वयं' (हम आपके चरणके मूलको प्राप्त हो गई हैं). प्राणी तो अपने प्रयत्नसे केवल इतना ही कर सकता है, कि

आपके चरणोंके निकट आ जाये. आपके चरणोंका मूल अर्थात् प्रेम, अथवा चरणोंकी रज धारण करना, अथवा चरणोंकी छायाका आश्रय लेना, अथवा चरणोंका अवलम्बनवाले चित्तमें स्थित रहना अथवा सेवाकेलिए चरणोंके नीचे रहता रहे. इनमेंसे प्राणी कुछ भी कर ले. इसके पीछे शेष सब आपको ही करना चाहिये. किसी तरह उसकी अधोगति नहीं करना चाहिये. शंका: आप सब स्त्रियां हो और कामनावाली हो इसलिए लोक विरुद्ध, शास्त्र और अवतारके विरुद्ध काम मैं कैसे करूं? इसलिए तुम्हें यहांसे शीघ्र ही चले जाना ही उचित है. इसके समाधानमें कहती हैं 'तुलसिदाम'(आपके चरणोंसे उत्तरी हुई तुलसीकी मालाको अपने केशोंमें धारण करनेकेलिए) कि हमारी इच्छा अनुचित कामकी नहीं है, किन्तु सारे दिन आपकी सेवा करके स्वामीके सोने(शयन) करनेके समयमें अथवा नींदमें चरणोंकी सेवा करती-करती चरणोंमें आभरणरूपसे धारण की हुई तुलसीकी मालाको जो आपने प्रसादरूपसे दी है अथवा अस्पर्शके समयमें दूरसे उतार दी है, उसको परम पुरुषार्थ समझकर महा प्रसादरूपसे लेने अथवा केशों पर वेणी, शेखर आदिके रूपसे धारणकेलिए आपके चरणोंके मूलको प्राप्त हुई हैं. यदि आप उस तुलसी मालाको हमारे चले जानेके पीछे घर पर ही भेज देनेकेलिए कहें तो हम तो अपने 'अतिलङ्घ्य समस्तबन्धून्' सारे बान्धव, पति पुत्रादिका त्याग करके आई हैं. इसलिए उनके विरोधसे, हम घर पर नहीं रह सकेंगी. तब ऐसी दशामें आप उस मालाको हमारे पास नहीं भेज सकोगे. इसलिए हमें चले जानेकी आज्ञा मत देओ।।२९।।

लेख: 'आदौ' स्वरूप, फल और अर्थसे क्रूरतामें प्रथम स्वरूपसे क्रूरताका वर्णन किया है. 'नापीयम्' इत्यादि पदोंसे विरुद्ध विधान करके, फलसे क्रूरताका वर्णन किया गया है. अतः भगवानके अवतार लेने पर उचित ही है. यह फलरूप आनन्दके अभावमें हेतु है. 'उचित एव' फलका अनुभव करानेके कारण उचित ही है. किञ्च इत्यादि पदोंसे दयाका अभाव बतलाकर अर्थसे क्रूरताका वर्णन किया है. तद्रूप(पतिरूप) अन्यथा आदि पदोंका भाव यह है कि गोपिका आदि रूपसे हमको अन्य जीवोंसे भिन्न दिखा देओ. मूलपदका अर्थ प्रेमको प्राप्त हो गई यह है. 'रजः' आपके चरणोंकी धूलिको धारणकर रही हैं. छाया-छायाका आश्रय करके उसके(अनु) पीछे चलनेवाली हैं. इस प्रकार तीनों भांतिसे क्रूरताका वर्णन करके भिन्न रीतिसे मूल प्राप्तिका विवेचन करते हैं. चित्ते-

चरणोंका अवलम्बन करनेवाले चित्तमें स्थिति अर्थात् निष्ठा. अधः–चरणके नीचेके भागमें निवासका वर्णन 'स्वामिनो निद्रा समये' इत्यादि पदोंसे किया गया है. 'पादयोः समर्पितम्' चरणोंके आभूषणोंके स्थान पर पुष्पोंके आभरणोंकी तरह बांधी हुई मालाको, खुले हुए केशों पर, तुलसीकी माला नहीं ठहर सकती. इसलिए केश शब्दका अर्थ वेणी, शेखर आदि किया गया है. 'न तत्र स्थितिः' अर्थात् घरोंमें हम नहीं रह सकेंगी तो फिर घर पर तुलसीकी मालाको कैसे भेज सकोगे।।२९।।

गृह्णन्ति नो न पतयः पितरौ सुता वा न भ्रातृबन्धुसुहृदः कुतएव चान्ये।
तस्माद् भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नो नान्या भवेद् गतिररिन्दम तद् विधेहि।।३०।।

ओरोंकी तो कौन कहे हमारे पति, मां–बाप, पुत्र, भाई–बन्धु और मित्र भी अब हमको ग्रहण नहीं करेंगे; क्योंकि हम उनकी बात न मानकर आई हैं. हे शत्रुदमन! आपके सिवाय, अब हमारी ओर कोई गति नहीं है. इसीसे हम आपके चरणोंकी शरणमें आई हैं. हमको अंगीकार करिये. आपके साथ ही रहने दीजिये।।३०।।

आपने कहा कि पति, पुत्रों पर उपकारकेलिए घर चली जाओ. तो यह भी सम्भव नहीं है इस बात को गृह्णन्ति इस श्लोकसे कहती हैं. वे हमको अंगीकार ही नहीं करेंगे, क्योंकि, हम उनके वाक्योंका उल्लंघन करके आई हैं. यदि पति स्वीकार न करें, तो मां–बापके घर रहना इस पक्षका भी निषेध करती हैं कि 'पितरौ' मां–बाप भी नहीं रखेंगे. पुत्र रखकर अलग अन्न देते रहेंगे, बान्धव अपने पास रख लेंगे, अथवा मित्र कुछ उपकार कर सकेंगे यह भी कुछ सम्भव नहीं है. प्रत्यक्षमें बान्धवोंके विरुद्ध कार्य करनेके कारण और लोग तो कभी रख ही नहीं सकते और यदि जाति, बन्धुओंका त्याग करके किसी और स्थान पर रहनेसे तो यहीं आपके निकट रहना ही उचित है. कदाचित् आप यह कहें, कि यहां रहनेवालोंको स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती है, तो मत होओ. इस बातको भवत्प्रपदयोः इत्यादि पदोंसे कहती हैं कि आपके चरणोंमें गिरी हुई हमारी भले ही गति न होए तो भले ही मत हो(कुछ परवाह नहीं है) चरणोंके आगे गिरे हुए की (गति) तो जूता अथवा मौजा आदि की तरह चरणकी गति ही गति है. इस तरहसे हमारी भी हमारे पतियोंके साथ स्वर्ग आदि की गति प्राप्ति भले ही मत हो. आपके चरणोंकी ही गति हमारी करिए. आपकी दासी होकर आपके साथ सब

स्थानोंमें पर्यटन(भ्रमण) करती रहें. आपको हमारे पति पुत्रादिकोंका भय तो है ही नहीं, क्योंकि अरिन्दम शत्रुनाशक हो. इसलिए आपके साथ आप जहां जावो, वहीं जानेकी आज्ञा दीजिए।।३०।।

लेख: सर्वत्र पर्यटनमके आगे कुर्वन्त्यो भवाम ऐसा अध्याहार है अर्थात् सब जगह पर्यटन करती हुई होवें.

योजना: 'गमनमेव विधेहि' आपके जाने पर हम भी वहीं आपके साथ ही चलें ऐसी आज्ञा करीए।।३०।।

श्रीभगवानुवाच

पतयो नाभ्यसूयेरन् पितृभ्रातृसुतादयः।
लोकाश्च वो मयोपेता देवा अप्यनुमन्वते ।।३१।।

श्रीभगवानने कहा 'हे पत्नियों! तुम अपने घर जाओ. तुम्हारे पति, पुत्र, भाई आदि कोई तुम पर दोषारोपण नहीं करेंगे; क्योंकि तुम मेरे पास आई हो. मेरे पास आनेवाली तुम्हारा देवता भी आदर करेंगे, अथवा जो मेरे पास आ जाते हैं उनका देवता भी सम्मान करते हैं।।३१।।

इस प्रकार प्रार्थना करनेवाली उन पत्नियोंने वापस घर चलेजानेमें पति पुत्रादिकोंको बाधकरूप बतलाकर लौट जानेका निषेध किया. इस कारणसे भगवान् शीघ्र ही उस बाधाका समाधान 'पतयः' इस श्लोकसे करते हैं. त्याग करने तथा स्वीकार न करनेकी तो सम्भावना ही नहीं है वे तो तुमसे ईर्ष्या भी नहीं करेंगे. पिता आदि भी पूर्वकी उपाधिसे रहित हैं. अर्थात् पतिमें रहनेवाला काम पितामें नहीं है. पितामें रहनेवाला लोभ भाईमें नहीं होता है. इसलिए वे भी तुमसे ईर्ष्या नहीं करेंगे और अन्यलोग भी, तुम पर दोषारोप नहीं करेंगे, क्योंकि मेरे पास आनेवाली तुम्हारा, तो देवता भी सन्मान करेंगे. शास्त्रके अथवा युक्तिके विरुद्ध किये हुवे कार्योमें सभीकी असम्मति होती है (किसीकी भी सम्मति नहीं होती) किन्तु अपनी आत्माके पास जानेमें, कोई बुरा नहीं समझता(किसीकी भी असम्मति नहीं होती). यदि अपनी आत्माके (पास) जानेमें भी किसीकी असम्मति हो, तो अपने आपका स्वयं स्पर्श करने, अथवा अपने आपको अपने कार्यकेलिए जाने पर भी त्याग करना हो जाये. (किन्तु ऐसा नहीं होता)।।३१।।

टिप्पणी: इस 'पतयो नाभ्यसूयेरन्' श्लोककी व्याख्यामें 'पित्रादयोपि' इत्यादि पदोंका तात्पर्य यह है कि पति, पिता, भ्राता और पुत्र आदिके द्वारा उन

पत्नियोंको रोका जानेका क्रमसे जो धर्म प्रथमपति आदिमें कारण था, वह आगे नहीं था. इसीका 'न हि' इत्यादि पदोंसे व्याख्यामें स्पष्टीकरण किया गया है. पिताका पुत्रीके लड़के, दौहित्रके द्वारा दिए जानेवाले पिण्डमें लोभ होता है. इसलिए पिता लोगोंने रोका. वह पिण्डका लोभ भाईयोंको नहीं होता. भाई तो बहनोंके सौभाग्यकी इच्छा रखता है. इस इच्छासे भाईयोंने सबको रोका. पुत्रोंमें तो ऐसी इच्छा नहीं होती. पुत्र तो माताके निर्दोष भावकी अपेक्षा करते हैं. इसीलिए पुत्रोंने निषेध किया था. अन्य साधारण लोगोंको तो इसकी भी अपेक्षा नहीं थी. यद्यपि अन्य लोगोंके द्वारा रोके जानेका कोई सा भी धर्म इनसे असूया करनेमें कारण नहीं था, तो भी इन वाक्योंसे यह सूचित होता है कि उन पत्नियोंमें तो अब उन-उन धर्मोंका नाश हो गया था. केवल उनके उन पति, पिता आदिकोमें ही वे विभिन्न धर्म थे, जिनके ही कारण उन्होंने उन्हें भगवानके पास जानेसे रोका था.

लेख: ''सम्भावना नास्ति एव'' (सम्भावना है ही नहीं) इस प्रकार 'एव' पद अयोग व्यवच्छेदका सूचक है.

योजना: त्यागा. अर्थात् तुम्हारे पति लोग ईर्ष्या भी नहीं करेंगे. भगवानके इस कथनसे त्याग करने और ग्रहण नहीं करनेकी सम्भावना ही नहीं है. त्याग और अग्रहण पदोंमें द्वन्द्व समास है और फिर दोनोंकी असम्भावना ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास है. त्याग अर्थात् फिरसे स्वीकार नहीं करना और अग्रहण अर्थात् उसी समय स्वीकार नहीं करना ''पूर्व पूर्वोपाधिरहिता'' इत्यादि पदोंका तात्पर्य टिप्पणीमें स्फुट कर दिया गया हैं।।३१।।

न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह।
तन् मनो मयि युञ्जाना अचिरान् मामवाप्स्यथ।।३२।।

यदि कहो, कि हमको तो अंगसंगकी इच्छा है, उसके बिना हम कैसे लौट जाएं? तो यहां अंग-संग, प्रीति या मुझमें स्नेह भी उत्पन्न नहीं करेगा मनुष्योंको भी प्रीति उत्पन्न नहीं कर सकेगा, इसलिए अपने घरमें ही रहकर मुझमें अपना मन लगाओ. इसीसे मुझे शीघ्र प्राप्त कर लोगी।।३२।।

यदि ऐसा है तो लोक और वेदका विरोध नहीं होनेके कारण हमें आपके अंगका संग हो जाना चाहिये, जिसकी इच्छासे ही हम आई हैं इस प्रकार पत्नियां कहें तो उसके उत्तरमें 'न प्रीतये' श्लोक कहते हैं. इस समय अंगसंग मनुष्योंकी

प्रीति करनेवाला नहीं होता है. अंगसंग अर्थात् अंगके साथ संग. वह तो आत्माके साथ ही अथवा मनके साथ ही उचित है. अंगके साथ तो भगवानका संग उचित नहीं है. बाधित होनेके कारण भगवानके और पत्नियोंके दोनोंके अंगोंका संग कहना उचित नहीं है. इसलिए लोकके विरुद्ध होनेसे, भगवानके साथ अंगसंग कर्त्तव्य नहीं है. यदि अंगसंग कर्त्तव्य ही हो, भक्तिकेलिए करना चाहिये; जिससे भगवानमें अधिक हो. परन्तु वह भी नहीं होगा इसको 'अनुरागाय' पदसे कहते हैं. अंगसंगसे तुम्हारा भी अनुराग तथा स्नेह नहीं होगा और इस अंगसंगका ज्ञान मनुष्योंको हों जानेसे उन (मनुष्यों)का भी स्नेह मेरे ऊपर नहीं होगा. संग तो सायुज्यमें अत्यन्त प्रतिबन्धक (बाधक) है. इसलिए मुझमें ही मनको लगाती हुई तुम मुझको शीघ्र ही प्राप्त हो जाओगी. इस कथनसे उनकी अन्य गतिका निवारण किया है. सरलतासे जो कार्य सिद्ध हो जाता है तो फिर कठिन मार्गसे सिद्ध करना उचित नहीं होता. इसलिए ऐसा कहा है।।३२।।

लेख: 'बाधित्वात्' भगवानमें अंगांगीभाव नहीं होनेसे अर्थात् भगवानका अंग और आत्मा दोनों भिन्न नहीं होते हैं.

योजना: 'न प्रीतये' इत्यादि श्लोककी व्याख्यामें''अंगयोरिति न वक्तव्यम्' इत्यादिका आशय यह है, कि यज्ञपत्नियोंके अंगवाली होने पर भी भगवानका अंग सिद्धान्तमें भगवानकी आत्मासे भिन्न नहीं है. इसीलिए ''केवलानुभवानन्द स्वरूपः सर्वबुद्धि दृक्'' वसुदेवजीने स्तुतिमें भगवानको केवलानुभवानन्द स्वरूप और सबकी बुद्धिका साक्षी देखनेवाला कहा है।।३२।।

श्रीशुक उवाच

इत्युक्ता द्विजपत्न्यस्ता यज्ञवाटं पुनर्गताः।
ते चानसूयवस्ताभिः स्त्रीभिः सत्रमपारयन्।।३३।।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि 'हे राजन्!' भगवानके यों कहने पर वे विप्र पत्नियां फिर यज्ञशालाको लौट गई. वहां पतियोंने उनसे कुछ असूया न करके उनके साथ यज्ञको पूरा किया।।३३।।

भगवानके वाक्यका उल्लंघन नहीं हो सकता. इसका वर्णन 'इत्युक्ता' इत्यादि श्लोकसे करते हैं. यह यज्ञ पहला ही है, इससे सब स्थानों पर द्विज पदका प्रयोग किया गया है. इसीलिए आगे इनके तीन जन्म कहे जायेंगे. इस यज्ञकी

समाप्ति होने तक, तो वे द्विज ही हैं. यहां यह शंका होती है कि श्रुतिमें बतलाया है, कि दीक्षितके द्वारा सीमित यज्ञकेलिए नापी हुई भूमिसे बाहर चले जाने पर यज्ञका नाश हो जाता है; तो फिर वे पत्नियां उस यज्ञकी सीमित भूमिसे बाहर क्यों चली गई? श्रुतिमें कहा है, कि दीक्षित गर्भ सदृश है और यज्ञकेलिए नापी हुई समिति भूमि योनिके तुल्य है. उस यज्ञ सीमासे बाहर चले जाना गर्भ स्रावके समान है. जो व्रत नियम दीक्षितकेलिए होते हैं, वे उनकी पत्नियोंकेलिए भी है. ऐसी दशामें यज्ञ पूरा कैसे हो सका? इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह शंका सत्य है; किन्तु यहां मुख्यपत्नी नहीं गई और उन याज्ञिकोंको भी मुख्यफल स्वर्ग प्राप्ति नहीं हुई. केवल भगवत्पदकी प्राप्ति ही हुई है; क्योंकि आगे उनका भी भक्तरूपसे निरूपण किया है. ये संस्कार उनके पद प्राप्तिरूप मुख्यफलके सहायक हैं, यज्ञके उपकारक नहीं है. विवादमें, ऋत्विज भाव बलवान् होता है इस न्यायसे भी, वे मुख्य नहीं थीं और यज्ञ कर्मके समय पर वे पीछे आ भी गई थीं. 'यज्ञावाटं पुनर्गताः' मूलमें इन पदोंसे उनका पीछे घर चले जाना कहा है. भगवानने जो कहा था वैसा हुआ 'ते चानसूयवः' द्विजोंने उन पर असूया दोषारोपण नहीं की. उनहीं पत्नियोंके साथ अपने यज्ञको पूर्ण किया।।३३।।

लेख: यहां एक पत्नीका मरण हो गया, तो भी प्रतिनिधि स्थापित करके यज्ञ समाप्त किया जा सका; क्योंकि मीमांसाके छठे अध्यायके तीसरे पादमें ऐसी व्यवस्था की है, कि यजमानकी भी यज्ञमें मृत्यु हो जावे तो प्रतिनिधि स्थापित करके यज्ञ समाप्तकर लेना चाहिये।।३३।।

तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथा श्रुतम्।
हृदोप गुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम् ।।३४।।

उनमें एक यज्ञपत्नीको उसके पतिने पकड़ रखा था, जिससे वह भगवानके दर्शनकेलिए नहीं जा सकी थी. उसने जिस रूपसे, भगवानका श्रवण किया था, उन भगवानका हृदयसे आलिंगन करके, कर्मका बन्धन करनेवाले अपने शरीरको छोड़ दिया. (वह सबसे पहले भगवानसे जा मिली)।।३४।।

मुख्य यज्ञपत्नी नहीं गई इस बातको 'तत्रैका' इस श्लोकसे कहते हैं. उनमेंसे एकको उसके पति यजमानने पकड़ रखा. जिससे अनर्थ ही हुआ. वह 'यथा श्रुतं भगवन्तम्' इत्यादि पदोंसे कहते हैं कि उसने पहलेसे ही सुने हुवे भगवानका हृदयसे आलिंगन करके, देहको छोड़ दिया. देहका त्याग करनेमें,

कारण यह था, कि देहसे कर्मोंका बन्धन होता है, इसलिए अपकार करनेवाले शरीरको छोड़ दिया. (भगवानसे मिलनेमें बाधक होनेके कारण देहको छोड़ दिया.) अपनी आत्माके अधिकारकेलिए देहका ग्रहण है. देहका तो इतना ही उपकार है. वह उपकार तो मनके द्वारा ही सिद्ध हो गया, हृदयसे भगवानका आलिंगनकर लिया जिसका भगवानसे आश्लेषकर लिया हो, उसका भगवानके पाससे दूसरे स्थान पर जाना उचित नहीं हैं. जैसे भगवानकी शक्तियां भगवानके पास ही रहती हैं, वैसे ही उस मुख्याका दूसरी देहमें अथवा दूसरे स्थान पर रहना उचित नहीं. आत्माका सम्बन्ध जब ही कर्मोंके साथ होता है, तब ही बन्धन होता है. इसीसे कर्मकेलिए वह पत्नी वहां नहीं गई; क्योंकि वह समय तो, कर्मका ही था. इसलिए उसने त्यागको ही श्रेष्ठ समझा. यज्ञ कार्य अभी चल रहा था और वह कर्मके वशीभूत नहीं थी. इसलिए अन्तर्गृहगता गोपिकाओंकी तरह उसकेलिए भी कर्मका भोग कहना उचित नहीं है. देवतारूप, उस पत्नीके देहसे, काल-कर्म और स्वभाव दूर हो गये थे क्योंकि उसने तो भगवानका आलिंगनकर लिया था. अन्तर्यामी भगवान् भी निवृत्त तिरोधान हो गये दूसरे, उसकी भगवानमें मुक्ति सिद्ध हो गई।।३४।।

लेख: व्याख्यामें 'स्थानान्तर'का अर्थ, दूसरी देहको प्राप्त करना है. 'देवतारूपायाः' 'दिवु' धातुसे देवता शब्द बना है. दिवु धातुका क्रीड़ा करना अर्थ है. इसलिए अन्तःकरणसे भगवानका आलिंगन करनेवाली ऐसा अर्थ है. 'भगवानपि' अन्तर्यामीरूप भी निवृत्त हो गया. इस कारण कृष्णमें उसकी मुक्ति सिद्ध हो गई ऐसा भाव है.

योजना: व्याख्यामें 'अपकारित्वात्यागः' (अपकार करनेवाला होनेसे, त्यागकर दिया)का तात्पर्य यह है कि देहको पतिने रोक दिया. वह देह भगवानके सम्बन्धमें बाधक था. इसलिए देहका अपकार करनेवाला जानकर उसका त्याग किया. ''आत्मनोऽधिकारार्थ एतत्परिग्रहः'' (आत्माके अधिकारकेलिए देहका अंगीकार है)का अभिप्राय यह है कि भगवदीय जीव भगवानकी सेवामें अधिकारकेलिए ही देहको अंगीकार करते हैं; क्योंकि केवल जीव(देह रहित जीव) देहके बिना हरिकी सेवा नहीं कर सकता है. इसलिए देहका स्वीकार है. 'उपकारस्त्वेतावानेवेति' जीव पर देहका भगवत्सेवारूप ही उपकार है. यह उपकार यदि देहसे सिद्ध होता है, तो देह सफल है और भगवत्सेवारूप उपकार

देहसे नहीं होता है, तो ऐसी देह सब दोषोंका कोष(खजाना)रूप ही है, तथा अत्यन्त अपकार करनेवाली है. इसलिए व्याख्यामें 'एतावानेव' केवल यही उपकार है ऐसा कहा है. 'स च अन्यथैव सिद्धः' वह उपकार दूसरी रीति मानसिक आलिंगनसे ही सिद्ध हो गया; क्योंकि मूलमें 'हृदोपगुह्यविजहौ' यह वाक्य है. इसीको व्याख्यामें 'भगवानेवोपगूढ़ः'(भगवानका आलिंगन किया) पदोंसे कहा है. स्थानान्तरं भगवानका आलिंगन करनेवालीका स्थान भगवानके निकटसे दूसरा अलग नहीं होना चाहिये. जब तक देह है, तब तक ही पतिके साथ रहकर यज्ञ कर्मका सम्बन्ध है और कर्म करने पर, फिर कर्म बन्धन अवश्यंभावी है इसलिए देहके त्यागको ही श्रेष्ठ मानकर देह छोड़ दी. ''यज्ञ इदानीं समारूढः'' इत्यादिसे लेकर 'वक्तव्यः' यहां तक व्याख्या ग्रन्थका तात्पर्य है कि यज्ञके दिनों(में) बीचमें भगवानने भोजन मंगवाया था; किन्तु द्विजोंने तो नहीं दिया था और द्विजपत्नियां सारी सामग्री सिद्ध करके लेकर जब भगवानके निकट जा रही थीं, तब एक पत्नीको उसके पतिके द्वारा रोके जाने पर, उसने देह छोड़ दी. इस कारणसे, यज्ञरूप वह कर्म असिद्ध हो गया था. सिद्ध नहीं हुआ कर्म नियामक नहीं होता. इसलिए वह कर्मके अधीन नहीं हुई. तब कर्मका भोग भी नहीं हो सका. इसमें 'गोपिकानामिव' व्रजसीमन्तियोंका विपरीत दृष्टान्त दिया गया है. अभिप्राय यह है, कि जैसे आगे फल प्रकरणमें बतलाया जायेगा, कि गोपिकाओंके भगवानके असह्य विरहके कारण, होनेवाले तीव्र संतापसे, पापका क्षय और ध्यानमें भगवानके आलिंगनसे होनेवाले परम सुखसे पुण्यका क्षय हो गया था, उस तरह इस पत्नीके पाप पुण्यका क्षय होना निरूपण नहीं किया.

''देवता रूपायाः पत्नयाः'' इत्यादि व्याख्याका यह आशय है कि ''यज्ञो वै यजमानः'' इस श्रुतिसे आधिदैविक यज्ञका अधिष्ठान् यजमान और आधिदैविक यज्ञपत्नीका अधिष्ठान् यजमानकी पत्नी होती है. इसलिए देवतारूप आधिदैविक यज्ञपत्नीका अधिष्ठान्, यजमान पत्नीका देह होनेके कारण, उसके काल, कर्म और स्वभावकी निवृत्ति हो गई; क्योंकि उसने भगवानका आश्लेशकर लिया था. इस प्रकार यज्ञरूप कर्मके सिद्ध न होनेसे, कर्म बन्धन नहीं होनेके कारण तथा काल, कर्म, स्वभावकी निवृत्तिका निरूपण करके, उस पत्नीकी भगवानमें भक्तिका वर्णन किया. भक्तिमार्गीय जीवका,

अन्तर्यामीमें लय नहीं होता. इसलिए अन्तर्यामी भगवान् निवृत्त हो गये(छिप गये), इस कारण उस परम भक्त यजमान पत्नीने पुरुषोत्तममें मुक्ति प्राप्तकर ली।।३४।।

भगवानपि गोविन्दस्तेनैवान्नेन गोपकान्।
चतुर्विधेनाशयित्वा स्वयं च बुभुजे प्रभुः ।।३५।।

सर्व समर्थ भगवान् गोविन्दने उसी चार प्रकारके अन्नसे, गोपोंको भोजन कराया और आपने भी (बलभद्रजीके साथ) भोजन किया।।३५।।

उस पत्नीके भगवानमें सायुज्य प्राप्तकर लेनेसे भगवानने उस सायुज्य प्राप्त करती हुई पत्नी और बालकोंको भोजन कराया. इस बातको भगवानपि इस श्लोकसे कहते हैं. यदि कोई दूसरा उपाय करना चाहते, तो उसको करनेकी भगवानमें सब सामर्थ्य है. केवल आज्ञासे भी भगवान् क्षुधाको दूरकर सकते हैं, तो भी भगवान् गोविन्द गायोंके और सारे धर्मके भी इन्द्र हैं. इसलिए धर्म भक्ति और अपने वाक्यकी रक्षाकेलिए उस ही (भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य) सारे रसोंसे पूर्ण चार प्रकारके अन्नसे गोपोंको भोजन कराकर स्वयं भगवानने भोजन किया और बलभद्रजीने भी भोजन किया. अपना भोजन तो पहिलेकी(गोपोंका सा) तरह ही था. इस समय भगवानमें सायुज्य पानेवाली पत्नीने भी भोजन किया. इसलिए 'वः' इस बहुवचन पदका विरोध नहीं आता है. भगवानने यह अपूर्व कार्य इसलिए किया था, कि आप प्रभु सब कुछ करनेमें समर्थ हैं।।३५।।

लेख: व्याख्यामें धर्मकी रक्षाकेलिए अर्थात् जिनको ज्ञानकी प्राप्ति हो चुकी है, उनको भिक्षाके अन्नसे ही निर्वाह करना चाहिये. भक्तिकी रक्षाकेलिए अर्थात् उस भक्त पत्नीको प्रसाद देनेकेलिए. अपने वाक्यकी रक्षाकेलिए अर्थात् यदि आज्ञासे क्षुधा मिटा देते, तो फिर अन्नके लिए भगवानका गोपोंको यज्ञशालामें भेजना व्यर्थ हो जाता. इसलिए अपने वाक्यकी रक्षाकेलिए भी भगवानने उसी अन्नसे सबको भोजन कराया और स्वयं भी भोजन किया।।३५।।

एवं लीलानरवपुर्नृलोकमनुशीलयन्।
रेमे गोगोपगोपीनां रमयन् रूपवाक्कृतैः ।।३६।।

लीला करनेकेलिए ही मनुष्यरूप धारण करनेवाले भगवान् इस तरह नरलोकके सभी धर्मोंका अनुशीलन करते हुए अपने रूप, वचन और कार्योंके द्वारा, गायों, गोपों, गोपीजन सभीको रमण कराते थे और स्वयं भी रमण करते

थे।।३६।।

वैदिक ज्ञान और कर्मका निरूपण करके 'एवम्' इत्यादि श्लोकसे उपसंहार करते हैं. केवल क्रीड़ाकेलिए ही नररूपधारी भगवान् सारे ही लौकिक वैदिकरूप नरलोकका अनुशीलन करते हुवे अपने धर्मके साथ योग करते हुवे मर्यादा और पुष्टि दोनों प्रकारके जीवोंको भगवत् शास्त्रके अनुसार करके गायों, गोपों और गोपियोंके मध्यमें रमण करते थे, उनके सम्बन्धी होकर रमण करते थे, अथवा द्वितीयाके अर्थमें, षष्ठी विभक्ति मानकर उन गायों और गोपीजनोंको रमाते हुवे स्वयं रमण करते थे. स्वरूपसे गायोंको, वचनसे गोपोंको, कृतिसे गोपीजनोंको रमण कराया, अथवा सभीके द्वारा सबको ही रमण कराया. इस प्रकार, सत् चित् आनन्द तीनों रमणके साधनोंका निरूपण किया. अपने रमणमें भी इन तीनोंका ही सम्बन्ध था।।३६।।

लेख: सच्चिदानन्दरूपा निरूपिता: रूप वाणी और कृतिरूप सच्चिदानन्दका निरूपण किया. यहां क्रमसे रूप सद्रूप, वाणी चिद्रूप और कृति आनन्दरूप इस तरह एक-एक नहीं समझना चाहिये; किन्तु ये सभी, इनमेंसे एक-एक भी अलग-अलग भी सच्चिदानन्दरूप हैं. यह तात्पर्य है।।३६।।

अथानुस्मृत्य विप्रास्ते अन्वतप्यन् कृतागसः।
यद् विश्वेश्वरयोर्याच्ञामहन्म नृविडम्बयोः।।३७।।

उधर वे ब्राह्मण नरलोकका अनुकरण करनेवाले दोनों जगदीश्वरोंको याचनाके भंगकर देनेका स्मरणकर, अपनेको अपराधी मानकर पश्चाताप करने लगे।।३७।।

इस प्रकार ब्राह्मणोंके मर्यादामार्गीय ज्ञान, कर्म तथा विप्रपत्नियोंके पुष्टि ज्ञान और कर्मका निरूपण करके उनकी फलरूप भक्तिका निरूपण 'अथानुस्मृत्य' श्लोकसे करते हैं. भगवानकी एक कृति(कार्य) अनेक कार्योंको सिद्ध करनेवाली होती है. उन द्विजोंका प्रबोधनरूप कृति जैसे यहां बालकोंको शिक्षाकेलिए, पत्नीकी मुक्तिकेलिए, द्विजोंको प्रबोधकेलिए और मर्यादाकी स्थापना आदिकेलिए हुई. इसलिए वाक्योंसे, प्रबोध पानेवाले द्विजोंके भक्ति बोधक वाक्योंको कहते हैं.

पश्चात्तापो विगर्हा च हेतुस्तस्य च रूप्यते।
तथात्वे चापि हेतुर्हि स्वहीनत्वं च कर्मभिः।।का.१।।

संस्काराणामहेतुत्वं भक्तेरन्यच्च साधनम् ।
स्वभक्तेर्बोधनं हेतुरन्यथा नोपपद्यते ।।का. २।।
तथात्वसाधनं तस्य कर्मवैयर्थ्यबोधनम् ।
द्वाभ्यां रूपद्वयोक्त्यैव स्त्रीसम्बन्धात् कृतार्थता ।।का. ३।।
क्षमापनं नमस्कारैः प्रार्थनाभिर्निरूप्यते ।
अनागमनमिच्छतो भक्त्यैवेत्थम्मतिर्भवेत् ।।का. ४।।

कारिकार्थः इन चार कारिकाओंमें इस ३७वें श्लोकसे लेकर इस अध्यायके अन्तके ५१वें श्लोक तक इन १५ श्लोकोंमें बतलाए जानेवाले विषयोंका वर्णन किया है. वह यों है. ३७वें श्लोकमें पश्चाताप, ३८वें श्लोकमें विगर्हा(स्वनिन्दा) ३९वें श्लोकमें निन्दाका हेतु, ४०वें श्लोकमें भगवानसे विमुख होनेका हेतु माया, ४१वें श्लोकमें भक्ति द्वारा स्त्रियोंका उत्कर्ष और कर्म द्वारा अपनी हीनता, ४१वें श्लोकेमें संस्कारोंसे भक्तिका न होना, ४२वें श्लोकमें भक्ति होनेका संस्कार साधन नहीं, भगवानका अनुग्रह ही कारण है, ४३वें श्लोकमें भगवानकी अन्न याचना अपने प्रबोधकेलिए थी, ४४वें श्लोकेमें अन्य प्रयोजनका निषेध, ४५वें श्लोकमें भगवानकी याचना किसी प्रकार कोई ओर प्रयोजनका निषेध, ४६वें व ४७वें श्लोकोमें कर्मकी व्यर्थताका बोधन करके, कर्म और भगवानके स्वरूपोंका वर्णन, ४८वें श्लोकमें पत्नियोंके सम्बन्धसे अपनी कृतार्थता, ४९वें तथा ५०वें श्लोकोंमें प्रार्थना करके क्षमाकी याचना और ५१वें श्लोकमें भगवानके दर्शनकी इच्छा होते हुए भी कंसके भयसे नहीं आना इत्यादिका निरूपण किया जायेगा. ये ब्राह्मण पहिलेसे ही भक्त थे. इसलिए उनकी पश्चाताप करने, क्षमायाचना आदिकी सद्बुद्धि हुई।।१-४।।

व्याख्यार्थः 'अथानुस्मृत्य' इस श्लोकसे पहले अनुतापका वर्णन करते हैं. भगवदियोंके वाक्यका स्मरण करके और उसके द्वारा उसके मूलभूत भगवानके वाक्यको याद करके, वे ब्राह्मण कर्म जड़ताको त्यागकर, भक्तिका अनुसरण करने लगे. वे विप्र, अर्थात् पश्चिम बुद्धिवाले थे. इसलिए उन्हें पीछे ज्ञान उत्पन्न हुआ. तब वे पत्नियोंको रोकने, भोजन देनेका निषेध करने, अनुचित वचन कहने, भक्त पत्नीकी मृत्युका कारण होनेसे, अपराधी वे पश्चाताप करने लगे. अन्य सभी अपराधोंकी अपेक्षा भगवानकी आज्ञाका उल्लंघन करना महान् दोष है. इस(उस) दोषका वर्णन 'यद् विश्वेश्वरयो' इत्यादि पदोंसे मूलमें किया है. इस

द्विवचनको काल और पुरुषोत्तम वाचक अथवा शब्दब्रह्म, परब्रह्म वाचक समझना चाहिये. बालकोंके द्वारा ओदन विषयक याचना वास्तवमें तो आज्ञा भंग भगवानने ही करवाई; क्योंकि पहले याचनाका वाक्य कहकर भी भक्तके ऊपर कृपा करनेकेलिए फिर दुबारा भेजकर, द्विज पत्नी पर कृपा करनेकेलिए अपनी आज्ञाका भंग कराया. फिर पत्नियोंके पास भेजनेसे आज्ञा सिद्ध हो ही गई. राजा बलिसे याचना करनेके पीछे, फिर कहीं भी भगवानका याचना करना अनुचित है; क्योंकि बलिने कहा था 'न पुमान् मामुपव्रज्य' कि पुरुष मेरे पास आजानेके पीछे फिर याचक नहीं रहता. इसलिए यह याचना नहीं थी; किन्तु आज्ञा थी, इस प्रकार परम्परासे भी याचना भंगको दूर कर दिया.

ब्राह्मणानामयं धर्मः स्नेहाच्चापि न बाध्यते।
भिक्षारूपेण सा याच्ञा बाध्यते न तु लौकिकी।।का.१।।

कारिकार्थ: अन्नदानसे ब्राह्मणोंके यज्ञरूप धर्मका बाधा नहीं हो जाता. उनका भगवान पर स्नेह हो जानेसे भी उनके धर्ममें कोई हानि नहीं होती. भगवानने विहित भिक्षाका ही बाध कराया, लौकिक भिक्षाका बाध नहीं कराया.

व्याख्यार्थ: 'न्यास भूतौ प्रयच्छ मे' (धरोहररूप दोनों पादका मेरेलिए दान दो) 'तथापि याचे तन्नः प्रयच्छ' (तो भी जो मैं मांगता हूं. उसे मेरेलिए दो, 'तत्तन्निवेदयत्' (उस-उस 'प्रिय' पदार्थको निवेदन करे) इत्यादि वाक्य इस प्रकार विरुद्ध नहीं होते हैं. इसके अतिरिक्त, उन ब्राह्मणोंका कोई अनुचित ग्रहण नहीं किया और न उनकी मर्यादामार्गीय पत्नियोंकी देह आदिका ही ग्रहण किया बल्कि उन्हें तो पीछे घर ही भेज दिया. इसलिए भी किसी विधिका उल्लंघन नहीं हुआ. ये दोनों तो बालक थे, इनको जगतके ईश्वर क्यों कहा? ऐसी शंकाके उत्तरमें 'नृविडम्बयोः' कहते हैं, कि वे तो केवल मनुष्योंका अनुकरण मात्र करते थे. अपने अभिनयसे केवल मनुष्य रसका प्रदर्शन करते थे. इस प्रकारसे अपने अपराधी भावका निरूपण किया।।३७।।

टिप्पणी: अथानुस्मृत्यकी व्याख्यामें 'एवं ज्ञानकर्मणी द्विविधे'का तात्पर्य यह है कि उन ब्राह्मणों और उनकी पत्नियोके मर्यादा और पुष्टिके भेदसे दो-दो प्रकारके ज्ञान और कर्मका निरूपण करना है। 'यद्विश्वेश्वरयोर्याच्ञां' इन मूलके पदोंका तात्पर्य व्याख्यामें भगवतैव इत्यादि पदोंसे स्पष्ट किया है। विश्वके ईश्वर अर्थात् नियामक, प्रवर्तक, निवर्तक सब कुछ हैं। 'बलिवाक्यात्, परंपरयापि'

इत्यादिका अभिप्राय यह है, कि यद्यपि राजा बलि ने मां(मुझको) अपनेलिए ही कहा था, वह वाक्य भगवद्धर्मका बोधक नहीं था; तथापि ऐसा वाक्य समर्थ ही कह सकता है। इसलिए बलिमें ऐश्वर्य धर्म होनेसे और उसमें वह ऐश्वर्य धर्म भगवानका होनेके कारण वह वाक्य भगवद्वाक्य ही है.

यहां पर ऐसी शंकाएं होती हैं कि जब याचनाका भंग भगवानने ही करवाया था, तो फिर वह ब्राह्मणोंका अपराध कैसे समझा गया? और बात तो वास्तवमें यह हुई, कि जब यज्ञकी सीमासे बाहरजानेकी विधि नहीं है, तब इन पत्नियोंको यज्ञकी सीमित भूमिसे बाहर बुलाकर विधिका उल्लंघन करके भगवानने ब्राह्मणोंका ही अपकार किया? इसका उत्तर व्याख्यामें 'ब्राह्मणानामयं धर्मः' इत्यादि कारिकासे दिया है. तात्पर्य यह है, कि ब्राह्मणोंका यह सत्र यज्ञरूप धर्म अन्नके समर्पणसे बाधित नहीं होता; क्योंकि 'शेषाद् भुञ्जीरन्' बाकी रहे अन्नमेंसे, भोजन करनेकी विधि होनेके कारण, अन्नदान तो विहित है. यज्ञकेलिए निर्दिष्ट घृत आदिके शेषभूत अन्नके अतिरिक्त वस्तुके दानका निषेध होनेसे अन्नदानमें कोई बाधा नहीं होती. ''अन्नहीनं दहेद् राष्ट्रम्'' जिस देशमें अन्न नहीं हो, उस देशको जला देना इत्यादि वाक्यसे अन्नदान तो अत्यावश्यक ही था और आगे फलके दर्शनसे भी साधनमें कोई कमी नहीं कही जा सकती यह बात व्याख्यामें 'स्नेहाच्च'(स्नेहके कारण) इत्यादि पदसे कही गई है. यद्यपि उनके अन्नका ग्रहण करने और उन्हें भक्तोंका संग प्राप्त होनेके कारण भक्ति हुई थी, तो भी उन्हें अभी आगे भक्तिके सिवाय ओर कोई फल होगा ही नहीं और वैदिक कर्म भी व्यर्थ नहीं होता. इसलिए उसका फल भी भगवानने उन्हें ही, भक्तिरूप ही सम्पादनकर दिया. यह 'स्नेहाच्चापि' 'अपि' पदसे ज्ञात होता है. और जो यह कहा गया ही याचनाका भंग करवाया. इसका उत्तर भिक्षारूपेण आदिसे देते हैं कि भगवानने तो विहित याचनाका ही भंग करवाया था. लौकिक याचनाका विरोध तो ब्राह्मणोंने ही किया था. इसलिए उसे ब्राह्मणोंका अपराध कहना उचित ही है. इस कारणसे याचना सम्बन्धी भगवानके वचन लौकिक याचनारूप होनेसे विरुद्ध नहीं है यह 'न्यासभूतौ प्रयच्छमे' इत्यादि पदोंसे व्याख्यामें कहा है.

अथवा शंका होती है, कि भगवान् भक्तोंके वचनोंका पालन करनेवाले हैं. फिर उनने बलि भक्त राजाके वचनके विपरीत स्त्रियोंसे याचना क्यों की?

इसका उत्तर 'ब्राह्मणानां' इत्यादि पदोंसे देते हैं. बलिके वाक्यसे वर्णाश्रमधर्ममें की हुई याचना और स्नेहसे होनेवाली याचनामें विरोध नहीं आता और न कन्यादि विषयक लौकिक याचनामें ही विरोध आता है, किन्तु दीनतासे की हुई याचनामें विरोध आता है. यहां यह याचना दीनतापूर्वक नहीं की गई. यह भक्त पर कृपा करनेकेलिए की गई है. इसलिए दीनताके वचनोंसे विरोध नहीं आता है यह व्याख्यामें 'न्यास भूतौ' इत्यादि पदोंसे कहा गया है.

लेख: 'प्रबोधन' इत्यादि वाक्योंसे प्रबोधनरूप कृति(कार्य)की है. कारिकाओंमें तस्य पदका अर्थ विगर्हा अथवा निन्दा है. तथात्वे अर्थात् विमुख होने पर. स्वभक्तेः भगवानने याचनाके द्वारा ब्राह्मणोंको अपनी भक्तिका उद्बोध कराया है. तथात्वसाधनं याचना करना भगवानके योग्य नहीं है इस बातको बतानेका कारण. 'कर्मेति' इन दो श्लोकोंसे, देशादिके द्वारा कर्मका और भगवानका दोनोंके स्वरूप कहकर अपने कर्मकी व्यर्थताका तथा मूढा न विद्महे(हम मूर्ख नहीं जानते हैं) इत्यादि कहकर स्वयंको ज्ञानरूप फलके उत्पन्न न होनेका बोध कराया है. तब भक्तिकी सिद्धि भी कैसे हुई? ऐसी शंका करके स्वयं समाधान 'स्त्री सम्बन्धात्' पदसे करते हैं कि भक्तिके उत्पन्न करनेसे जो सफलता मिली है, वह भक्तोंके सम्बन्धसे मिली है. वह केवल कर्मका फल नहीं था.

इसके पीछे दो श्लोकोंसे नमस्कारों और प्रार्थनाओंसे अपराधकी क्षमा याचना की है. फिर एक श्लोकसे भगवानके निकट आनेका वर्णन है. इस प्रकार चौदह प्रकारकी बुद्धि भी भक्तिके द्वारा ही हुई. इसीलिए व्याख्यामें भक्तिको अवान्तर प्रकरणका अर्थ कहा है यह भाव है. 'विश्वेश्वरयोः' इत्यादि मूल पदोंकी व्याख्यामें तथोत्तवापिका ''याचनाके वाक्य कहकर भी भक्त पर कृपा करनेके कारणसे गोपोंको दुबारा भेजकर भक्त विप्रपत्नी पर कृपा करनेकेलिए पहले द्विजों द्वारा भगवानने आज्ञाका भंग कराया. दूसरी बार पत्नियोंके पास भेजनेके कारण यह आज्ञा ही सिद्ध होती है, याचना नहीं है'' यह अभिप्राय है. बलिके वाक्यसे अर्थात् बलिसे याचना करनेके पश्चात् फिर किसी दूसरेसे भगवानका याचना करना उचित नहीं है इस कथनसे भी यह आज्ञा सिद्ध होती है.

इसकी टिप्पणीमें ''न ददाति विध्युल्लंघनं च'' इत्यादिका तात्पर्य यह है कि 'न ददाति'(नहीं देता है) इस वाक्यका और 'न ददाति न पचते' (देता नहीं

है, पकाता नहीं है) इत्यादि अन्न नहीं देनेकी विधिका उल्लंघन भगवानने करवाया. दुबारा विधिके उल्लंघनका समाधान 'ब्राह्मणानां' इस कारिकासे किया है. व्याख्यामें 'अयं' इत्यादिसे 'भावः' तकके पदोंसे अन्नदानकी विधिको व्यवस्थासे स्थापित करते हैं. 'किञ्चाग्रे' इत्यादि कहकर, पहलेका समाधान अर्थापत्ति प्रमाण देकर करते हैं, कि यदि विधिका उल्लंघन हो जाता तो, भक्तिरूप फल उत्पन्न नहीं होता. द्वितीय(विधिके) उल्लंघनका भी समाधान इसीसे हो जाता है. इसीलिए 'किञ्च' इस पदसे उसका समुच्चय किया है. जिनको ज्ञानकी प्राप्ति हो गई हो, उनकेलिए तो भिक्षाटन करना ही मुख्य है. इसलिए भिक्षारूप विहित याचना करना उचित न होनेसे भगवानने उसका बाध दान सम्पादन नहीं कराकर करवाया. लौकिक याचना तो अनुचित नहीं थी. इसलिए उसका बाध तो ब्राह्मणोंने ही किया था. यह भगवता इत्यादि पदोंसे कहा है. तात्पर्य यह है, कि भिक्षाके अंशका बाध भगवानने किया और लौकिक अंशका बाध ब्राह्मणोंने किया. व्याख्यामें 'न वा' इत्यादि पदोंसे यह कहा गया है, कि उन पत्नियोंके देह आदि मर्यादामार्गके होनेसे, वे भगवानके ग्रहण करने योग्य नहीं थे. इसलिए उन्हें अपने उपयोगमें नहीं लिया, किन्तु उसी समय पीछे घर भेज दिया. इससे भी विधिका उल्लंघन नहीं हुआ.

योजना: इस श्लोककी योजनाका अर्थ व्याख्यामें दी गई कारिकाओंके अर्थमें आ गया है।।३७।।

दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति कृष्णे भक्तिमलौकिकीम्।
आत्मानं च तया हीनमनुतप्ता व्यगर्हयन्।।३८।।

वे फलरूप भगवान् कृष्णमें स्त्रियोंकी अलौकिक भक्तिको और अपने आपमें भक्तिके अभावको देखकर पश्चाताप पूर्वक अपनी आत्माकी निन्दा करने लगे।।३८।।

इस प्रकार अपने अपराध पर सन्ताप करके वे द्विज अपनी निन्दा करते हैं, यह 'दृष्ट्वा' इस श्लोकसे कहते हैं. स्त्रियोंकी कृष्णमें अलौकिक भक्तिको देखकर उस कृष्ण भक्तिसे शून्य अपनी आत्माकी निन्दा करने लगे. पुष्टिभक्तिकी ऐसी ही स्थिति है. भगवान् छः गुणों और पूर्ण ऐश्वर्यसे युक्त हैं तो भी कृष्ण सदानन्द ही हुवे हैं. धर्मोंके गौण होनेसे केवल धर्मीरूप ही हुवे. कृष्ण फलरूप हैं इसलिए स्त्रियोंकी उनमें भक्ति हुई. पुरुष तो गुण अथवा धर्मको

देखनेवाले हैं. इसलिए वे कृष्ण भक्तिसे हीन रहे. ये दोनों बातें मूलमें 'स्त्रीणां कृष्णे भक्ति'(स्त्रियोंकी फलरूप कृष्णमें भक्तिको) इत्यादि पदोंसे कही गई हैं. इस भक्तिमें कोई दोष नहीं था अर्थात् यह भक्ति दोषरहित है यह बतलानेकेलिए भक्तिको 'अलौकिकीं' अलौकिक कहा गया है. तरतम(न्यून-अधिकरूप) धर्मोंको, पदार्थके वास्तविक स्वरूपको और भक्तिके भाव तथा अभावको जाननेवाले (पुरुष)को भक्त कहते हैं. इन ब्राह्मणोंको यह सब ज्ञान हो गया था इसलिए यह निन्दा वास्तवमें स्तुति ही है. केवल ज्ञान ही, उनकी कृष्णभक्तिमें बाधक नहीं हुआ, किन्तु वे अश्रुपातादि कार्य भी ऐसा करने लगे, जो भक्तिमें बाधक थे इस बातको मूलमें 'अनुतप्ताः' पदसे कहा गया है।।३८।।

लेख: 'दृष्ट्वा' इस श्लोककी व्याख्यामें गर्हा कुर्वन्ति ''अपनी निन्दा करते हैं'' अर्थात् हम दुष्ट हैं, नीच हैं, इत्यादि प्रकारसे कहने लगे ऐसा ग्रन्थसे बाहर(यहां नहीं लिखा गया) समझना चाहिये. इसलिए इस श्लोकमें निन्दा करना ही वाक्यार्थ है. आगेके श्लोकमें निन्दाका कारण वाक्यार्थ है, निन्दाका विवरण वाक्यार्थ नहीं है. उस आगे आनेवाले ३९वें श्लोकमें उसी प्रकारसे व्याख्या की जायेगी. व्याख्यामें 'पुष्टिः' इत्यादि पदोंका तात्पर्य यह है कि अपने दोषोंका ज्ञान भगवानकी कृपासे ही होता है. 'एव'का अर्थ 'ही' है जो यहां अयोगव्यवच्छेदक है. षड्गुणैश्वर्य अर्थात् छः गुणोंसे ऐश्वर्यवाले भगवान्. परिज्ञानं(जिसके द्वारा जाना जाता है) पदका अर्थ करण(तृतीया) व्युत्पत्तिसे परिज्ञापक धर्म है. बाधकं अर्थात् अपने ही कृतार्थताके अभिमानमें बाधक हुआ. क्रियापि और अश्रुपात आदि क्रिया ब्राह्मणोंकी कृतार्थतामें बाधक थी.

योजना: दृष्ट्वा स्त्रीणां इस श्लोककी व्याख्यामें धर्मोपसर्जनेन धर्म्येवजातः इत्यादि कथनका अभिप्राय यह है कि ऐश्वर्य आदि धर्मोंको गौण करके(प्रकट न करके) अर्थात् स्फुरण न करके, उन यज्ञपत्नियोंके हृदयमें आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्, (आनन्द ब्रह्म है यह विशेष प्रकारसे जानो) इस श्रुतिके अनुसार आनन्दरूप ही स्फुरित हुआ. करोड़ों कामदेवसे भी अधिक सुन्दरतावाले भगवानका पत्नियोंके हृदयमें स्फुरण हुआ. स्त्रीणां तत्र भक्ति केवल धर्मी, साक्षात् मदनमोहन स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रमें, कामभावसे स्त्रियोंकी भक्ति हुई यह सारांश है।।३८।।

धिग् जन्म नस्त्रिवृद् विद्यां धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम्।

धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे ।।३९।।

हमारे शुक्ल, सावित्र और याज्ञिक इन तीनों जन्मोंको, वेदोंके ज्ञानको, व्रतको, बहुत ज्ञानको कुल और कर्मकाण्डमें निपुणताको धिक्कार है; क्योंकि हम अधोक्षज भगवानसे विमुख हैं।।३९।।

द्विजोंने आत्माकी निन्दा क्यों की? आत्मामें सत्पदार्थ विद्यमान है. आत्माकी निन्दासे सत्पदार्थोंका विरोध होने पर, उनका अनिष्ट ही हुआ होगा? ऐसी शंका करके उनमें सत्तारूपसे भासमान होनेवाले उन-उन सत्पदार्थोंकी बीजके न होनेके कारण अविद्यमानताको (न होना) ही 'धिग् जन्म' इस श्लोकसे कहते हैं. धिक्कारका जला देना अर्थ है. प्राणोंके निकल जाने पर, जैसे शरीर जला दिया ही जाता है; उसी तरह, जन्म, विद्या आदिकी प्राणरूप भक्तिके बिना इन जन्म आदिका जला देना ही उचित है. त्रिवृत् जन्म अर्थात् शुक्ल, सावित्र और याज्ञिकरूप त्रिविध जन्मको धिक्कार. इसी तरह, विद्या भी तीनों वेद सहित तीन प्रकारकी है. उसे भी धिक्कार. यज्ञ सम्बन्धी अन्न नहीं देना इत्यादि रूप व्रतको भी धिक्कार. धर्मके सूक्ष्म तत्त्वको जाननेमें जो बहुज्ञ पुरुष हैं, वे भी, कभी लोक विरुद्ध आचरण कर बैठते हैं. जैसा यह हमने किया. इसलिए हमारी इस बहुज्ञताको धिक्कार है. हम कुलीन हैं. हमारे कुलमें कलंकका सम्बन्ध हो जायेगा ऐसा समझकर स्त्रियोंको रोका था. उस कुलको धिक्कार है. उस यज्ञादि कर्मानुष्ठानकी चतुरताको धिक्कार है जिसके कारण भगवानकी उपेक्षा होती है. हम तो अपने पुरुषार्थको अन्य रीतिसे सिद्धकर लेनेमें समर्थ हैं. भक्ति तो उन लोगोंके करनेकी है, जो अन्धे-लुले हैं, और जो कुछ कर्म करनेमें असमर्थ हैं. जैसे यज्ञादि कर्म करनेमें असमर्थ अन्धे, लूलोंको किसी अन्य कार्यमें लगा दिया जाता है, उसी तरह असमर्थोंको भक्ति करनेमें नियुक्त कर दिया जाता है. भक्ति तो असमर्थ पुरुषोंके करनेकी वस्तु है. इस प्रकारकी हमारी क्रियामें चतुराईको भी धिक्कार है. इतना सब कुछ होने पर भगवानसे विमुखकरा देनेमें बीज भगवानके सम्मुख करानेवाले सत्वबीजका न होना कारण है. इसीको मूलमें 'विमुखा ये त्वधोक्षजे' (सम्मुख करनेवाले सत्वबीजके होनेसे) हम भगवानसे विमुख हैं.

शंका: यही कैसे हो सकता है; क्योंकि यज्ञ भी तो भगवान् ही है. यज्ञ करनेवाले भगवानसे विमुख कैसे हो सकते हैं. ऐसी शंकाका निवारण मूलमें 'तु' शब्दसे किया है. इसमें कारण यह है कि भगवान् अधोक्षज है. इन्द्रियोंसे होनेवाला

ज्ञान भगवानसे नीचा है. ज्ञानमें भी केवल आत्माका साक्षात्कार होता है. कर्ममार्गमें क्रियारूप यज्ञकी और ज्ञानियोंकी कर्ममें अलौकिकरूपकी सिद्धि होती है. भक्तिमार्गमें तो साक्षात्कार मात्र ही फल नहीं है और जो साक्षात्कार होता है वह केवल गौणफल ही है. क्योंकि जैसे गन्नेको चूसनेवालोंसे केवल सिद्ध रसको पीनेवाले अधिक सरस हैं. वैसे ही, भगवानने यह ऐसा भक्तिमार्ग प्रगट किया है, जिससे दूसरे सारे रूपोंके भजन करनेके सब पक्ष, पूर्वपक्ष होकर कर्त्तव्य नहीं रह जाते हैं।।३९।।

टिप्पणी: ''विमुखा ये त्वधोक्षजे'' की व्याख्यामें 'ज्ञानेप्यात्मसाक्षात्कारः' इत्यादि पदोंसे इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले ज्ञान, पुरुषोत्तमका ज्ञान नहीं करा सकता यह कहा गया है. ज्ञानमार्गका भी केवल मानसिक आत्मसाक्षात्कार हो जाना फल है. इसलिए ज्ञानमार्गका फल, केवल मनके द्वारा आत्माका प्रत्यक्ष दर्शनकर लेना मात्र है. कर्ममार्गमें अधिकारीके भेदसे दो प्रकार है. एक तो बहिर्मुख कर्मयोगी, जो क्रियात्मक यज्ञका भजन करते हैं. उन्हें उसीसे अदृष्टके द्वारा फलकी सिद्धि होती है ऐसा वे मानते हैं. दूसरे कर्मठ, वे हैं, जिनको श्रुतिके अभिप्रायका ज्ञान है. वे तो अलौकिक यज्ञरूपका भजन करते हैं और वह भजन इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले ज्ञानसे सिद्ध नहीं किया जा सकता. इस कारण, वह अधोक्षज भजन है. भक्तिमार्गमें 'नाहं वेदैः'(न मैं वेदोंसे ग्रहण करनेमें आता हूं) 'ननु मां शक्यसे' (मुझे इन चर्म चक्षुसे नहीं देख सकता) भगवानका साक्षात्कार इन्द्रियोंसे नहीं होता. भगवानके दर्शन हो जाने पर भी, जब तक सारी इन्द्रियोंके द्वारा उनका साक्षात् अनुभव न हो जाए तब तक भक्तोंको शान्ति नहीं मिलती. इसलिए भक्तिमार्गमें, केवल दर्शन मात्र ही फल नहीं है. ''दर्शयन् मुहूर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि''(दर्शन देकर क्षण-क्षणमें कामदेवको उत्पन्न करते हो) दर्शन तो केवल आगे होनेवाले भोगमें उपयोगी होनेसे गौण है. जैसे रसका सम्बन्ध होनेसे गन्ना खाया जाता है, इसी प्रकारसे भगवानके आनन्दांशका सम्बन्ध होनेसे भगवानके अन्यरूपोंका भजन कर्तव्य है इस अभिप्रायसे इक्षु(गन्ने)का दृष्टान्त दिया है. केवल रसरूप स्वयं भगवान् कृष्ण तो अभी प्रकट हुए हैं. इसलिए रसनिधि भगवानके प्रकट होनेके पहले, जो-जो यज्ञ, जप, तप, दानादि पक्ष कर्तव्यरूपसे विद्यमान थे, वे अब केवल रसात्मक श्रीकृष्णके प्रकट होनेके अनन्तर वे कोई भी कर्तव्य नहीं है.

लेख: 'बीजाभावात्' भगवानके सन्मुख ले जानेवाले सत्त्वबीजके न होनेसे, अधोक्षजेकी व्याख्यामें तत्र यज्ञमें तत्पर रहनेवाले भी भगवानसे बहिर्मुख थे।।३९।।

नूनं भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी।
यद् वयं गुरवो नृणां स्वार्थे मुह्यामहे द्विजाः ।।४०।।

निःसंदेह भगवानकी माया बड़े-बड़े मायावी पुरुषोंको भी मोहितकर देनेवाली है. अहो! हम ब्राह्मण, जो लोगोंके गुरु कहलाते हैं, अपने स्वार्थ भगवानकी भक्तिमें मोहित हो गये (चूक गये)।।४०।।

ज्ञानवाले होकर भी भगवानसे विमुख होनेके कारणको 'नूनं' इस श्लोकसे कहते हैं. माया पहिले रहनेवाले ज्ञानको ढक देती है, इसलिए मायाके द्वारा मूल ज्ञानके छिपा देनेके कारण लौकिक ज्ञानवाले प्राकृत शिष्योंके उस प्राकृत ज्ञानको ढककर उनमें नया ज्ञान उत्पन्न किया जाता है. यदि पहले मूल ज्ञानका आच्छादन न करें, तो उसके विरोधसे नया ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होवे. इसलिए गुरु लोग सारे ही मायावी हैं. यहां तो भगवानकी मायासे विपरीत(उल्टा) ही हो गया, जो कि हम गुरु लोगोंने अपनी मायासे अपनी ही बुद्धिका आच्छादनकर दिया और प्राकृत बुद्धिको ग्रहणकर लिया. यह भगवानकी माया ही है, कि जिसके द्वारा अपनी मायासे ओरों(शिष्यों)की बुद्धिका आच्छादन करके, अपनी बुद्धिका दान करने, हम मायावी गुरु लोगोंने अपनी ही बुद्धिका आच्छादन स्वयं ही कर दिया. भगवानकी मायाका यह कार्य है कि वह प्राकृत लौकिक बुद्धिमें लौकिक भावको छिपा(ढक)कर अलौकिकताका ग्रहण करा देती है. यदि (ऐसा) मायासे लौकिकमें अलौकिकताका ग्रहण नहीं कराया हो, तो भगवान्, भगवत् शास्त्र तथा भक्तिका ग्रहण कैसे हो सकता है; क्योंकि प्राकृत ज्ञान जब तक बना रहता है तब तक वह भगवान्, भगवत् शास्त्र तथा भक्ति नहीं होते हैं (प्राकृत बुद्धि इन सबका बाधक है). भक्तिसे सहज(स्वाभाविक) प्राकृत ज्ञानका नाश नहीं होता है, क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म होती है. इसलिए जब गुरुकी मायासे उस प्राकृतका आच्छादन हो और अलौकिक ज्ञानकी प्राप्ति हो और वह अलौकिक ज्ञान भी स्थिर हो, तब फिर भगवानकी मायासे आच्छादित हुआ, उत्पन्न प्राकृत ज्ञान बिना मूलका हो जाता है. उस अस्थिर मूल हीन प्राकृत ज्ञानको भगवत् शास्त्र अथवा भक्तिके द्वारा नष्ट हटा करके अपना ज्ञान वहां

स्थापित किया जाता है. इस कारणसे भगवानकी माया मायावी पुरुषोंको भी मोहित करनेवाली है. यह निश्चय है. इसमें किसी प्रकारकी भी शंकाकी सम्भावना नहीं है. मूलमें 'द्विजाः' अपने आपको द्विज पदसे सम्बोधन करनेका अभिप्राय यह है, कि आधिदैविककी विमुखतासे यह यज्ञ सिद्ध नहीं हुआ।।४०।।

लेख: व्याख्यामें 'अतो ये' इत्यादिका तात्पर्य यह है, कि मायासे मूलके ढक दिए जाने पर, प्राकृत(लौकिक) ज्ञानवाले. 'अन्यथा भगवान्' इत्यादिका आशय यह है कि प्राकृत बुद्धिके रहने पर, प्राकृत भावके दूर न होने पर. 'ज्ञानेन' अर्थात् प्राकृत ज्ञानके द्वारा।।४०।।

अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ।
दुरन्तं भावं योऽविध्यत् मृत्युपाशान् गृहाभिधान्।।

अहो! स्त्रियोंकी जगद्गुरु श्रीकृष्णमें कैसी सुदृढ भक्ति है, जिससे इन्होंने गृहस्थीकी ममतारूप कठिन मृत्यु पाशको भी तोड डाला.

अहो! आश्चर्य है कि जो भाव पुरुषोंमें दुर्लभ है वह स्त्रियोंमें हो गया. स्त्रियोंके भावको देखो. यह भाव घुणाक्षरन्यायसे कभी हो गया होगा? इस शंकाका निवारण दुरन्त-पदसे मूलमें किया है. यह भाव दुरन्त-अन्तरहित पुष्कल था. स्त्रियोंका तो पुरुषों पर भाव होता ही है. इसमें आश्चर्य की बात क्या है? इस शंकाका समाधान कृष्णे जगद्गुरो इन पदोंसे करते हैं. सदानन्द और जगद्गुरुमें स्त्रियोंका भाव कामीपुरुषों पर ही होता है, भगवान् पर नहीं होता. यहां इनका भगवान् पर भाव होना आश्चर्यजनक है. जिसके कारण होनेवाले फलको कहते हैं 'योऽविध्यद्' कि जिसने गृहस्थी नामके मृत्युके पाशोंको काट दिया. उस भक्तिभावको देखो.

नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि।
न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः ।।४१।।

हमारी तरह इन स्त्रियोंका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ, न वेदाध्ययनकेलिए गुरुकुलमें, इन्होंने निवास ही किया, न कोई प्रकारका तप किया, न आत्मतत्त्वकी खोज की, न ये शौचसे रहती हैं और न इन्होंने सन्ध्यावन्दन, अग्निहोत्र आदि वेदोक्त शुभ कर्म ही किए हैं।।४१।।

यदि इस यज्ञका मुख्य फल प्राप्त नहीं हुआ, तो भी उत्तरमीमांसाके न्यायसे चित्त शुद्धिरूप फल तो होता. फिर तो धिक्कार अनुचित है? ऐसी शंकामें

नासां यह श्लोक कहते हैं. इन स्त्रियोंका द्विजाति संस्कार नहीं हुआ. अन्वय और व्यतिरेकके व्यभिचारसे संस्कार भगवानकी भक्तिमें कारण नहीं है, क्योंकि जिनके संस्कार नहीं हुए. उन स्त्रियोंकी तो भक्ति हो गई. (यह व्यतिरेक व्यभिचार है) और जिनके संस्कार अक्षुण्ण हुए उन अपनेको भक्ति नहीं हुई. (यह अन्वय व्यभिचार है) इसीको बतलाते हैं, कि इन स्त्रियोंका द्विजाति संस्कार नहीं हुआ है, वेदाध्ययनकेलिए ये गुरुकुलमें नहीं रही हैं, न इन्होंने तप, अर्थात् स्वधर्मका पालन किया है, श्रुतियों–स्मृतियोंमें कहे हुए कर्म नहीं किए. इन्द्रियोंके दमन तथा त्रिकाल स्नान करने आदिका कष्ट भी सहन नहीं किया है. न आत्मविचार ही किया है. इन्होंने शौचका पालन भी नहीं किया है और अग्निहोत्र आदि वेदोक्त शुभ क्रियाएं भी नहीं की हैं।।४१।।

अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे।।
भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि ।।४२।।

तो भी पवित्र यशवाले, योगेश्वरोंके नियन्ता श्रीकृष्ण भगवानमें इनकी दृढ भक्ति है. पर संस्कार आदिसे सिद्ध हुए भी हम लोगोंकी भगवानमें भक्ति नहीं है।।४२।।

इस प्रकार श्रीकृष्णमें भक्तिवाली पत्नियोंकी निःसाधनताका निरूपण करके, 'अथापि' इस श्लोकसे भक्तिका वर्णन करते हैं. जैसे जार(उपपति) पुरुषमें स्नेह होनेसे शुभ संस्काररूपी साधन अपेक्षित नहीं हैं, इसी तरह संस्कार, इस भक्तिके साधनरूप नहीं हो सकते? ऐसी शंकाका निवारण उत्तमश्लोक पदसे किया है. व्यास, वाल्मीकि, पराशर आदि जिनके गुणोंका कीर्तन करते हैं, उन भगवानमें. इस कथनसे भगवानमें प्रमाणकी उत्कर्षता कही है. 'कृष्णे' पदसे प्रमेयकी और फलकी उत्कर्षताका वर्णन है. 'योगेश्वरेश्वरे' इस पदसे साधनका उत्कर्ष कहते हैं, कि योगके ईश्वरोंके भी नियन्तामें भक्ति और वह भी दृढ जो पति आदिके रोकने पर भी नष्ट नहीं हुई. तैलकी धाराकी तरह निरन्तर रहनेवाली, सबसे अधिक भक्ति हुई. 'न चास्माकं' इत्यादि पदोंसे अन्वयदोष और व्यतिरेकदोषको बतलाते हैं, कि हम अड़तालीस संस्कारवालोंकी, तो भक्ति नहीं हुई और जिनका एक भी संस्कार नहीं हुआ, ऐसी इन पत्नियोंकी श्रीकृष्णमें दृढ भक्ति हो गई।।४२।।

लेख: अडतालीस संस्कार कहे गये हैं. यद्यपि इस समय दूसरे संस्कार नहीं होते,

तो भी उत्तम शरीर संस्कारोंसे ही प्राप्त होता है. इसलिए उनके अन्य संस्कार पूर्वजन्ममें ही सिद्ध हो चूके थे।।४२।।

ननु स्वार्थविमूढानां प्रमत्तानां गृहेहया।
अहो नः स्मारयामास गोपवाक्यैः सतां गतिः ।।४३।।

हमलोग निश्चय(अवश्य) ही स्वार्थ भगवत्सेवासे विमूढ(अज्ञानी, बेसमझ) हैं, गृहस्थीके सुखमें प्रमत्त(मस्त, आसक्त) हो रहे हैं अहो! आश्चर्य है, कि गोपोंके वाक्योंके द्वारा उन भगवानने हमें स्मरण(सचेत) कराया. सज्जनोंके रक्षक तो वे ही हैं।।४३।।

शंका करते हैं, कि इन स्त्रियोंके सारे संस्कार पूर्वजन्ममें ही सिद्ध हो ही गए होंगे, क्योंकि वे चर्षणियां थीं, नहीं तो उनके पति उनका त्याग नहीं करते. इसलिए ये स्त्रियां भी गोपिकाओंकी तरह पूर्वजन्ममें पुरुष ही (होनी चाहिए)होंगे. फिर ''हजारों जन्मोंमें किए हुए तपस्या, ध्यान, समाधि आदि साधनोंके द्वारा जब मनुष्योंके पाप क्षीण होते है, तब उनकी कृष्णमें भक्ति होती है.'' इस वाक्यके अनुसार, उन द्विजोंके जन्मके संस्कार नहीं हुए होंगे? इस शंकाका समाधान 'ननु' इस श्लोकसे आश्चर्यपूर्वक करते हैं. 'ननु' अर्थात् निश्चितरूपसे. यह कोमल सम्बोधनमें प्रयोग है. निश्चय ही ऐसा है, कि स्वार्थमें विमूढ़ और घरकी इच्छासे प्रमत्त हुए हमें भगवानने गोपोंके वाक्योंसे, हमारी पहिली स्थितिका स्मरण कराया. पहले हम भी भगवदीय ही थे; किन्तु दैत्योंके आवेशसे, दैत्यराजाके देशमें रहनेसे, दैत्योंके द्वारा ही सुरक्षित होनेसे और दैत्योंका ही अन्न खानेवाले होनेसे हम अपने भगवदीय स्वरूपको भूल गए. उन अपने वास्तविक पूर्व स्वरूपको भूले हुए हम लोगोंको भगवानने गोपोंके वाक्योंके बहानेसे स्मरण कराया. नहीं तो(ऐसा नहीं होता तो) भगवान् किसी दूसरेके अन्नको क्यों नहीं मांग लेते? वे हम लोगोंको स्वकीय (अपने भक्त) जानते हैं. अहो! अत्यन्त आश्चर्य है कि केवल वाक्यसे ही हमें कैसे ज्ञान हो गया. भगवानकी शक्ति अलौकिक है. 'अहो' पदसे उसका अनुकरण किया गया है. इस कथनसे पहले बताए हुए सारे पक्षोंका निवारणकर दिया. ये स्त्रियां भी भगवानकी ही दासियां हैं और हम भगवानके दास हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है. यदि ऐसा नहीं होता तो विरुद्ध ही तर्क-वितर्क करते. स्वार्थ(भगवत्सेवा)में विमूढ हैं. 'गृहेहया' अर्थात् घरकी इच्छा, घरके कार्योंकी चिन्ताओंसे चिन्तित हैं. घरके कार्योंको ही धर्म

समझते हैं. इतने पर भी घरकी चिन्तासे प्रमत्त है अथवा भगवानकी सेवामें प्रमत्त(प्रमाद करनेवाले) हैं. इसलिए भगवानने अपने सेवक हम लोगोंको स्मरण कराया. साक्षात् स्वयंके द्वारा उपदेशके अधिकारी न समझकर, गोपोंके वाक्योंसे याद दिलाई; क्योंकि, भगवान् ही 'सतां गतिः'–सत्पुरुषोंके आश्रय हैं. यदि भगवान् उपेक्षा करें सेवकोंको बोध न करावें तो सेवकोंका नाश ही हो जाए. इसलिए कृपा करके ही गोपोंके वाक्योंसे भगवानने स्मरण दिलाया था।।४३।।

लेख: व्याख्यामें 'चर्षण्यः' शब्दका चर्षणी शक्तिवाली यह अर्थ है. 'यज्ञपत्न्यस्तथा परे' इस वाक्यके अनुसार उस प्रकारकी लीलाका विषय अधिकारिणी होनेसे वे भगवानके साथ रमणकर सकनेकी शक्तिवाली थी।।४३।।

अन्यथा पूर्णकामस्य कैवल्याद्याशिषां पते।
ईशितव्यैः किमस्माभिरीशस्यैतद् विडम्बनम्।।४४।।

नहीं तो पूर्णकाम और मोक्ष आदि दुर्लभ आशिषों(वरों)को देनेवाले भगवानको हम दास लोगोंसे अन्न मांगनेकी क्या आवश्यकता थी. यह याचना भगवानकी कोई सच्ची याचना नहीं थी, किन्तु केवल अनुकरण मात्र थी. अवश्य ही अन्न मांगनेका केवल बहाना था।।४४।।

यह सब कुछ इस कारणसे, कल्पनाकर रहे हैं कि नहीं तो भगवानका अन्नकी याचना करना, किसी प्रकारसे संगत नहीं है. इस प्रकारसे तो याचना किसी प्रकार उचित ही होगी ऐसी कल्पना करके 'अन्यथा' श्लोकसे उसका निवारण करते हैं. भगवानको दुःखकी निवृत्ति तथा दुःख निवृत्तिका साधन और सुख तथा सुखकी प्राप्तिका साधन इत्यादि किसीकी भी अपेक्षा नहीं है. क्योंकि वह स्वयं पूर्णकाम है. उनकी सारी इच्छाएं पूर्ण ही उत्पन्न होती हैं, वे लौकिक कामनाओं की तरह, विषयोंसे पूरी नहीं की जा सकती है. वे तो पूर्ण ही प्रकट होती हैं. इसलिए भगवानके मनोरथ सदा ही विषयोंके सहित हैं. इस तरह जो यह अन्नकी कामना भगवानमें प्रगट हुई, वह अन्न सहित ही हुई. यद्यपि अन्नके सिद्ध होने पर फिर अन्न याचना उचित प्रतीत नहीं होती, तो भी भगवान् किसी अन्य उद्देश्यसे सिद्धको दूर करके उसकी प्राप्तिकेलिए दूसरा साधन करते हैं, अथवा अपने, भगवानके पास उसको पानेका साधन नहीं है यह बतलाते है. इसलिए केवल हमको प्रबोध कराना ही इस अन्न याचना का प्रयोजन फल है.

भगवान् कैवल्य आदि आशीर्वादोंके स्वामी हैं कैवल्य अर्थात् केवलता, देह, इन्द्रिय आदि संधातकी निवृत्ति होनेसे केवल आत्मासे स्थिति रहना ही केवलता है. अन्यथारूपका त्याग करके फिर स्वरूपमें स्थिति हो जाना कैवल्यरूप पहला फल है. इस स्थितिको प्राप्त न होनेके पहिले तो दुःख ही है. इसलिए कैवल्यको प्राप्त होने पर स्वरूपसे भगवानका भजन(सेवा) हो. भजनसे आनन्दका आविर्भाव होने पर भगवानमें प्रवेश हो अथवा भक्ति होनेके पीछे भगवानके आज्ञारूप धर्म, भगवदीय अर्थ और भगवदीय ही काम होते हैं. इस प्रकारसे, कैवल्य आदि सभी आशीर्वादों शुभ पदार्थोंके स्वामी दाता तथा नियामक भगवान् ही हैं. सबके स्वामी होने पर तो भगवदीय गोपोंको भूख ही क्यों लगे और अन्नके होते हुए वे भगवान् उनके द्वारा अन्नकेलिए प्रार्थना ही क्यों करें. लोकोंकेलिए कैवल्यसे लेकर सारे शुभ पदार्थोंके देनेवाले भगवान् अपने भक्त गोपोंको (क्षुधा उत्पन्न करके) संघात(शरीर)में क्यों स्थापित करते. इस कारणसे, भूख उत्पन्न करके और अपने पास अन्न होते हुए भी उसे न देकर हमें हमारी पहली स्थितिका बोध करानेकेलिए ही उनको हमारे पास भेजा है. फिर हम तो दास हैं. दासोंसे भगवानका प्रयोजन. (दासोंके अन्नको स्वामी नहीं खाते) वे दासोंकेलिए अन्न देते हैं. सेवक तो महाराजाकी एक दिनकी भी व्यवस्था नहींकर सकता. उन सर्वशक्तिमान् भगवानके आगे हम लोग भी कुछ करनेमें समर्थ नहीं है. इसलिए यह तो भगवानका अनुकरण मात्र है, याचना नहीं है. और अनुकरण तो रसकी उत्पत्तिकेलिए ही है यह निश्चित है. जैसे नट योगीका स्वांग बनाकर योगीके भाव दिखलाता है, उसका केवल रस उत्पादन करनेके सिवाय कोई अन्य प्रयोजन नहीं होता. इसी तरह भगवानका यह याचनाका अनुकरण भी, केवल हमको प्रबोध करानेकेलिए ही है।।४४।।

योजना: 'कैवल्याद्याशिषां पतेः' इसकी व्याख्यामें ''भगवति प्रवेशो भक्तिर्वा'' इन पदोंसे कैवल्य प्राप्तिके पीछे स्वरूपसे(शुद्ध जीवरूपसे) भजन हो और भजनके द्वारा छिपा हुआ आनन्द प्रगट होने पर, दो पक्ष हो जाते हैं अर्थात् मर्यादा भक्तोंका भगवानमें प्रवेश हो जाता है और पुष्टिमार्गीय भक्तोंको तो फलरूप भक्तिकी प्राप्ति होती है – यह अभिप्राय कहा है. इस कथनका तात्पर्य यह है, कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ नामसे सब स्थानोंमें प्रसिद्ध है और श्रीमद्भागवतमें तो 'कैवल्याद्याशिषां पतेः' इस वाक्यके अनुसार

कैवल्यकी प्रथम कक्षा है. उस कैवल्यका स्वरूप व्याख्यामें कैवल्यं यहांसे लेकर कामाश्च तक वर्णन किया गया है. 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इस श्रुतिके अनुसार, वह कैवल्य ज्ञानसे ही प्राप्त होता है. इससे भक्तिकी कोई हानि नहीं है. देह इन्द्रियादि संघातकी निवृत्ति होने पर केवल स्थितिरूप कैवल्य ज्ञानसे ही होता है; क्योंकि ज्ञान अध्यासकी निवृत्ति करनेवाला है. परन्तु केवल कैवल्य(मोक्ष) तो परम पुरुषार्थ नहीं है. मोक्ष तो केवल 'कैवल्याद्याशिषां पतेः' पहली सीढी मात्र है. परम पुरुषार्थ तो पुरुषोत्तमकी नित्य-लीलाधाममें प्रवेश है; और वह 'मत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्'' इस गीता वाक्यसे पुरुषोत्तम भगवानके एक मात्र अनुग्रहसे, उत्पन्न हुई पुष्टि भक्तिसे ही प्राप्त होता है. 'एको वशी' यहांसे प्रारम्भ करके ''ये तु भजन्ति नित्यं तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषां'' यहां तककी अथर्ववेदीय गोपालतापनीय उपनिषदोंमें यही बतलाया है, कि सिंहासन पर विराजमान भगवानकी सेवा(भजन) करनेवालोंको ही शाश्वती सिद्धि प्राप्त होती है. इस प्रकार ''स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्'' गीताके शाश्वत पदसे और गोपालतापिनीके ''सिद्धिः शाश्वती'' इस कथनसे, नित्यलीलाधाममें प्रवेशको भक्तोंकेलिए फलरूपसे, निरूपण किया है; क्योंकि शाश्वत पद नित्यका पर्याय है।।४४।।

हित्वान्यान् भजते यं श्रीः पादस्पर्शाशयासकृत्।
आत्मदोषापवर्गेण तद्याच्ञा जनमोहिनी ।।४५।।

लक्ष्मीजी अपने चंचलतारूप दोषका त्याग करके चरणकमलोंका स्पर्श करनेकी अभिलाषासे अन्य सबको छोड़कर जिनको बार-बार भजती है. उन भगवानका याचना करना अवश्य ही मनुष्योंको मोहित करनेकेलिए ही है।।४५।।

भगवान् पूर्ण होकर भी अवतार धारण करके लीलासे नटकी तरह लौकिक कार्य करते हैं. इसलिए उनका याचना करना उचित ही है? ऐसी शंकाका उत्तर इस 'हित्वान्यान्' श्लोकसे देते हैं. यदि भगवानको याचना करना ही था तो लक्ष्मीजीसे क्यों नहीं की, भिक्षुकोंसे क्यों मांगा? लक्ष्मीजी किसी दूसरे काममें लगी हो ऐसा भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि वह उन-उन सभीको छोड़कर जिनको बार-बार भजती है और वह भी केवल चरणस्पर्शकी आशासे ही. वो लक्ष्मीजी यदि भगवानकी आज्ञा पावें तो कृतार्थ ही हो जाय. इसलिए लक्ष्मीजीसे याचना न करके ओरों हमसे याचना करनेका प्रयोजन कुछ ओर ही है.

यदि यह कहा जाय कि लक्ष्मीजी चंचल हैं, वह उस समय वहां स्थित नहीं होगी. इसलिए भगवानने अन्यसे याचना की; तो इसका उत्तर मूलमें आत्मदोषापवर्गेण इस पदसे दिया है. आत्माका अपना दोष चंचलताकी निवृत्ति अर्थात् फिर कभी चंचलतारूप दोष उत्पन्न न हो सके इसलिए भजती है. भगवानके सेवकोंका ऐसा ही धर्म है. शंका होती है कि जैसे भगवानने राजा बलिसे पहले याचना की थी वैसे ही अभी भी करली होगी? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'तद् याच्ञा जनमोहिनी' भगवानका याचना करना मनुष्योंको ही मोहित करता है. यदि ऐसा जनमोहिनी न हो तो अपने ही शरीरमें त्रिलोकीके दर्शनकरा देना व्यर्थ ही हो जाता. अपनी देहमें ही, त्रिलोकीको दिखाकर बलिको यह बतलाया कि मेरा(भगवानका) याचना करना वास्तविक याचना नहीं है, किन्तु लोकोंको केवल मोह हो गया, कि भगवानने बलिसे याचना की।।४५।।

देशः कालः पृथग् द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः।।४६।।

देश, काल, भिन्न-भिन्न द्रव्य, मन्त्र, तन्त्र, ऋत्विज, अग्नि, देवता, यजमान यज्ञ और धर्मसे सब भगवद्रूप ही हैं।।४६।।

देश-काल आदि सभी पदार्थ भगवत्स्वरूप ही हैं. तब फिर इन पदार्थों की याचनाका प्रयोजन मोहके सिवाय ओर क्या हो सकता है? इसलिए यह याचना भी मोह करानेकेलिए ही है. ''पुरुष एवेदं सर्वम्'' (यह सब पुरुष(रूप) ही है) इस श्रुतिके अनुसार सब पदार्थ भगवद्रूप ही जाने जाते हैं, तो भी हम लोगोंको जो मोह हुवा है वह याचनासे ही हुआ है।।४६।।

स एष भगवान् साक्षाद् विष्णुर्योगेश्वरेश्वरः।
जातो यदुष्वित्यशृण्म ह्यपि मूढा न विद्महे।।४७।।

उन्हीं साक्षात् योगेश्वरोंके भी ईश्वर विष्णु भगवानने यदुवंशमें जन्म लिया है यह सुनकर भी हम मूढ उनको नहीं पहिचान सके।।४७।।

यह वही पुरुष है, जिसकी आत्मा यह जगत् है. उस(इस) पुरुषकेलिए भी अज्ञानसे दान दिया ही जा सकता है? इस शंकाका समाधान 'स एष' इस श्लोकसे करते हैं. वह पुरुष ही, यह भगवान् है. पुरुषसे भी अधिक पुरुषोत्तम है. यह ही साक्षात् यज्ञ, आधिदैविक विष्णु है. ब्राह्मणोंकेलिए भोजन करानेके अपने संकल्पमें भी यह योगेश्वरोंके भी ईश्वर(स्वामी) हैं. उनका यदुवंशमें अवतार लेना

सुनकर भी, हम अपने पहले संस्कारोंके लोप(नाश)के कारण हुई अत्यन्त मूर्खतासे उन भगवानको नहीं जानते हैं. इस प्रकार उन द्विजोंने अपने अपराधका समर्थन किया।।४७।।

योजना: 'स एष भगवान्' इस श्लोककी व्याख्यामें 'साक्षादयं' इत्यादि पदोंका तात्पर्य यह है कि यद्यपि हम यज्ञको ही परमेश्वर मानते हैं, तो भी आधिदैविक यज्ञरूप होनेसे यह श्रीकृष्ण ही आराधन करनेके योग्य है; क्योंकि 'यज्ञो वै विष्णुः' (यज्ञ साक्षात् विष्णु है) इस श्रुतिसे आधिदैविक यज्ञ विष्णुरूप है. शंका: ब्राह्मणोंको ही भोजनकेलिए अन्न देना चाहिये. गोपोंकेलिए वह अन्न कैसे दिया जाये? इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि ''ब्राह्मण भोजन संकल्पेति'' ब्राह्मण भोजनके संकल्पमें भी, श्रीकृष्ण भगवानकेलिए गोपोंको अन्न देना उचित ही था; क्योंकि ''एको विष्णु महद्भूतं पृथग् भूतान्यनेकशः त्रीलोकान् व्याप्य भूतात्मा भुंक्ते विश्व भुगव्ययः'' (एक विष्णु ही सबसे बड़ा प्राणी है, उसमेंसे ही भिन्न-भिन्न अनेक प्राणी उत्पन्न होते हैं, यह भूतात्मा तीनों लोकोंको व्याप्त करके सब भोग करनेवाला और अविनश्वर है) इस पद्यमें भी विष्णु शब्द श्रीकृष्णका ही वाचक है।।४७।।

अहो ! वयं धन्यतमा येषां नस्तादृशी: स्त्रियः ।
भक्त्या यासां मतिर्जाता अस्मांक निश्चला हरौ ।।४८।।

अहो हम लोग बड़े बड़भागी हैं. कारण कि हमारे घरमें ऐसी हरिकी अनन्य भक्त स्त्रियां हैं. इन स्त्रियोंकी भक्तिसे ही हम लोगोंकी श्रीकृष्णमें निश्चय(दृढ़) बुद्धि हुई है।।४८।।

अपने उस अपराधको क्षमा करानेकेलिए नमः इस श्लोकसे नमस्कार करते हैं. यहां यह एक श्लोक प्रक्षिप्त (जान पड़ता) है. इसकी भी व्याख्या करते हैं. अहो! यह आश्चर्यमें कहा है. वयं(हम लोग) यह पद स्वयं अपनी प्रशंसामें कहा है. हम कृतार्थ हैं कि जिनकी(हमारी) स्त्रियां ऐसी हैं, कि जिनकी भक्तिका स्मरण करके हमारी भी भगवान् श्रीकृष्णमें निश्चल भक्ति हो गई।।४८।।

नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे।
यन्मायामोहितधियो भ्रमामः कर्मवर्त्मसु।।४९।।

अकुण्ठित बुद्धिवाले उन भगवान् श्रीकृष्णकेलिए नमस्कार है. जिनकी मायाके द्वारा मोहित हुई बुद्धिवाले हम लोग कर्ममार्गमें भटक रहे हैं।।४९।।

अपराधके कारण दीनता उत्पन्न होने पर भगवान् वहां प्रगट हो गए ऐसा ज्ञात होता है. इसीलिए उन्होंने तुभ्यं(तुम्हारेलिए) प्रत्यक्ष बोधक पदका प्रयोग किया है. नहीं तो तुम्हारेलिए ऐसा नहीं कहते. इस कथनसे उनके अपराधका दूर होना निश्चित है. भगवानके छः गुणोंको देखकर, नमस्कार करते हैं. दृष्ट और अदृष्टका मिश्रण न हो यह बतलानेकेलिए भगवते ऐसा कहा. द्विजोंको भगवानके स्वरूपका भी ज्ञान हो गया था इसीलिए कृष्णाय(श्रीकृष्णकेलिए) यह पद कहा है. (उन) भगवानकी पूर्ण ज्ञानशक्तिको देखकर कहते हैं, कि उनकी बुद्धि कुण्ठित नहीं (कुशाग्र) है. यद्यपि भगवान् शब्दसे ही उनका नित्य ज्ञानवान् होना सिद्ध होजाता है, तो भी जैसे 'सर्वस्येशानः' (सबका ईश्वर) इस श्रुतिसे भगवानमें साधारण ऐश्वर्यका वर्णन है, उसी तरह 'सर्वज्ञ', श्रुतिसे भी, साधारण ज्ञान यहां, 'भगवते' पदसे कहा गया है. तभी तो 'मदन्यत्ते न जानन्ति' (भक्त मेरे सिवाय किसी ओरको नहीं जानते हैं और मैं भी केवल भक्तोंको ही पहचानता हूं) केवल भक्तोंका ही अपनेपनसे ज्ञान–जो पुष्टिमार्गीय ज्ञान है वही यहां मेधा शब्दका अर्थ है. भगवान् हमको पहले इस तरह आत्मीयरूप(अपनेपन)से जानते थे, किन्तु बीचमें हमारी बहिमुर्खता हो जाने पर भी, भगवानने अपने अकुण्ठित इस पुष्टिमार्गीय ज्ञान बुद्धिसे हमें उसीका कार्य यह याचनारूप प्रबोध कराया है. हमारी उपेक्षा नहीं की है, यह भाव है. यह कोई हमारा अपराध भी नहीं था, क्योंकि हम तो भटक रहे थे. यों कहते हुए कहते हैं कि यन्मायया वह भ्रम भी हमको आप भगवानने ही कराया है. भगवानकी माया ही के द्वारा हमारी बुद्धिका व्यामोह हो जानेसे, हम कर्ममार्गमें प्रवृत हो रहे हैं. यदि ऐसा नहीं होता, तो हमारी बुद्धि ज्ञानमार्गमें, अथवा भक्तिमार्गमें लगती. और यदि बुद्धिका व्यामोह नहीं होता तो आभासरूप इस कर्ममार्गमें न लगाकर, शुद्ध वैदिक कर्ममें बुद्धि प्रवृत्त होती(लगती). इस सकाम कर्ममार्गमें भी सिद्धि–असिद्धिका निश्चय न होनेसे हम लोग केवल भ्रममें पड़े रहे हैं. इसलिए हम सचमुच ही मोहित हो रहे हैं।।४९।।

योजना: शुद्ध वा वैदिके कर्मणि इत्यादि व्याख्याके पदोंका अभिप्राय यह है कि निष्काम भावसे किये हुए अग्निहोत्रसे लेकर सोमयाग तक शुद्ध वैदिक कर्ममें बुद्धि लगती; क्योंकि इन पांच प्रकारके अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास, सोम नित्यकर्म करनेसे भगवानकी प्राप्ति होती है ऐसा निबन्ध सर्वनिर्णय प्रकरणमें विस्तारसे वर्णन है।।४९।।

स वैष आद्यः पुरुषः स्वमायामोहितात्मनाम्।
अविज्ञातानुभावानां क्षन्तुम् अर्हत्यतिक्रमम् ।।५०।।

वह आदि पुरुष हैं. उनकी मायामें आत्माके मोहित हो जानेसे, हम उनके प्रभावको नहीं जान सके. इसी कारण हमसे, यह अपराध बन गया. वह भगवान् हम सेवकोंके इस अपराधको क्षमा कर दें।।५०।।

वाणीसे भी 'स वैष' इस श्लोक द्वारा क्षमा प्रार्थना करते हैं. अपनी किसी क्रियाके द्वारा अपना अपराध क्षमा नहीं कराया जा सकता; क्योंकि अपनी क्रिया दुर्बल है. इसलिए वह भगवान् ही कि जिनका हमसे अपराध बन गया है जो हमारे सामने ही यहां प्रगट हुए हैं. इससे जान पड़ता है कि वह हमारे अपराधको क्षमाकर देंगे. फिर यह आदिपुरुष हैं. सबके पिता हैं. इसलिए भी जैसे पिता अपने पुत्रके अपराध होने पर क्षमाकर देता है, उसी तरह यह भी हमारे अपराधको सहनकर लेंगे. यह पुरुष अन्तर्यामी है. इसलिए उस अन्तर्यामी प्रभुकी प्रेरणासे ही हमसे यह अपराध बन गया है. इस कारण भी हमारा यह अपराध उनके सहन(क्षमा) करने योग्य ही है. यह अपराध भी उन्हींकी मायाके द्वारा हमारे चित्तके मोहित होनेसे हुआ है. इसी कारणसे ही उन भगवानके अनुभाव–प्रभावको न जाननेवाले हम लोगोंके अतिक्रम अपराधको वह क्षमा करने योग्य हैं. अपने स्वामीके धर्मोंका विचार करके भी, उन्हें हमारेलिए क्षमा प्रदानकर देना ही उचित है।।५०।।

इति स्वाघम् अनुस्मृत्य कृष्णे ते कृतहेलनाः।
दिदृक्षवो व्रजम् अथ कंसाद् भीता न चाचलन् ।।५१।।

कृष्णकी अवहेलनारूप अपने अपराधको स्मरणकर उन याज्ञिकोंने इस प्रकार बहुत पश्चाताप किया. यद्यपि उनके मनमें श्रीकृष्णके दर्शनोंकी बड़ी अभिलाषा थी, तथापि कंसके डरसे वे भगवानके पास नहीं गये(नहीं जा सके)।।५१।।

इस प्रकार अपराधकी क्षमा मांग करके, वे कर्तव्यरहित निश्चिन्त हो गए. स्वयं वे भगनानके निकट नहीं गए. लोकरीतिसे यज्ञशालामें बैठे ही अपराध क्षमाकरा लिया. (इसमें)ऐसा करनेमें 'इति स्वाघं' इस श्लोकसे कारणको बतलाते हैं. अपने अपराधका स्मरण करके भी वे ब्राह्मण भगवान् श्रीकृष्णके वहां उपस्थित होते हुए भी, स्वयं अपराधी भी और उनके दर्शनके अभिलाषी होते हुए भी अपना कार्य बन्द करके अथ भिन्न प्रकरणसे व्रजकी ओर नहीं गए. 'कंसाद

भीताः' नहीं जानेका कारण यह था कि भगवानके पास चले चलेंगे तो कंस इनको साक्षात् भगवान् मानकर सम्भवतः व्रजका कुछ अपकार करदेगा, तब तो बड़ा भारी अपराध हो जाएगा ऐसा विचार करके वे व्रजकी तरफ नहीं गए।।५१।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके दशमस्कन्धके अध्याय २०की (तथा प्रचलित क्रमानुसार अध्याय २३की) श्रीवल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी 'संस्कृत टीका'के (तामस साधनप्रकरणके वीर्य निरूपक दूसरे) अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ.

अध्याय २१

इन्द्रयज्ञनिवारण

कारिकार्थ(भूमिका): भगवान् बलरामजीके साथ गोकुल(व्रज)में इसलिए बिराजते थे कि इन व्रजवासियोंके मनको अन्य विषयोंसे खींचकर अपनेमें निरुद्ध करे, अतः जब देखते थे कि ये व्रजवासी मुझसे विमुख होनेके कर्म करते हैं तब उनको शिक्षा पूर्वक अपनेमें निरुद्ध करनेके उपाय करते थे. इस अध्यायमें भगवानने देखा कि ये नन्दादि गोप, व्रजके स्वामी सर्वेश मुझसे विमुख हो देवतान्तरका आश्रय करने लगे हैं अतः इनको शिक्षा देकर भक्ति योग्य वैदिकयज्ञ कराके अपनी तरफ लाना चाहिए एवं इन्द्रका अहंकार भी तोडना चाहिए, ब्राह्मणोंके न आनेसे वैदिकयज्ञ गोकुलमें न हो सकेगा इस शंकाको भी तोड देना चाहिए, इन कारिकाओंमें इस विषयका ज्ञान कराते हैं:

एक विंशे हैतुकस्य कर्मणो विनिवारणम् ।
कृत्वा तद् वैदिकं चक्रे युक्त्यैवेति निरूप्यते ।।का.१।।

कारिकार्थ: भगवानने इस २१वें अध्यायमें लौकिक हेतु सिद्ध करनेकेलिए होनेवाले कर्मको निवारणकर वैदिक कर्म युक्तिसे ही करवाया इसका निरूपण है।।१।।

यथा प्रबोधिता विप्रा एवं देवा अपि स्वयम् ।
महतां महती शिक्षा उत्तरोत्तरमुत्तमा ।।का.२।।

भगवानने जैसे युक्तिसे यज्ञस्थ ब्राह्मणोंको ज्ञान करवाया, उसी तरह आप अब देवोंको भी ज्ञान करवाते हैं, महत् पुरुषोंकी शिक्षा महती होती है और उत्तरोत्तर उत्तम होती है।।२।।

स्त्रीणां वस्त्राणि जगृहे विप्राणां तु स्त्रियः सतीः ।।
देवानां तु हवींष्येव येषु ते सुप्रतिष्ठिताः ।।का.३।।

कुमारिकाओंको शिक्षा देनेकेलिए उनके वस्त्र ले लिए थे, ब्राह्मणोंको ज्ञान देनेकेलिए उनकी सती स्त्रियोंसे भोजनार्थ सामग्री मंगा ली थी. अब देवोंको शिक्षा देनेकेलिए उनकी हवि बन्धकर दी क्योंकि ये हविमें ही प्रतिष्ठित हैं।।३।।

तामसान् राजसांश्चैव समुद्धृत्य मनीषया ।
सात्त्विकोद्धरणेयं तु यागभङ्गं चकार ह ।।का.४।।

तामस(कुमारिकाओं)का राजस(ब्राह्मणों)का बुद्धिपूर्वक उद्धारकर, अब सात्त्विक(देवों)का उद्धार करनेकेलिए इन्द्रयाग भंग करने लगे।।४।।

श्रीशुक उवाच

भगवानपि तत्रैव बलदेवेन संयुतः।

अपश्यन्निवसन् गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमान्।।१।।

श्लोकार्थः श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि हे राजन्! भगवान् कृष्णने बलभद्रजीके साथ व्रजमें रहते हुए एक समय गोपोंको इन्द्रयज्ञ करनेका उद्योग करते देखा।।१।।

व्याख्यार्थः गत अध्यायमें यह कहा गया कि ब्राह्मण व्रजमें नहीं आये. उनके नहीं आनेसे, ऐसी शंका हो सकती है, कि गोकुलमें वैदिकयज्ञ नहीं होता होगा? इसकी निवृत्तिकेलिए कृष्णने स्वयं भगवान् होते हुवे, सबसे निरपेक्ष होते हुवे भी, अपनेलिए यहां यज्ञ करवाया यह बात भगवानपि इस श्लोकसे कहते हैं. वहीं गोकुलमें बलभद्रजीके सहित सुखपूर्वक निवास करते हुए उन गोकुल-वासियोंको निरोध सिद्धिकेलिए भगवानने इन्द्रयाग करनेमें प्रवृत्त हुवे वृद्ध गोपोंको देखा. इस कथनसे ज्ञात होता है कि श्रीशुकदेवजीको भी, इस बात पर आश्चर्य हुआ है; क्योंकि श्रवण मनन आदिकी परम्परासे जहां भगवानके सम्बन्धी धर्म रहते हैं अर्थात् जहां श्रवण आदि शास्त्रमें बतलाये हैं केवल इस कारणसे किये जाते हैं, वहां पर भी, प्रीतिके बिना भी किये हुवे उन श्रवण आदि धर्मोंका सम्बन्ध एक मात्र भगवानमें ही हो जाता है तो फिर, यहां तो सहज ऐश्वर्य आदि धर्मवाले साक्षात् धर्मी भगवान् बिराज रहे हैं तथा अन्यके धर्मोंको सहन न करनेवाले भगवानके ऐश्वर्य आदि धर्म प्रकाशमान हैं ऐसे व्रजमें स्वयं भगवानका भी अन्यके धर्मोंको देखना सूर्यके तेजसे नष्ट होनेवाले अन्धकारको सूर्य देखता रहे के समान है.

इसीलिए मूलमें भगवानका निवास, 'अपि' और 'भगवत्' पदोंका प्रयोग किया गया है. और क्रियाशक्तिसे पूर्ण तथा देव होनेके कारण भजन धर्मके सारे विघ्नोंका नाश करनेवाले श्रीबलदेवजी भी भगवानके साथ थे. यह सब होते हुवे भी व्रजवासी लोग दूसरे(इन्द्र)का यागकर रहे थे यह आश्चर्यका कारण था.

अब तक, यहां भगवान् केवल निवास ही करते थे, किसी अन्य धर्मोंका बाध नहीं करते थे. इस कारण, अब तक इन्द्रयाग व्रजवासी लोग करते रहे इस

अभिप्रायसे भी, भगवानका वहां निवास करना कहा गया है. भगवानकी इच्छा उनका धीरे-धीरे निरोध करनेकी थी, एकदम सब प्रकारका निरोध करनेकी इच्छा नहीं थी, क्योंकि एकदम निरोध सिद्धकर दिया जाता, तो लीलामें आनन्द (रस)का अनुभव नहीं होता. इसलिए यह इन्द्रयाग अब तक बन्द नहीं किया. यह बात मूलमें बहुत समय तक चलते रहनेके अर्थका बोधक इस शतृ प्रत्यान्त(निवसन्) पदसे जानी जाती है. यद्यपि शतृ प्रत्यय(निवसन्)का अर्थ केवल वर्तमानताका बोधक है, तो भी अखण्ड दण्ड(घडियों)का निवास, जैसे दीर्घ समय तकका था, उसी प्रकार उस निवासकी वर्तमानता भी बहुत लम्बे समय तक थी यह सूचित होता है.

इन्द्रयाग करनेवाले गोपोंको देखकर, भगवानने उनमें अपनी ज्ञान-शक्तिकी स्थापना की. नहीं तो जो इन्द्रयाग परम्परासे चला आ रहा है, जिसका युक्तियोंसे बाध नहीं हो सकता है, और जिसके करनेसे सुखकी प्राप्ति होती है इस तरह जाननेवाले लौकिकमें, अत्यन्त आसक्त बुद्धिवाले गोपलोग बालक (भगवान)के कहने पर ऐसे कार्यको कैसे छोड़ दे इस प्रकार विपरीत ज्ञान होता. भगवानसे वचनोंको वे स्वीकार नहीं करते, इसलिए उन गोपोंमें पहले गुप्तरीतिसे भगवान् अपनी ऐसी ज्ञानशक्तिको बीजरूपसे स्थापन करके, फिर उस बीजका उद्बोधन करने(बढाने)वाले वचन कहेंगे, जिससे सारे मनोरथ सिद्ध होंगे।।१।।

तदभिज्ञोऽपि भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः।
प्रश्रयावनतोऽपृच्छद् वृद्धान् नन्दपुरोगमान्।।२।।

भगवान् तो सबके आत्मा और अन्तर्यामी हैं. उनसे कुछ छिपा नहीं है. वह सब जानकर भी बूढे-बूढे नन्दादि गोपोंसे विनयपूर्वक नम्र होकर पूछने लगे।।२।।

भगवानके द्वारा निरोधको प्राप्त हुवे भगवद्भक्तोंको यह इन्द्रयाग जैसा कर्म नहीं करना चाहिये. इस कारणसे, उस कर्मका निषेध करनेकेलिए उस मतको पूर्वपक्ष करके सिद्धान्त कहनेकेलिए 'तदभिज्ञोऽपि' श्लोकसे प्रस्तावना कहते हैं. भगवान् तो सर्वज्ञ हैं. लोकन्यायके अनुसार भी, पहले वर्षमें वह यज्ञ किया गया था इससे उसे जाननेवाले, सबके अन्तरात्मा, सारी ज्ञानशक्तिके आधार और सब पदार्थोंको 'करामलकवत्' देखनेवाले होते हुवे भी, विनयसे नम्र होकर कुछ नहीं जाननेवालेकी तरह, नन्दरायजी आदि बूढे-बूढे गोपजनोंसे पूछने लगे।।२।।

श्रीभगवानुवाच

कथ्यतां मे पितः कोयं सम्भ्रमो व उपागतः ।

किं फलं कस्य वोद्देशः केन वा साध्यते मखः ।।३।।

हे पिताजी! बताओ तो सही. आप लोग यह किस हलचलमें पड रहे हो? इस यज्ञका फल क्या होगा. किस उद्देश्यको लेकर यह किया जा रहा है तथा किन वस्तुओंसे यह यज्ञ सिद्ध होता है।।३।।

'कथ्यतां' इत्यादि श्लोकसे प्रश्नोंका वर्णन करते हैं. 'पिताः' इस सम्बोधनसे तीन उत्तरोंका परिज्ञान होता है. पुत्रको पितासे शिक्षा लेनी चाहिये इस कारणसे, भगवान् कहते हैं कि मुझे बताओ, कि तुम्हें यह क्या सम्भ्रम(अच्छी तरह भ्रम) हो रहा है? ऐसा कौन सा सम्भ्रमवाला पदार्थ उपस्थित हो गया है अथवा किसी उत्सवका यह प्रयत्न चल रहा है? यदि यह याग अलौकिक हो तो इसका विधान कहिये इसका फल क्या है? कर्मका आरम्भ करनेसे पहिले उसका फल जान लेना आवश्यक होता है. प्रयोजनके बिना मन्दबुद्धिवाला भी किसी कामको नहीं करता है इस न्यायसे फल नहीं जानेंगे तो इस याग करनेमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी. किसके उद्देश्यसे–किसको उद्देश्य करके यह याग प्रारम्भ किया जा रहा है अर्थात् इसका देवता कौन है? और किस द्रव्यसे यह सिद्ध होता है? सारे ही कर्मोंमें द्रव्य, देवता और फल कहने चाहिये. महान् सम्भ्रम कहनेसे यह बहुत बड़ा याग होना चाहिये. तो भी वेदमें तो यह अप्रसिद्ध है इससे इस यागका उपहास भी सूचित किया है।।३।।

एतद् ब्रूहि महान् कामो मह्यं शुश्रूषवे पितः ।

न हि गोप्यं हि साधूनां कृत्यं सर्वात्मनामिह ।।४।।

यह सब मुझसे कहिये. हे पिताजी! मैं सुननेकेलिए उत्सुक हो रहा हूं. इसमें कुछ गुप्त रखनेकी बात नहीं जान पडती. फिर साधु तो सबके ही हृदय होते हैं, इसलिए उनका यहां कुछ कर्त्तव्य ही नहीं होता।।५।।

यह सारी बात विशेषरूपसे कहिये इसलिए एतद् 'ब्रूहि' इस श्लोकसे फिर कहते हैं. कहनेसे क्या होगा? तो कहते हैं कि यह मेरी बड़ी भारी कामना है. यह मेरी अत्यन्त अभिलषित वस्तु है अथवा इस विषयकी मेरी इच्छा है इसलिए सुननेकी इच्छावाले मुझसे कहिये. अपनी अज्ञानता बतानेकेलिए फिर 'पितः'(हे पिता) यह सम्बोधन कहा गया है. बालक पिताको बार–बार सम्बोधन करते ही

रहते हैं.

शंका: यह बात गुप्त रखनेकी है, बालकोंसे कहने योग्य नहीं है, यदि ऐसा कहा जाए तो इसका उत्तर 'न हि गोप्यं हि' इन पदोंसे देते हैं अर्थात् यह बात गुप्त रखने अर्थात् नहीं कहने योग्य नहीं जान पड़ती है, क्योंकि बड़ा भारी सम्भ्रम प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है और फिर साधु पुरुषोंकी, कोई भी बात(कार्य) गुप्त रखने-छिपाने योग्य नहीं होती. यदि उन(साधु पुरुषों)के भी गुप्त रखनेकी बात हो, तो वे साधु ही नहीं कहे जा सकते. इस अर्थको स्पष्ट करनेकेलिए ही मूलमें 'हि' शब्द दो बार कहा गया है. साधु पुरुषोंका तो कुछ कर्तव्य ही नहीं है, फिर वह गोप्य कैसे होगा? साधु शब्दसे यहां शास्त्रोक्त कृपालु किसीसे द्रोह न करनेवाले इत्यादि धर्मवाले पुरुषोंका तात्पर्य है. उन ऐसे साधु पुरुषोंका कोई भी कार्य गोप्य नहीं होता; क्योंकि, उनकी आत्मा(हृदय) सभीमें है. वे सबका ही हित करनेमें तत्पर होते हैं. फिर भी, यहां इस लोकमें, उनका कर्तव्य गोप्य नहीं होता. इस कथनसे, यह सूचित किया हैं, कि भगवत् शास्त्रको कदाचित् न भी कहें; किन्तु लौकिकके कहनेमें, तो कोई प्रतिबन्ध नहीं है ।।४।।

टिप्पणी: 'एतद् ब्रूहि' इस श्लोकमें आगे 'शुश्रुषवे' सुननेकी इच्छावाले यह कहा है. इससे 'शुश्रुषा' इस इच्छार्थक 'सन्' प्रत्ययसे ही इच्छा कह दी गई. इसलिए मूलमें आए हुए काम पदका 'महान् कामः' अर्थ कहते हैं कि यह मेरा अभिलाषित अर्थ है. यद्यपि किसी दूसरेके द्वारा कह देने पर भी शुश्रुषा(सुननेकी इच्छा) दूर हो सकती है, तो भी सुननेकी इच्छावाले मुझसे, तुम साक्षात् कहिये, यह मेरी बड़ी अभिलाषा है. यह अर्थ प्रतीत होता है. वह गौण है. वास्तवमें तो यागका भंग करना रूप अर्थ ही भगवानके मनसे बड़ा है. यहां कहनेका तात्पर्य यही है, तो भी, अन्यके भजनका निवारण करना और उसके स्थान पर अपना ही भजन कराना ही, प्रभुका तात्पर्य है. इसलिए दूसरा अर्थ कहते हैं, कि इस विषयकी मेरी इच्छा है अर्थात् याग करानेकी मेरी इच्छा है।।४।।

अस्तस्वपरदृष्टीनाममित्रोदासविद्विषाम्।
उदासीनोरिवद् वर्ज्य आत्मवत् सुहृदुच्यते ।।५।।

सबको अपने समान देखनेके कारण जिनको अपने परायेका ज्ञान नहीं है, जिनके कोई मित्र तथा शत्रु नहीं रहे हैं. उन्हें उदासीनका शत्रुकी तरह त्यागकर

देना चाहिये और मित्रको अपनी आत्माकी तरह मानना कहा गया है।।५।।

शास्त्रमें नौ बातोंको गुप्त रखनेकेलिए कहा है तब फिर किसी बातको गुप्त नहीं रखनेकेलिए कैसे कहते हो ऐसी शंकाका समाधान 'अस्तस्वपरदृष्टीनां' इस श्लोकसे करते हैं. यह मेरा और यह पराया है इस प्रकारकी भेद बुद्धि जिनकी मिट गई है. परायेका ज्ञान(भेदबुद्धि) रहने पर ही, गोप्य रखनेकी बात, शास्त्र कहता है भेद बुद्धिके नष्ट हो जाने पर तो, गोप्य शास्त्र हो ही नहीं सकता. ऐसे ही, जिनके मित्र, उदासीन और शत्रु कोई नहीं हैं, उनमें बुद्धिभेद(भेद बुद्धि)के न होनेसे, बुद्धिके भेदसे होनेवाले मित्र, उदासीन तथा शत्रु भी नहीं है. इस कथनसे, सबमें समबुद्धि रखनेका उपदेश भी है. यदि कदाचित् यह, कहा जाये, कि इस प्रकार समबुद्धिका अधिकार नहीं है, तो भी (त्याग करने तथा ग्रहण करने योग्य) समबुद्धिका अधिकार न होनेके पक्षमें भी, बुद्धिकी त्याग करने योग्य और त्याग न करने योग्य भेदसे, दो प्रकारकी गति ही करना उचित है. तीन प्रकारकी गति करने पर तो बुद्धि नष्ट हो जायेगी और सगुण भी हो जायेगी. इसलिए आत्मा, मित्र, उदासीन, रिपु चारोंको दो भेदोंमें विभक्त करना 'उदासीनोरिवत्' कहा है अर्थात् आत्मा और मित्रकी एक कोटि और उदासीन और शत्रुकी दूसरी कोटि समझना चाहिये. इस कारणसे कार्योंमें उदासीनको शत्रुके समान त्याग देना चाहिये और मित्रको आत्माकी तरह गिनना चाहिये. यह बात शास्त्रने प्रमाणरूपसे बतलाई गई है, यह 'उच्यते', पदका तात्पर्य है।।५।।

लेख: व्याख्यामें 'द्वयी गतिः' पदोंके पहले 'बुद्धेः'(बुद्धिकी) पदका अध्याहार समझना अर्थात् बुद्धिकी दो गति. तीन प्रकारकी गति करने पर तो संशयरूप हो जानेसे, वह बुद्धि मनरूप हो जायेगी. बुद्धि तो चित्तरूपमें स्थितिरूपा है. यदि केवल बुद्धि रह जायेगी, तो उसका कुछ कालमें नाश हो जायेगा और मनरूपमें रहने पर तो उसका उसी क्षणमें सर्वथा नाश हो जायेगा और वह सगुण हो जायेगी. चित्तरूप होने पर ही; बुद्धि निर्गुण हो सकती है और दो गति मानने पर निश्चयरूप होनेसे, वह बुद्धि चित्तरूप हो भी सकती है. तीसरी गति मानने पर तो बुद्धिकी मनरूपता होनेसे, चित्तरूप होनेकी सम्भावना भी नहीं है. इसलिए बुद्धि सगुण हो जायेगी और सगुण होनेके साथ ही उसका नाश भी हो जायेगा– यह बात व्याख्यामें सगुणापि इस 'अपि' शब्दसे ज्ञात होती है।।५।।

ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति।

विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात् तथा नाविदुषो भवेत्।।६।।

सब मनुष्य दो प्रकारसे जानकर अथवा अज्ञानसे कर्म करते हैं. ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले विद्वानको, कर्मके फलकी प्राप्ति होती है. अविद्वानको कर्मफल नहीं मिलता और मिलता भी है, तो बहुत थोड़ा।।६।।

ऊपरके श्लोकके अनुसार यह सिद्ध हुआ, गुप्त नहीं रखना चाहिये, कह देना चाहिये. परन्तु जानकार ही कह सकता है, नहीं जाननेवाला कैसे कह सकता है? इसका उत्तर 'ज्ञात्वाज्ञात्वा' श्लोकसे कहते हैं. मनुष्य जिस कर्मको जानकर करता है अथवा बिना जाने करता है तो भी कर्म तो वैदिक है. उनमें ज्ञान होना आवश्यक है. कर्मोंका ज्ञान प्राप्त करके ही, उस कर्मके सम्बन्धी पदार्थका अनुष्ठान करना चाहिये, बिना जाने नहीं करना चाहिये. जानकर करने तथा बिना जाने ही करनेसे, फलमें क्या भेद पड़ेगा? इसका उत्तर देते हैं, कि विद्वानको कर्मकी सिद्धि प्राप्त होती है. जो मनुष्य जानता है, उसको कर्मफल प्राप्त होता है. श्रुतिमें बतलाया है ''जो विद्या ज्ञानसे, श्रद्धासे अथवा गुरुके पास ज्ञान पाकर करता है, वही कर्म अधिक फल(देने)वाला होता है''(''यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदावा, तदेव वीर्यवत्तरं भवति''छा.उ.१।१।१०). 'वीर्यवत्तरं' अधिक वीर्यवाला ही कर्म फल उत्पन्नकर सकता है अथवा ज्ञानसे किये कर्मका ही सम्पूर्ण फल होता है. बिना जाने किये कर्मका फल तो अल्प थोड़ा होता है. अविद्वानको विद्वान् कर्ताकी तरह सम्पूर्ण फलकी प्राप्ति नहीं होती है।।६।।

तत्र तावत् क्रियायोगो भवतां किं विचारितः।
अथ वा लोकिकस्तन् मे पृच्छतः साधु भण्यताम्।।७।।

आपका सोचा हुआ यह याग वैदिक है अथवा स्मार्त है? या लौकिक ही है? यह सब पूछनेवाले मुझसे समझाकर कहिये।।७।।

प्रथम तो यह कहिये, कि यह कर्म क्या वैदिक है, स्मृतिके अनुसार है, अथवा लौकिक ही है? यदि इनमेंसे कैसा भी न हो तो इसको करना ही नहीं चाहिये इस अभिप्रायसे 'तत्र तावत्' यह श्लोक कहते हैं. इसके विषयमें और कुछ कहनेकी अपेक्षा पहिले तो यह ही बतलानेकी कृपा करें कि आपका विचारा हुआ यह क्रिया यागकर्म वैदिक है या स्मार्त है अथवा लौकिक ही है? कुलधर्म अथवा देशधर्म जैसा ही है? इन तीन प्रकारोंमेंसे यह कैसा है इस बातको पूछनेवाले मुझसे निर्णयपूर्वक ठीक तरहसे कहिये. युक्ति युक्त और प्रमाणपूर्वक

कहो।।७।।

नन्द उवाच

पर्जन्यो भगवानिन्द्रो मेघास्तस्यात्ममूर्तयः।
तेऽभिवर्षन्ति भूतानां प्राणनं जीवनं पयः ।।८।।

नन्दजीने कहा कि पर्जन्य अर्थात् वृष्टि करनेवाला देव इन्द्र ही भगवान् है. मेघ उनके शरीरके अंग हैं. वे प्राणियोंको तुष्टि-पुष्टि करनेवाले और जीवन देनेवाले जलको बरसाते हैं।।८।।

व्याख्यार्थः भगवानके इस प्रकार पूछने पर नन्दरायजी जैसा समझकर इन्द्र याग किया करते थे, उस प्रकारको पर्जन्य इत्यादि चार श्लोकोंसे कहते हैं.

हैतुकं शास्त्रमाश्रित्य भौतिकेन्द्राय लोकतः।
भ्रमात् परम्पराप्राप्तं कुर्वन्तीति निरूप्यते ।।१।।

कारिकार्थः हैतुक सकाम शास्त्रके आधार पर भौतिक इन्द्रकेलिए लोक रीतिके अनुसार परम्परासे चले आए कर्मको भ्रमसे करते हैं यह निरूपण करते हैं.

व्याख्यार्थः इस यागका मूल हेतु शास्त्र है. इसलिए प्रथम पर्जन्यो इस श्लोकसे हेतुका वर्णन करते हैं. पर्जन्य अर्थात् वृष्टि जल बरसानेवाला देवता, वह भगवान् ही है. मेघ तो उनकी देहके अवयव हैं. वे ही सभी प्राणियोंके प्राणरूप तुष्टि-पुष्टि और जीवन प्राणदान देनेवाले जलकी बरसा(वर्षा) करते हैं. इसलिए पर्जन्य ही सारे जगतकी रक्षा करनेवाला है. जल और अन्नसे ही सारे प्राणी जीवित रहते हैं. इस कारणसे इन्द्र परम उपकारी और सर्वाधिक ऐश्वर्य सम्पन्न है. सबको इन्द्रकी ही आराधना करनी चाहिये ।।८।।

टिप्पणीः पर्जन्यो भगवानकी व्याख्यामें पर्जन्यको भगवान् कहनेका आशय यह है, कि भगवान् ही केवल जगतकी उत्पत्ति और पालनकर सकते हैं. उनके अतिरिक्त कोई दूसरा इन कार्योंका हेतु नहीं हो सकता. इसलिए यहां पर्जन्यको भगवान् कहा गया है.

लेखः यादृश ज्ञान अर्थात् (जिस प्रकारके ज्ञानसे) आधिदैविक इन्द्र भगवानकी भुजारूप होनेसे, यह इन्द्र आधिभौतिक इन्द्र है.

तत् तात वयमन्ये च वामुं चो पतिमीश्वरम्।
द्रव्यैस्तद्रेतसा सिद्धैर्यजन्ति क्रतुभिर्नराः ।।९।।

इसलिए हे प्रिय! सर्वशक्तिमान् तथा मेघोंके स्वामी उसके रेतस् वीर्यरूप

जलसे सिद्ध हुए पदार्थोंसे हम(वैश्य) तथा अन्य ब्राह्मण क्षत्रिय सभी लोग यज्ञोंके द्वारा उसका यजन-पूजन करते हैं।।९।।

इस कारण सब ही इन्द्रका भजन करते हैं यह 'तत् तात' इस श्लोकसे कहते हैं. तात-हे बालक! यह सम्बोधन स्नेहसे किया है. जिससे इस उत्तरकी निष्कपटता सूचित है. हम वैश्य और दूसरे क्षत्रिय तथा ब्राह्मण जो वृष्टिके द्वारा अपनी जीविका करनेवाले हैं, वे सभी लोग मेघोंके स्वामी तथा पालन करनेके कारण सर्वशक्तिमान् ईश्वर इन्द्रका यजन उसीके 'रेतस्'(वीर्य) अर्थात् बीजभूतसे सिद्ध होनेवाले धान्य आदिसे अनेक प्रकारके यज्ञ यागादि करके करते हैं क्योंकि, शास्त्रोक्त कर्म करनेका अधिकार मनुष्योंको ही है।।९।।

तच्छेषेणोपजीवन्ति त्रिवर्गफलहेतवे।
पुंसः पुरुषकाराणां पर्जन्यः फलभावनः ।।१०।।

यज्ञ करनेके पीछे जो अन्न बच रहता है, उससे मनुष्य धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धि करते हुए अपने जीवनकी रक्षा करते हैं; क्योंकि, पुरुषोंके पुरुष प्रयत्नोंका फल देनेवाला पर्जन्य ही है, अर्थात् लोगोंकी वृत्तियों और व्यवसायोंकी आशा वर्षाके ऊपर निर्भर है. वर्षाके बिना खेती नहीं हो सकती और खेती ही सबका मूलकारण है।।१०।।

फिर उस यज्ञसे बचे हुवे अन्नके द्वारा धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धिकेलिए मनुष्य अपने जीवनकी रक्षा करते हैं इस बातको तच्छेषेण इस श्लोकसे कहते हैं. इन्द्रका शेष अथवा यज्ञका शेष अर्थात् बाकी रहे अन्नसे, इन्द्रका शेषपन अथवा दासभाव प्राप्त करके जीवित रहते हैं. उसके बाकी बचे हुवे अन्नसे, मनुष्य अपने जीवनका निर्वाह करते हैं. धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंके फलका कारण जीवन ही है और जीवनका कारण अन्न है. अथवा यों कहा जाये कि मनुष्य इन्द्रका दासभाव प्राप्त करके जीवन धारण करते हैं.

शंका: मनुष्य अपने पुरुषार्थसे अन्न पैदा करके स्वयं ही जीवित रहते हैं. इसमें इन्द्र क्या करता है? ऐसी शंकाके समाधानमें कहते हैं, कि पुरुषके खेती आदि कार्योंका पुरुष प्रयत्न आदि सभी व्यापारोंका उद्योगोंका फल देनेवाला तो पर्जन्य ही है. यदि पर्जन्य सहायता न करे, वृष्टि नहीं बरसे तो, पुरुषके सारे प्रयत्न निष्फल ही हो जाते हैं. इसलिए पुरुषमें अपना पुरुषार्थ सामर्थ्य होते हुवे भी इन्द्र

पर ही जीवनका आधार रखना पड़ता है।।१०।।

य एवं विसृजेद् धर्मं पारम्पर्यागतं नरः ।
कामाद् लोभाद् भयाद् द्वेषात् स वै नाप्नोति शोभनम् ।।११।।

इस प्रकार कुल परम्परासे चले आए धर्मको जो मनुष्य किसी काम, लालच, भय अथवा द्वेषसे छोड़ देता है. उसको निश्चय ही शुभ फलकी प्राप्ति नहीं होती है।।११।।

फिर यह धर्म अपनी कुल परम्परासे चला आ रहा है. इसलिए भी यह कर्तव्य है और यदि न किया जायेगा तो प्रत्यक्ष ही अनिष्ट फल होगा, यह 'य एवं' इस श्लोकसे कहते हैं. जैसे ग्राम देवताकी पूजा न करने पर, वे तत्काल ग्रामको जला देती हैं इसलिए उनकी पूजा करना ही चाहिये; क्योकि स्मृतिमें कहा है कि ''परम्परासे चली आई सेवाका परित्याग द्वेषका मूल है''. जो स्वयं मनुष्य होकर, इस प्रकार कुल परम्परासे आये धर्मका त्यागकर देता है, उसको शुभ फलकी प्राप्ति नहीं होती है. त्याग करनेमें काम, क्रोध, लोभ और दूसरेके भयसे आये प्रतिबन्ध ये चार कारण होते हैं. 'कामात्' आदि चार पदोंसे उनका वर्णन करते हैं. कामनासे यज्ञ करनेवालेको स्थिरता नहीं होती, क्योंकि जितना समय यज्ञ करनेमें लगता है, उतना समय भोग करनेमें ही लगा देता है. इसलिए समयके संकोचसे, यज्ञका त्याग कामसे त्याग है. लोभ यह द्रव्यमें रहनेवाला दोष है. धनको मेरे स्वार्थकेलिए बचाऊं ऐसा विचार करके यज्ञ धर्म न करना लोभसे छोड़ देता है. दूसरेके अथवा परिश्रमके भयसे तथा देवता विषयक तथा प्रमाण शास्त्र विषयक द्वेषसे इस तरह इन चार कारणोंसे भजन नहीं किया जाए तो अनिष्ट फल मिलता है, शुभ फलकी प्राप्ति नहीं होती अथवा शुभ फलसे रुकावट होती है. इस प्रकार हेतुवादका आश्रय लेकर लौकिक, स्मार्त और वैदिक तीनों प्रकारके सम्बन्ध रहित कर्म भी करने ही चाहिये यह निरूपण किया है।।११।।

श्रीशुक उवाच

वचो निशम्य नन्दस्य तथान्येषां व्रजौकसाम् ।
इन्द्राय मन्युं जनयन् पितरं प्राह केशवः ।।१२।।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि नन्द तथा अन्य व्रजवासियोंकी यह बात सुनकर कृष्णने उनके मनमें इन्द्र पर कोपके भाव उपजाते हुए नन्दरायजीसे यों कहा।।१२।।

सारे धर्मकी रक्षा और पाखण्ड धर्मका निराकरण करनेवाले भगवान् इन तीन लोक, वेद, स्मृति प्रकारके सम्बन्धसे रहित और केवल हेतुवादके आधार पर किये जानेवाले उस कर्ममें रहनेवाले दोषको बतलाया यह 'वचो नियम्य' इस श्लोकसे कहते हैं. नन्दरायजी तथा अन्य व्रजवासियोंको और उनको याग करनेकी सम्मति देनेवाले पुरोहितोंके भी वचन सुनकर भगवान् यों विचार करने लगे, कि सभी व्रजवासी बेसमझ हैं, यह आधिभौतिक इन्द्र व्यर्थ ही खा जाता है. धर्मसे अदृष्ट फलकी प्राप्ति होती है. दृष्ट फल देनेवाला तो धर्म नहीं कहा जाता. इस तरह सोचकर इन्द्र पर क्रोध उत्पन्न कराते हुवे भगवान्, पिता नन्दजीसे कहने लगे. यहां पर यह शंका होती है, कि भगवानने इन्द्रदेवसे बैर क्यों किया तथा इस प्रकार देवद्रोह करने पर भगवानका अनिष्ट क्यों नहीं हुआ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि भगवान् तो केशव हैं क(ब्रह्माजी) ईश(शिवजी) दोनोंको 'व' मोक्ष देनेवाले हैं. तो फिर बेचारा इन्द्र किस गणनामें है, जो भगवानका अनिष्टकर सके. इस तरहके कर्म तथा पाखण्ड धर्मोंसे तो, ब्रह्मादि देवोंके देवभावका ही नाश हो जाता है. इसलिए देवोंके देवत्वकी रक्षाके कारणसे ही भगवानने ऐसा किया है।।१२।।

लेख : 'वचो निशम्य' श्लोककी व्याख्यामें दृष्टफल धर्ममें नहीं होता इत्यादि कथनका स्पष्टीकरण अगले अध्यायकी कारिकामें किया जावेगा.

योजना : 'वचो निशम्य' इस श्लोककी व्याख्यामें 'भौतिक इन्द्र' इत्यादि पदोंका तात्पर्य यह है, कि वेद विरुद्ध तथा मनमानी युक्तियोंसे किये गये कर्ममें वेदविधिसे सन्तुष्ट होनेवाला इन्द्र पूजाका ग्रहण नहीं करता है. तथा श्रद्धापूर्वक किए पूजनका स्वीकार भी आवश्यक होता है. इसलिए इन्द्र आधिभौतिकरूपसे ही इसका ग्रहण करता है–ऐसा कहा है. कहनेका तात्पर्य यह है कि भगवानके वाक्योंको वेद कहते है. वेदका वेदत्व भी भगवानके वाक्य होनेसे ही है. इसलिए गोवर्धनयाग करनेकेलिए भगवानने नन्दजीसे जो वचन कहे, वे सब भगवद्गीताकी तरह वेदरूप ही है. इसीसे भगवानके वाक्योंके वेदरूप होनेसे, यह अन्नकूट याग भी वैदिक ही है।।१२।।

श्रीभगवानुवाच

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते।।१३।।

भगवानने कहा कि सब प्राणी अपने–अपने कर्मके अनुसार पैदा होते हैं

और मरते हैं. सुख, दुःख, भय तथा कल्याण उन्हें कर्मके अनुसार ही मिलते हैं।।१३।।

भगवान् पहले तो कर्मणा इस श्लोकसे हेतु पक्षको दूर करते हैं. जब तक हृदयमें हेतुवाद घर किये होता है, तब तक साक्षात् ब्रह्मवादका कथन उचित नहीं होता. इसलिए उनकी हेतुवादमें निष्ठाको दूर करनेकेलिए भगवानने उनसे काल, कर्म और स्वभाववादका वर्णन करनेका विचार किया. उनमें कालवाद तो अत्यन्त गूढ होनेके कारण, शीघ्र ही हृदयारूढ नहीं हो सकता. केवल ज्योतिष शास्त्रके ज्ञाता ही कालवादमें निपुण होते हैं. शेष कर्म और स्वभाववाद युक्ति और उत्पत्तिमें उपयोगी होते हैं. इसलिए युक्ति बतलानेकेलिए पहले तो भगवान् [१]'कर्मणा जायते' इस श्लोकसे कर्मवादका वर्णन करते हैं. जैसा शुभ-अशुभ कर्म करके प्राणी देव, पशु, पक्षी अथवा मनुष्य होता है. जिससे सब उत्पन्न होता है, जिससे रहता है और जिसमें सब लीन हो जाता है, उसकी ही उपासना करनी चाहिये वह ही उपासना करने योग्य होता है. प्राणी कर्मसे ही उत्पन्न होता है और कर्मसे ही मरता है. शुभ और अशुभ भोगके समाप्त होने पर, कर्म विपरीत होनेसे मरता है. स्थितिमें भी, कर्म ही कारण है; क्योंकि जीवित प्राणी कभी सुख, कभी दुःख, कभी भय तथा कभी कल्याणका अनुभव करता है. यह सब कर्मवादसे ही संगत होता है. कर्मके अभावमें सुख-दुःख आदिकी संगत नहीं हो सकती ।।१३।।

१.लेख: 'कर्मणा जायते' श्लोककी व्याख्यामें 'उत्पन्नः'(उत्पन्न हुआ) इस पदके आगे 'वक्तव्यत्वेन भगवन् मनसि'(भगवानके मनमें कहने योग्य विचार उत्पन्न हुआ) इत्यादि पदोंको और जोड़ लेना चाहिये. ऐसे ही 'उपपन्नाः' (उचित है)के स्थान पर 'उत्पन्नाः'(उत्पन्न हुवे) ऐसा पाठ लेखकारको अभिष्ट है।।१३।।

अस्ति चेदीश्वरः कश्चित् फलरूप्यन्यकर्मणाम्।
कर्तारं भजते सोऽपि न ह्यकर्तुः प्रभुर्हि सः ।।१४।।

और यदि जीवको कर्मोंका फल देनेवाला कोई ईश्वर है तो भी, वह कर्म करनेवालेको ही फल देता है. जो जीव कर्म ही नहीं करता, उसका वह प्रभु(ईश्वर) नहीं है।।१४।।

कर्म कारण कैसे हो सकता है, कर्म तो जड़ है. चेतन प्राणीको फल

देनेवाला चेतन ही हो सकता है, क्योंकि स्वामी और सेवकके सम्बन्धके प्रमाणसे, ईश्वरवाद ही सत्य हो सकता है. कर्मवाद कैसे ठहर सकता है? ऐसी होनेवाली शंकाका समाधान 'अस्ति चेदीश्वरः' इस श्लोकसे करते हैं. प्रथम तो ईश्वर ही नहीं है; क्योंकि उसका कोई प्रयोजन नहीं है. कर्मोंके उपर्युक्त सिद्धान्तको न जाननेवाला अज्ञानी पुरुष ही ईश्वरको मानता है. वेद तो कर्मका बोध करता है, कि फलके साधनरूपसे कर्म करने पर फलकी प्राप्ति होगी. जैसे लोकमें भोजन करने पर तृप्ति, बीज बोने पर फल और शयन करने पर नींद आती है. इसी प्रकार अलौकिकमें भी कर्मसे ही फल होता है. इसमें ईश्वरकी क्या आवश्यकता है.

यहां पर यह कहना ही अनुचित है, अधिष्ठाता बिनाका कर्म फल कैसे देगा? क्योंकि जीव स्वयं चेतन है, वही कर्मका अधिष्ठाता है. कर्मको अनित्य बतलाकर (अनित्यकर्म) उसके द्वारा होनेवाली फल सिद्धिमें सन्देह करना भी उचित नहीं है; क्योंकि कर्म तो नित्य है और वह उसी समय बीजमेंसे गर्भाधानकी तरह सूक्ष्म स्वर्ग फलको उत्पन्नकर देता है. अथवा अदृष्ट उत्पन्न करके, उसके द्वारा फल उत्पन्नकर सकता है. अन्यथानुपपत्तिसे अर्थात् आज समाप्त हो जानेवाला कर्म कालान्तरमें(मृत्युके पीछे) अदृष्टके बिना फल कैसे दे सकता है इस कारणसे अदृष्टकी कल्पना की जाती है. वह अदृष्ट कल्पना उसी तरहके अदृष्ट की जाती है जो बिना किसी अधिष्ठाताके ही फलको उत्पन्न कर देता है. अथवा कोई ईश्वर हो भी तो वह कल्पित ईश्वर कुछ भी कर सकनेमें असमर्थ ही है. वह तो एक रसोईदारकी तरह जीवके आधीन ही रहेगा. जिस जीवका जैसा कर्म होता है वैसा फल उस जीवकेलिए (रसोईदारकी तरह) सिद्ध करके देता है. इसीको कहते हैं, कि जीवोंको कर्मका फल देनेवाला यदि कोई ईश्वर है भी, तो वह कर्म करनेवालेको ही फल देता है, अर्थात् जो कर्ता जैसा कर्म करता है, उसे ही वैसा ही फल देता है, किसी दूसरेको नहीं देता. वह ईश्वर भी, कर्म न करनेवालेका प्रभु नहीं है. स्वतन्त्र ईश्वरवाद पक्षमें ऐसे ईश्वरकी कल्पना करनी होगी जो बिना किसी कर्मके चाहे जिस जीवको जी चाहा फल दे सके. तब तो उसमें विषमता और निर्घृणता(क्रूरता) दोष आजायेंगे. इसलिए ईश्वरवाद तो सर्वथा उचित नहीं है. यह हेतुवादसे, ईश्वरको सिद्ध करनेवालोंके ईश्वरका निराकरण किया है, न कि वेदादि प्रमाणोंसे सिद्ध हुवे ईश्वरका, क्योंकि प्रमाण

सिद्धका निराकरण हेतुवादसे भी होना असम्भव है।।१४।।

किमिन्द्रेणेह भूतानां स्वं स्वं कर्मानुवर्तिनाम्।
अनीशेनान्यथा कर्तुं स्वभावविहितं नृणाम्।।१५।।

इसलिए जब जीवोंको अपने-अपने कर्मोंका ही अनुसरण करना पड़ता है, तो उनको इन्द्रसे क्या मतलब? पूर्व संस्कारके अनुसार मनुष्योंके भाग्यमें जो बदा है, उसे वह इन्द्र कभी अन्यथा परिवर्तित अथवा विपरीत नहींकर सकता।।१५।।

इस प्रकार प्रमाण सिद्धकर्ता(ईश्वर)का तो निष्प्रयोजन होने पर भी निराकरण नहीं किया जा सकता (मानना ही पड़ेगा) प्रमाणके बिना केवल हेतुसे सिद्ध किये गये ईश्वरको स्वीकार करना आवश्यक नहीं है यह 'किमिन्द्रेण' इस श्लोकसे कहते हैं. यहां कर्म फल देनेमें अपने-अपने कर्मका अनुसरण करनेवाले प्राणियोंका इन्द्रसे क्या काम है? कर्मोंकी अनुवृत्तिका निषेध तो ईश्वरसे भी नहीं किया जा सकता; क्योंकि कर्मके ऊपर ही प्राणियोंके जीवनका आधार है. इस प्रकार हेतुवादसे इन्द्रकी ईश्वरता सिद्ध करनेवाला उसकी अनीश्वरताको ही सिद्ध करता है. यह कहते हैं, कि इन्द्र कर्म और कर्मफलको विपरीत(उल्टा) करनेमें समर्थ नहीं है. ऐसे अन्यथाकर्तुं असमर्थ विपरीत करनेमें असमर्थ ईश्वरसे क्या प्रयोजन है?

शंका: श्रुतिमें कहा है कि यह ईश्वर ही जिस जीवको उत्तमलोकोमें ले जाना चाहता है, उससे उत्तमकर्म और जिसको नीचेलोकोंमें ले जाना चाहता है, उससे नीचकर्म करवाता है इस कारणसे, कर्म करनेमें ईश्वर कारण होगा? इस शंकाके समाधानमें कहते हैं, कि ईश्वरको जीवोंकी कर्म करनेमें प्रवृत्तिका कारण तब माना जाये, जब कि जीवोंका कर्मप्रवर्तक कोई दूसरा न हो. यहां तो कर्मप्रवर्तक स्वभाव है. स्वभावसे ही, जीव कर्म करता है. सत्वगुणकी वृद्धि (उद्रेक) में उत्तम कर्म, रजोगुणकी अधिकता होगी, तो मध्यम श्रेणीके कर्म और तमोगुणकी वृद्धिमें अधम कर्ममें प्रवृत्ति होती है. इसलिए मनुष्योंके स्वभावसे विहित ही कर्म स्वभावसे ही सिद्ध होता है. ईश्वर उसे विपरीत करनेमें समर्थ नहीं है. इसलिए ऐसे असमर्थ ईश्वरको माननेकी आवश्यकता नहीं है।।१५।।

स्वभावतन्त्रो हि जनः स्वभावमनुवर्तते।
स्वभावस्थमिदं सर्वं सदेवासुरमानुषम्।।१६।।

सब प्राणी स्वभावके ही अधीन हैं, स्वभावका ही अनुगमन करते हैं. सात्त्विक देव, राजस असुर और तामस मनुष्य सहित यह सारा जगत् स्वभावके वशीभूत है, स्वभाव ही के अनुसार चलता है।।१६।।

स्वभावका प्रबोधन करने(केलिए ईश्वरकी सत्ता)वाला ईश्वर मान लेना चाहिये? इसके उत्तरमें स्वभाव... यह श्लोक कहते हैं. यह सारा जगत् स्वभावके अधीन है. वह स्वभाव यदि अमुक देश तथा अमुक कालकी अवधि(हद)में रहता हो तो उसके उद्‌बोधनकेलिए ईश्वरको अंगीकार करनेकी आवश्यकता हो. परन्तु स्वभाव तो पहिले जीवको वशमें करता है. तब जीव स्वभावके वशीभूत होकर चलता है. तब बन्धनमें पड़े हुवेकी तरह स्वभावके अधीन होकर स्वभावके अनुसार ही अनुवर्तन करता है. जिसका जैसा सात्विक आदि स्वभाव होता है, वैसा ही वह हो जाता है.

स्वभावके अधीन जीवोंकेलिए यदि ईश्वरकी आवश्यकता न हो, तो जो प्राणी स्वभावके वशीभूत नहीं है, उनकेलिए ही ईश्वरको स्वीकारकर लेना चाहिये? इसके समाधानमें कहते हैं, कि यह सारा जगत् स्वभावसे ही रह रहा है. सात्विक देह, राजस असुर, तामस मनुष्य इन तीनों प्रकारके जीवोंके साथ सारा जगत् स्वभावमें ही स्थित है. (इस प्रकार जब स्वभावके अधीन न रहनेवाला कोई प्राणी है ही नहीं, तब ईश्वरको माननेकी आवश्यकता नहीं है।।१६।।

देहानुच्चावचान् जन्तुः प्राप्योत्सृजति कर्मणा।
शत्रुर्मित्रमुदासीनः कर्मैव गुरुरीश्वरः ।।१७।।

अधम शरीर धारण करता है, और समय आने पर उन शरीरोंको छोड़ देता है. कर्मके अधीन रहकर ही, यह जीव परस्पर शत्रु, मित्र अथवा उदासीन (तटस्थ) बनता है. इसलिए कर्म ही सबका गुरु और ईश्वर है।।१७।।

शंका: इस लोकसे दूसरेलोकमें जानेकेलिए तो ईश्वरकी अपेक्षा है ही, क्योंकि नहीं तो पूर्व शरीरसे नष्ट हो जाने पर मार्गका ज्ञान न होनेके कारण, जहां फल मिलना है, उस स्थान पर यह जीव कैसे जा सकेगा? ऐसी शंकाका समाधान 'देहानुच्चावचान्' इस श्लोकसे करते हैं. ऊंचे-नीचे अनेक प्रकारके शरीरोंको प्राप्तकर-करके, यह जीव छोड़ देता है. व्यवधान रहित निरन्तर कर्मसे ही नवीन देहको ग्रहण करके पहले शरीरका त्यागकर देता है.

सबका शरीर समान(एकसा) है, तब भी कभी कोई शत्रु, कोई मित्र और

कभी कोई उदासीन होनेका क्या कारण है. इसके उत्तरमें कहते हैं, कि शत्रु, मित्र तथा उदासीन सब कर्म ही है. अन्यथा कर्मकी अधीनता न हो, तो उनसे अशुभ तथा शुभ फलकी प्राप्ति नहीं हो. कर्मसे ही जीवोंको अशुभ और शुभ फल मिलता है. गुरु भी कर्म ही है; क्योंकि गुरु उपदेश भी करें और वह सफल भी हो यदि ऐसा उत्तम अदृष्ट नहीं हो तो गुरु उपदेश ही नहीं करें और वह उपदेश सफल भी नहीं हो. कर्म ही फल दान करता है, इससे ईश्वर भी कर्म ही है।।१७।।

तस्मात् सम्पूजयेत् कर्म स्वभावस्थः स्वकर्मकृत्।
अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम् ।।१८।।

जब स्वभाव सिद्ध कर्म ही सब फल देनेवाला है, तब केवल उसीकी पूजा करना चाहिये. प्राणियोंको स्वभावके अनुसार अपने कर्मका पालन और उसीका पूजन करना चाहिये. जिसके द्वारा सुखपूर्वक जीविका चले, वही प्राणियोंका इष्ट देव है।।१८।।

इस कारणसे उसीकी पूजा करना चाहिये यह 'तस्मात्' इस श्लोकसे कहते हैं. कर्मका ही पूजन सम्मान करना चाहिये. उसके सम्मान करनेकी विधि बतलाते हैं, कि जिसका जो स्वभाव ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भाव हो, उसके अनुसार अपने वर्ण तथा आश्रममें विधान किये हुवे कर्म करने ही चाहिये. वर्णाश्रम विहित कर्मके न करने पर तो पतित हो जाता है. फल देवे अथवा न देवे, कोई ईश्वर हो अथवा नहीं हो कर्म तो अवश्य ही करना ही चाहिये. ऐसी दशामें सब प्रकार सुखपूर्वक जिस उपाय और जिस रीतिसे जीवन निर्वाह हो सके, वही उसका इष्टदेव है. यह अर्थ उचित ही है. जो जिस सत् अथवा असत् विषयमें स्थित है वही उसका दैवत है।।१८।।

आजीव्यैकतरं भावं यस्त्वन्यमुपधावति।
न तस्माद् विन्दते क्षेमं जारान्नार्यसती यथा ।।१९।।

जैसे पर पुरुषसे सम्बन्ध रखनेवाली कुलटा स्त्री, पर पुरुषसे सुख नहीं पा सकती, वैसे ही जो पुरुष प्रथम, किसी एक पक्षका आश्रय रखकर, फिर उसे छोड़कर किसी दूसरेकी तरफ दौड़ता है, उसे उस दूसरेसे भी सुख नहीं मिलता है।।१९।।

परम्परागत धर्मका त्याग करनेमें बाधकका वर्णन 'आजीव्यैकतरं' इस श्लोकसे करते हैं. पहले किसी एक पक्ष भावका अवलम्बन करके अनुवर्तन

करके, फिर उससे असन्तुष्ट होकर, उसे छोड़कर अधिक फलकी प्राप्तिकेलिए यदि दूसरेका आश्रय करता है, तो उसको उससे सुख नहीं मिल सकता; क्योंकि, वह दूसरा भी यह सोचता है, कि यह मेरा भी त्यागकर देगा. इस बातको न माननेवालेकेलिए दृष्टान्त कहते हैं, कि जैसे कुलटा स्त्री जार(पर पुरुष)से सुख नहीं पा सकती. जार पुरुष उस स्त्रीका न तो भरण पोषण आदि करेगा और न सर्वदा सम्भोग ही. परलोककी प्राप्ति तो ऐसी कुल्टाको होती नहीं. इससे कर्म आवश्यक है. इसलिए कर्म पक्षका त्याग नहीं करना चाहिये।।१९।।

वर्तेत ब्रह्मणा विप्रो राजन्यो रक्षया भुवः।
वैश्यस्तु वार्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया ।।२०।।

ब्राह्मणको वेदाध्ययनसे, क्षत्रियको प्रजाकी रक्षासे, वैश्यको वार्ता और शूद्रको इन तीनों वर्णोंकी सेवा करके जीविका निर्वाह करना चाहिये।।२०।।

क्योंकि कर्म ही सब प्राणियोंके जीवनका साधन है, इसलिए ब्रह्म(वेद)से जीवन निर्वाह करे. ब्राह्मणका जीवन वेदोंके अध्ययनसे ही है. क्षत्रिय, तो प्रजाकी रक्षा करके जीविका चलावे, वैश्य वार्तासे और शुद्र तीनों वर्णो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यकी सेवासे जीवित रहें. तीनों वर्णोंकी सेवा करने पर, जो कुछ वे देवें, उससे जीवनका निर्वाह करे. और सब ही धन्धोंका निराकरण 'तु' शब्दका तात्पर्य है।।२०।।

कृषिवाणिज्यगोरक्षाकुसीदं तुर्यमुच्यते।
वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम् ।।२१।।

वैश्योंकी वृत्ति वार्ता–खेती, बनिज व्यापार, गोपालन और ब्याज बट्टा इन भेदोंसे चार प्रकार की है. हम ग्वाल सदा गाएं पालकर अपनी जीविका चलानेवाले हैं. यही हमारी जीविका है. इसलिए हम लोगोंको इन्द्रसे प्रयोजन नहीं है।।२१।।

इस प्रकार सब वर्णोंका अपने–अपने कर्मके द्वारा ही जीवनका निर्धार करके ऊपर कहे हुवे अपने धन्धेके हेतुभूत इन्द्रकी अपेक्षा है इस पक्षका निराकरण करनेकेलिए अपने जीवनके आधारभूत कार्योंका विभाक करके 'कृषि' इस श्लोकसे बतलाते हैं. कृषि(खेती) वाणिज्य(व्यापार करना), गोरक्षा(गाएं चराना) और कुसीद(व्याज लेना). इनमें खेती, व्यापार अथवा गोपालनसे जीविका न चल सकने पर ही चौथेसे(व्याज लेकर) जीवन निर्वाह करे. क्योंकि

अन्य तीन धन्धोके होते हुवे भी, व्याजसे निर्वाह करना निन्दित है. व्याजकी गणना, उपपातक–मृदु पापमें है. इस प्रकार वार्ताके चार भेदोंको कहकर, उसका उपयोग बतलाते हैं, कि उनमेंसे हम लोग सदा गोपालन करके जीविकाका निर्वाह करनेवाले हैं. इसलिए हमारे खेती न होनेके कारण, हमें इन्द्रसे कुछ प्रयोजन नहीं है।।२१।।

सत्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ।
रजसोत्पद्यते विश्वमन्योन्यं विविधं जगत् ।।२२।।

सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण ये तीन मायाके गुण हैं. इन्हीं गुणोंसे सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहार होता है. यह विविध प्रकारका चराचर जगत् रजोगुणकी प्रेरणासे आपसमें उत्पन्न होता है।।२२।।

हम लोगोंके तो खेती है ही नहीं और यदि खेती हो, तो भी, इन्द्रका उपयोग नहीं है यह 'सत्वंरजः' इस श्लोकसे बतलाते हैं. उत्पत्ति, पालन और प्रलयकेलिए सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुणका अंगीकार है. इसलिए ये तीनों गुण उत्पत्ति पालन और संहारके कारण हैं. इन गुणोंको इकट्ठा कहकर, एक–एकका अलग उपयोग निरूपण करते हैं. रजोगुणसे विश्वकी उत्पत्ति होती है. इसलिए रजोगुण ही जगतको उत्पन्न करता है; क्योंकि जब रजोगुण मेघोंको प्रेरणा करता है, तभी वे(मेघ) जगतको उत्पन्न करते हैं, अन्यथा नहींकर सकते. यदि इन्द्र आदिको मान भी लें तो भी वे स्वतन्त्र नहीं है, वे भी रजोगुणके ही अधीन हैं. सब जगह रजोगुणका प्रवेश है. इस कारणसे, यह जगत् परस्पर एक दूसरेसे उत्पन्न होता है. इसलिए बीजसे अंकुर और फिर अंकुरसे बीज उत्पन्न होता है. पितासे पुत्र और फिर पुत्रसे पिताकी उत्पत्ति होती रहती हैं; क्योंकि श्रुतिमें कहा है, कि प्रजाके पीछे प्रजा होती रहती है. अचित्रसे सचित्र और चित्रसे अचित्र तथा अंगहीनसे पूरा और पूर्णसे आधा(अंगहीन) उत्पन्न होता है. इसलिए यों कहना चाहिये, कि यह सब रजोगुणसे ही उत्पन्न होता है. इस प्रकार, जब एक केवल रजोगुणको स्वीकारकर लेनेसे ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, तो फिर इन्द्र, मेघ आदि विशेषसे स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं रहती. इसलिए जीवसृष्टि कर्मसे उत्पन्न होती है अर्थात् जीवोंका देहोंके साथ संयोग–वियोग एवं सुख–दुःखकी प्राप्ति होना आदि कर्मसे ही होता है. जड़सृष्टि रजोगुणसे होती है. इस कारणसे जड़सृष्टिकेलिए भी ईश्वरकी अपेक्षा नहीं है. इस प्रकार सामान्य रीतिसे,

प्रचलित ईश्वरवादका निराकरण किया है. वेद सिद्ध ईश्वरका नहीं किया है यह ऊपर कह आये हैं।।२२।।

लेख: व्याख्यार्थमें 'जीवसृष्टि' पदका आशय यह है कि जीवका देहके साथ संयोग–वियोग तथा जीवको सुख–दुःखकी प्राप्ति कर्मसे ही होती है।।२२।।

रजसा चोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बूनि सर्वतः।
प्रजास्तेनैव सिध्यन्ति महेन्द्रः किं करिष्यति।।२३।।

ये मेघ भी रजोगुणकी प्रेरणसे सब जगह जलकी वर्षा करते हैं. जलसे अन्न पैदा होता है और उसी अन्नसे सबका पालन होता है. इसमें इन्द्र क्या करेगा।।२३।।

अब वृष्टिकेलिए इन्द्रकी अपेक्षा है इस मतका विशेषरूपसे निराकरण 'रजसा' इस श्लोकसे करते हैं. मेघ पानी बरसते हैं. उनके भीतर रजोगुण है. रजोगुण विक्षेपक है, उससे प्रेरित होकर ही मेघ वर्षा करते हैं जैसे राजा लोग कौतुकसे प्रेरित होकर दान करते है. अन्यथा यदि इन्द्रकी आज्ञासे मेघ बरसते हों तब तो पानीमें तथा ऊपर भूमिमें निरर्थक वृष्टि न हो. इसलिए रजोगुणसे प्रेरित हुवे ही मेघ इच्छानुसार बरसते हैं. इसलिए आवश्यक और लाघव होनेसे रजोगुण ही पानी बरसनेमें नियामक हैं. वर्षा होनेमें, इन्द्रकी आज्ञा कारण नहीं है. रजोगुणकी प्रेरणासे ही वृष्टि होती है और वृष्टिसे उत्पन्न हुवे अन्नसे ही, प्रजा जीवित रहती है. इन्द्रके करने योग्य कार्य रजोगुणके द्वारा ही सिद्ध होता है, तो फिर, इसमें इन्द्र क्या करेगा? अर्थात् इन्द्रकी अपेक्षा नहीं है।।२३।।

योजना: 'रजसा' श्लोककी व्याख्यामें 'राजानः कौतुकिनः'का आशय यह है कि जैसे रजोगुणसे प्रेरित राजा लोग दान करते हैं, वैसे ही रजोगुणसे प्रेरित मेघ पानी बरसाते हैं।।२३।।

न नः पुरो जनपदा न ग्रामा न गृहा वयम्।
नित्यं वनौकसस्तात वनशैलनिवासिनः।।२४।।

इसके अतिरिक्त हमारे नगर, जनपद, गांव अथवा घर कुछ भी नहीं हैं. हे तात! हम लोग तो सदा वनमें रहनेवाले हैं. वन और पर्वत पर ही अपना निवास है।।२४।।

दुर्जनतोषन्यायसे इन्द्रका कार्य हो तो भी, हमारा इन्द्रसे प्रयोजन नहीं है यह, 'न नः पुरः' इस श्लोकसे कहते हैं. हमारे नगर नहीं हैं, न देश हैं. गांव, हाट

तथा घर भी हमारे नहीं है. इन्द्र लोकोंका पालन करनेवाला है, वर्षाका कारण है, यज्ञका भोक्ता तथा दिशाओंका देवता है. इन चारोंमेंसे हमारेलिए तो एकका भी उपयोग नहीं है. हमारे नगर नहीं होनेसे लोकपालक इन्द्रकी हमें आवश्यकता नहीं है. हमारे देश भी नहीं हैं जिससे कि लोकाधिपति इन्द्रकी आवश्यकता हो. हमारे गांव भी नहीं है. इस कारण खेतोमें वर्षा करनेवाले इन्द्रकी अपेक्षा भी नहीं है. अग्निहोत्र करनेवालेकी तरह भी हमे भय नहीं है कि इन्द्र हवि आहुतिको ग्रहण नहीं करेगा. और अपने घर न होनेके कारण दिशा आदिको जाननेकेलिए भी हमें इन्द्रकी आवश्यकता नहीं है. हम लोग तो वनवासी है. शास्त्रमें कहा है, कि वनका कोई स्वामी नहीं है. तात! यह सम्बोधन स्नेह तथा सत्यताका सूचक है. हम लोग सदा पर्वत पर रहते हैं. वनस्पति वैष्णव हैं, विष्णु पर्वतोंका स्वामी है यह श्रुतिमें कहा है. इसलिए हमें वैष्णव यज्ञ ही करना उचित है।।२४।।

तस्माद् गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः।
य इन्द्रयागसम्भारास्तैरयं साध्यतां मखः ।।२५।।

इसलिए गाय, ब्राह्मण और गोवर्धन पर्वतके ही यज्ञका आरंभ करिए. आप लोगोंने इन्द्रयज्ञकेलिए जो सामग्री इकट्ठी की है, उससे इन गिरिराजकी पूजा करिये।।२५।।

उस वैष्णवयज्ञमें, विष्णुके ब्राह्मण और गायें ये दो अंग है. ब्राह्मणोंमें मन्त्रोंकी स्थिति है और दूसरे अंग गायोंमें यज्ञका द्रव्य हवि(दूध, दही, घृत) रहता है. गोवर्धन पर्वत स्वयं देवता है. इसलिए वैष्णवयाग ही करना उचित है यह कहते हुवे गो, ब्राह्मण और पर्वतका यज्ञ प्रारम्भ करिये, यह 'तस्मात्' इस श्लोकसे कहते हैं. यदि युक्तिवादको प्रमाण माना जाये, तो यह युक्ति वेदके अनुसार है. इसलिए पर्वत और वनमें विचरण करनेवालोंको यही वैष्णव यज्ञ करना योग्य है. 'अद्रेश्च' इस च शब्दसे वेदमें कहे हुवे सभी अंग देवताओंका ग्रहण है. 'अयं' इस पदसे गोसवात्मक यज्ञका ग्रहण है. गोसव द्वारा यज्ञ कराया इस वाक्यसे गोसत्रसे यह गोसव भिन्न है, लौकिक है. इसका विधान करनेकी विधिको भगवान् ही कहेंगे. इस कथनसे यह सूचित किया कि वेदमें नहीं कही गई केवल युक्ति सिद्ध वस्तुका ग्रहण करना हो, तो केवल ईश्वरकी कही हुई युक्तिसे सिद्ध वस्तुका ही ग्रहण करना चाहिये, लौकिक युक्तिसे सिद्धका ग्रहण नहीं करना चाहिये. यहां ऐसी शंका होती है कि इन्द्रकेलिए जो पदार्थ इकट्ठे किये हैं, उनसे, अन्यका

काम सिद्ध कैसे होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि इन्द्रयागकेलिए जो घृत आदि जो सामग्रियां इकट्ठी की हैं, उन्हींसे, इस मख(यज्ञ)को सिद्ध सम्पन्न करिये. मख अर्थात् सब देवताओंको तृप्त करनेवाला यज्ञ करिये और इन्द्रयागसे तो केवल एक इन्द्रका ही उपकार होगा. यह मूलमें कहे मख शब्दका आशय है. अज्ञानसे किये हुवे कार्यमें सभी स्थानोंमें ऐसा ही होता है. (ऐसी ही व्यवस्था होती है). अन्यदेवकेलिए दी हुई आहुतिको उससे हटाकर दूसरेकेलिए दे दी जाती है. वेदमें कहा कि ''जिसकेलिए हवि आहुतिका निर्वाप(विनियोग) किया जाये और उसी क्षणमें चन्द्रमाका उदय हो जाये तो तण्डुलोंके तीन विभाग करके मध्यम विभाग अष्टाकपाल पुरोडाशका अग्निकेलिए और घने तण्डुलोंके भागका इन्द्रकेलिए विनियोग करें. इत्यादि अभ्युदयकी इष्टि यागमें जैसे कालभ्रमसे दी हुई, आहुतिका परिवर्तनकर दिया जाता है, वैसे ही यहां युक्ति भ्रमसे, इन्द्रकेलिए दी जानेवाली सामग्रीका ही गिरिराजकेलिए ही विनियोग करिये।।२५।।

योजना: तस्माद् गवां इस श्लोककी व्याख्यामें 'स्वयमेव देवता' पदोंका आशय यह है, कि विष्णु, नन्दगांव और बरसाना पर्वत शिव और ब्रह्मरूप हैं तथा गोवर्धन विष्णुरूप है ऐसा पुराणमें कहा है।।२५।।

पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः पायसादयः।
संयावापूपशष्कुल्यः सर्वदोहश्च गृह्यताम्।।२६।।

खीर, पूआ, पूरी, जलेबी आदि नाना भांतिके पकवान सिद्ध करो. आजका सारा ही दूध उपयोगमें लेओ, न ले सको तो बछड़ोंको पिला दो।।२६।।

उस इन्द्रयागकी अपेक्षा, इसमें विशेष कर्तव्यको 'पच्यन्तां' इस श्लोकसे बतलाते हैं. लौकिक उत्सवके निकट आने पर साधारण मनुष्योंको बड़ा उत्साह होता है. ऐसे उत्सवोंमें स्त्रियोंका भी उपकार होता है; क्योंकि, ऐसे लौकिक उत्सवोंमें वे भी भाग ले सकती हैं. अनेक प्रकारके पकवान, भूंजने, जलमें पकने, तैल, घी, दूध, दहीमें सिद्ध होनेवाले अनेक भांति, पाकोंका ग्रहण किया गया है. जिससे नाना भांतिके भोजन(पदार्थ) सिद्ध होंगे. इन सबकी तैयारी हो जानेके पीछे सूप(दाल) तैयार करिये. पकवानोंके सिद्ध करनेमें बहुत समय लगता है, इसलिए यदि दाल पहिले ही करके धर दी जायेगी तो वह खट्टी हो जाती है. पायसके पकनेमें बहुत देर लगती है, क्योंकि वह अधिक दूधमें थोड़ेसे चावल डालकर मन्द-मन्द आंच पर ही तैयार होती है. इसलिए पायस(दूधपाक)को पहिले करना

चाहिये. अथवा प्रथम तो देवोंकेलिए पाक करिये. मध्यमें लौकिक महापुरुषों केलिए और अन्तमें साधारण पुरुषोंकेलिए केवल दाल ही सिद्ध करिये. आगेका कर्तव्य कार्य कहते हैं. संयाव(दलिएकी खीर) गेहूंका दलिया दूधमें एक दिन पहलेसे ही पकाना आरम्भ करके बहुत देरमें सिद्ध होती है. वह संयाव करिये. अपूप(मालपुआ) बड़े आदि जो गेहूंके चूनमें गुड मिलाकर घी आदि चिकने पदार्थोंमें तलकर सिद्ध किये जाते हैं, तथा शष्कुली(जलेबी) जो नालके आकारसे घूमती हुई गोल-गोल खाद्य वस्तु पकवान विशेष है इन सभी भोजन सामग्रीको तैयार सिद्ध करिये. आजका सारा दूध इस उत्सव कार्यमें ले लिया जाये, बेचा न जाये. यदि दूधका लेना निकालना(दोहना) अशक्य हो (तो) बछड़ोंको ही पी लेने दिया जाये. यह मूलमें दिये 'च' शब्दका स्वारस्य है।।२६।।

हूयन्तामग्नयः सम्यग् ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः।
अन्नं बहुविधं तेभ्यो देयं वो धेनुदक्षिणाः ।।२७।।

वेदपाठी ब्राह्मणोंके द्वारा विधिपूर्वक हवन कराकर अग्नियोंको तृप्त कीजिये. ब्राह्मणोंको स्वादिष्ट भोजन कराकर गायोंको दक्षिणामें देकर प्रसन्न करिये।।२७।।

फिर देवोंको सन्तुष्ट करनेकेलिए अलौकिक होम करना चाहिये. इसलिए स्वरूप और ज्ञानसे उत्तम ब्राह्मण(वेद) ब्रह्मवादियोंके द्वारा विधान सहित होमसे अग्नियोंको तृप्त कीजिये. होमके पीछे ब्राह्मणोंको भांति-भांतिके पकवान सहित अन्न दीजिये; क्योंकि, ब्राह्मण प्रत्यक्ष देवता हैं. आप लोग दीजिये. यह आप लोगोंका कर्तव्य है अथवा भगवान् ब्राह्मणोंसे कहते है तुम्हारेलिए देना चाहिये. गाएं दक्षिणारूपसे देनी चाहिये।।२७।।

योजना: 'हूयन्तां' इस श्लोककी व्याख्यामें ''अलौकिको देवानामर्थे होमः'' (देवों केलिए अलौकिक होम) पदोंका तात्पर्य यह है, कि स्मृति और पुराणोंमें कहे हुए कार्य लौकिक कहे जाते हैं. इसलिए अलौकिक शब्दसे वेदमें कहा हुआ समझना. इससे यह सिद्ध हुआ, कि वेदोक्त होम करिये. 'देयं वो धेनुदक्षिणाः'की व्याख्यामें वैदिक प्रक्रियासे 'वः' 'युष्माभिः'(तुम्हें) तृतीया भी है तथा 'वः' 'युष्माभ्यं' (तुम्हारेलिए चतुर्थी है ही) इसलिए भगवान् जब नन्दरायजी आदि गोपोंको उपदेश देते हैं, तब तो (तृतीया) तुम्हें देना चाहिये और जब पुरोहित ब्राह्मणोंको दानका पात्र कहकर इनकेलिए गाएं दक्षिणामें

देओ, तब 'वः' यह चतुर्थी विभक्ति है।।२७।।

अन्येभ्यश्च श्वचाण्डालपतितेभ्यो यथार्हतः।
यवसं च गवां दत्वा गिरये दीयतां बलिः ।।२८।।

अन्य अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य, आदिको देनेके पीछे श्वान, श्वपच चाण्डाल पतित और पातकी लोगोंकेलिए भी यथोचित बलि दीजिये. गायोंकेलिए हरी-हरी घास खिलाकर गिरि गोवर्धनकी पूजा कीजिये, भोग लगाइये।।२८।।

फिर ओरोंकेलिए भी देओ यह 'अन्येभ्यः' इस श्लोकसे कहते हैं. क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णोंको तथा श्वान चाण्डाल और पतितोंकेलिए भी दीजिये. ये सब बाहरसे बलिका उपभोग करनेवाले हैं. इसलिए इनका देवतारूपसे अन्तमें(पीछे) निरूपण किया है. श्वान, चाण्डाल, पतित और कौओंकेलिए बलि देना ऐसा विधान है. परन्तु यह बलि पूजा उन सबकी योग्यताके अनुसार ही करना चाहिये. गौओंको घास दीजिये, उन्हें वनमें घास चरनेकेलिए नहीं भेजिये. फिर पर्वत गोवर्धनकी पूजा कीजिये. सारा ही उत्तम अन्नका गिरिराजको भोग लगाइये(निकट ढेर कीजिये)।।२८।।

स्वलङ्कृता भुक्तवन्तः स्वनुलिप्ताः सुवाससः।
प्रदक्षिणं च कुरुत गोविप्रानलपर्वतान् ।।२९।।

इसके पीछे भोजन करके, उत्तम वस्त्र और आभूषण पहनकर, सुगन्धित चन्दन लगाइये. फिर गऊ, ब्राह्मण, अग्नि और गोवर्धन पर्वतकी प्रदक्षिणा कीजिये।।२९।।

पीछे हम सब पुरुष, स्त्रियां और बालक सुन्दर आभूषण पहिनें, भोजन करके चन्दन आदिका अपने अंगों पर लेप करें. उत्तम-उत्तम वस्त्र धारण करके गोवर्धनपर्वत, वृन्दावन, गाएं, ब्राह्मण, अग्नि इन सबकी परिक्रमा करिये. गोवर्धनके पासके दूसरे पर्वतोंकी भी अथवा सदाचारके अनुसार केवल गोवर्धन पर्वतकी ही प्रदक्षिणा कीजिये।।२९।।

एतन् मम मतं तात क्रियतां यदि रोचते।
अयं गोब्राह्मणाद्रीणां मह्यं च दयितो मखः ।।३०।।

हे पिताजी! मेरी तो यही सम्मति है. आप लोगोंको रुचे तो इसीके अनुसार उत्सव कीजिये. यह यज्ञ गायोंको, ब्राह्मणोंको, गिरिराजको और मुझे भी

प्रसन्न करनेवाला होगा।।३०।।

यहां शंका होती हैं, कि क्या यह वैदिक वेदोक्त है अथवा वेदोक्त आदि कर्मोंमेंसे ऐसा करना कोई एक है या केवल युक्ति सिद्ध ही है. यदि केवल युक्ति सिद्ध ही हो तो परम्परासे चले आये इन्द्रयागको ही क्यों नहीं किया जाये? (ऐसी शंका) इस शंकाका उत्तर 'एतन्मम' इस श्लोकसे देते हैं. भगवान् नन्दरायजीसे पूछते हैं, कि आप लोगोंको इन्द्रका कहना मानना है अथवा मेरे कहनेके अनुसार अन्नकूटोत्सव करके मुझे प्रसन्न रखना है? यदि मेरा ग्रहण करना चाहते हो, तो मेरा तो यही गोवर्धन पूजा करनेका सिद्धान्त है और यदि इन्द्रके पक्षका होना है तो इन्द्रयाग करिये. हे तात! इसे स्नेह सूचक सम्बोधन पदसे यह सूचित होता है कि मेरी बातको स्वीकार करनेमें स्नेह भी अधिक बढेगा. इससे मैंने कहा, वही कीजिये. वह भी केवल मेरे आग्रहसे ही मत करिये; क्योंकि, ऐसा करने पर वह अश्रद्धासे किया गया हो जायेगा. जिसका करना, न करना होगा. यह याग गाय, ब्राह्मण, पर्वत और मुझे भी प्रिय है. (चकारसे) देवताओंका भी चाहा हुआ प्यारा है. क्योंकि वह मेरेलिए ही किया जायेगा. इस कथनसे यह सूचित किया, कि इन्द्रयागका सर्वथा परित्याग करके यह ही कर्तव्य है।।३०।।

श्रीशुक उवाच

कालात्मना भगवता शक्रदर्प जिघांसता।

प्रोक्तं निशम्य नन्दाद्याः साध्वगृह्णन्त तद्वचः ।।३१।।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि कालरूप भगवानने इन्द्रके अहंकारको मिटानेकी इच्छा से जो कहा, उसको सुनकर, नन्द आदि गोपोंने उनकी बड़ी बड़ाई की और प्रसन्नता पूर्वक स्वीकारकर लिया।।३१।।

शुद्ध और सच्चे हृदयसे की हुई, भगवानकी यह आज्ञा उनके अन्तःकरणमें अच्छी तरह समा गई यह कहते हुवे श्रीशुकदेवजी भगवानके इस प्रकार कहनेका कारण 'कालात्मा' इस श्लोकसे कहते हैं. दुष्टोंका निवारण करनेकेलिए भगवान् कालरूप हुवे हैं. कालकी आत्मा आधिदैविकरूप, किंवा अन्तर्यामी हुवे हैं. कालरूप होने पर उनके मूलरूपमें कोई कमी नहीं आई है यह भगवता इस पदका अभिप्राय है. इस तरह कहनेमें कारण यह है, कि भगवानकी इच्छा इन्द्रके अभिमानको दूर करनेकी थी. इन्द्र पर कृपा करनेकेलिए उसके गर्वको दूर करना ही चाहिये. भगवानके पधार आने पर, इन्द्रको भी भगवानका

अनुवर्तन अवश्य करना उचित था. जिससे यह लीला पुष्ट हो जाती और विशेष निरोधकी आवश्यकता नहीं रह जाती. किन्तु इन्द्रने ऐश्वर्यके कारण होनेवाले गर्वसे, भगवानके कथनानुसार नहीं किया. इन्द्र अधिकारी देखता है. उसके उस अधिकारसे होनेवाले ऐश्वर्यको दूर करना उचित नहीं है. इसलिए उसके(इन्द्रके) भ्रम शास्त्रसे हुवे गर्वको ही दूर किया. इस कारणसे भगवानके वचन और साधन प्रकारको सुनकर नन्द आदि मुख्य-मुख्य गोपोंने भगवानके वचनोंकी सराहना की और उनके कथनानुसार ही करना स्वीकार कर लिया।।३१।।

तथा च व्यदधुः सर्वं यथाह मधुसूदनः।
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं तद्द्रव्येण गिरिद्विजान्।।३२।।

मधुसूदन भगवानके कथनानुसार गोपोंने सब वैसा ही किया. पहले स्वस्तिवाचन कराकर उस द्रव्यसे गिरिराज तथा ब्राह्मणोंका पूजन सत्कार किया।।३२।।

फिर वैसा ही किया, यह 'तथा च' इस श्लोकसे कहते हैं. विधी पूर्वक किया यह कहनेकेलिए मूलमें 'वाचयित्वा त्वस्त्ययं'(स्वस्तिवाचन कराकर) ऐसा कहा है. स्वस्तिवाचन अर्थात् पुण्याहवाचन कराकर पूजनीयोंकी पूजा की. ग्रहोंको जिस प्रकार निमन्त्रण किया जाता है, यहां भी सब विधि वैसी ही समझना चाहिये।।३२।।

उपहृत्य बलीन् सर्वान् आदृता यवसं गवाम्।
गोधनानि पुरस्कृत्य गिरिं चक्रुः प्रदक्षिणम्।।३३।।

भगवानकी आज्ञानुसार, ग्रहों, दिशाके देवों(दिक्पालों)को बली अर्पण करके गायोंको हरी-हरी घास खिलाकर सन्तुष्ट किया. फिर गायों और बछड़ोंको आगे करके गिरिराजकी प्रदक्षिणा करने लगे।।३३।।

फिर सारी बलि अर्पण करके(निकट रखकर) ग्रहों, दिक्पालों तथा उनके अंगभूतोंकेलिए भगवान्के कथनानुसार विधिपूर्वक बलि देकर(पूजा करके) भेंट धरी. फिर स्वयं विशेष आदरयुक्त होकर, गायोंको आगे लेकर गिरि गोवर्धनकी प्रदक्षिणा करने लगे. अच्छी तरह दक्षिण अर्थात् दाहिने हाथकी तरफ गिरिराजको रखकर प्रदक्षिणा की. यद्यपि सामान्य कथनसे ही विशेषका ग्रहण हो जाता है, तो भी यहां विधिमें कमी तथा विधि विरुद्धका अभाव बतलानेकेलिए प्रदक्षिणाकी विशिष्टता कही गई है।।३३।।

अनांस्यनडुद्युक्तानि ते चारुह्य स्वलङ्कृताः।
गोप्यश्च कृष्णवीर्याणि गायन्त्यः सद्द्विजाशिषः ।।३४।।

वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हुए गोपालोंने बैलोंके छकड़ोंको सुसज्जित किया. भांति-भांतिके वस्त्र तथा अलंकारोंको धारण करनेवाली गोपियां उन पर चढकर श्रीकृष्णकी लीलाओंको गाती हुई, गिरिराजकी परिक्रमा करने लगी. ब्राह्मणलोग भी प्रसन्न होकर शुभ और अमोघ(सफल) आशीर्वाद देने लगे।।३४।।

प्रदक्षिणाकी विशेषताका वर्णन, 'अनांसि' इस श्लोकसे करते हैं. छकड़ोंमें बैठकर न जाते तो परिश्रम होता और चित्त भगवानमें स्थिरतासे नहीं लगता. इसलिए गाड़ों, छकड़ोंमें बैल जोड़ लिये. गाडों तथा बैलोंका शृंगार किया. वस्त्र तथा अलंकारोंसे अलंकृत हुवे गोप उन गाड़ों पर बैठ गये और दूसरोंको बिठाकर कई गोप पैदल ही चलते रहे. उन्होंने आभूषणोंको अपने अंगों पर, इस तरह धारण किया था, जो वे नीचे गिर नहीं सकते थे. इसी तरह, गोपियां तथा अन्य स्त्रियां भी सुसज्जत होकर छकड़ों पर बैठकर गिरिराजकी प्रदक्षिणा करने लगीं. अपने (व्रजांगनाओंके)लिए ही अवतार धारण करनेवाले सदानन्द श्रीकृष्णके पूतना मारणादि पराक्रमोंका गान करने लगी. इस कथनसे उनके शरीरमें विकलता तथा इस गोसवमें न्यूनताका अभाव सूचित किया है. श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके अथवा भगवदीयोंके आशीर्वाद सत्य हुवे. इससे यह निरूपण किया है कि इस यागमें ब्राह्मण तथा स्त्रियोंको अत्यन्त सन्तोष प्राप्त हुआ।।३४।।

योजना: इस श्लोकके विवरणमें 'अनडुहश्च' पदका आरुह्य पदके साथ अन्वय है. इसलिए यह द्वितीया विभक्ति कर्म है और गाडों पर बैठकर गए - यह सम्बन्ध है।।३४।।

कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं गोपविश्रम्भणं गतः।
शैलोस्मीति वदन् भूरि बलिमादद् बृहद्वपुः ।।३५।।

श्रीकृष्ण भी गोपोंको विश्वास करानेकेलिए गिरिराज गोवर्धनके ऊपर दूसरे विशालरूपसे प्रकट होकर बिराजमान हुए. ''मैं ही गिरिराज हूं'' ऐसा कहकर उस पुष्कल पकवानको आरोगने लगे।।३५।।

वे गोप लोग प्राकृत(लौकिक) थे. इसलिए वे तो देखे हुवे(प्रत्यक्ष) पर ही विश्वास करनेवाले थे. उनको विश्वास दिलानेकेलिए भगवानने दूसरारूप

धारण किया यह, 'कृष्णस्तु' इस श्लोकसे कहते हैं. इस रूपसे अत्यन्त विलक्षण विशालरूप धारण किया. भगवानका यह एक दूसरा ही रूप था. यह रूप गिरिराजका आधिदैविकरूप होगा? इस शंकाके निवारणकेलिए मूलमें, 'तु' शब्द कहा गया है. गोपोंके विश्वासको प्राप्त हुवे. दृष्टिमें आनेवाले प्रत्यक्षरूपमें ही, उनका विश्वास था. इसलिए वह विश्वास भगवद्विषयक ही था. भगवानने दूसरा विशालरूप धारण करके, पकवानका भोजन किया. जब गोपोंने पूछा कि आप कौन है? तब भगवानने कहा कि 'मैं गिरिराज हूं' मूलमें आये हुवे 'इति' शब्दका प्रकार अर्थ है अर्थात् किसीसे 'मैं गोवर्धन हूं', किसीसे 'मैं शैल हूं', किसीसे 'मैं पर्वत हूं' इस प्रकार उत्तर दिया. ऐसा कहकर, उस पकवान आदिका खूब भोजन किया और पर्वत पर रहनेवाले सभीको तृप्त किया।।३५।।

योजना: 'आधिदैविकरूपं' इन व्याख्याके पदोंका तात्पर्य यह है, कि यह रूप गोवर्धनका आधिदैविकरूप नहीं था. यह तो, श्रीगोवर्धनमें बिराजनेवाले शुद्ध पुष्टि पुरुषोत्तमका स्वरूप था. यहां गोवर्धन निवासी पुरुषोत्तम स्वरूपके साथ, श्रीनन्दराजकुमार पुरुषोत्तमका दोनोंका साथ-साथ ही भोजन करना समझना चाहिये; क्योंकि, दोनों स्वरूप एक ही तो है. इसलिए एक नन्दराजकुमाररूपसे गोपोंको गोवर्धनमें निवास करनेवाले स्वरूपकी पूजा करनेका उपदेश देते हैं और स्वयं गोवर्धनकी पूजा करते हैं. उस शिक्षक स्वरूपमें नन्दरायजीकी पुत्र भावना दृढ है, वे उस स्वरूपको अपना पुत्र मानते हैं. इसलिए 'यह देव मेरे पुत्रका कल्याण करें' इस भावनासे नन्दरायजी स्वयं पूजा करते हैं और अपने बालक श्रीकृष्णसे पूजन कराते हैं. इसलिए इस लीला और इस भावको लेकर हमारे मार्गमें भगवान् श्रीनवनीतप्रियजी गोवर्धनकी पूजा करते हैं. नन्दराजकुमार और गोवर्धनमें सदा बिराजमान दोनों स्वरूपोंने साथ ही भोजन किया था. इस कारणसे, गोकुल और गोवर्धनमें रहनेवाले दोनों स्वरूपोंकी भोजनलीला एक ही स्थान पर बतलानेकेलिए श्रीगुसांईजी-श्रीविट्ठलनाथजी महाराजने भगवानकी आज्ञासे, श्रीनवनीतप्रिय आदि स्वरूपोंको, श्रीगोकुलसे पधराकर श्रीगोवर्धनधरके साथ अन्नकूटोत्सवमें स्थापित किये. वे सब स्वरूप साथ ही भोजन करते हैं. श्रीमद्भागवतके अनुसार गोकुलस्थ पुरुषोत्तम स्वरूप और गोवर्धनस्थ पुरुषोत्तम स्वरूप दोनोंका साथ-साथ भोजनका वर्णन होनेसे, दोनों स्वरूपोंका अलग-अलग दर्शनका वर्णन किया गया है।।३५।।

तस्मै नमो व्रजजनैः सह चक्रेऽऽत्मनात्मने।
अहो पश्यत शैलोऽसौ रूपी नोऽनुग्रहं व्यधात्।।३६।।

उस समय श्रीकृष्ण भगवानने व्रजवासियोंके साथ स्वयं अपने दूसरेरूपको नमस्कार किया फिर गोपोंसे कहा, अहो देखो! गिरिराजने स्वयं प्रकट होकर हम पर दया दिखाई. यह जब चाहे, जैसा रूप धारणकर सकते हैं।।३६।।

कई एक लोगोंको सन्देह भी हो सकता है. इसलिए सबको दिखाकर नमस्कार करना 'तस्मै नमः' इस श्लोकसे कहते हैं. व्रजजनोंके साथ, उस शैलरूपको नमस्कार किया. स्वयं आपने स्वयं अपनेलिए ही नमस्कार किया. वैदिक प्रक्रियासे यहां 'आत्म' शब्दके 'आ'कारका लोप हो गया है. 'आत्मना' अर्थात् स्वयंने नमस्कार किया, किसी अन्यके द्वारा परम्परासे नहीं. स्वरूपको ही साधन बनाकर, उस-उस स्थान परकी मायाको दूर किया इस बातको सूचित करनेकेलिए 'आत्मने'(अपने आपकेलिए) पदका प्रयोग किया है. सर्वथा 'वह ही यह है'(भगवान् स्वयं गोवर्धन हैं) ऐसा भी अहो पश्यत(अहो देखो) इन पदोंसे कहते हैं. यह भगवान् पर्वत हैं; क्योंकि भगवान् सर्वात्मक हैं. सर्वात्मक ही आनन्दमयका बीज मूलस्थान हैं इसलिए उस पर्वतके नामसे ही यहां कहा गया है. विशेष ज्ञान करानेकेलिए ही भगवानने गोपोंसे 'पश्यत' देखो ऐसा प्रबोधनरूपमें कहा है. यद्यपि वस्तुका ज्ञान प्रमाणाधीन है तो भी सावधान करनेकेलिए 'देखो' यह विधिप्रयोग उचित ही है.

पर्वत तो गोवर्धन है जो अलग दिखाई देता है, भगवान् पर्वत कैसे हो सकते हैं? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह रूपी अर्थात् जब चाहे जैसा रूप धारणकर लेते हैं. इसलिए आप लोगोंको सन्तुष्ट करनेकेलिए ऐसा रूप धारण करके भोजन करते हैं इच्छानुसार जब जाहे जैसा रूप धारणकर लेना भी आनन्दरूप भगवानमें ही सम्भव हो सकता है; क्योंकि वही (आनन्दरूप भगवान् ही) सबका बीज है यह ऊपर कहा जा चुका है. हमारे द्वारा अर्पण किये हुवे सभी पदार्थोंको स्वीकार करके इन्होंने हमारे ऊपर बड़ा अनुग्रह किया है. नहीं तो केवल दर्शन दे देते, भोजन नहीं करते. 'नः'(हमारे ऊपर)का तात्पर्य यह है कि जैसे ऊपर स्वयंने स्वयं अपने आपको ही नमस्कार करना लिखा है, वैसे ही यह सामान्य कथन अर्थात् स्वयं हमने हमारे ऊपर ही अनुग्रह किया है।।३६।।

लेख: 'तस्मै नमः'की व्याख्यामें तथात्वात् अर्थात् भगवद्रूप होनेसे. श्रुतिमें

आनन्दको ही सबका बीज कहा है और वह आनन्द भगवत्स्वरूप है. इसलिए सब नामोंसे भगवान् ही कहे जाते हैं. एतदपि अर्थात् आनन्दके बीज और बीजके सूक्ष्म होनेसे उसके कार्यका जब चाहे जैसा रूप धारणकर लेना उचित ही है. नमस्कारवत् (नमस्कारकी तरह)का आशय यह है, कि जैसे स्वयंने स्वयंको नमस्कार किया ऐसे ही स्वयं ने स्वयं पर अनुग्रह किया.

योजना : 'तस्मै नमः' इस श्लोककी व्याख्यामें 'आत्मानात्मने' इत्यादिसे यह अर्थ बोध होता है कि स्वयं भगवानने एक स्वरूपसे नन्दरायजीके साथ रहकर गोवर्धनमें रहनेवाले अपने दूसरे स्वरूपको नमस्कार किया. व्रजवासियोंके सारे भाव(स्नेह) श्रीकृष्णमें ही स्थित थे, किन्तु नन्दराजकुमाररूपसे थे. उनकी श्रीकृष्णमें देवबुद्धि नहीं थी. वे देवभावसे किसी दूसरेका भजन करेंगे तो भगवानमें निरोध सिद्ध नहीं होगा. इसलिए उनका भगवानमें निरोध सिद्ध करनेकेलिए और अपनेमें देवभाव स्थापन करनेकेलिए श्रीगोवर्धन पर्वतमें रहनेवाले स्वरूपका पूजन करवाया. उन गोपोंके हृदयमें माहात्म्यज्ञान प्रकट करनेकेलिए स्वयंने भी गोवर्धनकी पूजा की. इस लीलासे यह सिद्ध होता है, कि व्रजवासियोंका देव गोवर्धन पर्वतमें रहनेवाले भगवान् पुरुषोत्तम हैं. इसी कारणसे, गोवर्धन पर बिराजमान श्रीगोवर्धननाथजी हमारे सिद्धान्त (पुष्टिमार्ग)में देव है. उनमें ही देवरूपसे व्यवहार होता है. जैसे देव मन्दिरमें, ध्वजा आदि(का आरोपण)बांधी जाती है वैसे ही पुष्टिमार्गीय वैष्णवोंको ऐसी भावना करना चाहिये.

शंका होती है कि भगवानने अपने आपको 'शैलोऽस्मि' शैल पर्वत क्यों कहा; क्योंकि गोवर्धन पर्वतका स्वरूप तो अलग दिखाई दे रहा है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि भगवान् पर्वत है क्योंकि भगवान् सर्वात्मक-सर्वस्वरूप है. यह (ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्, पुरुष एवेदं सर्वम् स सर्व भवति) सारा जगत् भगवन्मय हैं, भगवान् ही यह सारा जगत् है, भगवान् ही सब जगद्रूप होते हैं - इत्यादि श्रुतियोंमें भगवानकी सर्वरूपताका स्पष्ट वर्णन है. इसी बातकी व्याख्यामें ''आनन्दमयस्य बीजस्य तथात्वात्'' (आनन्दमय बीज सर्वरूप है) इत्यादि पदोंसे स्पष्ट किया है. यह जीव (एतमानन्दमय-मात्मानमुसंक्रामति) आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है. इस श्रुतिके अनुसार यह आनन्दमय है. आनन्दमय ही सबका कारण है. इसलिए वही बीज है. आत्मासे ही, आकाश उत्पन्न हुआ.

आत्मासे ही, यह सब भूत-प्राणी मात्र उत्पन्न होते हैं. इत्यादि श्रुतियोंमें आनन्दको सबका कारण कहा है और सबका कारण होनेसे, आनन्द ही बीज है. बीज समवायी कारण है और कार्य समवायी कारणसे अभिन्न होता है – इसलिए कार्य जगत् भी आनन्दरूप ही है. इस कारणसे भगवान् सबके कारण होने से, स्वयं शैलरूप भी हैं. अतः भगवानका अपने आपको शैलरूप कहना उचित ही है. नमस्कारवत् समर्थनीया(नमस्कारकी तरह समर्थन करना चाहिये) व्याख्याके इन पदोंका अभिप्राय यह है कि जैसे स्वयं भगवानने शैल पर्वतरूप स्वयंको नमस्कार करके उन व्रजवासियोंको उस शैलरूप स्वरूपका माहात्म्य ज्ञान कराया, इसी तरह (अपने ऊपर) माहात्म्य ज्ञान करानेकेलिए अपने ऊपर अनुग्रह किया है. (ऐसा कहा है) इससे, जिन व्रजवासियों पर अनुग्रह हुआ, उनमें भगवानने अपने आपकी भी गणना की।।३६।।

एषोऽवजानतो मर्त्यान् कामरूपी वनौकसः।
हन्ति ह्यस्मै नमस्यामः शर्मणे आत्मनो गवाम् ।।३७।।

वनमें रहनेवाले जो प्राणी इनका अपमान करते हैं, यथेच्छरूप धारण करनेवाला यह देव उनका विनाशकर देता है. आओ, हम लोग अपने और गायों तथा सारे व्रजके कल्याणकेलिए इनको नमस्कार(प्रणाम) करें।।३७।।

इस तरह उसके स्वरूपका वर्णन करके आगे भी भजनकी सिद्धिकेलिए इसकी प्रार्थना करो यह, 'एषः' इस श्लोकसे कहते हैं. प्रार्थना न करनेमें बाधाका वर्णन करते हुवे केवल अपमान करने पर भी, बाधाका वर्णन करते हैं, कि इनका तिरस्कार करनेवाले मरण धर्मवाले(नाशवान) प्राणियोंका बडा अनिष्ट होता है. इष्ट, अनिष्टकी बात तो दूर रही, यह तो उनका विनाश ही कर देता है; क्योंकि यह जब चाहे जैसा रूप धर लेता है. शस्त्रधारी हो जाता है, व्याघ्र तथा सिंहरूप धारणकर लेता है. इसके सामनेसे कोई भागकर बच नहीं सकता; क्योंकि सब वनमें रहनेवाले हैं. इसलिए उन्हें यह मार ही डालता है. न मरनेका(बचनेका) उपाय बतलाते हैं कि आओ हम सब इनको नमस्कार करें. गोपोंकी प्रवंचना न करने (उन्हें न ठगने)केलिए नमस्कार करनेवालोंमें अपनी भी गणना करते हैं अर्थात् गोपोंके साथ स्वयं भी पर्वतको नमस्कार करते हैं. यह हेतुवाद है. इसलिए यहां दूसरेका निषेध करनेमें ही तात्पर्य है. विशेष आग्रह करनेकी आवश्यकता नहीं है. अपने और गौओंके कल्याणकेलिए इनको नमस्कार करें. व्याघ्र, सिंह

आदि हिंसक जन्तु हम गोप और गायों दोनोंको ही उपद्रव करते हैं. महापुरुषोंके कोपकी शान्तिकेलिए नमस्कार ही किया जा सकता है, अर्थात् महापुरुष केवल नमस्कार करनेसे ही प्रसन्न हो जाते हैं. यह मूलमें आये हुवे 'हि' शब्दका तात्पर्य है. यह गिरि गोवर्धन पूजोत्सव अन्नकूट आगे भी इसी तरह चालू रखने तथा इसको त्यागने पर भय उत्पन्न करनेकेलिए भगवानने इस प्रकारके वचन कहे हैं. भगवानके वचन होनेके कारण, वैसा होवे ही, अर्थात् गोवर्धनका अपमान करनेवालोंका विनाश अवश्य ही हो सकता है।।३७।।

इत्यद्रिगोद्विजमखं वासुदेवप्रणोदिताः।
यथा विधाय ते गोपाः सहकृष्णा व्रजं ययुः ।।३८।।

इस प्रकार वासुदेव भगवानकी प्रेरणासे वे गोप लोग भगवानकी आज्ञानुसार ही गोवर्धन, गायों और ब्राह्मणोंके वैष्णवयागको विधिवत करके फलरूप भगवान् श्रीकृष्णके साथ व्रजमें चले गये।।३८।।

इस प्रकार गोवर्धनयाग कराकर, उनको पीछे अपने स्थान पर ले गये यह उपसंहार 'इति' इस श्लोकसे करते हैं. गोवर्धन, गाय और ब्राह्मणोंके वैष्णवयागको वासुदेव भगवानके द्वारा ही प्रेरित हुवे वे गोप लोग अर्थात् जहां-जहां जैसा-जैसा कर्तव्य था उसी तरह भगवानके द्वारा बोधित होकर विधि पूर्वक यह सब भगवानके आवेशसे करके, फिर केवल गोप ही भगवानके आवेशसे रहित होकर फलरूप भगवानके साथ अपने स्थान व्रजको लौट गये. अन्तमें यह कहा गया है कि वे व्रजवासी जन पहले जैसे थे, वैसे ही हो गये. यदि यहां अन्तमें यह नहीं कहा जाता तो इससे होनेवाले कुछ दूसरे ही फलके उत्पन्न होनेकी शंका हो जाती. इस ऐसी शंकाका अवसर, न आने देनेकेलिए ही पहले वे जैसे थे, वैसे ही (आवेश शून्य) होकर व्रजको लौट गये।।३८।।

टिप्पणी : 'इत्यद्रि' इत्यादि श्लोककी व्याख्या 'वासुदेव प्रणोदिताः' (वासुदेवके बोधसे) यहां वासुदेव शब्द कहनेका तात्पर्य यह है, कि गोपोंके अन्तःकरणको शुद्ध सत्त्वाकार करके, उसमें कर्मोपयोगी श्रद्धा और सामर्थ्य उत्पन्न की और फिर उसमें स्वयं प्रकट होकर भगवानने यह सब करवाया. इसी अभिप्रायसे (प्रचोदिताः) प्रेरणा पाए हुए गोप लोगोंने (गोवर्धनयाग) यह सब कुछ किया ऐसा कहा है. अन्यथा ऐसा नहीं कहा जाता. अन्तमें पीछे लौटते समय वे केवल गोप ही मुख्य थे, उनमें भगवान् गौण हो गये थे. इसलिए उस समय,

उनमें भगवानका आवेश नहीं था ऐसा सूचित होता है. इन दोनों पदोंके तात्पर्यको व्याख्यामें 'भगवदावेशेनैतद्' (भगवानके आवेशसे यह सब किया) इत्यादि कहकर प्रकट किया है।।३८।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके दशमस्कन्धके अध्याय २१की (तथा प्रचलित क्रमानुसार अध्याय २४की) श्रीवल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी 'संस्कृत टीका'के (तामस साधनप्रकरणके यश निरूपक तीसरे) अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ.

अध्याय २२

श्रीगोवर्धन धारण

हेतुशास्त्रम् इदं यस्माद् दृष्टार्थम् उपयुज्यते।
अदृष्टार्थं तथा चान्यत् तद् ज्ञापयति निश्चितम्।।का.१।।

कारिकार्थ: यह हेतु शास्त्र है; क्योंकि इसका दृष्टफलमें उपयोग है अर्थात् जिस किसी कार्यके करनेसे उसका फल(परिणाम) प्रत्यक्ष दिखाई देता हो, वह हेतु शास्त्र है, जैसे यहां इन्द्रयाग करने पर इन्द्र वृष्टि द्वारा लोकको सुखी करता है. इसलिए यह हेतु शास्त्र है और जिसका फल यहां स्पष्ट नहीं दिखाई देता हो, वह शास्त्र हेतु शास्त्रसे भिन्न है. जैसे वेदमें कहे हुए अग्निष्टोम आदिका फल स्पष्ट नहीं दीखता है. इसलिए वह हेतु शास्त्रका विरोधी शास्त्र कहलाता है. यह इन दोनों हेतुवाद(प्रत्यक्ष शास्त्र) तथा अहेतु शास्त्र(परोक्ष शास्त्र)का निश्चय है।।१।।

टिप्पणी: कारिकामें कहे तद् ज्ञापयति निश्चितम्(उन दोनों शास्त्रोंका निश्चय कहा जाता है) पदोंका अर्थ कहते हैं. यहां जिस कर्मका फल स्पष्ट दीखता है, उस इन्द्र यागरूप कर्मका अधिष्ठाता इन्द्र अपने यज्ञका त्याग(भंग) होनेके कारण अनिष्ट उत्पन्न करके अपना प्रभाव प्रकट करता है।।१।।

हैतुके फलभोक्तायमिन्द्रो विघ्नं चकार ह।
वृष्टिरूपं ततः कृष्णः शैलधारी बभूव ह।।का.२।।

कारिकार्थ: हैतुक(दृष्टफलक) यज्ञमें फलका भोगनेवाला यह इन्द्र है, जिसने वृष्टिरूपी विघ्न करके अपना प्रभाव दिखाया. इस कारण भगवान् कृष्णको गोवर्धनधारी होना पडा।।२।।

उभयोर्हैतुकत्वार्थमेवं भगवता कृतम्।
निषिद्धभोगिनो बुद्धिर्नष्टा भवति सर्वथा।।का.३।।

कारिकार्थ: इन्द्रयाग तथा पर्वतयाग, ये दोनों ही दृष्ट फलवाले होनेके कारण, भगवानने इस प्रकार इन्द्रयागका भंग करके पर्वतयाग किया. निषिद्ध वस्तुका भोग करनेवालेकी बुद्धिका सर्वथा नाश हो जाता है।।३।।

टिप्पणी: 'उभयो हैतुकत्वार्थम्' (दोनोंके हैतुक होनेसे) कारिकाके इन पदोंका तात्पर्य यह है, कि यद्यपि भगवानके इन्द्रके वृष्टिरूपी विघ्नसे रक्षाकर लेनेके,

अनेक दृष्टिमें न आनेवाले भी, उपाय थे, तो भी गोवर्धनरूपी स्पष्ट दिखाई देनेवाले साधनसे ही रक्षा करनेका कारण कहते हैं, 'तच्छेषेणोपजीवन्ति' (बाकी बचे हुए भागसे जीवित रहते हैं) श्रीनन्दरायजीने जैसा पूर्वाध्यायमें कहा था कि हमलोगोंके जीवनके आधारभूत अन्नको उत्पन्न करनेवाले इन्द्रका याग करना चाहिये. इसी प्रकार, वही श्रीभगवानने भी ''वयं गोवृत्तयोऽनिशं, वन शैल निवासिनः, गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः'' (हम गोपाल सदा वन तथा पर्वत पर रहनेवाले हैं, गो, ब्राह्मण, पर्वतका यज्ञ प्रारम्भ करिए) गाय और पर्वत हम लोगोंके जीवनका आधार होनेसे, इन्द्रयाग न करके हमें गाय तथा पर्वतका याग करना चाहिये. इस प्रकार इन्द्रयाग तथा व्रजराजकुमारकी युक्तिसे सिद्ध पर्वतयाग दोनों ही हैतुक हैं.

'एवं भगवता कृतम्' (भगवानने इस प्रकार किया) अर्थात् इन्द्रयागके भंगसे होनेवाला अनिष्ट जैसे स्पष्ट दिखाई दिया, उसी प्रकार स्पष्ट दीखनेवाले(दृष्ट) साधनसे ही भगवानने इस अनिष्टका निवारण किया. वास्तवमें तो 'गोपाये स्वात्मयोगेन' (मैं अपने प्रभावसे रक्षा करता हूं) रक्षा स्वयं भगवानने स्वात्मयोगसे ही की थी, किन्तु ओर लोगोंको ऐसा प्रतीत हो, कि गोवर्धन धारण करके रक्षा की इसलिए स्वयं गोवर्धन धारण किया. नहीं तो, भगवानका स्वात्मयोगसे रक्षण कहना विरुद्ध होगा. तात्पर्य यह है, कि जिस रूपसे भोजन किया, उसी रूपसे रक्षा की।।३।।

इतीन्द्रस्य महामोहवाक्यान्याह विशेषतः।
द्वाविंश ईर्यते कृष्ण इन्द्रेण विनिपीडितम्।।का.४।।
व्रजं गोवर्धनं धृत्वा सम्यक् पालितवानिति।।का.४।।

कारिकार्थः इस बातको बतलानेकेलिए इन्द्रके महामोहके वाक्योंको विशेषरूपसे इस बाईसवें अध्यायमें कहते हैं और इसी अध्यायमें यह भी कहा है, कि इन्द्रके द्वारा पीडित व्रजकी, कृष्णने गोवर्धन धारण करके अच्छे प्रकारसे रक्षा की।।४।।

श्रीशुक उवाच
इन्द्रस्तदात्मनः पूजां विज्ञाय विहतां नृप।
गोपेभ्यः कृष्णनाथेभ्यो नन्दादिभ्यश्चुकोप सः।।१।।

श्लोकार्थः श्रीशुकदेवजी राजासे कहते हैं कि तब इन्द्रने अपनी पूजाके

नाशको जानकर, श्रीकृष्णको अपना स्वामी माननेवाले नन्द आदि गोपों पर बडा क्रोध किया।।१।।

व्याख्यार्थ: पहले अध्यायमें कहे गये इन्द्रयागके भंगसे कुपित हुआ, इन्द्र व्रजको पीडा देनेकेलिए वृष्टि करता है यह यहां दश श्लोकोंसे वर्णन किया जाता है. इन्द्रके सारे इन ऐश्वर्य आदि छः गुण तथा धर्म आदि चार पुरुषार्थ दशोंका नाश दश श्लोकोंसे निरूपण किया है.

क्रोधोद्यमौ च वाक्यानि चतुर्भिः सर्वनाशनात्।
पीडाहेतुफलान्युक्त्वा सन्धिमाहेतरेण हि।।का.१।।

कारिकार्थ:प्रथमसे लेकर दशवें श्लोकतक क्रमसे १.क्रोध, २.उद्यम, ३-६.चार वाक्य, ७.आगे आनेवाले श्लोकोंसे सम्बन्ध, ८.पीडा, ९.हेतु, १०.फलका निरूपण है.

व्याख्यार्थ: पहले 'इन्द्रः' इस श्लोकसे इन्द्रके क्रोधका वर्णन किया है. गोकुलमें जानेके समयमें ही अपनी पूजाका भंग होना विनाश जानकर गोपों पर उसने क्रोध किया. नृप! यह सम्बोधन 'राजाओं'की प्रकृति ऐसी ही होती है यह प्रकट करनेकेलिए कहा है. उन बेसमझ गोपों पर, इन्द्रने कोप क्यों किया? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि यद्यपि गोप अज्ञानी थे, तो भी नन्दरायजी उनमें बड़े थे. उनने ऐसा अनुचित कार्य क्यों करने दिया. तो क्या इन्द्रका उन पर कोप करना उचित ही था? इसके उत्तरमें कहते हैं कि वे गोप श्रीकृष्णको ही अपना स्वामी मानते थे. नन्द आदि बड़े-बड़े गोपोंने भी श्रीकृष्णके कहनेसे ही इन्द्रकी पूजाका विनाश किया था. इस कारणसे इन्द्रका मुख्य क्रोध कृष्णके ऊपर ही था. शंका होती है कि इन्द्र तो शुद्ध सत्वका परिणामरूप देव था, उसने ऐसा क्यों किया? इसके समाधानमें कहते हैं कि वह इतने वर्षोंसे निषिद्ध-असमर्पित अन्न खा रहा था इससे उसकी बुद्धि नष्ट हो गई थी. इसलिए उसने कृष्ण पर क्रोध किया।।१।।

गणं संवर्तकं नाम मेघानां चान्तकारिणाम्।
इन्द्रः प्राणोदयत् क्रुद्धो वाक्यं चाहेशमान्युत।।२।।

अपने आपको ईश्वर माननेवाले इन्द्रने अत्यन्त कुपित होकर उसी समय प्रलयकालमें जलवर्षा करनेवाले संवर्तक नामके मेघोंको व्रजमण्डल पर घोर वर्षा करनेकेलिए भेजा और वह यों कहने लगा।।२।।

इन्द्र केवल कोप करके ही नहीं रह गया, किन्तु उसने आगे प्रयत्न भी

किया, यह 'गणं' इत्यादि श्लोकसे कहते हैं. बहुतोंके समूहको गण कहते हैं. संवर्तक एक प्रलय करनेवाले मेघका नाम है. यह अत्यन्त प्रसिद्ध संवर्तक गण है. अर्थात् प्रलय करनेमें अत्यन्त प्रसिद्ध है. ये सारे मेघ इकट्ठे होकर ही प्रलय करनेमें समर्थ हो सकते हों ऐसा, नहीं है, किन्तु एक-एक भी प्रलयकर सकता है यह मूलमें 'मेघानां चान्तकारिणाम्' दिये पदोंका तात्पर्य है. इन्द्रने प्रलयकारी मेघोंके गण और संवर्तक नामके गणको भेजा. प्रत्येक मेघके द्वारा सामान्यरूपसे और मेघोंके समुदायके द्वारा विशेष रीतिसे नाश होता है. उसकी आज्ञाका पालन करना चाहिये था; क्योंकि वह, इन्द्र परम ऐश्वर्य सम्पन्न है. परमैश्वर्य सम्पन्नकी आज्ञाका उल्लंघन कभी नहीं किया जा सकता, अर्थात्, इन्द्र, शब्दमें 'इदि' धातु परम ऐश्वर्यका सूचक है. इसलिए उसने उसी समय बिना विचारे शीघ्र ही मेघोंको भेज दिया; क्योंकि वह अत्यन्त क्रोध युक्त हो रहा था. इस प्रकार, इन्द्रके मानसिक दोष (क्रोध)का वर्णन करके आगे, 'वाक्यं चाह' पदोंसे वचनकृत दोषका वर्णन करते हैं. वह अपने आपको तीनों लोकोंका स्वामी मान रहा है. इसलिए वह केवल क्रोध करके ही नहीं रह गया, किन्तु कहने भी लग गया. इस कथनसे यह सूचित किया कि यह उसने अत्यन्त अनुचित कार्य किया।।२।।

इन्द्र उवाच

अहो श्रीमदमाहात्म्यं गोपानां काननौकसाम् ।
कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य ये चक्रुर्देवहेलनम् ।।३।।

इन्द्रने कहा कि वनमें रहनेवाले गोपोंके धन ऐश्वयसे उत्पन्न हुए अभिमानको तो देखो. उन्होंने एक साधारण बालक कृष्णके बल पर मुझ देवताका अपमान कर डाला. कैसा आश्चर्य है?।।३।।

चार श्लोकोंसे इन्द्रके वचनोंका वर्णन करते हैं. इन्द्र यह मान रहा है कि परम्परासे सकारण सिद्ध यज्ञका त्याग करना उचित नहीं है और नवीन (अभी) आरम्भ कियेका त्यागकर देना चाहिये. उसने अपने मनमें ही कहा, कि अत्यन्त आश्चर्य है कि कोरे अज्ञानी गोपोंने इस प्रकारसे मर्यादा उल्लंघन कैसेकर डाली? ऐश्वर्यके मदकी महिमा आश्चर्यकारक है. उस लक्ष्मीके मदसे गोपोंने मुझ जैसे देवताका तिरस्कारकर दिया. ये कोई महापुरुष थोड़े ही हैं, ये तो ग्वाल हैं. उनको न कोई सत्संग प्राप्त है और न वे किसी प्रसिद्ध स्थान(देश)में रहते हैं. वे तो वनमें रहनेवाले हैं. ऐसे तुच्छ पुरुषोंको भी लक्ष्मी मदोन्मत्तकर देती है.

शंका: यदि यहां यह कहा जाये कि उन्होंने लक्ष्मीके मदसे इन्द्रयागका भंग नहीं किया था. उन्होंने तो श्रीकृष्ण भगवानके कथनसे वैसा किया था? तो इसके समाधानमें कहते हैं, 'कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य' मर्त्य कृष्णका उन्होंने आश्रय लिया. देव अमर हैं और मनुष्य मरण धर्मवाले हैं. भगवान् सदानन्द हैं; तो भी मनुष्यका वेष धारणकर रहे हैं. उन मर्त्यके वाक्योंका ग्रहण करना ही उनका दोष है. भगवानका गोपोंने उप(समीप)में आश्रय ग्रहण किया. उन्होंने केवल दूसरा याग ही नहीं किया, किन्तु देव इन्द्रकी(मेरी) अवहेलना करके इन्द्रके(मेरे)लिए सिद्ध किये पदार्थोंसे ही किया. यह देवका(मेरा) अपमान किया।।३।।

यथादृढैः कर्ममयैः क्रतुभिर्नाम नौनिभैः।
विद्यामान्वीक्षिकीं हित्वा तितीर्षन्ति भवार्णवम्।।४।।

जैसे कोई मन्द बुद्धि लोग, आत्मज्ञानकी विद्याको छोड़कर, अन्य नाम मात्रकी नावके समान पार लगानेमें असमर्थ, कर्ममय यज्ञोंके द्वारा अपार संसार सागरके पार जाना चाहे. (वैसे ही ये गोप हैं)।।४।।

भगवानने कर्ममार्गको श्रेष्ठ कहा है फिर उसमें दूषण क्यों देते हो? इस शंकाके उत्तरमें 'यथादृढैः' यह श्लोक कहा है. अदृढ यज्ञोंके द्वारा जो लोग संसार सागरको पार करना चाहते हैं, वे बीचमें ही डूब जाते हैं. अपने द्वारा ही खेई(चलाई) हुई नावसे पार होना सम्भव नहीं है. वह कर्ममयी नौका भी अपने कर्मोंसे खेई(प्रेरित की) जाती है. इस कारण दुगुना क्लेश होता है. यह बात मूलमें 'कर्ममयैः' पदसे कही है. कर्म ही उन यज्ञोंका स्वरूप है और वह भी दृढ नहीं है; क्योंकि उनमें प्रायश्चित बहुतसे करने पड़ते हैं. वे तो केवल नाममात्रके क्रतुयज्ञ हैं; क्योंकि वे नाव जैसे हैं. वह भी केवल दीखने मात्रके नाव हैं. वे भी कर्म यदि चित्तकी शुद्धिकेलिए किये जांये, तब तो वे कभी कुछ उपकारक भी हो सकें, परन्तु ऐसा भी यहां नहीं हैं. यह मूलमें 'विद्यामान्वीक्षिकीं हित्वा' इन पदोंका तात्पर्य है. कर्म तो अविद्या हैं और आन्वीक्षिकी अर्थात् अन्वीक्षण करना विद्या है. श्रवणके पीछे आत्माका पुनः अनुसन्धान करना अन्वीक्षा है. 'विद्या और अविद्या दोनोंको साथ जाने' इस श्रुतिमें जो केवल अविद्याका निषेध किया है, उसे यहां 'हित्वा'(त्याग करके) पदसे कहा है. जैसे वे पार होना चाहते हैं किन्तु पार नहीं होते, वैसे ही ये गोप भी ईश्वरवादका निराकरण करके केवल कर्मवादसे अपने निर्वाहकी इच्छाको भी पार नहींकर सकते, अर्थात् उनका निर्वाह भी नहीं

हो सकता. उनका यह किया हुआ कर्म(नया यज्ञ) व्यर्थ है. उसके द्वारा उनकी रक्षा नहीं हो सकती. इसलिए उनका विघात सुखसे करो यह अभिप्राय हैं।।४।।

वाचालं बालिशं स्तब्धमज्ञं पण्डितमानिनम्।
कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य गोपा मे चक्रुरप्रियम्।।५।।

वैसे ही इन गोपोंने आज वाचाल (बढ–बढकर बातें बनानेवाले), बालक, अविनीत, पण्डिताभिमानी, अज्ञ, मनुष्य कृष्णका आश्रय लेकर मेरा अप्रिय किया है।।५।।

अपने दोषके कारण इन्द्रकी भगवानमें विपरीत बुद्धि हो गई, जिससे षड्गुण ऐश्वर्य सम्पन्न भगवानमें छः दोष कह डाले. भगवानका ऐश्वर्य अप्रतिहत है उसके अनुसार ही भगवानने कहीं पर इन्द्रके ऐश्वर्यको दूर करनेकेलिए यथार्थ ही वाक्य कहे थे. इन्द्रकी बुद्धिसे भगवानमें ऐश्वर्य नहीं था, अर्थात् भगवान् कृष्णको ईश्वर नहीं मान रहा था. इसीलिए भगवानकेलिए वे वचन कहे थे. अपनी दोष बुद्धिके कारण इन्द्रके वचन, 'वाचालं' इस श्लोकसे कहते हैं. आवश्यकतासे अधिक बोलनेको वाचाल कहते हैं, ईश्वर न होते हुवे, भी ईश्वरकी तरह बाते बनानेवाला भी वाचाल कहा जाता है, अथवा 'वाचाल' पदसे वैराग्यका अभाव सूचित किया है. अपने स्वार्थको सिद्ध करनेकेलिए भगवान् बहुत बोले. इसलिए बालिश ज्ञानरहित कहा है अर्थात् जो सामर्थ्यहीन होते हुवे भी अशक्य कार्यको करना चाहता हो, उसे बालिश कहते हैं. यह पद स्पष्टरूपसे ज्ञानके अभावका सूचक है. स्तब्धकी कीर्तिका अभाव प्रत्यक्ष ही है; क्योंकि विनीत ही कीर्तिमान् होता है. अपने आपको ही पण्डित माननेवाले पण्डित–मानीको लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती है. अथवा यहां 'स्तब्ध' पदसे लक्ष्मीका और पण्डितमानी पदसे कीर्तिका अभाव समझना चाहिये. 'अज्ञ' स्पष्ट ही है. मर्त्य मनुष्य है. वह न विरक्त है और न ईश्वर ही है. कृष्ण नामसे प्रसिद्ध है. इस प्रकार भगवानमें इन्द्रकी विपरीत बुद्धि हो गई.

अथवा वाचाल आदि पदोंका अर्थ यह है कृष्ण सदानन्दको भी विपरीत छः गुणवाला मानकर भगवानमें भी विपरीत बुद्धि प्राप्त करके उन अल्प बुद्धिवाले सब गोपोंने मेरा अप्रिय याग भंगकर दिया. यदि वे भगवानको परमेश्वर जानकर ऐसा करते तो मुझे खेद नहीं होता वास्तवमें तो, 'वाच+अलं' वह वाणीसे पूर्ण अर्थात् जहां वाणी नहीं पहुंच सकती है और सब वेदोंका कर्ता है. गोपोंने उसका

आश्रय न करके उप–समीपमें अल्पका ही आश्रय किया है. बालिशं अर्थात् बालीको भी 'शं' सुख देनेवाले हैं. बाली शत्रुका पक्षपाती और रावणका मित्र था उसको भी वे मोक्ष देनेवाले हैं. बाली–बालोंवाला वानर. वाचालं पदसे वेदोंके भी अगम्य यह उनका उत्कर्ष वर्णन किया और 'बालिशं' पदसे कृपालुता सूचित की. (जो मर्कटको भी मोक्ष दे देते हैं.)

''कोई एक जो आकाशमें वृक्षकी तरह स्तब्ध स्थित है, उस पुरुषसे यह सारा जगत् पूर्ण है'' इस श्रुतिके अनुसार वह स्तब्ध ब्रह्मभूत है. भगवान् यदि नम्र (स्तब्ध नहीं) होते तो सत्य आदि लोकोंका नाश ही हो जाता, इस कारण भगवान् स्वयं स्तब्ध अनम्र रहकर दूसरोंको नम्र(झुकाने) करनेवाले हैं. पण्डितमानी पण्डितोंको मान देनेवाले हैं. विद्यावालोंकी पूजा करते हैं. इसलिए पूजाकेलिए विद्याका उपदेश दिया है. अज्ञ जिनसे अधिक (ज्ञ)जाननेवाला न हो. यह भगवान् सर्वज्ञ है, क्योंकि ये कृष्ण सदानन्द है. धर्मी जहां रहता है, वहां सब धर्म सहित ही होता है. इसलिए गोपोंने मर्त्य शरीरका आश्रय लेकर शरीरधारी होकर मेरा(इन्द्रका) अप्रिय(जिससे बढकर दूसरा प्रिय न हो) किया है अर्थात् उन प्रियतम प्रभुको मेराकर दिया है. जिस तरह भगवान् मेरे प्रिय जनक होते रहें, उत्तरोत्तर वैसा ही किया है, वैसे–वैसे धर्मोंका ही सम्पादन इन गोपोंने किया है. यह सरस्वतीका अर्थ है. (अर्थात् ऐसे महापुरुषका मर्त्य–अनीश्वर आदिरूपसे आश्रय करके मेरा गोपोंने अप्रिय किया है।।५।।

टिप्पणी : व्याख्यामें 'अथवा कृष्णम्'. विपरीत षड्गुणम् आदि विपरीत छः गुण यह मर्त्य पदका अर्थ है. मर्त्यमें अनीश्वरता आदि धर्म नियत होते हैं. उनको व्याख्यामें विपरीत शब्दसे कहा है. तात्पर्य यह है कि जैसे कामला–पीलिया रोगका रोगी शंखको पीला कहता है, उसी प्रकारसे गोपोंने अपने मर्त्य आदि धर्मोंका भगवान् कृष्णमें आरोप किया है. यह मेरा(इन्द्रका) अप्रिय किया है।।५।।

एषां श्रियावलिप्तानां कृष्णेनाध्मायितात्मनाम्।
धुनुत श्रीमदस्तम्भं पशून् नयत सङ्क्षयम्।।६।।

ये गोप धन मदसे गर्वित हो रहे हैं, फिर इन्हें कृष्णने और भी बढ़ावा दे रक्खा है. हे मेघों! तुम शीघ्र व्रजमें जाकर इनके श्रीमदको दूर करो और इनके पशुओंका विनाशकर डालो।।६।।

विपरीत बुद्धिका आश्रय लेकर इन्द्र 'एषां' इस श्लोकसे भक्तोंका द्रोह करनेकी आज्ञा देता है. ये गोप धन मदसे गर्विष्ठ हो रहे हैं. कृष्णने इन्हें ओर भी बढावा देकर फुला(गर्वितकर) दिया है. जैसे स्तब्ध ठहरनेवाली वायु किसीके शरीरमें घुसकर फुला देती है. फिर उपवास करने पर वह आफरा-आध्मान दूर होता है. इसलिए धनके मदको दूर करो. उनके उस धन मदका मूलकारण पशु है. इसलिए अतिवृष्टि और पाषाण वर्षा करके पशुओंका पूर्ण विनाश करो।।६।।

अहं चैरावतं नागमारुह्यानुव्रजे व्रजम्।
मरुद्गणैर्महावीर्यैर्नन्दगोष्ठजिघांसया ।।७।।

मैं भी अभी नन्दके व्रजका नाश करनेकी इच्छासे महापराक्रमी उनचास मरूद्गणोंको साथ लेकर ऐरावत हाथी पर सवार होकर वहीं आता हूं।।७।।

गोपाल तो गुफाओंमें भी रह सकते हैं. इस कारण उनके वधकेलिए कृष्णके साथ युद्धकी सम्भावना है. इसलिए ऐरावत पर सवार होकर मैं भी आऊंगा, यह 'अहं चैरावतं', इस श्लोकसे कहते हैं. ऐरावत अक्षय हाथी हैं; क्योंकि अमृत मन्थनके प्रस्तावमें उत्पन्न होनेके कारण इसमें अमृतका धर्म भी है. इसलिए यह अक्षय है. पहले यह जलमें था, अब इसकी पृथ्वी पर स्थिति है. इस कारणसे यह जल और स्थल दोनों युद्ध करनेमें समर्थ हैं. ऐसे ऐरावत हाथी पर सवार होकर अनु आप लोगोंके पीछे ही व्रजमें आऊंगा. मूलमें, 'व्रजं' पदका अभिप्राय यह है, कि किसी प्रसंगवश नहीं आकर मुख्य व्रजमें आनेके उद्देश्यसे ही व्रजमें आऊंगा. वहां गोपाल असंख्य हैं और बलदेवजी अधिक बलवान् हैं. तुम(इन्द्र) तो एक हो. युद्ध कैसे करोगे? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि महाबली उनचास मरुद्गणोंके साथ आऊंगा. वहां जानेका प्रयोजन, एक मात्र नन्दके गोष्ठको नाश करनेकी इच्छा थी. किसी इच्छाको लेकर जानेवाला अपनी इच्छाको पूरी करता है. इसलिए विनाश करूंगा यह तात्पर्य है।।७।।

श्रीशुक उवाच

इत्थं मघवताज्ञप्ता मेघा निर्मुक्तबन्धनाः।
नन्दगोकुलमासारैः पीडयामासुरोजसा ।।८।।

श्रीशुकदेवजीने कहा कि इस प्रकार इन्द्रकी आज्ञा पाकर बन्धनविहीन मेघ बढ़े वेगसे व्रजमें जाकर घोर वर्षा करने लगे उस वर्षासे नन्दका सारा गोकुल पीड़ित और व्याकुल हो उठा।।८।।

आगे जो हुआ, उसे, 'इत्थं' इस श्लोकसे कहते हैं. इन्द्रके द्वारा आज्ञा दिये गये मेघ जो पहले सांकलसे बन्धेसे थे, बन्धन रहितकर दिये गये. फिर वायु सहित वे नन्दके गोकुलको धारा सम्पातों निरन्तर वर्षासे बलपूर्वक पीड़ा देने लगे।।८।।

विद्योतमाना विद्युद्भिर्नदन्तः स्तनयित्नुभिः।
तीव्रैर्मरुद्गणैनुन्ना ववृषुर्जलशर्कराः ।।९।।

बारंबार बिजलियां चमकने लगी और भयानक बिजलियों सहित मेघोंकी कड़क(गर्जना) व्याकुल करने लगी. तेज हवाके झकोरोंसे इधर-उधर दौड़ते हुए मेघ ओले बरसाने लगे।।९।।

पीड़ाका प्रकार, 'विद्योतमानाः' इस श्लोकसे कहते हैं. बिजलियोंसे चमकते हुवे मेघ, यह मेघोंका सात्विक उत्कर्ष है; क्योंकि 'सत्वं' प्रकाश 'भूयिष्ठं' प्रकाश सात्विक गुण है. वे परस्पर संघर्ष(टकराने)से घोर गर्जना करने लगे और तेज बहनेवाली वायुके गणोंके द्वारा प्रेरित होकर जलशर्करा(ओले) बरसाने लगे. यह उनकी तामस सम्पत्ति है. चमकनेसे आंखोंका, कड़कनेसे कानोंका, जलसे प्राणोका और ओलोंसे शरीरका प्रतिघात सूचित किया है. जो बिजलियां मेघोंके आधीन साधारण हैं उनका यहां कथन नहीं है; किन्तु वज्ररूप भयानक बिजलियां चमकने लगी. मेघ स्वभावसे ही शब्द करते(गरजते) हैं; परन्तु यहां नगारोंकी तरह अत्यन्त कर्णकटु गर्जना(कड़क) करने लगे. अति निष्ठुर जलमय ओले भी जब वायुके वेगसे गिरने लगते हैं तब अत्यधिक पीड़ा करते हैं।।९।।

स्थूणास्थूला वर्षधारा मुञ्चच्छ्वभ्रेष्वभीक्ष्णशः।
जलौघैः प्लाव्यमाना भूर्नादृश्यत नतोन्नतम् ।।१०।।

स्तम्भके समान मोटी जलधाराओंके बरसनेसे पृथिवी पर बड़े-बड़े गहरे गढहे पड़ गये थे. सारी पृथिवी जलमय हो गई थी. इस कारण कहीं भी ऊंचा-नीचा नहीं जान पड़ता था।।१०।।

मेघ बरसने लगे, 'यह स्थूणा स्थूलाः' श्लोकसे कहते हैं. स्तम्भके समान मोटी-मोटी जलधाराओंके बरसानेसे पृथ्वी पर गहरे गढहे पड़ गये थे. एक-एक धारासे, मेघके द्वारा एक-एक गहरा गर्त(गड्ढा) कर दिया जाने लगा. इस तरह सभी मेघोंके बरसनेसे सारी व्रजभूमिमें गर्त ही गर्त हो गये थे. क्षण-क्षणमें

सारी पृथिवी जलके प्रवाहोंसे इस प्रकार डूब गई थी कि नीची भी ऊंची अथवा नीची-ऊंची कुछ भी नहीं पड़ती थी. वास्तवमें सभी जगह गढहे पड़ गये थे; तो भी नीची है या ऊंची इस तरह पांव रखनेकेलिए विचार करने पर भी जलसे पूरोंसे डूबी हुई पृथिवी दिखाई नहीं पड़ती थी।।१०।।

अत्यासारातिवातेन पशवो जातवेपनाः।
गोपा गोप्यश्च शीतार्ता गोविन्दं शरणं ययुः ।।११।।

मूसलाधार वृष्टि और महाप्रचण्ड पवनके मारे पशुगण कांपने लगे. शीतसे पीड़ित गोप और गोपियां गोविन्दकी शरणमें गए।।११।।

आगे जो हुआ, उसे इस 'अत्यासाराति' श्लोकसे कहते हैं. अत्यन्त मूसलधार वर्षा और अत्यन्त प्रचण्ड आंधीसे पशुगण कांप उठे. इसलिए शीतके मारे और लौकिक साधारण इन्द्रके द्वारा सताये गये वे गायें, गोप, गोपियां तीन प्रकारके जीव, 'गोविन्द'(गो, गोप, गोपियोंके इन्द्र-स्वामी) भगवानकी शरणमें गये।।११।।

शिरः सुतांश्च कायेन प्रच्छाद्यासारपीडिताः।
वेपमाना भगवतः पादमूलमुपाययुः ।।१२।।

बालकोंको छातीमें छिपाकर और अपने मस्तकोंको शिलाओंकी बौछारसे बचाकर कांपते हुए, वर्षासे पीड़ित वे गोपों, गोपियोंके समूह(झुण्ड) भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंकी शरणमें आ गये।।१२।।

इनकी शरणागतिमें शरणमें जानेकी रीतिका वर्णन 'शिरः सुतांश्च' इस श्लोकसे करते हैं. अपने मस्तकों और बालकोंको शरीरके एक-एक अंगसे छिपाकर वर्षासे पीड़ित कांपते हुवे वे भगवानके चरणके मूलके निकट आये. शिर और बालकोंको ठीक पेट पर लाकर अर्थात् शरीरसे शिर और बालक दोनोंको ढककर भगवानकी दृष्टिके आगे दया करके रक्षाकी आशासे भगवानके अत्यन्त समीप आये. अतिवर्षासे पीड़ित होकर, इन्होंने भक्तिमार्गका त्यागकर दिया. यदि ये भक्तिमार्गमें स्थित रहते तो, वे भगवानकी रक्षा करनेकेलिए ही स्वयं प्रयत्न करते, अपनी रक्षाकी भगवानसे प्रार्थना नहीं करते. वे कांप रहे थे, इसलिए अपने शरीरकी स्थितिमें सन्देह जानकर, भगवानके चरणोंके मूलमें आ गये. उन पर कृपा करके भगवान् भी स्वयं उनके समीप, आ गये. इसीलिए मूलमें उप(समीपमें) यह पद दिया है. आययुः(आ गये) इस क्रिया पदमें 'आ' उपसर्गका तात्पर्य यह है,

कि वे सब प्रकारसे भगवानके दोनों चरणोंके मूलमें आ गये. हृदयमें उत्पन्न हुई भक्तिसे शरीरके द्वारा समीप गये मनसे तो चरणके मूलमें प्रवेश किया।।१२।।

कृष्ण कृष्ण महाभाग त्वं नाथं गोकुलं प्रभो!।
त्रातुमर्हसि दैवात् नः कुपिताद् भक्तवत्सल ।।१३।।

हे कृष्ण! हे कृष्ण! हे महाभाग, हे प्रभो! आप ही इस गोकुलके नाथ हो. हे भक्तवत्सल! आप कुपित हुए इन्द्रसे हमारी रक्षा करें।।१३।।

उन शरणागतोंकी विज्ञापना 'कृष्ण कृष्ण' इस श्लोकसे कहते हैं. कृष्ण–कृष्ण यह पद दो बार भयसे कहा है. आप गोकुलकी रक्षा करनेमें समर्थ हो, रक्षा करो यह विज्ञापना है. शंका हो सकती है कि सभी लोग स्तुति करके ही प्रार्थना करते है, तो फिर यहां यह विज्ञापना कैसे मानी जाये? इसके उत्तरमें, कहते हैं कि हे महाभाग! आप बड़े भाग्यशाली हो. हम तुच्छ आपकी क्या स्तुतिकर सकते हैं. व्यास आदि महापुरुष आपकी निरन्तर स्तुति करते रहते हैं, उन महाभाग्यशाली आपका, हम तुच्छ क्या करने योग्य हैं. अथवा कदाचित् भगवान् यों कहें, कि जैसे तुम कांप रहे हो, मेरी भी तो वही दशा है, तो इसके उत्तरमें कहते हैं, कि आप तो महाभाग हो, अलौकिक सभी भाग्यसे युक्त हो. इसलिए अलौकिक रीतिसे हमारी रक्षा कीजिये.

रक्षा करनेमें प्रबल हेतु यह है, कि 'त्वन्नाथं' गोकुलके आप नाथ हैं. गायोंका कुल रक्षणीय होता है. गाएं सभीकी पालनीय हैं. फिर आप तो प्रभु हैं, सब प्रकार पालन करनेमें समर्थ हैं. इस प्रकार बहुतसे कारणोंके होनेसे रक्षा करनी ही चाहिये. यदि भगवान् उन गोपोंसे यह कहें, कि कम्बल, कपड़े, घर, गुफा आदि लौकिक उपायोंसे रक्षाकर लो. मेरी प्रार्थना करनेसे क्या लाभ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'दैवात्' यह दैविक आपत्ति है. लौकिक उपायोंके लौकिक अपकारमें रक्षा हो सकती है. यह तो दैविक इन्द्रके द्वारा की हुई आपत्ति है. इसका प्रतीकार लौकिक उपायोंसे नहीं हो सकता है. यदि हम आपके कहने पर इन्द्रसे ही रक्षाकी प्रार्थना करने लगे तो वह रक्षा नहीं करेगा; क्योंकि वह तो कुपित हो रहा है. वह याग भंगरूप अपकारसे कुपित हुआ है अतः मार डालेगा. यदि आप यह कहें, कि इन्द्रके सामने दीन हो जाओ, वह तुम्हारी दीनताको देखकर नहीं मारेगा; तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि हे भक्तवत्सल आप ही भक्तवत्सल हो. इन्द्र तो निर्दयी ही है. इसलिए आपको ही हमारी रक्षा करनी चाहिये।।१३।।

शिलावर्षनिपातेन हन्यमानमचेतनम्।
निरीक्ष्य भगवान् मेने कुपितेन्द्रकृतं हरिः ।।१४।।

सारे गोकुलको शिलाओंकी निरन्तर घोर वर्षासे पीड़ित तथा अचेतन देखकर, हरि भगवानने समझ लिया कि यह सब कुपित इन्द्रका ही काम है।।१४।।

उनकी इस प्रकार विज्ञापनाको सुनकर, भगवानने विचार किया, कि क्या इन्द्रको मार दिया जाये, मेघोंको हटा दिया जाये, वर्षाको रोक दिया जाये अथवा इन्हें अलौकिक सामर्थ्य दे दी जाये या दूसरे स्थान पर ले जाया जाये अर्थात् अपने स्वरूपमें प्रविष्ट करलूं अथवा इनकी रक्षाकेलिए और कुछ उचित उपाय किया जाये. वहां पहले उपद्रवके कारणका निश्चय, 'शिलावर्ष' इस श्लोकसे करते हैं. शिलाओंकी वर्षा निरन्तर चारों ओर गिरनेसे विनष्ट हुवे गोकुलको देखकर, उस उपद्रवको कुपित इन्द्रका किया हुआ ही समझ लिया. यद्यपि उन गोप लोगोंने पहले यह कुपित इन्द्रका कार्य निवेदनकर ही दिया था; तो भी क्या ये वासना (हृदयस्थ विचार)से कहते हैं अथवा सत्य ही कहते हैं. भगवानने इसका विचार किया (निर्णय किया). लोग, एकके पीछे दूसरी वस्तुको होनेवाली देखकर, उनका कार्य कारणका सम्बन्ध न होने पर भी, सम्बन्ध जोड़ लेते हैं. इस प्रकार यागभंगके पीछे होनेवाली वृष्टिको यागभंगका कार्य कल्पनाकर लिया है, अथवा क्या वास्तवमें यागभंग ही वृष्टिका कारण है, ऐसा विचार उत्पन्न होता है. यद्यपि सर्वज्ञ भगवानसे यह बात छिपी हुई नहीं थी, तो भी, सर्वज्ञताका निराकरण करनेकेलिए यहां यह अनुवाद किया गया. यदि यहां ऐसा नहीं किया जाता तो भगवानके इस कार्यमें बिना विचारेकर लेनेकी शंका हो जाती।।१४।।

अपर्त्वत्युल्बणं वर्षमतिवातं शिलामयम्।
स्वयागे निहतेऽस्माभिरिन्द्रो नाशाय वर्षति ।।१५।।

भगवानने कहा, हमने इन्द्रके यागका भंगकर दिया, इसी कारणसे, वह रुष्ट होकर आज प्रचण्ड आंधीके झोंके और शिलाओंकी बौछारोंवाली बिना ऋतुकी घोर वर्षासे व्रजको नष्टकर देनेकेलिए उद्यत है।।१५।।

फिर उनके, उस उपद्रवको इन्द्रके द्वारा किया हुआ निश्चय करके, उनका विनाश होता देखकर शीघ्र ही उपाय करनेका विचार करना, 'अपर्तौ' इन दो श्लोकोंसे कहते हैं. सारा अचेतन हो गया था, इसलिए उनके वचनकी अपेक्षा नहीं थी और क्षणभरकी विलम्ब करनेकी भी अपेक्षा नहीं थी. स्वयं भगवान् हैं.

इसलिए सब साधनोंका ज्ञान है. इस प्रकारकी घोर वृष्टि कभी स्वाभाविक भी हो जाती है, किन्तु यह स्वाभाविक वृष्टि नहीं है; क्योंकि यह बिना ऋतुकी वृष्टि है. फिर यह मर्यादाका समय है. इसमें कलियुगकी तरह चाहे जब ही वृष्टि सम्भव नहीं है. इस पर भी ऐसी घोर और अत्यन्त भयानक वृष्टिका होना तो ऋतुमें भी दुर्लभ है. इसमें प्रचण्ड पवन है, जो मेघोंको उड़ा ले जाती है. इसमें शिलाएं बरस रही हैं, जल थोड़ा है और ओले बहुत हैं. इन चार दोषोंसे ज्ञात होता है, कि इन्द्र ही यह वर्षाकर रहा है.

यहां मूल उत्तरार्धमें तर्कसे वस्तुकी सिद्धि करते हैं क्योंकि यदि आर्षज्ञान अथवा नित्यज्ञानमें तर्कको सहकारी न मानें अथवा विरुद्ध मानें तो लोगोंको आर्षज्ञानकी प्रतीति ही नहीं होगी और उस तर्क हीन कार्यके सिद्ध हो जाने पर काकतालीय(अकस्मात् हो जानेका) प्रसंग(दोष) होगा. इसलिए तर्क उचित है और ज्ञानका सहकारी है. इसलिए कहते हैं, कि अपने इन्द्रयागका अत्यन्त भंग होने पर, गोकुलका विनाश करनेकेलिए ही इन्द्र वर्षाकर रहा है।।१५।।

तत्र प्रतिविधिं सम्यक् साधये योगमायया।
लोकेशमानिनो मौढ्याद्धरिष्ये श्रीमदं तमः ।।१६।।

मैं अभी योगमायासे उसका पूर्ण प्रतिकारकर देता हूं. ये इन्द्र आदि देवता मोहवश अपनेको स्वतन्त्र ईश्वर मानकर, उसका अभिमान करते हैं. अभी मैं इनके ऐश्वर्यके मोहको दूर हटाए देता हूं।।१६।।

तब क्या करना चाहिये इस आकांक्षामें, 'तत्र प्रतिविधिं' इस श्लोकसे कहते हैं. यहां इस प्रसंगमें इन्द्रको पदच्युतकर देनेमें तो क्लिष्टकारिता होगी, अर्थात् अपराधसे दण्ड अधिक हो जायेगा; क्योंकि इसमें दोष तो केवल अधिकारका ही है. इन्द्रत्वमें तो कोई दोष नहीं है. यदि वर्षाको रोक दिया जायेगा तो इन्द्र स्वयं युद्ध करने आ जायेगा. युद्धमें मारने अथवा न मार देनेसे अधिकारका दोष तो दूर(निवृत्त) नहीं हो सकेगा. अथवा बरसना बन्दकर देने पर (इन्द्र मेघोंका विनाशकर देगा तो भविष्यमें, मेघोंका कार्य(वर्षा) ही कभी नहीं हो सकेगा. इसलिए इसका तो कुछ अन्य ही उपाय करना चाहिये. यह सोचकर, भगवान् कहते हैं कि ''मैं इसका उपाय करता हूं''. यदि इन व्रजजनोंको यहांसे दूसरे स्थान पर ले जाया जाये तो वहां पर भी वर्षा होने लग जायेगी, स्थानका त्याग करना पड़ेगा अथवा अन्यत्र अन्यका आश्रय लेना पड़ेगा. इसलिए इस गोवर्धन पर्वतने

ही इन्द्रकेलिए सिद्ध की गई चावल आदि सारी सामग्रीको खाया है, इसको ही इनकी रक्षाका साधन(उपाय) बनाना चाहिये. भगवानने ऐसी(गोवर्धन उठाकर रक्षा करनेकी) कल्पना पहले ही कर ली थी यह मूलमें सम्यक् पदसे ज्ञात होता है.

शंका: पत्थरोंका समुदाय ही पर्वत कहा जाता है. इनमें कोई एक अवयवी नहीं इसलिए पर्वतको उठा लेने पर भी पत्थर गिरेंगे. प्रशासन श्रुतिके अनुसार अक्षर भगवानकी आज्ञासे ही आकाश और पृथिवी ठहर रहे(विधृत) हैं (अलौकिक रीतिसे) भी पर्वतका ऊपर उठाना योग्य नहीं है; क्योंकि यहां भगवान् मनुष्यरूपसे अवतार धारण किये हैं और लौकिक रीतिसे ही अनुग्रह कार्य करते हैं. तब गोवर्धन पर्वतका उद्धरण किस प्रकार किया जा सकता है?

समाधान: ऐसी शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि योगमायासे करूंगा. अर्थात् इस गोवर्धनोद्धरण कार्यमें, मैं योगमायाका ग्रहण करूंगा. जिस प्रकार योगमाया द्वारा गर्भको खींचकर रोहिणीजीमें स्थापित किया, वैसे ही पर्वतको उठानेमें भी योगमायाका विनियोग(उपयोग) करूंगा. जिससे पर्वतका कोई भी भाग नहीं गिरने पायेगा. इस योगमायाको बलवती बना देनेकेलिए मैं उसमें अपनी क्रियाशक्तिका प्रयोग करूंगा.

इतने भारी क्लेश करनेका कारण ही क्या है, इससे पहले ही इस उपद्रवका विचार क्यों नहींकर लिया गया? ऐसी शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि इन्द्र अपने आपको लोकोंका ईश्वर मान रहा है. यह वह भूल गया है कि वह तो भगवानके द्वारा नियत किया हुआ एक अधिकारी मात्र है. यह इन्द्रकी मूढता है; क्योंकि अन्यके द्वारा नियत किया गया अधिकारी स्वामी नहीं हो सकता है. यही ''स वै पतिः स्यात्'' श्रुतिमें बतलाया है, कि पति निश्चयरूपसे वही हो सकता है, जो सब प्रकारसे रक्षाकर सके. ऐसा एक वही है. अधिकारीको भी पति मान लेने पर तो परस्परमें एक दूसरेको एक दूसरेसे भय है. इस कारणसे इन्द्र कोई ईश्वर थोड़ा ही है. वह तो मूढतासे अपनेको ईश्वर मान रहा है. उसको यह मोह लक्ष्मीके मदसे हुआ है. इसलिए मैं उसके श्रीमदसे होनेवाले अज्ञानको दूर करूंगा।।१६।।

न हि मद्भावयुक्तानां सुराणाम् ईशविस्मयः।
मत्तोऽसतां मानभङ्गः प्रशमायोपकल्पते।।१७।।

जो मेरे भावसे युक्त देवता हैं उन्हें हम ईश्वर हैं एसा अभिमान कभी नहीं हो सकता है. असत् जनोंके अभिमानका भंग दूर होना उनकेलिए हितकारी ही

होता है; क्योंकि फिर वे शान्त हो जाते हैं. उनका भ्रम मिट जाता है।।१७।।

उनका अज्ञान हरने(मिटाने)से क्या लाभ होगा? इस ऐसे प्रश्नका समाधान 'न हि' इस श्लोकसे करते हैं. मेरा भाव अर्थात् शुद्ध सत्व, देवत्व अथवा पूज्य भाव या ऐश्वर्य जहां ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये छः धर्म रहते हैं, वहां अज्ञान नहीं ठहरता है. इन उक्त धर्मोंकी स्थिति नहीं होती, वह मेराभाव (भगवद्भाव) नहीं है. यहां भक्तिके कथनकी तो इच्छा नहीं है, क्योंकि विशेष गर्व जहां हो, वहां भक्ति नहीं रहती है अर्थात् विशेष अभिमान और भक्ति दोनों एक स्थान नहीं रह सकते हैं. इसलिए कहते हैं, कि भक्तिकी बात तो बहुत दूर है, ऐश्वर्य, सत्व आदिका और अज्ञानका भी साथ-साथ रहना उचित नहीं है. इस कारणसे, ऐश्वर्य और अज्ञान दोनोंमेंसे किसी एकको दूर करना आवश्यक है. मैं दयालु हूं, इसलिए दया करके इनके तम(अज्ञान)को ही दूर करूंगा. हम अधिकारी हैं इस प्रकारका विशेष गर्व लोकमें भी किसी अधिकार प्राप्त व्यक्तिकेलिए अच्छा नहीं होता और यदि किसीको अपने अधिकारका विशेष गर्व हो जाता है तो वह अपने उस अधिकारसे च्युतकर दिया जाता है. इस लोकरीतिके अनुसार, इन्द्रको इन्द्र पदसे च्युत न करनेमें, मेरी दयालुता ही कारण है. अपनी दयालुतासे ही मैं इन्द्र पदसे दूर न करके, अज्ञानको ही दूर करूंगा. अधिकारी पदसे भ्रष्ट करनेमें, एक कारण यह भी है, कि भगवान् किसीको क्लेश देनेवाला कार्य नहीं करते हैं.

महापुरुषोंका तो मान ही धन है. इसलिए मानभंग करनेकी अपेक्षा तो, अधिकार च्युतकर देना ही श्रेष्ठ होता है? ऐसी शंकाके उत्तरमें कहते हैं, कि यह मानभंग यदि किसी दूसरेसे होता तो अनुचित होता और इन्द्रकेलिए लज्जाकारी भी होता. मुझ सर्वेश्वरसे होनेवाला मानभंग तो उचित ही है और अत्यन्त लज्जाकारी भी नहीं है. यदि एक ही इन्द्र विशेष गर्ववाला होता तो उसे ही दूर करना पड़ता; परन्तु यहां तो सभी लोकपालक देवता गर्विष्ठ हो गये हैं. इसलिए मुख्यको शिक्षा देकर सभीको शिक्षित करना है. 'असतां मानभङ्गः' सारे ही लोकपालक असत् हो गये हैं. यदि शिक्षा नहीं दी जायेगी तो एकके पीछे दूसरा, यों सभी असत् हो जायेंगे और अनवस्था(अनन्तता) दोष उपस्थित हो जायेगा. इसलिए एकका मानभंग सारे ही असत् लोकपालोंका होकर सभीका शीघ्र ही हितकारी सिद्ध होगा. एक-एकको अलग-अलग शिक्षा देनेमें तो बहुत करना

पड़ता. राजा लोग इसी प्रकार एकको शिक्षा देकर अन्य सभीको शिक्षित करते हैं. यह राजमन्त्र है।।१७।।

तस्माद् मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः ।।१८।।

इस व्रज(गोकुल)का मैं ही रक्षक और स्वामी हूं. ये सब व्रजवासी मेरी शरणमें आए हैं. मैं इनको अपने आश्रित और स्वजन समझता हूं. इसलिए मैंने यह व्रत निश्चय पहले ही कर लया है कि अपने योगबलसे मैं इन सबकी रक्षा करूंगा।।१८।।

शंका होती है कि गोप गाय आदिको मुक्ति देना तो आवश्यक ही है, फिर इसी समय थोड़ेसे प्रयाससे सिद्ध हो जानेवाली मुक्ति क्यों नहीं दे दी? इन्द्रका मानभंग तो किसी दूसरी रीतिसे भी हो सकता है. गोवर्धनका उद्धरण तो अलौकिक है. लोकमें मनुष्यरूपसे अवतार लेकर ऐसा अलौकिक कार्य करना उचित प्रतीत नहीं होता. अथवा इनको ज्ञानका उपदेश ही दे देते. अथवा अलौकिक सामर्थ्य ही दे देते अथवा देवगुरु बृहस्पतिजीके द्वारा इन्द्रको ही रोक देता था. इतने उपायोंके होते हुवे फिर गोवर्धनका उद्धरण ही क्यों किया? इसका उत्तर, 'तस्मात्' इस श्लोकसे देते हैं. 'मच्छरणं' मैं ही इनका शरण, आश्रय हूं. ज्ञान अथवा भक्ति इनका आश्रय नहीं है. यदि इनसे ज्ञान अथवा भक्ति करनेका उपदेश करूं तो फिर मेरा अवतार लेनेका प्रयोजन ही सिद्ध न होगा; क्योंकि ज्ञान, भक्तिके बिना भी केवल मेरा आश्रय लेनेवालोंको मैं स्वरूपबलसे ही वाञ्छित फल देता हूं. पुष्टि(अनुग्रह)मार्ग भी नहीं रहेगा. फिर यह तो गोष्ठ है. गायोंमें उपदेश ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं होती. इसी समय मुक्ति दे देना भक्तिमार्गके विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि मैं ही इनका स्वामी हूं. इनकेलिए अभी मुक्ति दे देनेमें तो स्वामी-सेवकभाव ही लुप्त हो जायेगा. इसलिए अभी मुक्ति देना उचित नहीं है.

फिर मैं इनको स्वजन(आत्मीय) मानता हूं. और जब मैंने इनके सारे शरीरोंका परिग्रह किया है, तो शरीरका एक अवयव भी यदि न रहे तो मेरी प्रतिज्ञामें विरोध भी आवे और अंग तथा अंगीमें अभेद होनेके कारण एक अंगका नाश होनेसे भी सर्वनाश ही हो जायेगा. इसलिए इनकी आत्माकी तरह इनके शरीर भी मेरे ही परिग्रह-आश्रित है, तो मैं इनकी रक्षा करूंगा. वह रक्षा स्वात्मयोगके द्वारा करूंगा. गोवर्धनको उठानेमें तो, योगमाया साधन है और इनकी रक्षा करनेमें

स्वात्मयोग (प्रमेयबल) ही साधन है. जैसे वायुनिरोध–प्राणायामसे सारी इन्द्रियां शान्त एवं उपद्रव रहित हो जाती हैं, इसी प्रकार जब मैं इनमें अपनी आत्मको स्थितकर(रक्ख) दूंगा, तब मेरे भीतर रहनेवाले यो गोपजन मेरे भीतर स्थित पहले मेरे भोजन किये हुवे अन्नका भोजन करके सुखी हो जायेंगे. मेरे द्वारा पहले किये गये भोजनका इन्हें भोजन कराकर सुखी करना ही प्रयोजन(उपयोग) है. इतना क्लेश उठानेका कारण यह है, कि (सोऽयं में व्रत आहितः) मैंने यह व्रत धारणकर रक्खा है; क्योंकि,

शरणागतसंरक्षा सर्वभावेन सर्वथा।
'कोन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।का.१।।
'सङ्ग्रामे च प्रपन्नानां तवास्मीति च यो वदेत्।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।का.२।।

कारिकार्थ: शरणागत जीवोंकी सुरक्षा सर्वभावसे सर्वथा करना. हे अर्जुन, तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका विनाश नहीं होता है. युद्धमें अथवा शरणागतोंमेंसे जो कोई 'मैं आपका हूं' ऐसा कहता है, उसे मैं सब प्राणियोंसे अभय देता हूं यह मेरा व्रत है।।१–२।।

व्याख्यार्थ: इसलिए अपने व्रतका पालन मैं सब प्रकारसे करूं. अपने धर्मकी रक्षा(निर्वाह)केलिए रक्षा करूंगा. यदि यह कहा जाये कि ऐसा व्रत ही क्यों ले लिया? तो इसके उत्तरमें कहते हैं, कि यह व्रत मैंने पहलेसे ही ग्रहणकर रक्खा है. धारण किये हुवे व्रतका त्याग नहीं किया जाता. व्रतका पालन करना ही उचित है.

प्रथमं क्लेशसम्बन्धः पूर्वपाषण्डधर्मतः।
शरणागमने बुद्धिर्यागानुष्ठानतोऽभवत्।।का.१।।

कारिकार्थ: व्रजवासी, इन्द्रयागरूपी पाखण्ड धर्मका सेवनकर रहे थे. इस कारणसे, उन्हें पहले क्लेशका सम्बन्ध प्राप्त हुआ. तदनन्तर भगवद् यागका अनुष्ठान करनेसे उनकी भगवानके शरण जानेकी बुद्धि हुई।।१।।

मर्यादास्थापनार्थाय शरणागतिवर्णनम्।
अन्यथान्यगृहीतार्थं गृह्णीयाद् भगवान् कथम्।।का.२।।

कारिकार्थ: मर्यादाकी स्थापनाकेलिए यहां शरणागतिका वर्णन किया है. यदि इनकी शरणागतिका वर्णन नहीं करते तो अन्य(इन्द्र)के ग्रहण किये पदार्थोंका

ग्रहण भगवान् कैसे करते।।२।।

अतो यागोपदेशश्च दूरोपायतया मतः।
भक्तिमार्गस्तथाक्लिष्टकर्मत्वं च ततो भवेत्।।का.३।।

कारिकार्थ: इसलिए दूरके उपायकी रीतिसे, अर्थात् उन व्रजवासियोंको स्वरूपानन्दका दान करनेकेलिए भगवद् याग करनेका उपदेश किया, जिससे अनन्य भक्तिमार्ग और भगवानका अक्लिष्ट कर्म करना सिद्ध होता है।।३।।

टिप्पणी: 'गोपाये स्वात्मयोगेन' इन श्लोककी व्याख्यामें 'पर्वत धारेण'से प्रारम्भ करके 'भविष्यन्ति' इत्यादि ग्रन्थका तात्पर्य यह है, कि यहां दो कार्य कर्तव्य हैं एक तो यह, कि पर्वत धारण करके वर्षासे रक्षा और दूसरा यह, कि इनके देह, जीव आदिकी भी रक्षा करना; क्योंकि यदि जीव, देहादिकी रक्षा न की जायेगी तो पर्वत धारणकर लेने पर भी प्रलयकालके मेघोंकी घोर गर्जना आदिसे इनके प्राण टिक नहीं सकेंगे. इसलिए अपने आत्मयोगसे इनकी रक्षा कर्तव्य है. यही मूलमें 'स्व' पदका तात्पर्य है.

अथवा स्वयं और आत्मयोग(स्वशक्ति) दोनों ही प्रकारसे रक्षा करना अभीष्ट है. वह स्वशक्ति यहां योगमाया ही कही गई है. अर्थात् (स्व)स्वयं तो ('क्षुत्तृड्व्यथां' इस तेईसवें श्लोकके अनुसार) भगवानने स्वरूपानन्दका दान करके इनके प्राणादिकी और पर्वत उठाकर वर्षासे रक्षा की यह भाव है.

लेख: 'तस्मान्मच्छरणं'की व्याख्यामें अलौकिक सामर्थ्यम् इत्यादि ग्रन्थका तात्पर्य यह है कि ''ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यादिभ्यः''(ब्र.सू.४।४।५) जैमिनीके मतके अनुसार जीवोंको देहादि बिना लीला करनेका सामर्थ्य देना उचित है? इस शंकाका समाधान (मत्परिग्रहं) मैंने इनका परिग्रह-अंगीकृत किया है इस पदसे और बृहस्पति द्वारा इन्द्रको वर्षा करनेसे रोक दिया जाए? इस शंकाका समाधान स्वात्मयोगेन इस पदसे किया है, न कि किसी दूसरे प्रकारसे. ज्ञानोपदेशश्च ज्ञानका उपदेश कहनेसे भक्तिका दान भी समझ लेना चाहिये; क्योंकि ज्ञान और भक्ति एक ही है. स्वात्मयोग एवं अपनी आत्मा अथवा स्वरूपका (योग) इनमें स्थापन करना. स्वरूप स्थापनके द्वारा रक्षाकी रीति कहते हैं, कि जिस प्रकार प्राणायामोंके द्वारा, वायुके भीतर रोकनेसे, वायुके वशीभूत इन्द्रियां बाहरकी गति रहित होकर अन्तर्निष्ठ हो जाती हैं, उसी प्रकार मेरी आत्मा(स्वरूप)का इनमें स्थापन करनेसे, मेरे आधीन, ये व्रजजन उपद्रव

रहित होकर अन्तर्निष्ठ अर्थात् मेरे भीतर इनकी स्थिति हो जायेगी. तब मेरे भोजन किये हुए अन्नके प्रभावकी शक्तिसे ये 'सुखिताः–गर्जना' आदिके प्रतिघातसे रहित हो जायेंगे. इतीति इस प्रकार स्वात्मयोगसे रक्षा की।।१८।।

टिप्पणी : 'तस्मान्मच्छरणं' इस श्लोककी व्याख्यामें की गई 'मुक्तिदान' आदिकी शंकाके समाधानमें कारिकामें 'प्रथमं क्लेश सम्बन्धः'से प्रारम्भ करके, 'ततो भवेत्' तक कही गई हैं.

शंका: भगवानने जब नन्द आदि व्रजजनोंका इस प्रकार परिग्रहकर लिया था, तो फिर उनकी अन्यदेव इन्द्रकी पूजामें मन क्यों हुआ? और यदि इनको अन्यके भजनमें रुचि हो भी गई थी, तो अन्य भजनसे इन्हें निवृत्त करना ही उचित था, याग करनेका उपदेश तो अनुचित था; क्योंकि जब इनका परिग्रह भगवानने स्वरूपसे ही किया था, तब यागादि दूसरे साधनोंकी कोई अपेक्षा नहीं थी. यह भी नही है कि इनका परिग्रह अभी ही किया गया हो; क्योंकि 'स्वगोकुलमनन्यगतिं' गोकुल मेरा है, मेरे बिना इसका अन्य रक्षक नहीं है इत्यादि वाक्योंसे इनका भगवत्परिग्रह पहिले ही सिद्ध है. फिर भगवान् स्वयं सर्वज्ञ है और व्रजका परिग्रह सदा ही सिद्ध है, तब उनकी रक्षाकेलिए की गई प्रार्थनाको सुनकर भी, तत्काल रक्षा न करना भी अनुचित है? इत्यादि शंकाओंका उत्तर 'प्रथमं क्लेश सम्बन्धः' इस प्रथम कारिकामें दिया है, यहां यह अभिप्राय है. यहां भगवानके परिग्रहसे ही सकल सिद्धि है. वह परिग्रह भी किसी अन्य साधनसे सिद्ध नहीं हो सकता. तभी तो अर्थात् स्वपरिग्रहके कारण ही विपरीत साधन(इन्द्रयाग) करते देख, उन्हें उस विपरीत साधनसे निवृत किया. इससे इनका परिग्रह ही सिद्ध होता है. पहलेसे ही विपरीत साधनका था इस कथनसे स्वपरिग्रह सिद्ध नहीं हो सकता. इसीसे श्रुतिमें कहा कि ''भगवान् किसी साधन द्वारा प्राप्त नहीं होते. वे जिस जीवका वरण करते हैं, उसे ही वे प्राप्त होते हैं'' इसलिए 'प्रथम' इत्यादि आधी कारिका आज्ञा की है.

'शरणागमने' इत्यादि आधी कारिकासे यागके उपदेशका प्रयोजन कहा गया है, कि यागके अनुष्ठानसे उनकी शरणागमनकी बुद्धि हुई. यदि गिरियाग न करते तो ''भगवानके वचनसे इन्द्रयागका भंग करनेसे, हम पर यह क्लेश आया है'' इस प्रकार उनकी भगवान् पर ईर्ष्या, असूया, बुद्धि हो जाती और जिससे अब तक किया हुआ सारा निरोध व्यर्थ हो जाता. भगवानका परिग्रह स्वयं ही

बहुत प्रबल है, यह बतलानेकेलिए इनसे, लोक साधारण रीतिके अनुसार, याग करनेकेलिए कहा है. इसलिए अब तो ईर्ष्याके उत्पन्न होनेकी शंका ही नहीं रह जाती है. इसके पहले जब इनके देह, इन्द्रियां आदि इन्द्रयागरूप पाखण्ड धर्ममें विनियुक्त थे तब तो असूया होना भी सम्भव था. अन्यत्र विनियुक्त हुई इन्द्रियोंका निरोध भगवानमें सिद्ध नहीं होता इसीलिए उनकी निरोध सिद्धिकेलिए ही भगवानने उनका तथा उनकी वस्तुओंका अपने स्वार्थ कार्य–यागमें योगकर दिया. तब उस पूर्व दोषके दूर हो जाने पर भगवान् पर दोषारोपण नहीं किया और उनकी बुद्धि भगवानके शरणमें जानेकी हुई।।का.१।।

भगवानने उनका परिग्रह तो स्वरूप बलसे ही कर रक्खा है, फिर परिग्रहकेलिए यह याग कराना व्यर्थ है? ऐसी शंका करना उचित नहीं है; क्योंकि याग कराकर उनकी शरण जानेकी बुद्धि उत्पन्न करनेका हेतु परिग्रह ही तो है. वह परिग्रह उनका और उनकी वस्तुओंका सबका ही कहना चाहिये. परिग्रह करनेवाले (उन)भगवान् पर यदि उनकी निष्ठा न हो तो, परिग्रहका स्वरूप ही सम्भव न हो. यहां यह कहना कि शरणागमनसे ही परिग्रह तो सिद्ध हो गया था–उचित नही है; क्योंकि इस परिग्रहके कारण ही भगवानने उनकी रक्षा की है. शरणागतिका वर्णन तो केवल भक्तिमार्गकी इस मर्यादाको बतलानेकेलिए है, कि भगवानने जिनका परिग्रहकर लिया है, वे अपनी इसलोक और परलोक की सिद्धिकेलिए भगवानकी ही प्रार्थना करते हैं किसी दूसरेकी नहीं करते. शरणागतिके वर्णनका दूसरा कारण व्रजवासियोंके इस प्रकारके कथनसे इनके परिग्रहको पहलेहीसे सिद्धि बतलाना भी है; क्योंकि यदि परिग्रह पूर्व सिद्ध नही होता तो इन्द्रका अपराध करनेसे हुए(आए) अनिष्टको देखकर पुनः इन्द्रका ही याग करनेकी प्रतिज्ञा करके इन्द्रसे ही रक्षाकी प्रार्थना करते. इसीलिए दूसरी कारिकामें 'मर्यादास्थापनार्थाय' ऐसा कहा है.

अथवा 'मर्यादास्थापनार्थाय' इस कारिकास्थ पदका दूसरा तात्पर्य यह भी है, कि जैसे कोई मादक वस्तुके मदसे मत्त होकर दूसरोंकी अवगणना (तिरस्कार)कर देता है, उसी प्रकार ये व्रजवासी भगवानके परिग्रहके गर्वसे अपने आपको निर्भय मानकर, तथा इन्द्रको तुच्छ समझ उसकी अवगणना करके गर्वसे यदि भगवानसे भी रक्षाकी प्रार्थना नहीं करते तो भी भगवान् तो

रक्षा करते ही, किन्तु इनके भावके अनुसार ही रक्षा करते. तब तो गोवर्धनका उद्धरण नहीं होता, केवल वर्षाका नाश करके ही रक्षाकर देते. इस प्रकार केवल वृष्टिका नाश करनेसे गोवर्धनके उद्धरणमें होनेवाली अन्य किसीकी अपेक्षा न रखकर भगवानके दर्शन करते रहना, केवल भगवदीयत्वका अनुभव करना, भगवानका माहात्म्य जानना, गोविन्द नाम धारण करना, भगवान् पर अभिषेक आदि लीलाओंका अनुभव व्रजवासियोंको नहीं होता. उन लीलाओंकी सम्भावना भी तब तो नहीं रहती और उन लीलाओंसे होनेवाला निरोध भी उनका नहीं होता तब व्रजवासियोंके निरोध सिद्ध्यर्थ ही सारी लीला करनारूप नियमका भंग हो जाता. इसलिए नियमरूप मर्यादाकी रक्षाकेलिए शरणागतिका वर्णन किया है.

दूसरी बात यह है, कि यह साधन प्रकरण है. यहां इस साधन प्रकरणमें साधनमार्गके अनुसार की हुई भगवानकी लीलाओंका ही वर्णन किया गया है. इसीलिए अन्य इन्द्रयागका निषेध करना, स्वयाग करना, व्रजवासियोंका भगवानकी शरणमें जाना, तब भगवानका उनकी रक्षा करना आदिका वर्णन उचित ही है. यदि उक्त प्रकारसे वर्णन यहां नहीं होता तो विपक्ष(विरोध)में आने–उपस्थित होनेवाली बाधाका वर्णन अन्यथा–इत्यादि द्वितीय कारिकाके उत्तरार्धमें कहते है. (अन्यथा–यदि ऐसा नहीं करते तो अर्थात् इन व्रजजनोंको सबसे अलग करके मैं (इन्हें) आत्मीय करूंगा–यदि ऐसी इच्छासे भगवान् इन्द्र यागभंग आदि लीला नहीं करते) अन्यथा यदि भगवान् व्रजवासियोंको सबसे अलग करके आत्मीय करनेकी इच्छासे इन्द्रयागका भंग आदि लीला नहीं करते तो अन्य(इन्द्र)केलिए सिद्ध किये हुए भोजनको भगवान् क्यों अरोगते? दूसरे अन्नसे भी गोसव गायोंकेलिए यज्ञ हो सकता था, परन्तु अन्य अन्नसे यदि गोसव किया जाता तो इन्द्रका अंश(भाग) गोकुलमें बना(स्थापित) ही रह जाता. इन्द्रका गोकुलमें कुछ भी अंश शेष न रहे इसी अभिप्रायसे भगवानने अन्य नई सामग्री सिद्ध न कराकर उसी इन्द्रयागकेलिए सिद्ध की गई सामग्रीसे ही, स्वयाग करनेका जो उपदेश दिया है, वह व्रजजनोंको केवल आत्मीय करके स्वरूपानन्दका दान करनेकेलिए दिया है. इसी कारणसे तीसरी कारिकामें यागके उपदेशको दूरके उपायरूपसे कहा है. ऐसा करनेसे अनन्य भक्तिमार्ग सिद्ध होता है. इन्द्रका अंश शेष रहने पर तो वह भक्ति अन्यसे मिश्रित ही रह

आती. आनुषंगिक(मध्यपतित) इन्द्रयागका भंग आदि सब कुछ भक्तोंकी काल-कर्म-स्वभावसे मुक्त होकर केवल भगवदीयता तथा भगवानकी अक्लिष्ट कर्मताकी सिद्धिकेलिए किया है. तात्पर्य यह है, कि भक्तिमार्गकी स्थापना और भगवानकी अक्लिष्टकर्मता सिद्ध हो इसी उद्देश्यसे यह लीला है. यह तीसरी कारिकाके उत्तरार्धमें कहा है.

इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम्।
दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः ।।१९।।

यों कहकर श्रीकृष्णचन्द्रने एक हाथसे गोवर्धन(पर्वत)को अचल करके लीलापूर्वक उठा लिया, जैसे कोई बालक खेलते-खेलते (बरसाती सांपकी छतरी) धरतीके फूलको धरतीसे उखाड़ ले।।१९।।

इस कारणसे भगवानने इस प्रकार विचार करके व्रजवासियोंमें विश्वास उत्पन्न कराने, विश्वासार्थ आनेवाले श्रुतिके विरोधको दूर करने, आधिदैविक सम्पत्ति सिद्ध करने तथा माया, गोवर्धन आदिको प्रबोध करानेकेलिए ऊपर कथित प्रकारसे कहकर गोवर्धनका उद्धरण किया यह 'इत्युक्त्वैकेन' इस श्लोकसे कहते हैं. इस गोवर्धनको ऊंचा धारण किया तो यह चल हो जायेगा. इसकी अचलता मिट जायेगी, तब तो इसके स्वरूपका नाश हो जायेगा; क्योंकि पर्वत तो अचल है. इसलिए एक हस्तसे गोवर्धनको अचल करके धारण किया यह सम्बन्ध है. गोवर्धन गायोंको बढानेवाला यह आधिदैविक नाम पहले ही सिद्ध किया हुआ है. वह चल भी हो, उसकी भी धारण करनेकेलिए एक हस्तसे पालन स्वरूपवाली एक क्रियाशक्तिसे अचलताका सम्पादन किया. यदि उसे अचल नहीं करते, तो भगवानकी सेवामें लगा हुआ भी गोवर्धन अचल न रहचर चल हो जाता. अथवा यह भी तात्पर्य है कि ऊंचे, नीचे, लम्बे विकृत गोवर्धनको एक हाथसे उठाया जा सकने योग करके फिर धारण किया. पर्वत उठानेमें भगवानको क्लेश होगा और ऐसा करनेका प्रयोजन भी क्या है? ऐसी शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि, 'लीलया' लीलासे ही उठा लिया. लीलामें होनेवाला क्लेश आनन्ददायक होता है, रस उत्पन्न करता है. लीलामात्रसे किया हुआ होनेसे उसमें क्लेश भी नहीं है.

यहां यह शंका होती है, कि भगवान् तो सबके ईश्वर हैं. वे किसी दूसरे प्रकारसे भी रक्षा करनेमें समर्थ हैं फिर इस अचल गोवर्धनको चल करके इसकी स्थितिमें परिवर्तन करके ऊंचा-ऊंचा उठाकर ही रक्षा क्यों की? इसका उत्तर

'छत्राकमिव बालकः' मूलमें इन पदोंसे किया है. जैसे बालक खेलते-खेलते वर्षामें उगनेवाली छतरीके आकारवाली सांपकी छतरीको उखाड़कर राजाकी सी लीला करनेकेलिए अपने शिर पर छत्ररूपसे रक्ख लेते हैं. ऐसा करने पर भी, वह बाललीला ही कहलाती है, नहीं तो मर्यादाका भंग दोषरूप होता. इसीलिए इन्द्र भी इस गोवर्धनोद्धरणको बाललीला जानकर निवृत्त नहीं हुआ; क्योंकि भगवानने अपना कोई सामर्थ्य प्रकट किया नहीं. छत्राकके दृष्टान्तसे यह सूचित होता है कि इस लीलामें भगवानको थोड़ा भी परिश्रम नहीं हुआ. वास्तवमें तो रक्षा भगवानने ही की. गोवर्धनको उठा लेनेसे भी रक्षा होती नहीं छत्राकसे कभी वर्षा रुक नहीं सकती. छत्राक तो वर्षासे नष्ट हो जाता है. इसलिए गोवर्धनका धारण करना भी रक्षा करनेमें मुख्य कारण नहीं है. इसी अभिप्रायसे, मूलमें यहां छत्राक(सांपकी छतरी)का दृष्टान्त दिया गया है. भगवानके गिरिराजका उद्धरण इस प्रकारसे किया कि बीचमें गढ्ढा, दोनों किनारे ऊंचे और गढ्ढेके अधिक भागमें उसकी छाया बनी रहे।।१९।।

टिप्पणी : 'इत्युक्त्वैकेन' श्लोककी व्याख्यामें 'विश्वासार्थ'का तात्पर्य यह है कि आगेके डेढ़ श्लोकसे भगवान् हमारी रक्षा करेंगे ही, व्रजवासियोंको विश्वास उत्पन्न किया. भगवानके कहनेसे इन्द्रयागका भंग करनेसे ही, यह उपद्रव आया है. इसलिए भगवान् इसका उपाय अवश्य करेंगे ही. यह 'स्वयागे निहते' गत पन्द्रहवें श्लोकमें कह आए हैं. व्रजवासियोंके विश्वास उत्पन्न होनेका कारण यह है, कि भगवानकी आज्ञासे भगवद् याग करने पर गोवर्धन देवके प्रत्यक्ष दर्शन हुए. यह 'कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं' इस गत अध्यायके पैंतीसवें श्लोकसे बतलाया जा चुका है. इन्द्रका दमन करते तो 'इन्द्रस्ययुज्यः' सखा (भगवान् इन्द्रके सहयोगी सखा हैं) इस श्रुतिसे विरोध आजाता. इस श्रुति विरोधको दूरकरनेकेलिए ही इन्द्रका दमन न करके उसके लक्ष्मी मदको दूर करना कहकर उसका हित करना ही बतलाया है.

सभी देवताओंका आधिदैविक स्वरूप भगवद्रूप है. इन्द्रका भी आधिदैविक स्वरूप भगवद्रूप ही है. उस आधिदैविक स्वरूपसे युक्त इन्द्रको मद कभी नहीं हो सकता. इसको मदके होनेसे ज्ञात होता है कि यह इन्द्र आधिदैविक स्वरूपसे रहित है. ऐसे इन्द्रका मानभंग उस आधिदैविक स्वरूप इन्द्रका सम्मत ही है. इसलिए 'न हि मद्भावयुक्तानां' यह कहा है. यदि

आधिदैविक इन्द्रको यह मानभंग अभीष्ट नहीं होता तो गत १७वें श्लोकमें भगवान् 'मदभावयुक्तानां' यह नहीं कहते. गोपाये स्वात्मयोगेन इन १८वें श्लोकके पदोंकी व्याख्यामें, माया और गोवर्धनके प्रबोधन करनेका अभिप्राय यह कहा है, कि पर्वतके धारण करनेमें योगमाया और गोपोंकी रक्षा करनेमें स्वात्मयोग साधन है. यहां व्याख्यामें 'माया गोवर्धनादीनां' आदि पदसे गिरिराज पर स्थित वृक्ष, पक्षी आदिको भी प्रबोध दिया. भगवान् यदि उन वृक्षों, पक्षियोंको प्रबोधन नहीं करते, तो वे पर्वतकी छायामें नहीं आते. तब तो उनका नाश होनेसे अनिष्ट ही होता. इसलिए उन वृक्ष पक्षियोंमें भी स्वयोग सूचित किया है, कि भगवानने अपने वाक्योंसे उनको भी प्रबोध किया. यदि ऐसा न मानें तो 'इत्युक्त्वा दधार' ऐसा कहकर धारण किया. यों कहकर रक्षा करना नहीं लिखते; क्योंकि यों बिना कहे भी गोवर्धनके धारणसे रक्षा तो सम्भव थी ही. फिर भी इन वचनोंके कहनेसे उन वृक्ष पक्षियोंको भी बोधन करना समझना चाहिये.

लेख: 'इत्युक्त्वा' इस श्लोककी व्याख्यामें 'पूर्व व्यवस्थापितः'(गोवर्धन यह आधिदैविक नाम पहले ही स्थापितकर दिया है) इन पदोंका अभिप्राय यह है, कि गत अध्यायके सैतीसवें श्लोक 'एषोऽवजानतो मर्त्यान्, शर्मणे गवाम्'में गायोंके कल्याणकेलिए भगवानने गोपोंसे इस गोवर्धनपर्वतको नमस्कार करवाया है. इस कथनसे इस पर्वतका गायोंकी वृद्धि करना सिद्ध है. अन्यथा आदि पदोंका तात्पर्य यह है कि यदि भगवान् गोवर्धनपर्वतमें अचलताका सम्पादन न करके उसे चलकर देते तो उसमें चलन धर्म प्रगट हो जाता. तब तो वह किसी अन्य कारणसे चलन नहीं भी करता तब भी वह स्वयं हरिदासोंमें उत्तम हरिदासवर्य होनेके कारण भगवानकी सेवामें प्रवृत्त होने पर चलन करने पर भी उसमें भगवानके द्वारा की हुई अचलताको दूर नकर देनेवाली सेवाएं ही गोवर्धन करे. इसकी उस सेवाका स्वरूप वेणुगीतमें 'पानीयसूयवसकन्दर कन्दमूलैः' जल, सुन्दर घास, कन्दमूल उत्पन्न करना कहा है. भगवानने अचलताका सम्पादन करके ही गोवर्धनको धारण किया. इस कारणसे उसमें चलत्व नहीं आया यह भाव है।।१९।।

अथाह भगवान् गोपान् हेऽम्ब तात व्रजौकसः।
यथोपजोषं विशत गिरिगर्तं सगोधनाः ।।२०।।

गोवर्धन पर्वतको ऊंचा धारण करके भगवानने गोपों और गोपियोंसे कहा हे माता, हे पिता, हे व्रजवासियों, आप सब अपने गोधन सहित इस गिरिराजके गढहेमें आकर सुखपूर्वक बैठिये।।२०।।

इस प्रकार गिरिराजको धारण करके अपने शरणागत व्रजवासियोंसे भगवानके कथनका वर्णन 'अथाह' इस श्लोकसे करते हैं. उपाय करनेके पश्चात् ही भगवानने समाधानके वाक्य कहे, पहले नहीं कहे यह बतलानेकेलिए यहां मूलमें 'अथ'(आनन्तर्य अर्थ बोधक) शब्द भगवानने कहा है. स्वयं भगवान् है. इसलिए श्रीकृष्णचन्द्रको इस लीलासे होनेवाले सारे परिणामका ज्ञान है. 'गोपान्' यह पद गोपोंकी धर्म परायणताका सूचक है. यदि वे धर्ममें परायण न होते, तो भगवानके वाक्य पर उनका विश्वास नहीं होता; क्योंकि वे पहले(इन्द्र कोपरूप) विपरीत क्लेशका अनुभव कर चुके थे. इसी आश्रयसे 'तान् प्रति आह' ऐसा न कहकर (सर्वनाम पदसे न कहकर) 'गोपान्' यह पद मूलमें कहा गया है उनमें स्वरूप भेद कहने और स्थान विशेषका निर्देश करनेकेलिए स्नेहके कारण भगवान् विशेषरूप सम्बोधन करते हैं हे माता! हे पिता! हे व्रजवासियों! इस प्रकार राजस, सात्विक, तामस, आदि प्रकारका निर्देश भी कर दिया और वह इस बातको सूचित करनेकेलिए भगवान् इन सबका पालन करते हैं. 'यथोपजोषं' यथा सुख इस गिरिगर्तमें प्रविष्ट हो जाओ. इस कथनसे यह बतलाया, कि सबके रहनेकेलिए यहां विशाल स्थान है. गायेंरूपी धनके अथवा गायें और धनके सहित इन पर्वतके नीचे गढहेमें ठहर जाओ।।२०।।

न त्रास इह वः कार्यो मद्धस्ताद्रिनिपातनात्।
वातवर्षभयेनालं तत्त्राणं विहितं मया ।।२१।।

आप लोग मेरे हाथसे इस पर्वतके गिर जानेका भय न करें. अब इस घोर वर्षा और प्रचण्ड आंधीसे भी आप लोगोंको कुछ भी भय नहीं है; क्योंकि उस विपत्तिसे बचानेकेलिए ही मैंने यह उपाय किया है।।२१।।

ऊपर मेरे हाथको देखकर आप लोग डरो मत यह इस, 'न त्रास इह' श्लोकसे कहते हैं. इस पर्वतके गढहेमें बैठे हुवे आप लोगोंको मेरे हाथसे पर्वत गिरनेका भय नहीं करना चाहिये; क्योंकि यह नहीं गिरेगा. यहां शंका होती है, कि एक तो वात, वर्षाका भय और दूसरा पर्वतके गिर जानेका भय इन दोनों उपस्थित भयोंमें एक भयको स्वीकार तो करना ही है तो फिर, वर्षाका ही भय क्यों न हो?

अर्थात् वर्षाके भयको ही अंगीकार भले हीकर ले? इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि प्रचण्ड पवन और घोर मूसलधार वर्षाका भय नहीं करना चाहिये. यहां 'अलं' शब्दका 'निवारण' अर्थ है. अर्थात् पर्वतके गिर जाने और वात, वर्षाके भयकी शंका ही नहीं करना चाहिये. निःशंक होकर इस गढहेमें पर्वतकी छायामें आ जाओ इसका प्रतिपादन करते हैं कि उस भयका उपाय मैंने किया है अथवा भयसे मैंने रक्षा की है. जो उपाय होता है वह कभी अनुपाय नहीं होता. वह उपाय भी 'मया' मैंने किया है. किसी भ्रान्त पुरुषने नहीं किया है. उपायकर दिया है, इसलिए अब कुछ कर्तव्य भी शेष नहीं है।।२१।।

तथा निर्विविशुर्गर्तं कृष्णाश्वासितमानसाः।
यथावकाशं सधनाः सप्रजाः सोपजीविनः ।।२२।।

इस प्रकार श्रीकृष्णके विश्वासपूर्ण वचनोंके द्वारा आश्वासित होकर व्रजवासी लोग अपने गोधन, पुत्रादि, सेवक, पुरोहित आदिके सहित सुखसे उस पर्वतके गढहेमें चले गये. सबने अपनी-अपनी सामग्री भी छकड़ोंमें भरकर वहीं रक्ख ली. किसीकेलिए स्थानकी कमी नहीं रही।।२२।।

तदनन्तर उन गोपोंने ही वही किया यह, 'तथा' इस श्लोकसे कहते हैं. पर्वतके गिर जानेका भय उनके मनमें अब थोड़ा भी नहीं था; क्योंकि भगवान् कृष्णने उनके मनको आश्वस्तकर(आश्वासन दे) दिया था. 'यथावकाशं' अर्थात् स्थानकी संकीर्णतासे नहीं. यहां इस, 'यथावकाशं' पदसे बीसवें श्लोकमें कहा गया सुखपूर्वक 'यथोपजोषं' रहना सिद्ध होता है. गायें, पुत्रादि, सेवक आदि, ब्राह्मण आदि सबके साथ उस गर्तमें चले गये. तब भगवान्(धर्मी) और उसके गुणों(छः धर्मो)की मर्यादाकी प्रतीक्षामें सात रात्रि तक वर्षा होती रही. यदि इसके आगे भी वर्षा होती ही रहती तो, इन्द्र और मेघोंका नाश ही हो जाता; क्योंकि सात रात्रिसे अधिक आगे भगवान् सहन न करते. इस कारणसे ही, जो कोई भगवदीयको जानकर अपकार करता है, तो वह सात रात्रि तक यह बाट देखता है, कि यदि इस अवधि(सात रात्रि)के बीचमें भगवान् उस भगवदीयकी रक्षाकर लेते हैं, तो मैं(अपकारकर्ता) भगवदीयका अपकार नहीं करूंगा. यदि इस अवधितक भगवानने उसकी उपेक्षाकर दी तो आगे भी अपकार करूंगा इस तरह सात रात्रि तक राह देखता है. बिना विचारे उपद्रव करनेवाला तो सात रात्रि तक ही उपद्रव करके देखता है, कि इस अवधि तक भगवदीय भक्त जीवित है तो वह

उपद्रव करना रोक देता है; क्योंकि उसको स्वयंके नाशका भय होता है. यह व्यवस्था सब स्थान पर ही समझने की है।।२२।।

लेख: तथा इस श्लोककी व्याख्यामें, 'प्रतीक्षार्थ' प्रतीक्षा करनेकेलिए. तात्पर्य यह है कि 'धर्मी और धर्म' इन सातोंमेंसे कोई एक भी उपेक्षाकर देता है तो मैं(इन्द्र) उपद्रव करता ही रहूंगा इस तरह सातोंकी प्रतीक्षा की. तदुपरि इसके आगे रक्षकके न होनेसे वे नष्ट ही हो जायेंगे. तब ता भगवान् उस उपद्रव कर्ताको ही नष्टकर देते हैं.

योजना: इस 'तथा निर्विविशुः' श्लोककी व्याख्यामें भगवतो गुणानां च प्रतीक्षार्थम् (भगवानकी और गुणोंकी प्रतिक्षा करनेकेलिए) कहे इन पदोंका तात्पर्य यह है जैसे कोई (अनेक) शक्तिवाला पुरुष अपनी शक्तियोंसे ही सब कार्य करता है और जैसे कोई अनेक आयुधवाला पुरुष सरलतासे इच्छानुसार एक-एक शस्त्रसे हिंसकोको भगाकर दीनोंकी रक्षा करता है, इसी प्रकारसे ऐश्वर्य आदि छः गुणोंसे युक्त भगवानने अपने प्रत्येक गुणसे एक-एक दिन उस वर्षा आदिके द्वारा हुए दुःखको दूर करके गोकुलकी रक्षा की. इस तरह छः दिन तक तो छः गुणोंसे रक्षा की और सर्व गुण सम्पन्न भगवानने धर्मीरूपसे सातवें दिन रक्षा की. रक्षामें इस तरह सात प्रकार हैं.

इन्द्र इस आशयसे सात दिनों तक वर्षा करता रहा, कि जैसे भगवानने प्रथम दिन ऐश्वर्य गुण द्वारा रक्षा की, इस प्रकार दो, तीन अथवा चार दिन रक्षा करके यदि भगवान् फिर उपेक्षाकर देंगे तो मैं वर्षासे व्रजका नाशकर ही दूंगा. यह है भगवान् और उनके गुणोंकी प्रतीक्षा करना. फिर आगे आठवें दिन वर्षा क्यों नहीं हुई? ऐसी शंका करके व्याख्यामें कहा है ''तदुपरि सहन नास्ति'' अर्थात् छः गुण और छः गुण पूर्ण धर्मी भगवान् इस तरह सात प्रकारसे की हुई रक्षाका इन्द्र अनादर करता और आठवें दिन भी वर्षा करता रहता, तो जैसे भगवानने छः दिन तक अपने छः गुणोंसे इन्द्रकृत अपमानको सहनकर लिया, इस तरह धर्मी स्वयंके आठवें दिन भी वर्षा करके इन्द्र द्वारा किए जानेवाले अनादरको आगे सहन न करनेसे आठवें दिन इन्द्रका नाश ही हो जाता. यह व्याख्यामें ''यदि अग्रेपि भवेत् म्रिये तैव इन्द्रः'' इन पदोंका भाव है. भगवान् इन्द्रको मारना नहीं चाहते थे, इसीलिए उसको आगे भी वर्षा करनेकी कुबुद्धि न देकर सद्बुद्धि प्रदान की. जिस सद्बुद्धिके कारण उसने सात प्रकारकी रक्षा

देखकर वर्षाका निवारणकर दिया. यह आगे ''सप्तमदिवसस्य रात्रि शेषे निवारणम्'' इन पदोंसे कहा जायेगा.

व्याख्यामें कहे 'अत एवं'से लेकर 'एवं व्यवस्था सर्वत्र' इत्यादि पदोंका स्पष्टीकरण करते हैं. विचारकर उपद्रवकारी तो पहले यह सोचता है, कि अमुक भगवद्भक्तने अपराध किया है; किन्तु इसको दण्ड देना चाहिये या नहीं देना चाहिये ऐसा सन्देह करके अन्तमें निश्चयकर लेता है, कि जिसकी रक्षाकेलिए भगवानने उपाय किया है उसको दण्ड नहीं देना चाहिये ऐसा निश्चय करके उस भगवद्भक्तके अपराधीको भी दण्ड नहीं देता है. इस तरह सात रात्रि तक यहां भगवान् और उनके गुणोंकी प्रतीक्षा है. यहां पर विचारकर उपद्रव करनेवाले तो देवता ही होते हैं; क्योंकि उनको भगवानके द्वारा होनेवाली भक्तोंकी रक्षाका तथा उपेक्षाका भी ज्ञान (हो जाता) रहता है. किसी साधारण पुरुषको ऐसा ज्ञान नहीं होनेसे वह विचारकर उपद्रव नहींकर सकता. इससे यह सिद्ध है कि सात रात्रियोंमें जब कभी भगवान् भक्तकी रक्षाकेलिए उपाय करते हैं, तब तो भगवानके द्वारा रक्षित उस भक्तका नाश असम्भव है, ऐसा समझकर, विचार कुशल तो भक्तोंका उपद्रव कभी नहीं करता है.

शंका होती है, कि जब कोई किसी भक्तका उपद्रव करेगा तब ही तो भगवान् उसकी रक्षा करेंगे. पहले ही कैसे ज्ञान हो जायेगा कि भगवानने रक्षा की या उपेक्षा? इसका उत्तर यह है, कि उपद्रवकी सम्भावना मात्रसे ही, भक्तकी रक्षाकेलिए भगवान् पहले ही रक्षाका उपायकर देते हैं. 'प्राग्दिष्टं भक्तरक्षायां' (९।४।४८) इस श्रीशुकदेवजीके वाक्यसे भक्त अम्बरीष राजाकी रक्षाकेलिए सुदर्शन चक्रका स्थापन भगवानके द्वारा पहिले स्थापन करना सिद्ध होता है. इस भगवानके द्वारा की हुई भक्तोंकी रक्षाका ज्ञान देवताओंको अलौकिक रीतिसे हो ही जाता है. इसीलिए तो चित्तसे भगवानका स्मरण करनेवालों और स्मरण न करनेवालोंका ज्ञान यमदूतोंको भी हो जाता है. तब ही तो भगवानका स्मरण न करनेवालोंको ही यमलोकमें ले जाते है. भगवानका भजन करनेवालोंको नहीं ले जाते. छठे स्कन्धमें यमराजने भी दूतोंसे जीभसे भगवानका नाम न लेनेवाले, चित्तसे स्मरण न करनेवाले, मस्तकसे एक बार भी भगवानके चरणोंमें प्रणाम न करनेवाले तथा भगवत्सम्बन्धी कुछ भी कार्य न करनेवाले असत् पुरुषोंको ही यमलोकमें लानेका आदेश किया है. इससे सिद्ध

हैं, कि देवता आदिको अलौकिक प्रकारसे भगवत्कृत रक्षा किंवा उपेक्षाका ज्ञान है. इस प्रकार ''विचार्योपद्रवकर्ता तु सप्तरात्रं प्रतीक्षते'' विचारकर उपद्रव करनेवाले देवता ही समझने चाहिये, क्योंकि उनकी अलौकिक दृष्टि है. व्याख्यामें 'अविचार्योपद्रवकर्ता तु' इत्यादिका तात्पर्य यह है कि बिना विचारके उपद्रव करनेवाले तो इस इन्द्रके समान है. यहां जो यह कहा गया है, कि विचारकर उपद्रव करनेमें सात रात्रि तक ही प्रतीक्षा करता है और बिना विचारे उपद्रव कर्ता सात रात्रि तक ही उपद्रव करता है, उसमें ऐसा ही नियम नहीं है; किन्तु प्रतीक्षा करने तथा उपद्रव करनेकी सात रात्रियां परम अवधि होती हैं यह समझना चाहिये।।२२।।

क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां हित्वा तैर्व्रजवासिभिः।
वीक्ष्यमाणो दधावद्रिं सप्ताहं नाचलत् पदात् ।।२३।।

भगवान् कृष्ण भूख-प्यासकी व्यथा, सुख-विश्रामकी अपेक्षाको त्यागकर, सात दिन तक बराबर इसी तरह गोवर्धन पर्वतको उसी हाथ पर धारण करते रहे. एक पग भी इधर-उधर नहीं हटे. सभी व्रजवासीजन आश्चर्यपूर्ण दृष्टिसे भगवानकी ओर एक टक निहारते रहे।।२३।।

भगवान् सात रात्रि तक पर्वतको उसी प्रकार धारण किये खड़े रहे, यह 'क्षुत्तृड्व्यथां' इस श्लोकमें कहते हैं. भूख, प्याससे होनेवाली पीड़ाको सहनकर सुख और निद्रा आदिकी अपेक्षाको त्यागकर उन व्रजवासियोंको दर्शन देते हुवे भगवानने पर्वतको धारण किया. 'अद्रि'(जो विदीर्ण न हो) वह अद्रि भी वर्षासे मध्यमें विदीर्ण नहीं हुआ और भगवान् भी, एक पेंड भी नहीं चले. मूलमें 'क्षुत्तृड्व्यथां' पदका, 'हित्वा' पदके साथ ही सम्बन्ध है. अर्थात् भगवानके दर्शनसे अथवा भगवानने अन्नकूटमें किये अन्नके भोजनसे भूख, प्यासका त्यागकर दिया. यदि ऐसा नहीं होता तो गोपजनोंको धैर्य कैसे रहता? इस प्रकार सात रात्रि तक पर्वत धारण करके उन व्रजवासियोंको सबसे अलग करके अपने(स्वीय) ही किये यह निरूपण किया.

देव, ऋषि, पितर, आत्मा, आत्मीय(पुत्रादि), ऐहिक(स्वदेह सम्बन्धी), पारलौकिक(यागादि धर्म) ये सात प्राणोंके अंग होते हैं. यदि इन सातोंमेंसे, कोई एक भी अंग व्रजवासियोंकी रक्षाकर लेता, तो वे उसीके हो जाते; किन्तु जब वे सारे ही रक्षा करनेमें असमर्थ अथवा विरुद्ध हो गये, तब

व्रजवासियोंका उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहा. इसीलिए प्राणका धर्म(भूख प्यास) और अन्तःकरणका धर्म (सुखकी अपेक्षा) दोनोंका त्याग करना कहा है; क्योंकि ये सब उनके भगवद्भावमें बाधक थे. इस कथनसे यह सूचित किया, कि उन व्रजवासियोंको तब भगवानके स्वरूपके अतिरिक्त किसीका भी स्मरण नहीं हुआ और यह भी, कि भगवानके द्वारा की हुई रक्षाका यही माहात्म्य है. भगवानके वीक्षणसे इसी समय(शीघ्र) रक्षा हो जायेगी और आगे इससे सुख मिलेगा ऐसा विचार करके यदि वे भगवानके दर्शन करते. तो, वह दर्शन रक्षा और सुखका अंगभूत(गौण) हो जाता. तब तो वह रक्षा भक्तिमार्गीय रक्षा नहीं होती तथा सब ही विपरीत हो जाता. ऐसा न हो इसीलिए मूलमें 'तैः'(उनने) पहले ही यह पद कहा है. इससे इस रक्षामें कारण एक मात्र उनकी भगवदधीनता ही समझना चाहिये; क्योंकि परम्परासे चले आये(किये जानेवाले) इन्द्रयागका भी त्याग पहले भगवानके कथनसे ही ये कर चुके थे. 'दधौ' इस क्रियापदके धारण और पोषण दोनों अर्थ हैं. इससे पर्वतका धारण करना और गोकुलकी रक्षा करना दोनों ही समझने चाहिये. 'सप्ताहं' यह अत्यन्त संयोगमें द्वितीया विभक्ति है. इससे सात दिन और धारण दोनोंका अत्यन्त निकटका सम्बन्ध सूचित होता है. मूलमें 'अहः' शब्द रात-दिन दोनोंका वाचक है. पर्वतमें अचलताको स्थापन करनेकेलिए एक पग भी इधर-उधर नहीं हटे. पांवका कार्य चलना सहज है इसलिए यह निरूपण किया है।।२३।।

लेख : 'क्षुतृड्व्यथां' इस श्लोककी व्याख्यामें 'हित्वा' इस मूल पदका ही अर्थ सोढ्वा(सहन करके) यह किया है. इसलिए यहां 'सोढ्वा' इस पदका अध्याहार नहीं है; क्योंकि आगे व्याख्यामें ऐसा ही सम्बन्ध वर्णित है.

योजना : 'क्षुतृड्व्यथां' यहां भूख प्यास जनित व्यथाकी निवृत्तिके उपायकी असम्भावनामें 'सोढ्वा'(सहन करके) पदका अध्याहार समझना चाहिये. अथवा अन्यपदका('सोढ्वा'का) अध्याहार करनेमें दोषकी शंका करके दूसरी तरहसे व्याख्या करते हैं कि 'क्षुतृड्व्यथां' पदका सम्बन्ध 'हित्वा' पदके साथ ही है. तब अर्थ यह है कि भूख प्यासकी व्यथाका त्याग करके सात दिन तक पर्वत धारण किए रहे. व्रजवासियोंकी भूख तथा प्यास की व्यथा भगवानके दर्शन अथवा भगवानके द्वारा आरोगे गए भोजनसे दूर हो गई. 'वीक्ष्यमाणः' इस मूलस्थ पदसे उनकी भगवानमें आसक्तिका निरूपण किया है. भगवानमें

आसक्ति हो जाने पर प्रपञ्च जगतकी विस्मृति स्वतः हो जाती है. प्रपञ्च विस्मृतिपूर्वक चित्त वृत्तिका भगवानमें निरोध ही इस दशमस्कन्धका अर्थ है. जब सारे ही प्रपञ्चका विस्मरण हो जाता है, तब भूख, प्यासकी याद कैसे रह सकती है? इसी अभिप्रायसे मूलमें 'हित्वा'(त्यागकर) पद दिया है.

अथवा–'अन्न भोजनेन वा' भगवानके अन्नकूटके भोजनसे व्रजवासियोंकी भूख, प्यास, सुखकी अपेक्षा दूर हो गई, वे सब तृप्त हो गये क्योंकि भगवानके भोजनकर लेने पर सारी त्रिलोकी ही तृप्त हो जाती है. इसीलिए 'शाकान्नशिष्टमुप भुज्य'(१।१५।११) भगवानके शाकान्नके शेष भागके भोजनसे शिष्यों सहित मुनि दुर्वासाजीकी तृप्तिके साथ त्रिलोकीके तृप्त हो जानेका वर्णन है.

''सप्ताङ्गानि प्राणिनो भवन्ति'' व्याख्यामें यहां 'प्राणिनः' यह पद षष्ठी विभक्तान्त है. प्राणी(जीव)के कल्याणमें ये देव, ऋषि आदि व्याख्यामें कहे गए सात अंग हैं. आत्मा भी अपनी शक्तिसे अपना हितकर सकती है. इन सातों अंगोंसे रक्षा न होने पर व्रजवासियोंको इन पर प्रीति नहीं रही; किन्तु उनकी रक्षा करनेवाले श्रीगोवर्धनधर पर ही उनकी प्रीति उत्पन्न हो गई.

''सप्ताहं ना चलत् पदात्''की व्याख्यामें 'गतिः पादस्य सहजा', इत्यादि पदोंका अभिप्राय यह है कि व्रजवासियोंने जैसे भगवानकेलिए सहजधर्म भूख प्यासका त्यागकर दिया था, उसी प्रकार भगवानने उनकेलिए पांवके सहजधर्म गतिका त्यागकर दिया, क्योंकि गीतामें ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'' स्वयं भगवानने कहा है कि ''भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उन्हें उसी प्रकारसे भजता हूं।।२३।।

कृष्णयोगानुभावं तं निशम्येन्द्रोऽतिविस्मितः।
निःस्तम्भो भ्रष्टसङ्कल्पः स्वान् मेघान् सन्न्यवारयत्।।२४।।

श्रीकृष्णके इस अद्भुत योगके प्रभावको देखकर; इन्द्रको बड़ा विस्मय हुआ. उसका सारा संकल्प भ्रष्ट हो गया. तब तो उसने अभिमानहीन होकर मेघोंको पानी बरसानेसे पूर्णतया रोक दिया।।२४।।

तब तो युद्ध करनेको आकर भी, इन्द्रने भगवानके अलौकिक प्रभावको देखकर, भयभीत हो मेघोंको वर्षा करनेसे रोक दिया. यह, 'कृष्णयोगानुभाव' इस श्लोकसे कहते हैं. केवल लीलाकेलिए ही अवतार धारण करनेवाले सारे योगोंके

अधिपति तथा सदा एकरस स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके उस गोवर्धनका धारणरूप अनुभाव(प्रभाव)को मेघोंसे सुनकर, इन्द्रको बड़ा विस्मय हुआ उसका गर्व और मनोरथ भी भग्न हो गया. तब तो उसने अपने उत्कर्ष और व्रजके नाशकर देनेके संकल्पको त्यागकर मेघोंको सर्वथा रोक दिया।।२४।।

खं व्यभ्रमुदितादित्यं वातवर्षं च दारुणम्।
निशम्योपरतं गोपान् गोवर्धनधरोऽब्रवीत्।।२५।।

उसी समय आकाशमें एक भी मेघ नहीं रहा. वह प्रचण्ड आंधी और वर्षा भी रुक गई. सूर्यदेव भी निकल आये यह देखकर गिरिधारी श्रीकृष्णने गोपोंसे कहा।।२५।।

पीछे क्या हुआ? यह, 'खं व्यभ्रं' इस श्लोकसे कहते हैं. सातवें दिनकी रात्रिके कुछ शेष रहने पर(पिछली रातमें) मेघोंका निवारण हुआ. आकाशमें एक भी मेघ नहीं रहा. सूर्यनारायण उग आये. इस प्रकार व्रजके ऊपर होती (हुई) वर्षाको रुकी (हुई) जानकर भगवान् गोवर्धनको धारण किये हुवे बोले. वह वर्षा प्रचण्ड आंधी तथा पाषाणमयी थी. मेघ दारुण नाशकर देनेवाले थे. इन सबको शान्त देखकर भगवानने सदैव अनन्यधर्म परायण गोपजनोंसे कहा।।२५।।

निर्यात त्यजत त्रासं गोपाः सस्त्रीधनार्भकाः।
उपारतं वातवर्षं व्युदप्रायाश्च निम्नगाः।।२६।।

हे गोपगण! भय छोड़ दो. अब आंधी और वर्षाका चिह्न भी नहीं रहा. बरसाती नदियां उतर गई. तुम अपनी-अपनी धन सम्पति, स्त्रियों और बालकोंको लेकर बाहर निकलो।।२६।।

भगवानके वचन, 'निर्यात' इस श्लोकसे कहते हैं. अब वायु और वर्षाके भयको छोड़ दो. हे गोपाः! इस सम्बोधनसे सूचित किया कि गायोंका पालन आवश्यक है; इसलिए बाहर निकलो. पहले बाहर यह सब देखकर ही सब सामग्रीको गढहेसे बाहर ले जाएं? इस शंकाका निवारण करते हुवे भगवानने कहा, कि स्त्रियों, धन और बालकों सहित ही बाहर निकल जाओ; क्योंकि वायु और वर्षा बन्द हो चुकी है. छोटी-छोटी नदियां प्रायः सुख गई है. कहीं-कहीं गहरी जगह पर ही जल है, ओर जगह पर नहीं है. इस प्रकारसे वे गोप लोग स्वयं जिज्ञासा (विचार) नहींकर सकते थे. इसलिए भगवानने यह स्वयं ही कहा।।२६।।

ततस्ते निर्ययुर्गोपाः स्वं स्वमादाय गोधनम् ।
शकटाटोपकरणं स्त्रीबालस्थविराः शनैः ।।२७।।

तब स्त्रियों, बालकों और बूढ़ोंके साथ–सब गोपलोग अपने–अपने गोधनको आगे लिए हुए और छकड़ोंमें सब सामान लादकर धीरे–धीरे गिरिराजके गढहेसे बाहर निकल आये।।२७।।

जिस प्रकार प्रवेश किया था, वे उसी तरह बाहर निकल आये यह, 'ततस्ते' इस श्लोकसे कहते हैं. अपना–अपना गोधन लेकर बाहर निकलनेके इस मूलस्थ वर्णनसे यह सूचित किया है कि इस गर्तमें वे सब अलग–अलग ही रह रहे थे. छकड़ोंको सजाकर उनमें अपनी सारी वस्तुएं भरकर बड़ी धूमधामसे वे बाहर निकले. वे अब निर्भय और बड़े प्रसन्न थे. इस कथनसे यह सूचित किया, कि वे सब आनन्द विभोर थे. फिर अन्य स्त्रियां, बालक और वयोवृद्ध सभी निश्चिन्त होकर धीरे–धीरे बाहर निकले।।२७।।

भगवानपि तं शैलं स्वस्थाने पूर्ववत् प्रभुः ।
पश्यतां सर्वभूतानां स्थापयामास लीलया ।।२८।।

प्रभु सर्व शक्तिमानने भी सबके सामने ही गिरिराजको पहलेकी तरह लीलापूर्वक उसी स्थान पर स्थापितकर दिया।।२८।।

उन सबके बाहर निकल आने पर भगवानने भी गिरिराजको पहलेके स्थान पर ही रक्ख दिया. यह 'भगवानपि', इस श्लोकसे कहते हैं. ज्योंही वे सब व्रजवासी अपने–अपने कामकेलिए गढहेसे बाहर हो गये, भगवानने भी उस पर्वतको उसीके स्थान पर पहले जैसे ही ज्योंका त्यों करके स्थापनकर दिया. यदि यों भी कहा जाये कि धारण करते समय तो पर्वतको अधिक लम्बाकर दिया था और स्थापन करते समय उसका संकोचकर दिया था, तो भी इस 'पूर्ववत्' कथनसे उसका यथा स्थान स्थापन ही लक्षित होता है. यहां पर्वतको उठाने और पीछे उसी स्थान पर रक्ख देनेमें थोड़ा भी माया(कपट) नहीं थीं; क्योंकि मूलमें ही, सब प्राणियोंके देखते हुवे पर्वतका पहलेकी तरह ही स्थापन करना लिखा है. जैसे हाथमें लिये किसी पात्रको यथा स्थान रक्ख देते हैं, उसी प्रकार लीलापूर्वक उसी पहले स्थान पर ही रक्ख दिया।।२८।।

तं प्रेमवेगान्निभृता व्रजौकसो यथा समीयुः परिरम्भणादिभिः ।
गोप्यश्च सस्नेहमपूजयन् मुदा दध्यक्षताद्भिर्युयुजुः सदाशिषः ।।२९।।

प्रेमके प्रवाहसे पूर्ण, सभी व्रजवासी श्रीकृ ष्णके निकट आए और यथायोग्य प्रणाम, आशीर्वाद, आलिंगन आदिसे उनका सत्कार करने लगे. गोपियोंने भी आनन्दसे स्नेहपूर्वक दहीं, अक्षत और जलसे भगवान् श्रीकृष्णका पूजन और मांगलिक(शुभ) आशीर्वाद दिए।।२९।।

यद्यपि यह रक्षण भगवानने लीलापूर्वक ही किया था; तो भी लोकमें यह प्रसिद्ध न हो, तो यह लीला न रहे. इसलिए भगवानके माहात्म्यको देख लेनेके पीछे भी, व्रजवासियोंकी स्थिति(प्रीति) भगवानमें पहले जैसी ही रही. यह, 'तं' इस श्लोकसे कहते हैं. ज्यों ही भगवानने पर्वतको पीछे रक्खा, उसी समय गोपजन अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार आलिंगन आदि करनेकेलिए भगवानके पास आये; क्योंकि वे ऐसा करनेकी प्रतिक्षा ही कर रहे थे. उनके हृदयमें प्रेमका प्रवाह उमड़ रहा था. हृदयमें रहा पूर्ण प्रेम उमड़कर बाहर निकल जाता है. वह प्रेमका वेग है. इसीसे, प्रत्येक गोपजनने यथोचित आशीर्वाद, प्रणाम, आलिंगन आदि किये.

प्रेम विभोर व्रजदेवियोंने भी, गोपोंकी तरह ही भगवानका सत्कार किया. उनके किये सत्कारमें विशेषताका वर्णन करते हैं, कि उन्होंने भगवानका स्नेहपूर्वक पूजन किया. वे व्रजभक्त भगवानको देव मानते थे. इसलिए उन्होंने लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकारसे ही अपने लौकिक वैदिक भावोंके द्वारा ही प्रेमपूर्वक भगवानका पूजन किया. 'मुदा' आनन्दमग्न होकर प्रीति पूजन करनेके कथनसे पूजामें उनका उत्साह सूचित होता है. उत्साहपूर्वक पूजन करनेके कारण ही लौकिक रीतिसे अन्यथा लौकिक बुद्धि उनकी उस पूजामें बाधक नहीं हो सकी. दही, अक्षत और जल ये तीनों पूजाके साधन कहे हैं. जल चरण धोनेकेलिए और दही अक्षत अलंकारकेलिए कहे गये हैं. अथवा जल मार्जन किं वा शुद्धिकेलिए अपेक्षित हैं. यह लौकिकी पूजा व्रजमें प्रसिद्ध है. व्रजमें लौकिक पूजामें दहीका तिलक करके उस पर अक्षत चिपकाते हैं. फिर नीरांजन(ऊपर जल घुमा)कर उस जलको पीते हैं. इस प्रकार भगवानका पूजन करके शुभ आशीर्वाद चिरायु होओ, हमारी रक्षा करते रहो इस प्रकार दिये. हम बड़े हैं यह हमारा अधिकार है ऐसा मानकर ये आशीर्वाद नहीं दिये थे; किन्तु सन्तुष्ट होकर ही दिये थे; क्योंकि वे भगवानको देवरूपसे जान चुके थे।।२९।।

यशोदा रोहिणी नन्दो रामश्च बलिनां वरः।
कृष्णमालिङ्ग्य युयुजुराशिषः स्नेहकातराः ।।३०।।

स्नेहसे विह्वल नन्दजी, यशोदाजी, रोहिणीजी और महाबलशाली बलभद्रजीने श्रीकृष्णको गलेसे लगाकर शुभ आशीर्वाद दिए।।३०।।

इस प्रकार साधारण सत्कारका वर्णन करके (यशोदादि चारोंके द्वारा किये) चार श्लोकोंसे विशेष सम्मानको 'यशोदा' इस श्लोकसे कहते हैं. स्त्रियोंमें स्नेह अधिक होता है. इसीसे यहां श्लोकमें पहले स्त्रियोंका निर्देश किया है. इसी क्रमसे स्नेहकी अधिकता, न्यूनता भी जान लेनी चाहिये. मूलस्थ 'च' शब्दसे श्रीदामा आदिका ग्रहण है. बलभद्रके यहां इस 'बलिनां वरः' बलवानोंमें श्रेष्ठ विशेषणका आशय यह है कि भगवानकी यह लीला ऐसे बलरामजीको भी आश्चर्य करनेवाली हुई. श्लोकमें वर्णित ये सब अन्तरंग और भगवानसे बड़े थे. इसलिए इन सबने स्नेहसे विह्वल होकर भगवानका आलिंगन किया और आशीर्वाद दिये।।३०।।

दिवि देवगणाः साध्याःसिद्धगन्धर्वचारणाः।
तुष्टुवुर्मुमुचुस्तुष्टाः पुष्पवर्षाणि पार्थिव ।।३१।।

स्वर्गमें देवगण, साध्य, सिद्ध, गन्धर्व, चारण आदि श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे, प्रसन्न होकर पुष्पोंकी वृष्टि करने लगे।।३१।।

भगवानके माहात्म्यको देखकर देवगणने भी अपने अपराधको क्षमा (निवृत्त) करानेकेलिए जो उत्सव कार्य किया उसको, 'दिवि' इस श्लोकसे कहते हैं. देवगण अर्थात् वसु आदिक. देवोंमें किसी एक विरले भक्तने स्तुति की होगी? इस शंकाकी निवृत्तिकेलिए मूलमें गण शब्दका प्रयोग है. साध्य भी देवोंका एक भेद है. इसी तरह सिद्ध, गन्धर्व, अप्सरा और चारणोंने भी स्तुति तथा पुष्पोंको वृष्टि की. ये सब ही सन्तुष्ट हुवे. इस प्रकार देवोंके वाचिक, कायिक, मानसिक कर्तव्योंका वर्णन किया है. पार्थिव! यह सम्बोधन(से) राजाको यह बतलानेकेलिए है, कि राजा लोग भी जब कोई बड़ा काम करते हैं, तब उनके वशीभूत मनुष्य भी उनकी इसी प्रकार स्तुति आदि करते हैं।।३१।।

लेख: मूलमें गन्धर्व शब्द अप्सराओंका भी बोधक है क्योंकि ''रूपमिति गन्धर्वाः, गन्ध इति अप्सरसः'' (गन्धर्वोंमें रूप और अप्सराओंमें गन्ध होता है) इस श्रुतिमें इन दोनोंका सहभावका वर्णन है।।३१।।

शङ्ख दुन्दुभयो नेदुर्दिवि देवप्रणोदिताः।
जगुर्गन्धर्वपतयस्तुम्बुरुप्रमुखा नृप ।।३२।।

स्वर्गमें देवगण शंख, दुन्दुभि आदि बाजे बजाने लगे और तुम्बुरु आदि श्रेष्ठ गन्धर्वपति भगवानका गुणगान करने लगे।।३२।।

ऊपर इन्द्रके साथ आये हुवे. देवगणोंके किये हुवे उत्सवका वर्णन करके (स्वर्गमें रहे हुवे देवोंने उत्सव नहीं किया होगा? इस शंकाकी निवृत्तिकेलिए) यहां नहीं आये देवोंका उत्सव करना, 'शंख' इस श्लोकसे कहते हैं. शंख और दुन्दुभियां बजीं. शंखोंका शब्द वैदिक और दुन्दुभियांका लौकिक है. इसलिए यहां दोनोंका निर्देश किया है. ये अपने आप स्वयं बजने लगे तथा देवोंके बजानेसे बजे. गन्धर्व आदिके पति विश्वावसु आदि हरि गुणगान करने लगे. गन्धर्व पतियोंमें विश्वावसु, तुम्बुरु और नारद ये तीन प्रधान हैं. इनमें मध्यम तुम्बुरुका यहां निरूपण किया है; क्योंकि यह विश्वावसु और नारद दोनों स्वरूप है. फिर यहां 'नृप' यह सम्बोधन यह सूचित करता है कि श्रीशुकदेवजीको इस प्रकारसे दर्शन हुवे हैं. इसलिए राजाको उनके कथन पर विश्वास रखना उचित है।।३२।।

ततोऽनुरक्तैः पशुपैः परिश्रितो राजन् स गोष्ठं सबलोऽव्रजद्धरिः ।
तथाविधान्यस्य कृतानि गोपिका गायन्त्य ईयुर्मुदिता हृदिस्पृशः ।।३३।।

इसके पीछे अपने अनुरक्त भक्त गोपोंके बीचमें विराजमान बलदेवजी सहित भगवान् श्रीकृष्ण व्रजमें चले गये. इसी तरह समय-समय पर किये श्रीकृष्णके मनोहर चरितोंका आनन्दपूर्वक गान करती हुई गोपियां भी व्रजको चली गई. उन्होंने हृदयमें भगवानका स्पर्श किया।।३३।।

इस प्रकार भगवानकी लीलाका वर्णन करके 'ततः' इस श्लोकसे उपसंहार करते हैं. देव, गन्धर्व आदिके शब्दों स्तुति वाक्यादिके सुननेके अनन्तर भगवान् अत्यन्त अनुरागी गोपोंके (मध्यमें ही) झुण्डसे घिरे हुवे गोकुलमें पधारे. आप हरि हैं, गोकुलका दुःख दूर करनेकेलिए आपने अवतार लिया है. गोपोंके झुण्डके बीच घिरे हुवे भगवानके पधारनेके कथनसे यह बतलाया कि गोपोंको गायें चराने जानेसे रोक दिया था; क्योंकि गायोंको उनकी अपेक्षा नहीं थी. इस कारण अनुरागकी अधिकता वश गोपोंसे घिरे हुवे ही भगवान् पधारे. 'राजन्' यह सम्बोधन पूर्ववत् विश्वासार्थ प्रयुक्त हुआ है. बार-बार सम्बोधनका प्रयोग अक्लिष्टकर्मा भगवानको इस लीलामें स्वल्प भी क्लेश न होनेका सूचक है. वे भगवान् स्वयं सर्वसमर्थ होकर भी और फिर बलशाली बलदेवजीके साथ होते हुवे भी गोकुल जैसे आपके बिराजनेके अयोग्य(हीन) स्थानमें ही पधारे क्योंकि आप

गोकुलके दुःखहर्ता हैं.

अथवा ऐसे सर्व शक्तिमान् भगवानका द्वारकाकी तरह यहां ही कोई सर्वोत्तम स्थान निर्माणकर उसमें रहना उचित था; किन्तु गोष्ठ(गोकुल)में बिराजना योग्य नहीं था. इसीलिए 'सः' सर्वसमर्थ भी भगवानका गोकुलमें (ऐसी लीलाएं करनेकेलिए) पधारना कहा गया है. 'ते ते धामानि' श्रुतियोंमें भगवानके वैकुण्ठसे भी उत्तम सहज स्थानका निरूपण है और वेदमें हरि नाम भगवानका प्रसिद्ध है. इससे वहीं पधारना उचित और आवश्यक भी है. वहांसे भगवान् व्रजमें इस तरह पधारे, जैसे कोई राजा किसी दूसरे स्थान पर कार्य करके अपनी राजधानीमें लौट आता है यह सूचित करनेकेलिए, 'राजन्' सम्बोधन किया है. गोपीजनोंको जाते समय, भगवानका संग नहीं हुआ होगा? ऐसी शंकाके समाधानमें कहते हैं, कि गोवर्धन धारणरूप इस लीलाके समान इसी रूपसे की हुई पूतनाके प्राण तथा स्तन्यपान आदि लीलाओंका गान करती गोपिकाएं भी, भगवानके साथ ही, व्रजमें गई. उन्हें विशेष ज्ञान नहीं था. इसलिए वे चरित्रोंका गान ही करती गई. वहां जानेवालोंको संसार निवृत्ति हो गई थी यह इस 'मुदिताः' पदसे ज्ञात होता है. मुदित पदसे उनके पूर्व दुःखको निवृत्त होना सूचित होता है. इस प्रकार भगवानकी अद्भूत लीलाओंका दर्शन करनेसे गोपोंका अब भगवान् पर माहात्म्यज्ञान पूर्वक अतिशय स्नेह हो गया. अतः अब ये भगवानके निकट जानेसे गोपीजनोंको नहीं रोकेंगे और यदि प्रतिबन्ध करेंगे भी तो भगवान् तत्काल ही अद्भुत रीतिसे हमारी रक्षा करेंगे ही, ऐसा समझकर भी गोपीजन आनन्दित हुई. 'हृदिस्पृशः' वे भगवानके हृदयमें स्पर्श करनेवाली अथवा (अपने) हृदयमें भगवानका स्पर्श करनेवाली हुई. इस कथनसे गोपिकाओंके दूसरोंकी अपेक्षा अधिक अन्तरंग संगका वर्णन किया. इस प्रकार दुःख निवृत्तिपूर्वक भगवदासक्तिका निरूपण किया गया।।३३।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध पूर्वार्धके २२वें अध्यायकी (प्रचलित क्रमानुसार २५की) श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण कृत श्रीसुबोधिनी 'संस्कृत टीका'के तामस साधन अवान्तर प्रकरणका चौथा अध्याय

हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

अध्याय २३

श्रीनन्दरायजीसे गोपोंकी श्रीकृष्णके प्रभावके विषयमें वार्तालाप

अज्ञानम् अन्यथाज्ञानं कृष्णगं विनिवार्यते।
त्रयोविंशे समत्वाय निरुद्धानाम् अशेषतः ।।का.१।।

कारिकार्थ: तेईसवें अध्यायमें निरोध प्राप्त व्रजवासियोंके कृष्णके विषयमें अज्ञान तथा अन्यथा(विपरीत) ज्ञानको दूर किया जाता है; क्योंकि गोवर्धन पर्वतके उद्धरणसे किया हुआ (उनका) निरोध उन सबका समान है।।१।।

टिप्पणी : 'कृष्णगं' (कृष्ण विषयक) समत्वाय गोवर्धनका उद्धरण करके किया निरोध सब व्रजवासियोंका समान है यह बतलानेकेलिए निरूपण किया जाता है.

पूर्वपक्षश्च सिद्धान्तः फलं चेति निरूप्यते।
अप्राकृतत्वं सम्बन्धो द्वयं स्थाप्यम् इहोक्तिभिः ।।का.२।।

इस अध्यायमें पूर्वपक्ष 'ततो नो जायते'

शंका: अर्थात् शंकाका और सिद्धान्त 'श्रूयतां मे वचो गोपाः' इत्यादिसे समाधानका और मुदितानन्दमा, नर्चुः कृष्णं च गतविस्मयाः इत्यादिसे गोपोंके विस्मयका दूर होनारूप फलका निरूपण किया जाता है. इसमें वचनोंके द्वारा भगवानमें अप्राकृतता(अलौकिकता) तथा गोपोंके साथ सम्बन्ध (नन्द पुत्रत्वरूप) भी दोनोंको स्थापित किया जायेगा।।२।।

विरोधात् प्राकृतत्वेन सम्बन्धस्त्यज्यते पुरा।
जातस्तादृश एवात्र न सन्देहस्तथा परः ।।का.३।।

कारिकार्थ: गोप स्वयं प्राकृत हैं, प्राकृतोंके साथ अप्राकृत भगवानके दैहिक सम्बन्धको असंगत(विरुद्ध) मानकर पहले पूर्वपक्षमें सम्बन्धका त्याग कहा जायेगा. फिर यह बालक अप्राकृत अद्भुतकर्मा ही प्रकट हुआ है इत्यादि गर्गोक्त नन्दजीके वाक्योंसे सन्देहकी निवृत्तिरूप सिद्धान्त समाधानका वर्णन किया है।।३।।

टिप्पणी: व्रजवासीजन स्वयं प्राकृत हैं और भगवान् अप्राकृत ही प्रकट हुए हैं यहां भगवानमें अप्राकृतता और व्रजवासियोंके साथ नन्दपुत्ररूपसे दैहिक सम्बन्ध दोनोंका (विरुद्धधर्माश्रयताके कारण) विरोध नहीं होनेसे, सन्देहकी निवृत्ति हो

जानारूप सिद्धान्तका वर्णन होगा।।३।।

माहात्म्यदर्शनं हेतुः पूर्वपक्षे तथापरे।
गर्गवाक्यानि तज्ज्ञानं फलम् इत्येष निश्चयः ।।का.४।।

कारिकार्थः व्रजवासियोंको भगवानका माहात्म्य देखकर सन्देह हुआ था, कि ऐसे विचित्र चरित्रवाला बालक नन्दपुत्र कैसे हो सकता है? इस प्रकार उनके पूर्वपक्षमें सन्देह करनेमें भगवानका माहात्म्य दर्शन, कारण है. इसी तरहसे नन्दरायजीके द्वारा कहे गये, गर्गाचार्यजीके वाक्योंसे उनका वह सन्देह दूर होगा. इसलिए समाधान पक्षमें गर्गाचार्यजीके वचन कारण हैं. व्रजवासियोंको भगवानके स्वरूपका ज्ञान हो गया यही इन सबका फल है।।४।।

टिप्पणी : पूर्वपक्ष(सन्देह)में भगवानके माहात्म्यका दर्शन हेतु है. 'परे' सिद्धान्त पक्षमें गर्गाचार्यजीके वाक्य 'तथा' हेतु हैं. तज्ज्ञानं भगवानके स्वरूपका ज्ञान फल है. ऐसा यहां इस अध्यायमें निश्चय किया गया है।।४।।

श्रीशुक उवाच

एवंविधानि कर्माणि गोपाः कृष्णस्य वीक्ष्य ते।
अतद्वीर्यविदः प्रोचुः समुपेत्य सुविस्मिताः ।।१।।

श्लोकार्थः श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि हे राजन्! गोपगण भगवान् श्रीकृष्णके पराक्रम और महिमाको नहीं जानते थे, इसलिए उनके इस प्रकार अनेक अद्भुत चरितोंको देखकर उन्हें बड़ा विस्मय हुआ है. वे एक दिन श्रीनन्दजीके पास इकट्ठे होकर आए और कहने लगे।।१।।

व्याख्यार्थः गत अध्यायमें उन सब व्रजवासियोंका गोकुलमें आजानेका वर्णनकर दिया है. यहां आकर गोपोंके हृदयमें भगवानके विषयमें सन्देह हो गया. इस पूर्वपक्षका निरूपण करनेकेलिए पहले 'एवं विधानि' इस श्लोकसे उनके उद्योगका वर्णन करते हैं. श्रीकृष्णके इस गोवर्धनका उद्धरण आदि कई अद्भुत कार्योंको देखकर धर्मी भगवानके स्वरूपको नहीं जाननेवाले गोपोंको यह शंका हो गई, कि ये अद्भुत किंवा अलौकिक कार्य कोई हेतु बिना ही हो रहे हैं अथवा इनको करनेवाले धर्मी भगवान् स्वयं ही हैं. यदि ये विचित्र कार्य स्वयं धर्मी भगवानके ही किये हैं, तब तो यह नन्द(साधारण गोप)के पुत्र नहीं हो सकते? ऐसा निश्चय करके भगवानके ऐश्वर्य तथा क्रियाशक्तिको नहीं जाननेवाले, वे गोप लोग विस्मित विकसित मुख होकर सारे ही इकट्ठे हो नन्दजीके पास आये

और कहने लगे।।१।।

टिप्पणी : 'एवं विधानि' श्लोककी व्याख्यामें 'हेत्वभावेनैतत्कार्य' (हेतुके बिना ही यह कार्य हुआ है क्या) इन पदोंसे ज्ञात होता है, कि उन गोपोंकी बुद्धि अत्यन्त प्राकृत थी. इससे भगवानका माहात्म्य (सूचित होता है) अथवा हेतुरूपसे प्रतीत होनेवाले प्रभु और हेतु दोनोंमें परस्पर किसी एक दूसरेके अभावमें अर्थात् दोनोंके बिना यह कार्य नहीं हो सकता यह सूचित होता है.

बालकस्य यदेतानि कर्माण्यत्यद्भुतानि वै।
कथमर्हत्यसौ जन्म ग्राम्येष्वात्मजुगुप्सितम् ।।२।।

इस बालक कृष्णके सारे ही काम(चरित्र) बड़े ही अद्भुत है. हम ग्रामवासी गोपोंके घरमें, इसका जन्म कैसे हो सकता है? गोप जातिमें जन्म लेना स्वयं इसकेलिए योग्य नहीं जान पड़ता निन्दित है।।२।।

श्रीकृष्णके जो चरित्र हमने देखे हैं, वे तो बिना हेतुके नहीं हो सकते. इसलिए ऐसे अत्यन्त अलौकिक कार्य करनेवाला यह बालक, नन्दजीका पुत्र होने योग्य नहीं है यह इस 'बालकस्य' श्लोकसे कहते हैं. इसके इन अनेक अत्यन्त ही अद्भुत कार्योंको देखते हुवे हमें सन्देह होता है, कि ग्रामवासी हीन गोपोंमें कर्मग्रस्तकी तरह, महान् आत्माकेलिए निन्दित(निन्दाजनक) जन्म कैसे हुआ? चरित्रोंको देखते तो निश्चय होता है, कि यह बालक इन्द्रादिकी अपेक्षा भी महान् है, इससे हम अधम गोपोंके यहां (जन्म)अवतार कैसे लिया? अपनी इच्छासे कोई भी अपनी हीनता नहीं करता. यह कर्मोंके आधीन भी नहीं है, क्योंकि यह तो करने, न करने तथा विपरीत करनेमें समर्थ है. इसलिए यह स्वयं ही हीनताका द्योतक गोप जातिमें निन्दित जन्म लेनेके उचित नहीं है।।२।।

यः सप्तहायनो बालः करेणैकेन लीलया।
कथं बिभ्रद् गिरिवरं पुष्करं गजराडिव ।।३।।

जैसे गजराज कमलको उखाड़कर खेलते-खेलते ऊपर उठा लेता है, उसी प्रकार यह सात वर्षका बालक लीलापूर्वक बांए हाथसे इस भारी गिरिराजको उठाकर सात दिन तक एक पैरसे कैसे खड़ा रहा?

इस 'यः सप्तहायनः' श्लोकसे अलौकिक कर्मोंका वर्णन करते हैं. छः गुण और भगवान् तथा इनकी भिन्न-भिन्न चेष्टाएं सभी यहां आकर एकत्रित हो गई. इससे चेष्टारूप कालने एक ही हाथसे स्वयं सात वर्षका ही(भी) होकर

गिरिराजको सात दिन तक कैसे धारण करते रहा? इस पर भी लीलापूर्वक ही कभी अंगुलियों पर भी लिये रहा, वेणु बजाता 'अबिभ्रत' धारणकर रहा था. ये गोप तो जैसा देखते हैं, वैसा ही अनुवाद करते कहते हैं. इसीलिए यहां विशेष विचार करना नहीं है. गिरिराज भारी पर्वतको सहज ही उठा लेनेमें गजराजका कमलको उखाड़कर धारण करनेका दृष्टान्त कहा है. मस्त हाथीको भी कमल लिये रहनेमें कोई परिश्रम नहीं होता. अथवा सात वर्षका एक हाथसे भारी पर्वतको उठाये रहनेवाला यह बालक कैसे है. इसलिए नन्दजी यह न तो तुम्हारा पुत्र ही है और न बालक ही है।।३।।

तोकेनामीलिताक्षेण पूतनाया महौजसः।
पीतः स्तनः सह प्राणैः कालेनेव वयस्तनोः ।।४।।

जैसे काल शरीरकी आयुको हर लेता है वैसे ही इसने बचपनमें ही आंख मूंदकर अतिसमर्थ पूतनाके प्राणोंका दूधके साथ ही पानकर लिया।।४।।

इस 'तोकेन' श्लोकसे इसके बालक न होनेमें दूसरा कारण कहते हैं. जब इसकी आंखें भी पूरी नहीं खुली थीं, यह बहुत ही छोटा बालक था, तभी अत्यन्त बलवती पूतना राक्षसीके प्राणोंके साथ दूध पानकर लिया. यहां यद्यपि गोपोंको स्तन पान करनेके पहले ही पूतनाके प्राणोंका पानकर लेनेका ज्ञान नहीं था, तो भी आगे कियेके अनन्तर एक दूसरे असंख्य अलौकिक चरितोंमें भगवानकी सामर्थ्यको देखकर उनकी पहले किये चिरतोंमें भी भगवानकी अलौकिक सामर्थ्यसे किये जानेका ज्ञान हो गया. पूतनाको पता नहीं पड़ा कि भगवानने उसके (पूतनाके) प्राणोंका पानकर लिया. इसकेलिए दृष्टान्त देते हैं, कि जैसे शरीरकी आयुको प्रतिदिन कालके द्वारा क्षीण होतीको, पुरुष नहीं जान पाता है, वैसे (ही) पूतना भी भगवानके द्वारा किये उसके प्राणोंके पानको, नहीं जान सकी, यदि उसे ज्ञान हो जाता, तो वह कुछ उपाय करती, अथवा भग जाती. इससे गोप लोग यह जान गये कि भगवानमें बचपन(से ही)में भी ऐसी अलौकिक सामर्थ्य है।।४।।

हिन्वतोऽधः शयानस्य मास्यस्य चरणावुदक्।
अनोऽपतद् विपर्यस्तं रुदतः प्रपदाहतम् ।।५।।

जब यह तीन ही महिनेका था, उस समय छकड़ेके नीचे सोते समय इसने रोते-रोते दोनों पांव ऊपरको उछाले और इसके सुकोमल पांवोंके स्पर्शसे उतना भारी छकड़ा उलट कर गिर पड़ा ।।५।।

एक बार जब छकड़ेके नीचे सुला दिया था और पावोंको ऊंचा हिला रहा था. 'हिम्' धातुका हिलाना अर्थ है, केवल यह तीन मासका ही था. यहां संख्या नहीं लिखी है. वर्ष अथवा अयन परिमाणका नहीं था, केवल मासोंका ही था, तब स्वभावसे ही पांवोंके ऊपर हिलानेसे छकड़ा उलटकर गिर गया. इसने यद्यपि छकड़ेको औंधा करनेकी इच्छासे पांव ऊंचे नहीं हिलाये थे, तो भी, भारी छकड़ा उलट गया. पांव भी रोते-रोते हिलाये थे. इस कथनसे बालकका अशक्त होना दृढ किया अर्थात् इस बातकी पुष्टि की, कि बालककी छकड़ा उलट देनेकी शक्ति नहीं थी. छकड़ेको दोनों पूरे चरणोंसे नहीं छुआ था, किन्तु चरणके केवल अगले भागके स्पर्श मात्रसे ही लदा हुआ छकड़ा उलट गया. इससे थोड़ेसे साधनसे बड़े भारी कामका होना वर्णित किया।।५।।

एकहायन आसीनो ह्रियमाणो विहायसा।
दैत्येन यस्तृणावर्तमहन् कण्ठग्रहातुरम् ।।६।।

जब यह बालक पूरे एक वर्षका था, और बैठा था, एक दिन तृणावर्त दैत्य इसे उठाकर आकाशमें ले उड़ा. किन्तु रास्तेमें ही इसने दोनों हाथोंसे उसका गला घोंट दिया, जिसकी व्यथासे वह व्याकुल हो मर गया।।६।।

व्याख्यार्थ: यह बालक जब एक वर्षका था तब एक स्थान पर बैठा था, वह चलनेकेलिए भी समर्थ नहीं था तब एक दैत्य उसे आकाशमार्गसे ले जा रहा था. उस दैत्यको इस बालकने निरालम्ब आकाशमें ही मार डाला. उसने दैत्यके साथ किसी प्रकारका युद्ध भी नहीं किया, केवल उसके कंठको पकडा जिससे वह आतुर हुआ और मर गया! माता यशोदाको अपने मुखमें ब्रह्माण्डका दर्शन कराया आदि चरित्र (व्रजवासियोंके सामने) प्रसिद्ध नहीं हुवे अतः उन चरित्रोंका वर्णन नहीं किया है.

फिर क्रमसे होनेवाले यमलार्जुन वृक्षोंके भंगको 'क्वचित्' इस श्लोकसे कहते हैं.

क्वचिद्धैयङ्गवस्तैन्ये मात्रा बद्ध उलूखले।
गच्छन्नर्जुनयोर्मध्ये बाहुभ्यां तावपातयत् ।।७।।

किसी दिन यशोदाजीने माखन चुरानेके कारण इसको ओखलीसे बांध दिया. इसने घिसटते-घिसटते बड़े-बड़े यमलार्जुन वृक्षोंके बीचमें जाकर उन्हें गिरा (उखाड़) दिया।।७।।

माखन चुरालेनेके कारण आगे चोरी न करनेकी शिक्षाके अभिप्रायसे यशोदाजीने जब ओखलीसे इसको बान्ध दिया था तब बन्धे हुवेने ही हाथोंके बल चलकर यमलार्जुन वृक्षोंके बीचमें जाकर उनको गिरा दिया. पीठ पर ऊखलका भार होनेके कारण दोनों चरणोंके साथ वह ओखली तो खिचती ही रही. यह बालक चलता तो हाथोंके बल ही रहा. अथवा दोनों हाथोंसे उन वृक्षोंको गिरा दिया. वे गोपजन जैसा देखते हैं, वैसा ही कहते हैं. दोनों वृक्षोंका दोनों हाथोंसे गिरा देना उनकेलिए बड़ा आश्चर्यकारक हुआ।।७।।

वने सञ्चारयन् वत्सान् सरामो बालकैर्वृतः ।
हन्तुकामं बकं दोर्भ्यां मुखतोऽरिमपाटयत् ।।८।।

वनमें बलराम और अन्य बालकोंके साथ जब यह बछड़े चरा रहा था. उस समय मारनेकी इच्छासे आए बकासुरको इसने हाथोंसे उसकी चोंचको चीरकर उस शत्रुका संहारकर दिया।।८।।

वृन्दावनमें बलभद्रजी और गोपोंके बालकोंसे घिरे हुवे बालक श्रीकृष्णने अपनी विशेष शक्तिको प्रकट न करके भी उसे केवल मारनेकी इच्छासे किसी अन्य प्रसंगसे नहीं आये हुवे शत्रुरूप बकासुरकी चोंचको दोनों हाथोंसे फाड़ दिया. यह चरित्र सबके हितका अथवा सर्व प्रसिद्ध है. बालक तो भग(दौड़) भी नहीं सकते किन्तु इसने तो उसको चीर ही डाला. इन गोपोंका श्रीकृष्णके चरितोंका क्रमपूर्वक कहनेका अभिप्राय नहीं है. इस कारणसे वत्सासुरवधके पीछे किये चरित बकासुर वधका वर्णन अनवधानतासे पहले कह दिया. दोनों हाथोंसे चोंचके चीर देने और वृक्षोंके गिरा देनेका वर्णन भुजाओंके सामर्थ्यका सूचक है. तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णकी भुजाओंमें अनन्त बल है. इसीलिए यमलार्जुनके भंगका वर्णन करनेके पीछे ही बकासुरको चीर देनेका वर्णन किया गया है।।८।।

वत्सेषु वत्सरूपेण प्रविशन्तं जिघांसया ।
हत्वा न्यपातयत् तेन कपित्थानि च लीलया ।।९।।

एक दिन वत्सासुर इसे मारनेकी इच्छासे आया और बछड़ेका रूप रखकर बछड़ोंमें मिल गया. इसने खेल ही खेलमें अनायास उसके पिछले पांव पकड़ घुमाकर कैथोंके वृक्षों पर फैंक दिया, जिससे वह मर गया और कैथके अनेक फल पृथ्वी पर गिर पड़े।।९।।

एक हाथके किये वत्सासुरके वधका वर्णन, 'वत्सेषु' श्लोकसे करते हैं.

बछड़ेका रूप धरकर मारनेकी इच्छासे आये और बछड़ोंमें घुल मिल गये वत्सासुरको उसी समय जानकर, कि यह मारनेकेलिए आया है पहले ही उसको घुमाकर मारकर कैंथके वृक्षों पर फेंक दिया, जिससे वह, कैथोंकी शाखा किं वा वृक्ष भी गिर गये. ऐसे महान् बलसे किये जानेवाले कार्यको भी खेलते-खेलते अनायास ही कर डाला।।९।।

हत्वा रासभदैतेयं तद्बन्धूंश्च बलान्वितः।
चक्रे तालवनं क्षेमं परिपक्वफलान्वितम्।।१०।।

इसने बलदेवके साथ एक दिन गदहेका रूप धरकर आए धेनुकासुर और उसके बान्धव अन्य सब असुरोंको मारकर पके हुए फलोंसे परिपूर्ण तालवनको निर्भय स्थानकर दिया।।१०।।

अब, 'हत्वा' इस श्लोकसे धेनुकासुर वधका वर्णन करते हैं. धेनुक जैसे अनेक असुरोंका वध किया. सेनाके विजयसे राजाकी जीत कही जाती है इस प्रधानके व्यपदेश(कथन)न्यायसे बलदेवजीका केवल सहभाव कहा गया है. वास्तवमें तो, उसका वध भगवानने किया था. इसीसे मूलमें 'रासभ दैत्यको मारकर' ऐसा लिखा है. बन्धुओं सहित गदहेके रूपमें आये धेनुकासुरको सपरिवार मारकर बलदेवजीके साथ श्रीकृष्णने तालवनको निर्भय बना दिया. उस वनमें जानेवालोंको निर्भयता नहीं मिलती थी. इसलिए उसे निर्भय बना दिया. उस वनमें जानेवालोंको फलोंका मिलना तो स्वाभाविक ही था, क्योंकि वह वन पके हुवे फलोंसे परिपूर्ण था।।१०।।

लेख : 'हत्वा' इस श्लोककी व्याख्यामें 'बहवः' इत्यादि पदोंका अभिप्राय यह है, कि यद्यपि इस धेनुकासुरका वध बलदेवजीने किया था, तो भी यहां भगवानके द्वारा उसके वधका वर्णन प्रधानतासे व्यपदेशके न्यायसे किया गया है. अर्थात् इन गोपोंको बलदेवजीमें भगवदावेशका ज्ञान तो था नहीं. इसीलिए सेनाकी जीतको राजाकी जीत मानी जानेकी तरह बलदेवजीके किए धेनुकके वधको भगवानके द्वारा किया गया कहा है; क्योंकि भगवानने ऐसे बहुतसे असुरोंको मारा है. इससे इसके वधमें भी मुख्य भगवान् ही हेतु हैं.

प्रलम्बं घातयित्वोग्रं बलेन बलशालिना।
अमोचयद् व्रजपशून् गोपांश्चारण्यवह्नितः।।११।।

महाबली बलदेवजीके द्वारा प्रबल प्रलम्बासुरका वध करवाकर इसने

वनमें लगी हुई आगसे व्रजके पशुओं और गोपोंको बचा लिया।।११।।

इस प्रकार धेनुकका वध भी लोकोंका अहितकार न होकर, कल्याणकेलिए ही था. वधके क्रमसे धेनुकासुरके वधके अनन्तर क्रमप्राप्त प्रलम्बासुरके वधका निरूपण करते हैं. बीचमें किये कालियदमनके चरितका वर्णन आगे करेंगे. अत्यन्त भयानक भी प्रलम्बासुरको बलदेवजीके हाथों उन्हें घातक शक्ति देकर मरवा दिया; क्योंकि उसके वधमें इस बालक कृष्णका कुछ प्रयोजन नहीं था. इसी तरह, इसने व्रजके पशुओं और गोपोंकी दावाग्नि(वनमें लगी आग)से रक्षाकर ली।।११।।

आशीविषं तमाहीन्द्रं दमित्वा विमदं ह्रदात्।
प्रसह्योद्वास्य यमुनां चक्रेऽसौ निर्विषोदकाम्।।१२।।

अतितीक्ष्ण विषवाले कालिय सर्पको दर्पहीन और अपने आधीन करके इसने उसे कालीदहसे बलपूर्वक निकाल दिया. यमुनाके जलको विषरहित और सबके पीने योग्य बना दिया।।१२।।

ऊपर वर्णित दावानलके वर्णनकी तरह इस 'आशीविषं' श्लोकसे विषानलका भी वर्णन करते हैं. आशीविष जिसकी दाढमें विष था, जो स्वाभाविक विषसे अधिक विषवाला था, उस अहीन्द्र सर्पोंमें श्रेष्ठ प्रसिद्ध कालियनाग जिसका ओर लोग स्मरण करते भी डरते हैं तो उसके दहमें जाकर वहां ही दमन करके इसने बलपूर्वक उसे कालीदहसे हटा दिया और यमुनाको विषशून्य जलवाली (बना)कर दिया. इससे यह सूचित होता है कि जिस कार्यको गरुडजी तथा यमराज आदि देव नहीं कर सके उसको इस बालकने कर दिया. यदि ऐसा नहीं होता तो गरुड़ ही अपने शत्रु कालियको मार क्यों नहीं देता अथवा यमराज ही अपनी भगिनी यमुनाको शुद्ध क्यों नकर देते. कालियका दमन और यमुनाका विषरहित करना तो उनकेलिए नितान्त ही अशक्य था जिसे इस बालकने अनायास ही कर दिया।।१२।।

दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन् सर्वेषां नो व्रजौकसाम्।
नन्द ते तनयेऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम्।।१३।।

नन्दजी, आपके बालक पर हम सभी व्रजवासियोंका ऐसा अटल अनुराग और इसका भी हम लोगों पर उत्पत्ति(जन्म)से ही ऐसा स्वाभाविक स्नेह क्यों है।।१३।।

इस प्रकार बाहरके चरित्र निरूपण करके इस 'दुस्त्यजः' श्लोकसे हृदयके विचारको कहते हैं. इस कृष्ण पर हम सभी लोगोंका दुस्त्यज त्याग न करने योग्य अनुराग भी है. किसी दूसरे साधारण सम्बन्धी(नन्दजी)के यहां उत्पन्न हुवे बालक पर साधारण सम्बन्ध मात्रसे धन, पुत्र और प्राणसे भी अधिक स्नेह होना सम्भव नहीं है. इससे यह सहज ही मान लेना चाहिये कि, नन्दजी, यह तुम्हारा पुत्र ही नहीं है. यह तो अकस्मात् आ गया है. मूलमें यह बात 'नन्द ते तनये' इन पदोंसे कही है. गुरुजनों पर कभी किसीका स्नेह हो भी जाये तो भी सबोंका तो नहीं हो सकता. फिर हम व्रजवासियोंको तो इसके स्वरूपका ज्ञान भी नहीं हैं, जो ज्ञानके द्वारा स्नेहकर सकें. इसलिए यह निश्चित है, कि वस्तुके(इस बालकके) सामर्थ्यसे ही हमारा इस पर दुस्त्यज अनुराग है. इसी तरह इसका भी हम लोगों पर उत्पत्तिसे ही जैसा स्नेह है, वैसा दूसरे बालकोंका नहीं है. ऐसा क्यों है? इसलिए वस्तु सामर्थ्य और क्रिया सामर्थ्य तथा गुणों और धर्मीके विचारसे भी यह महान् है. इससे यह, नन्दजी, तुम्हारा पुत्र कैसे हो सके. अर्थात् तुम्हारा पुत्र यह नहीं है।।१३।।

क्व सप्तहायनो बालः क्व महाद्रिविधारणम्।
ततो नो जायते शङ्का व्रजनाथ तवात्मजे।।१४।।

हे व्रजराज, कहां तो सात वर्षकी आयुका बालक और कहां इतने बड़े पर्वतको उठाकर उसे सात दिन तक लिए खड़े रहना. यही सब देखकर हमको सन्देह हो रहा है कि यह बालक कदाचित् तुम्हारा पुत्र न हो।।१४।।

अन्य आश्चर्यकारी चरितोंकी बातको तो जाने दो; किन्तु अभी जो हुआ, वह तो अत्यन्त ही आश्चर्यकारी है. यह इस 'क्व सप्तहायनः' श्लोकसे कहते हैं. कहां तो यह सात वर्षका बालक और कहां विशाल गिरीराजका धारण करना. इससे कार्य(गिरिराजका धारण) और कारण(बालक)का विरोध होनेसे हमको तुम्हारे पुत्रके विषयमें शंका होती है. हमें यह बड़ा सन्देह हो रहा है कि यह तुम्हारा पुत्र है अथवा नहीं. यदि यह तुम्हारा ही पुत्र है तो हम कृतार्थ होंगे और यदि नहीं है तो हम बड़ा अपराधकर रहे हैं. कौन जान सकता है कि हमारा क्या होगा? इसलिए विचार प्राप्त हो रहा है।।१४।।

नन्द उवाच

श्रूयतां मे वचो गोपा व्येतु शङ्कावचोऽर्भके।

एनं कुमारमुद्दिश्य गर्गो मे यदुवाच ह ।।१५।।

नन्दजी कहते हैं–हे गोपगण! मैं कहूं उसे सुनो, जिससे इस बालकके विषयकी तुम्हारी शंका: यह मेरा पुत्र है अथवा नहीं–दूर हो. इस बालकके विषयमें महर्षि गर्गाचार्यजी मुझे बतला गये हैं. वह मैं तुमसे कहता हूं. सुनो. आश्चर्य है, कि वे गर्गजी कैसे जान गए।।१५।।

गोपोंके इस प्रकार पूर्वपक्ष करने पर नन्दजी 'श्रूयता' इस श्लोकसे सिद्धान्त कहते हैं. भगवान् अद्भूतकर्मा हैं. इस कारणसे यहां पूर्वपक्ष और सिद्धान्तकी विपरीतता है अर्थात् नन्दजीका पुत्र न होना तो सिद्धान्त है और इनका पुत्र कहना पूर्वपक्ष है; क्योंकि यदि ऐसा नहीं हो तो, यह चरित भगवच्चरित न रहकर एक साधारण गोपके पुत्रका चरित ही रह जाये. नन्दजी तो गर्गजीके वाक्यानुसार यही मान रहे हैं, कि कोई महापुरुष मेरे घर प्रकट हुआ है. जैसे किसी समय कहीं पर भगवानके अवतार होते हैं, इसी तरह यह भी मेरे घरमें कोई अवतारी प्रकट हुआ है. इस प्रकार पुत्ररूप सम्बन्ध भी है और माहात्म्य भी उचित है. इसलिए गर्गजीके वचनोंका कहना आरम्भ करते हैं.

हे गोपजनों, आप विचार करनेमें समर्थ नहीं हो. इसलिए आप सभी मेरे वचनको ही सूनिये, जिससे इस बालकके विषयमें आपकी शंकाका वचन यह मेरा पुत्र है, अथवा नहीं दूर हो. शंका: नन्दजी, तुम तो वादी हो. वादीका कहना प्रमाण नहीं माना जाता (फिर) तुम्हारे कहनेसे हमारी शंकाके वाक्य दूर कैसे होंगे? इसके उत्तरमें कहते हैं कि जब यह कुमार बालक ही था, उसी समय गर्गाचार्यजीने इसके सम्बन्धमें जो कुछ बतलाया था, उसको सुनिये. मूल श्लोकमें 'ह' यह आश्चर्य अर्थमें अव्यय पद है अर्थात् आश्चर्य है कि गर्गाचार्यजी ऐसा कैसे जान गये।।१५।।

टिप्पणी: इस 'श्रूयतां' श्लोककी व्याख्यामें 'पूर्वपक्ष सिद्धान्त योर्व्यत्यासः' (पूर्वपक्ष और सिद्धान्तकी विपरीतता) पदोंका अभिप्राय यह है नन्दजीके शरीरसे उत्पन्न न होनेके कारण यह नन्दजीका पुत्र नही है यह सिद्धान्त यद्यपि उचित है, तो भी ऐसा ही मेरा पुत्र है ऐसी बुद्धि भगवानने लीलाकेलिए नन्दजीकी करदी थी. इससे यह मेरा पुत्र है नन्दजीकी यह बुद्धि भ्रमरूप नहीं थी, इस कारण यह सिद्धान्ताभास नहीं है, किन्तु सिद्धान्त ही है; क्योंकि भगवानने ही स्वयं लीलाकेलिए नन्दजीका पुत्रत्व स्वीकार किया है. नित्य भगवानका

अपनेको नन्दजीका पुत्र मानते रहना क्या उचित है? ऐसी शंकाको दूर करनेकेलिए नित्य भी भगवानका नन्दजीका पुत्र होनेमें कारण बतलाते हैं कि भगवान् अद्भुतकर्मा है. जहां लौकिक युक्ति नहीं ठहर सकती, उसको अद्भुत कहते हैं. इसी प्रकार यहां भी भगवानके नन्दजीके पुत्र होनेके सम्बन्धमें लौकिक युक्ति नहीं चल सकती; क्योंकि इसीसे भगवानके अद्भुतकर्मता स्वरूपकी सिद्धी होती है. इसलिए यह भूषण ही है, दूषण नहीं है. इसी अभिप्रायसे ही गर्गाचार्यजीने नन्दजीसे भगवानको उनका पुत्र कहा।।१५।।

वर्णास्त्रयः किलास्यासन् गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ।।१६।।

यह बालक प्रत्येक युगमें अवतार लेता है. इसके श्वेत, रक्त और पीत– ये तीन वर्ण हो चुके. इस समय यह कृष्ण वर्णसे प्रकट हुआ है।।१६।।

यद्यपि गर्गाचार्यजीके वाक्योंकी व्याख्या पहिले की जा चुकी है; तो भी अनुवादरूपसे उनका यहां फिर व्याख्यान(वर्णन) करते हैं. 'वर्णास्त्रयः' इत्यादि आठ श्लोकोंसे गर्गजीके वाक्योंको कहते हैं. 'किल' यह प्रसिद्ध अर्थका बोधक अव्यय पद है. इस बालकके तीन वर्ण तो पहले हो चुके. वर्ण शब्दका अर्थ रूप विशेष और जाति विशेष होता है. इसलिए कहते हैं कि श्वेत, रक्त और पीत वर्ण तो इसके हो चुके. कृष्ण इस समय अभी कृष्ण श्याम वर्णको प्राप्त हुआ है. सत्य, त्रेता आदि युगोंमें जैसे परशुराम, राम, बलरामरूपसे अवतरित होते हैं; उसी तरह अभी तुम्हारे घरमें वर्तमान कालके समीपमें अथवा कलियुगमें यह कृष्ण धर्म कृष्णताको प्राप्त हुआ है. वास्तवमें कृष्ण(श्याम) नहीं है. मध्याह्नमें सूर्यमें तेजो मण्डलके बीचमें रहनेवाले कृष्णवर्णकी तरह वर्णवाला यह बालक है. यह कृष्ण शब्दकी व्युत्पत्ति है।।१६।।

टिप्पणी: नामकरण संस्कार करते समय गर्गजीने गद्यमें ही वाक्य कहे थे और नन्दजी आदिने भी गद्यमें ही सबकुछ कहा था. उन्हीं वाक्योंको व्यासजीने पद्योंमें कहा है. इसलिए व्याख्यामें 'वाक्यान्यष्टश्लोकैरुक्तानि' वाक्योंका आठ श्लोकोंमें कथन है. यद्यपि यहां, गर्गजीके वाक्योंका अनुवाद 'आसन्' इत्यादि सात श्लोकोमें ही है तो भी 'मन्येनारायणस्यांशम्' इस श्लोकमें गर्गजीके वाक्योंका फलितार्थ निरूपण किया होनेसे इसे भी गर्गजीका वाक्यरूप ही मानकर इसी आशयसे आठ श्लोकोंकी संख्या कही है.

लेख : ''शुक्लो रक्तस्तथा पीतः'' इस श्लोककी व्याख्यामें वर्ण शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जाति विशेषका वाचक कहनेका तात्पर्य यह है कि राम-परशुरामजी-ब्राह्मण, राम-रघुनाथजी-क्षत्रिय और राम-बलरामजी-वैश्य जातिमें प्रकट हुए है. बलदेवजीका भगवानके आवेशके कारणसे व्रजेश सुत होना पहले सिद्ध किया जा चुका है. इस समय तुम्हारे घरमें कृष्णताको प्राप्त हुआ है अर्थात् दास्यमार्गको प्रकट किया है यह अभिप्राय है.

योजना: 'वर्ण' शब्दका ब्राह्मण आदि अर्थ मानकर ही व्याख्यामें 'रामो रामो रामः'-परशुराम, दशरथपुत्र राम, बलराम - इनका क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जातिपरक निर्देश किया है. बलदेवजीमें श्रीकृष्णजीका आवेश है, श्रीकृष्ण नन्दजीके पुत्र है, नन्दजी वैश्य है - इस कारणसे बलदेवजीको वैश्य कहा है. 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' इस श्रुतिमें कहे गये अन्न-पृथिविके कृष्णरूपकी तरह श्रीकृष्णमें पार्थिव कृष्णरूप नहीं है; किन्तु मध्याह्नके सूर्यके तेजो मण्डलके मध्यमें जैसा श्यामत्व है, वैसी श्यामता श्रीकृष्णमें है. अर्थात् जैसे मध्याह्नके सूर्यके तेजो मण्डलमें स्थित श्यामता पार्थिव नहीं है, उसी तरह यह श्रीकृष्णका श्यामत्व भी पार्थिव नहीं है, किन्तु वस्तुके स्वभावसे ही ऐसी प्रतीति होती है. यह श्यामता औपाधिक-पृथिवीकी उपाधिसे होनेवाली नहीं है; क्योंकि ''यदादित्यस्य नीलंभाः' इस छन्दोग्य उपनिषदकी श्रुतिमें 'आदित्यस्य' सम्बन्धकारक(षष्ठी) सूर्य सम्बन्धी श्यामत्वको सूचित करता है, उपाधि सम्बन्धको नहीं कहता।।१६।।

प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज् जातस्तवात्मजः।
वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ।।१७।।

(गर्गजीने मुझसे कहा था कि) इस तुम्हारे पुत्रने पहले कहीं किसी देश अथवा कालमें वसुदेवजीके यहां भी जन्म लिया है. इसी कारण जानकार मर्मज्ञ लोग इसको श्रीमान्(लक्ष्मीपति) वासुदेव भी कहते हैं।।१७।।

'प्रागयं' इस श्लोकसे वासुदेव शब्दकी व्युत्पत्ति कहते हैं. कभी देश विशेष अथवा काल विशेषमें यह पहले वसुदेवजीका पुत्र हुआ है. इसलिए अभिज्ञ(इसके मर्मको जाननेवाले) लोक इसको वासुदेव कहते हैं. वास्तवमें तो वासुदेव शब्दका अर्थ लक्ष्मीपति होता है; क्योंकि वसु शब्दका अर्थ धन है. वसुरूप देव वसुदेव अर्थात् लक्ष्मी, लक्ष्मीके पति वासुदेव शब्दकी यह व्युत्पत्ति

है. इसी आशयसे मूलमें श्रीमान्(लक्ष्मीपति) शब्दका प्रयोग है. मूलस्थ 'इति' शब्दका सम्बन्ध, वासुदेव और श्रीमान्, इन दोनोंके साथ है अर्थात् यह बालक वसुदेवका पुत्र भी है और लक्ष्मीपति है।।१७।।

बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः ।।१८।।

गुणों और कर्मोंके अनुसार तुम्हारे पुत्रके अनेक नाम और रूप हैं. उनको मैं जानता हूं. अन्य साधारण लोग नहीं जानते हैं।।१८।।

भगवानके नाम वासुदेव और लक्ष्मीपति केवल दो ही नहीं है; किन्तु ओर भी बहुत हैं. यह 'बहूनि' इस श्लोकसे कहते हैं. जैसे इसके नाम असंख्य है, वैसे ही इसके रूप भी अनेक हैं. नन्दजीके साथ सम्बन्धका बोध स्थापनकेलिए तुम्हारे पुत्रके (ते सुतस्य) ऐसा कहा है. रूप और नामोंके असंख्य होनेका कारण बतलाते हैं कि वे गुण कर्मोंके अनुरूप हैं इसलिए प्रत्येक गुण और कर्मके भेदसे नामकरण होना चाहिये; क्योंकि वे नाम, उन असंख्य गुण और कर्मोंके अनुरूप हैं. इसमें प्रमाण यह है, कि उनको(नाम और रूपोंको) मैं जानता हूं. दूसरे साधारण मनुष्य इस बातको नहीं जानते हैं. उनका नहीं जानना, इस कथनमें कोई बाधक नहीं है; क्योंकि जिन्हें ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान है; वे ही तो, इसे जान सकते हैं, अन्य साधारण मनुष्य कैसे जान सकते हैं।।१८।।

एष वः श्रेय आधास्यद् गोपगोकुलनन्दनः।
अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ ।।१९।।

यह गायें और गोकुलवासियोंको आनन्ददायक होगा; इसके द्वारा तुम्हारा सब प्रकारसे कल्याण होगा. इसकी सहायतासे तुम्हारे सारे संकट सहज ही दूर होंगे।।१९।।

इस प्रकार नामोंका वर्णन करके 'एष व;' इस श्लोकसे भगवानके कार्योंको बतलाते हैं. यह तुम्हारा कल्याण करेगा. मूलमें 'आधास्यत्' यह पद 'भविष्यद्' अर्थका बोधक है. पूतना आदिका वध पहलेकर दिया है. इसलिए भूतकालका प्रयोग भी उचित ही है. यह बालक गोप और गोकुल दोनोंको आनन्द लेनेवाला होगा. इसके ही द्वारा तुम लोग सभी संकटके स्थानोंको सहज ही पारकर लोगे. बिना किसी परिश्रमके ही तर जाओगे।।१९।।

पुरानेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः।

अराजकेऽरक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून् समेधिताः ।।२०।।

हे व्रजराज, पहले जब साधु पुरुषोंको दैत्योंने सताया था, राजाके न होनेसे प्रजाका कोई रक्षक नहीं था, तब इसकी कृपासे प्रजाने अभ्युदय प्राप्त करके उस दस्युगण पर विजय पाई है।।२०।।

इस विषयमें 'पुरानेन' इस श्लोकसे पूर्वकी सम्मतिका वर्णन करते हैं. इसने पृथु स्थूलरूपसे अथवा किसी दूसरेरूपसे रक्षा की है. 'व्रजपते' सम्बोधनसे यह सूचित होता है कि तुम व्रज साधारण छोटेसे गांवके राजा हो. इसलिए तुम्हें इसका ज्ञान न होनेमें कोई आश्चर्य नहीं है. सभी साधु पुरुष दैत्योंसे पीड़ित हो, उन पर विजय प्राप्त करते थे. रावण आदि भी दैत्य थे. जब कोई राजा नहीं था, प्रजाओंका कोई रक्षक नहीं था. राजा उस समय इसीकी कृपासे परिपुष्ट हो, दैत्योंको परास्त किया था. यह बात भगवदंशावतार पृथुके चरित्रसे स्पष्ट है।।२०।।

य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः ।
नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः ।।२१।।

जो भाग्यशाली लोग इससे प्रेम करते हैं, वे शत्रुओंसे परास्त नहीं होते, जैसे विष्णु जिनके पक्षमें है उन देवोंको दैत्य कभी जीत नहीं सकते।।२१।।

उत्कृष्ट भाग्य बिना, इसमें प्रीति नहीं होती है. इसलिए जो बड़भागी जीव इसमें प्रीति करते हैं, वे मनुष्य होते हुवे भी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं. शत्रु इनको जीत नहीं सकता, क्योंकि उनके पक्षमें विष्णु है. लोकमें भी, जैसे वैष्णवोंको असुरोंके आवेशवाले नहीं जीत सकते हैं. यह कथा लौकिक है. इसलिए विष्णु आदिका दृष्टान्त दिया है।।२१।।

योजना: 'विष्णुपक्षानिवासुरा' इस श्लोकमें यह दृष्टान्त अनुचित है; क्योंकि भगवान् ही तो विष्णु हैं. इसलिए दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक यहां एक ही है, भिन्न-भिन्न नहीं है? इस शंकाका समाधान व्याख्यामें 'लौकिकीकथेयम्'(यह लौकिक कथा है) इन पदोंसे किया गया है. तात्पर्य यह है, कि गर्गाचार्यजीने लौकिक बुद्धि(का आश्रय लेकर)से यह कथा कही है. इसलिए इस दृष्टान्तमें पूर्व पक्ष कथित दोष नहीं है.

तस्मान् नन्द कुमारोयं नारायणसमो गुणैः ।
श्रिया कीर्त्यानुभावेन तत्कर्मसु न विस्मयः ।।२२।।

हे नन्दजी! इस कारणसे यह तुम्हारा बालक गुणोंमें, श्रीमें, कीर्ति और प्रभावमें साक्षान्नारायणके समान है. नन्दजी कहते हैं, कि हे गोपों! इसके अद्भुत चरित देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिये।।२२।।

इस प्रकार भगवानके सामर्थ्यका उपपादन करके 'तस्मात्' इस श्लोकसे उपसंहार करते हैं. इस श्लोकमें पाठभेद है. यह कुमार (हे नन्दजी) गुणोंके द्वारा नारायणके तुल्य है, श्री कीर्ति और प्रभावसे भी नारायणके समान है यहां तक गर्गजीके वाक्योंका अनुवाद करके नन्दरायजी स्वयं कहते हैं, कि हे गोपों! इस कारणसे इसके विचित्र चरित्रोंको देखकर गोवर्धनोद्धरण आदि चरितों पर विस्मय मत करो।।२२।।

इत्यद्धा मां समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते।
मन्ये नारायणस्यांशं कृष्णमक्लिष्टकारिणम्।।२३।।

हे गोपों! मुझसे यों कहकर गर्गाचार्यजी अपने घरको चले गये. तभीसे मैं अक्लिष्टकर्मा श्रीकृष्णको नारायणका अंश मानता हूं।।२३।।

यह ऐसा अद्भुतकर्मा ही मेरे घरमें प्रकट हुआ. इसी कारणसे मुझे भी इसके विचित्र इन गोवर्धनोद्धरण आदि चरित्रों पर विस्मय नहीं है. इस प्रकार अपनी सम्मति प्रदर्शित करनेकेलिए नन्दरायजी 'इत्यद्धा' इस श्लोकसे अपना वृत्तान्त कहते हैं. साक्षात् मुझसे, इस प्रकार भगवानके स्वरूपका भली भांति वर्णन करके, गर्गाचार्यके मेरे पाससे घर चले जाने पर, तभीसे मैं श्रीकृष्णको नारायणका अंश ही मानता हूं. मूलश्लोकमें चकार कहनेका तात्पर्य नन्दरायजी कहते हैं, कि फिर मैं भी घर जाकर इतना ही जान पाया कि पुरुष यहां नारायण हैं, उनका यह अंशावतार है. इससे अधिक कुछ नहीं समझा. अधिकका वर्णन यहीं आगे किया जायेगा. यह बालक ब्रह्मका अंश है इस कथनमें केवल वाक्य ही प्रमाण नहीं है, किन्तु अनुभव भी प्रमाण है, क्योंकि इसने किसी दिन कोई क्लेशदायक कार्य नहीं किया और न करता ही है. यदि यह जीव होता, तो क्लिष्ट कर्म करता; क्योंकि दुःखोंसे पीड़ित (जीव) ही क्लेशदायक कार्य करता है. अपीड़ित क्लिष्ट कर्म नहीं करता, दुःखका अभाव न होना, तो केवल ब्रह्ममें ही सम्भव है. इस कारणसे मैं कृष्णको ब्रह्म ही मानता हूं।।२३।।

इति नन्दवचः श्रुत्वा गर्गगीतं व्रजौकसः।
दृष्टश्रुतानुभावस्य कृष्णस्यामिततेजसः।।

मुदिता नन्दमानर्चुः कृष्णं च गतविस्मयाः ।।२४।।

इस प्रकार गर्गाचार्यके द्वारा पहलेसे ही वर्णनकर दिये गये अपरिमित तेजवाले. सदानन्द श्रीकृष्ण सम्बन्धी, नन्दजीके वचनोंको सुनकर कृष्णके प्रभावको प्रत्यक्ष देखने और सुननेवाले वे व्रजवासीजन बहुत प्रसन्न हुए. उन्होंने नन्दरायजी और श्रीकृष्णकी पूजा की और उनका सारा विस्मय दूर हो गया।।२४।।

इस प्रकार नन्दजीसे गर्गाचार्यके उपदेशको सुननेके पीछे जो कुछ हुआ, उसे 'इति नन्दवचः' इस श्लोकसे कहते हैं. गर्गजीके द्वारा पहले कहे हुवे, वास्तवमें तो गर्गजीसे भी पहले ही सिद्ध श्रीकृष्ण सम्बन्धी नन्दजीके वचनोंको अभी सुनकर व्रजवासियोंका सारा विस्मय और असम्भव भाव मिट गया. वे बड़े आनन्दित हुवे. केवल (गर्गजी अथवा नन्दजी)का वाक्य ही प्रमाण नहीं था; किन्तु गोप स्वयं भी कृष्णके ऐसे ही प्रभावको देख और सुन रहे थे. अगणित ऐश्वर्यशाली और स्वरूपसे भी सदानन्द, श्रीकृष्ण सम्बन्धी गर्गजीके उस वाक्यको सुन, व्रजवासीजनोंने नन्दजी और कृष्णकी पूजा की. उनका सभी विस्मय दूर हो गया. नन्दजी महान् है; क्योंकि इनके घरमें ऐसे अद्भुतकर्मा भगवानने अवतार लिया. इस कारणसे नन्दजीकी पूजा की. भगवान् तो सबके पूजने योग्य हैं ही. इसका फल यह हुआ, कि व्रजवासियोंका आश्चर्य दूर हो गया. इस प्रकार इन तीन अध्यायोंसे सन्देहका अभाव पूर्वक गौण धर्मका निरास करते हुवे भगवानके माहात्म्य और भगवद्धर्मकी स्थापना की है।।२४।।

देवे वर्षति यज्ञविप्लवरुषा वज्राश्मपरुषानिलैः
सीदत्पालपशुस्त्रि आत्मशरणं दृष्ट्वानुकम्प्युत्स्मयन् ।।
उत्पाट्यैककरेण शैलमबलो लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा
बिभ्रद् गोष्ठमपात् महेन्द्रमदभित् प्रीयान् न इन्द्रो गवाम् ।।२५।।

यज्ञ भंग होनेसे कुपित हुआ इन्द्र जब व्रजके ऊपर घोर वर्षा करने लगा. वज्रपात और शिलाओं की बौछार तथा प्रचण्ड आंधीसे सारे गोपाल, बाल, वृद्ध, स्त्रियां और पशुगण व्याकुल हो उठे, तब बालक, जैसे खेलते-खेलते धरतीके फूलको हाथसे अनायास उखाड़ लेता है, उसी प्रकार जिन्होंने करुणावश होकर लीलापूर्वक हंसते-हंसते गोवर्धन पर्वतको एक हाथसे उठा लिया और आप ही जिसके एक मात्र रक्षक थे, उस व्रजकी रक्षा की. वही इन्द्रका अभिमान दूर करनेवाले गोविन्द नामधारी भगवान् हम पर प्रसन्न हो।।२५।।

इस प्रकारके धर्मोंके प्रवर्तक भगवानको 'देवे वर्षति' इस श्लोकसे शुकदेवजी नमस्कार करते हैं. वह भगवान् गोविन्द(गायोंके इन्द्र) हमारे ऊपर प्रसन्न होवें. प्रसन्न वही होता है, जो कभी किसी पर प्रसन्न होता रहता है. इसलिए उसकी प्रीति लीलाका वर्णन करते हैं, कि जब इन्द्र सहज ही नहीं; किन्तु स्वयागके नाशके कारण उत्पन्न क्रोध(रोष)से, केवल वृष्टि नहीं; किन्तु वज्र, पाषाण और प्रचण्ड आन्धी सहित घोर वर्षाकर रहा था, वज्र, पाषाण और प्रचण्ड पवन ये क्रमसे सात्विक, तामस और राजस निरूपण किये हैं, तब व्रजमें गोपाल, पशुगण और स्त्रियां अत्यन्त व्याकुल हो गये. व्रजको जिसके एक मात्र आप ही रक्षक हैं दुःखी देखकर कृपा परवश हो भगवानने उनके दुःखको दूर करनेकेलिए जोरसे मुस्कुराये और गोपोंके बिना जाने ही, गोवर्धन पर्वतको एक हाथसे लीलापूर्वक, इस तरह उखाड़ लिया जैसे एक बालक बरसाती धरतीके फूलको खेलते-खेलते अनायास ही उखाड़ लेता है. गोवर्धनको धारण करके, गोकुलकी रक्षा की इस चरित्रका फल केवल गोकुलकी रक्षा ही नहीं है किन्तु इन्द्रके मदका नाश करना और आगे गोविन्द नामका धारण करना भी इसका फल है. वे भगवान् हमारे ऊपर प्रसन्न होवें. शुकदेवजी ऐसी प्रार्थना करते हैं।।२४।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध २३वें अध्यायकी (प्रचलित क्रमानुसार अध्याय २६की) श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण कृत श्रीसुबोधिनी 'संस्कृत टीका' के तामस साधन अवान्तर प्रकरणका पांचवा अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

अध्याय २४

श्रीकृष्णका अभिषेक

चतुर्विंशे भगवतो अभिषेको निरूप्यते।
स्तुतिः शिक्षा तथेन्द्रस्य कामधेन्वादिभिः कृता।।का.१।।

कारिकार्थः इस चोबीसवें अध्यायमें कामधेनु आदिके द्वारा किए जानेवाले भगवानके अभिषेक, इन्द्रकृत स्तुति और इन्द्रकेलिए की (हुई) शिक्षाका भी निरूपण किया जायेगा।।१।।

यथा रक्षा सुसंसिद्धा मदाभावस्तथा यदि।
तदैव भगवत्कार्यं सर्वं सफलता व्रजेत्।।का.२।।

कारिकार्थः जिस प्रकारसे घोर वर्षा और प्रचण्ड आंधीसे व्रजकी बाल-बाल रक्षा सिद्ध हुई, उसी तरहसे, इन्द्रके अभिमानका भी पूर्णतया अभाव हो जाने पर ही भगवानका सकल कार्य सफल हो।।२।।

गोरक्षा चेद्धरिकृता नाधिदैविकगामिनी।
तया वा दासभावश्चेत् न चाप्यङ्गीकृतः क्वचित्।।का.३।।
स्वयं वा स्वामिभावेन न स्वीकुर्यान् मुरद्विषम्।
तदेयं भगवल्लीला प्रमाणं नैव जायते।।का.४।।
अतो हेतूक्तिरप्येषा सत्फला वर्ण्यते स्फुटा।
इन्द्रयागश्च भविता यस्मादिन्द्रो हरिः स्वयम्।।का.५।।

कारिकार्थः भगवानके द्वारा की गई गोरक्षा यदि आधिदैविक पर्यन्त नहीं पहुंचे, यदि आधिदैविक कामधेनु अपने दासभाव और भगवानके स्वामीभावको स्वीकार नहींकर लेती तब तक यह लीला भगवानकी लीलाओंमें प्रमाणरूप नहीं हो सकती है, इसीलिए यह हेतूक्ति भी स्पष्ट रीतिसे सत्फलवाली वर्णन की जायेगी इसी तरह भगवानके इन्द्र होने पर, याग भी स्थिर रहेगा ही।।३-५।।

टिप्पणी : 'गोरक्षा'से 'जायते' तक तीसरी चौथी कारिकाओंका तात्पर्य यह है. आधिदैविक कामधेनुकी शरणागतिसे यह बात प्रमाणित होती है, कि केवल गायरूप सजातीयतासे भी, सारी लौकिक गायोंकी आधिदैविक गाय कामधेनु तक पहुंच जानेवाली ऐसी पालनलीलाको श्रीपुरुषोत्तमके अतिरिक्त कोई दूसरा केवल देखा देखी रूपसे भी करनेमें समर्थ नहीं हो सकता है. इस

बातको स्वयं कामधेनुने 'भवताऽलोकनाथेन' (अलोकनाथ आपसे ही हम गायें सनाथ हैं) इन पदोंसे कही है. अलोक-लोक भिन्न अर्थात् अलौकिक गोओंको पालन करनेवाले आपके द्वारा हम भी सनाथ(रक्षित) हुई हैं. इस 'अलोक' पदसे, यह भी सूचित किया गया है कि लीला सम्बन्धी सारे पदार्थोंके विषयमें भी यही व्यवस्था है, अर्थात् सारी लीला सामग्री अलौकिक ही है. यदि ऐसा नहीं होता तो 'अलोकनाथेन' ऐसा सामान्य पदका प्रयोग न करके, 'लोकनाथ' पदका प्रयोग किया जाता. इसमें कारण यह है, कि आप अच्युत हैं, धर्मसे भी आप च्युतिरहित हैं. इस कारणसे, यदि आपका पालन करना रूप धर्म, हम आधिदैविक गायों तक नहीं पहुंच पाता, तब तो गोत्वकी समानतासे हमारी अंशभूत लौकिक गायोंमें आपके पालन धर्मकी च्युति हो जाती किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि आप 'अच्युत'(च्युतिरहित) है.

'तदेयम्'के पश्चात् आया, 'लीला' पद भावप्रधान है और 'भगवल्लीला प्रमाणं' यह एक ही समासयुक्त पद है इसलिए इस आधी कारिकाका यह अर्थ है कि यह कही जानेवाली लीला भगवल्लीलापनमें प्रमाण नहीं होती है.

शंका: हेतुवादसे ही पूर्व प्रचलित लौकिक इन्द्रयागका भंग करके फिर 'भवताऽलोकनाथेन' इत्यादिके अनुसार रक्षा करना आदि हेतुवाद पूर्वक भगवानका इन्द्ररूपसे अभिषेक होने पर कराया नया याग भी तो हेतुवाद सिद्ध ही है. अर्थात् हेतुवाद सिद्ध प्राचीन यागका भंग कराकर फिर भी वैसा ही, हेतु सिद्ध नवीन याग करानेमें क्या कारण है इसका उत्तर 'अतो हेतूक्ति' इत्यादि पदोंसे दिया गया है. इन्द्रयागके भंग करानेसे, प्राप्त हुए दोषकी शंकाकी निवृत्ति करानेकेलिए लौकिक यागभंग, अपूर्व याग प्रारम्भ और पालन इन सबको लीला बतलाना है और यह इनके आधिदैविक तक पहुंचनेका निरूपण करनेसे होता है. इसीलिए ये सभी लीलारूप ही है. यह 'हेतूक्ति' भी लीलारूप ही है. इससे इस लीलाको 'भवाय भव' इस बीसवें तथा 'कृष्णेऽभिषिक्ते' इस सत्ताईसवें श्लोकमें सत्फलवाली लीला कहा है. इस प्रकार परम्परासे चली आई मर्यादाका भंग भी नहीं हुआ क्योंकि आगे भी प्रतिवर्ष व्रजवासी लोग गोत्सव करते ही रहेंगे. इस कथनसे यह सूचित किया कि लीला सम्बन्धी लोकपाल आदि भी भगवानसे भिन्न नहीं है.

लेख: 'गोरक्षा' इत्यादि डेढ़ कारिकामें सुरभिकी स्तुतिके तीन श्लोकोंका अर्थ कहा है. 'तदेयं' यह गोरक्षारूप भगवल्लीला सुरभिकी शरणागतिमें प्रमाणभूत नहीं होती. अतः शरणागतिने प्रमाणभूत होनेसे हेतुका कथन है.

इति कारिकार्थः.

श्रीशुक उवाच

गोवर्धने धृते शैल आसाराद् रक्षिते व्रजे।
गोलोकादाव्रजत् कृष्णं सुरभिः शक्र एव च ।।१।।

श्लोकार्थ: श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि हे राजन्! जब भगवानने गोवर्धन पर्वत उठाकर वर्षाकी धाराओंसे व्रजकी रक्षा की, तब गोलोकसे सुरभि गाय, इन्द्र और सब देवगण श्रीकृष्णकी सेवामें उपस्थित हुए।।१।।

व्याख्यार्थ: गत अध्यायमें भगवानके विषयमें जो-जो सन्देह गोपोंको थे, वे सब दूरकरके यह सिद्धकर दिया कि भगवान् जैसी आज्ञा करें वैसा ही करना उचित है किन्तु यदि परम्परासे चला आया इन्द्रयाग नामसे प्रसिद्ध कर्म, पुनः इन्द्रयागरूपको प्राप्त नहीं करें तो प्रसिद्धिका विरोध होगा? इसलिए प्रसिद्धिका विरोध दूर करनेकेलिए इन्द्ररूपसे भगवानके अभिषेकका निरूपण करते हैं. भगवान् ही स्वयं इन्द्र हुवे केवल इतना ही नहीं किन्तु इन्द्रका अभिषेक करनेवाले सभी देवोंने भगवानका इन्द्राभिषेक करना कहनेकेलिए 'गोवर्धन' इस श्लोकसे इन्द्र और कामधेनुका आगमन वर्णन करते हैं. जब भगवानने गोवर्धन पर्वतको धारण किया तब इन्द्रका मानभंग हो जानेसे वह स्वयं भगवानके पास आया. इन्द्रको यह भय हुआ कि यदि कृष्णकी सेवामें नहीं जाया जायेगा तो सम्भव है कि वह पर्वतको धारण करनेमें हुवे क्लेशका स्मरण करके मेरा(इन्द्रका) अनिष्ट(नाश)कर दें. इसलिए, अपना अपराध क्षमा करानेकेलिए वह भगवानके पास आया. वर्षाकी मूसल धाराओंसे गोकुलमें अपने वंश(गोगण)की भगवानने रक्षा की. इस कारणसे, सुरभि(कामधेनु) भी आई, कामधेनुके वंशकी प्राकृत(लौकिक) गायें भगवानकी पूजा नहींकर सकती. इसलिए सुरभि स्वयं भगवानकी सेवामें आई. श्लोकमें कहे 'च'से यह सूचित किया है, कि सुरभि और इन्द्र सम्बन्धी सारे देवता उत्सवकेलिए आये।।१।।

टिप्पणी: व्याख्यामें 'नहिं प्राकृतैः' इत्यादि पदोंका अभिप्राय यह है कि प्रकृत लीला सम्बन्धी गायें भगवानकी पूजा करती तो लीला रसका विरोध हो जाता.

विविक्त उपसङ्गम्य व्रीडितः कृतहेलनः ।
पस्पर्श पादयोरेनं किरीटेनार्कवर्चसा ।।२।।

कृष्णचन्द्रका अनादर करनेके अपराधसे अत्यन्त लज्जित हुए अपराधी इन्द्रने आकर, अपराध क्षमा करानेकेलिए सूर्यके समान प्रकाशमान किरीट मुकुटसे अलंकृत अपने शिरसे एकान्तमें भगवानके दोनों चरणोंका स्पर्श किया।।२।।

वहां आकर पहले अपराधकी निवृत्ति करानी चाहिये इसलिए इन्द्रका उपाख्यान कहते हैं. इन्द्र वहां आया और भगवानसे प्रार्थना करने लगा. यह 'विविक्त' इस श्लोकसे कहते हैं. इन्द्र एकान्तमें भगवानके पास गया, क्योंकि उसने भक्तोंका अपराध किया था. वे भक्त कदाचित् इन्द्रसे अनिष्ट सूचक वचन बोल दे. और लज्जा भी एकान्तमें जानेका कारण कहा जायेगा. प्रार्थना न करने पर सर्वनाश हो जायेगा. इसलिए प्रार्थना करना आवश्यक है. इसलिए लज्जित और अपराधी होनेके कारण भयभीत हो एकान्तमें भगवानके निकट आकर इन्द्रने भगवानके चरणोंका स्पर्श किया सूर्यके समान जाज्वल्यमान किरीटसे अलंकृत अपने मस्तकको इन्द्रने भगवानके चरणों पर रक्ख दिया यह सब बहुत भारी अपराधको क्षमा करानेका साधन(उपाय) है।।२।।

लेख: इस 'विविक्त' श्लोककी व्याख्यामें 'तत्र' पदसे लेकर 'आह' पद तक श्लोक द्वयेन (दो श्लोकोंसे) इस पदका अध्याहार समझना चाहिये. तात्पर्य यह है कि इन्द्रका आगमन कहना तो पहले कह दिया गया होनेसे यहां अनुवाद मात्र है. विविक्त इस दूसरे श्लोकका अर्थ नमस्कार है जो प्रार्थनाका अंग है और अगले तीसरे 'दृष्टश्रुत' इत्यादि श्लोकसे प्रार्थना की है इस प्रकार दूसरे और तीसरे श्लोकोंका अंग सहित प्रार्थना करना अर्थ है।।२।।

दृष्टश्रुतानुभावस्य कृष्णस्यामिततेजसः ।
नष्टत्रिलोकेशमद इन्द्र आह कृताञ्जलिः ।।३।।

अतुलित तेजको धारण करनेवाले श्रीकृष्णके अद्भुत प्रभावको देख और सुनकर इन्द्रके मनसे त्रिलोकोंके ईश्वर होनेका मद जाता रहा और वह हाथ जोड़कर इस प्रकार प्रार्थना करने लगा।।३।।

इस प्रकार नमस्कार करके इन्द्र 'दृष्टश्रुतानुभावस्य', इस श्लोकसे स्तुति आरम्भ करता हुआ कहता है. शंका: देवता झुठ नहीं बोलते हैं और न सीपमें

चांदीके भ्रमकी तरह आरोपसे ही कोई बात कहते हैं. इन्द्र भगवानके उत्कर्षको नहीं जानता है. यदि जानता होता तो भगवानका अपराध नहीं करता और विपरीत बुद्धिवाला है तो फिर भगवानकी स्तुति कैसे करता है? समाधान इन्द्रने अभी गोवर्धनका उद्धरणरूप भगवानका प्रभाव देखा और पूतनाके प्राण सहित स्तन्यपान, आदि प्रभाव सुने. इतना ही नहीं किन्तु ओर भी अधिक हैं यह सूचित करते हैं कि जैसे जाज्वल्यमान धधकती हुई अग्नि सभीको जला देगी ऐसा जान पड़ता है. वैसे ही देदीप्यमान भगवानका तेज भी सब कुछ करनेमें समर्थ है ऐसा जाना जाता है क्योंकि, भगवानका तेज अतुलित है. इसलिए उस(इन्द्र)का त्रिलोकीका स्वामी होनेका अभिमान नष्ट हो गया. तब केवल नाम मात्रका वह इन्द्र (भगवद्दत्त) अधिकारी पदको प्राप्त हुआ, दोनों हाथ जोड़कर प्रार्थना पूर्वक इस प्रकार बोला।।३।।

इन्द्र उवाच

विशुद्धसत्वं तव धाम शान्तं तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम् ।
मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो न विद्यते ते ग्रहणानुबन्धः ।।४।।

इन्द्रने कहा भगवान्, आपका धाम(स्थान, तेज) विशुद्ध सत्वरूप है, शान्त और तपोमय है. रजोगुण और तमोगुणका नाश करनेवाला है. गुणोंके द्वारा प्रचलित यह मायामय संसार आपका स्पर्श तक करनेके योग्य नहीं है।।४।।

व्याख्यार्थ: इन्द्र दश प्राणरूप, दश श्लोकोंसे भगवानकी स्तुति करता है.

क्रियाशक्तिप्रधानोऽयं बाह्यश्चायं तथाविधः ।
पुरुषार्थप्रसिद्ध्यर्थं षड्गुणं स्तौति माधवम् ।।का.१।।

कारिकार्थ: इस इन्द्रमें तथा इस वेदबाह्यमें भी क्रियाशक्ति प्रधान है. अपने पुरुषार्थकी ठीक-ठीक सिद्धिकेलिए वह षड्गुण सम्पन्न माधव भगवानकी स्तुति करता है।।१।।

व्याख्यार्थ: भगवानके गुण निर्दुष्ट हैं यह कहनेकेलिए पहले दण्ड करनेके कारण प्राप्त हुआ क्रोध भगवानमें नहीं है और उस(क्रोध)का कारण और फल भी उनमें नहीं है. इस प्रकार हेतु और फलके दो श्लोकोंमेंसे प्रथम श्लोक 'विशुद्धसत्वं' से भगवानमें क्रोधके हेतुका अभाव सूचित करते हैं. वास्तवमें तो भगवान् सबकी आत्मा, सबके कर्ता और प्रेरक हैं. इसलिए उनमें क्रोधकी सम्भावना नहीं हो सकती आविर्भूत होकर की गई लीला भी क्रोधका कारण नहीं

है क्योंकि क्रोधके कारणभूत, रजोगुण और तमोगुण आपमें नहीं है. आपका धाम स्थान तथा स्वरूप रजोगुण तमोगुणसे ही केवल नहीं सत्वगुणसे भी छुआ हुआ नहीं हैं. विशुद्ध सत्व वसुदेव है, और वसुदेवमें अवतार लेनेके कारण भगवान् वासुदेव कहे जाते हैं. भगवानका धाम, 'तेज' भी सात्विक ही है अथवा सत्व ही भगवानका तेज है. यह सत्व किसी अन्य शुद्धसत्वसे मिश्रित नहीं है जीवोंमें रहनेवाला सत्व घटता बढ़ता रहता है. न्यूनाधिक होता है यह सत्व तो परमकाष्ठापन्न सर्वोत्कृष्ट ही है और शान्त है. परम शान्ति सत्वका उत्कर्ष है.

यद्यपि ज्ञान आदि भी सत्वके अन्य भेद हैं तो भी वे थोड़े विक्षेपरूप हैं. यदि ज्ञानादिक अल्प विक्षेपक न होते तो इन्द्र कैसे बोध करता कैसे त्याग करता, और भगवानका भजन भी कैसे करता. इसलिए शान्ति ही सत्वकी पराकाष्ठा है.

शंका: अज्ञानमें भी शान्तिकी पराकाष्ठा होती है क्योंकि वृक्ष आदि और सुषुप्ति(गाढनिद्रा)में सभी परम शान्तिका अनुभव करते हैं? इसके समाधानमें कहा है कि 'तपोमयं' आपका धाम तपोमय है. तप विहित ज्ञानरूप और तेजरूप होनेसे, वह तेज विहीन प्राणियोंको सन्ताप करता है. भगवानका तप तो (यस्य ज्ञानमयंतप) इस श्रुतिके अनुसार ज्ञानमय है ही. इसलिए मूर्खतामें होनेवाली उपरतिरूप शान्ति यहां अभिप्रेत नहीं है क्योंकि 'शम उपशमे' उपशम अर्थवाले शम धातुसे शान्ति शब्द बनता है यहां 'उप' उपसर्ग समीप अर्थका बोधक है. तात्पर्य यह है कि जिस शान्तिके द्वारा आत्माके समीप शान्त रहता है वही यहां शान्त कहा गया है न कि शान्तिमात्रमें निरोध अथवा अज्ञानके पास रहनेवाला शान्त कहा है इसी अभिप्रायसे मूलमें तपोमय विशेषण दिया है.

शंका: गीतामें कहा गया है कि गुणोंमें उपमर्द्य-उपमर्दक भाव होनेके कारण ये आपसमें कोई एक प्रबल होकर अन्य दोनों गुणोंको दबा देते हैं. जैसे जब, सत्वगुण प्रबल होगा तो रजोगुण तमोगुण दोनोंका बाध हो जायेगा. इसी तरह रजोगुण प्रबल होकर सत्वको भी दबा देगा(''रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत, रजस्सत्वं तमश्चैव...''). वहीं यह भी कहा है कि इन गुणोंसे शून्य बाहर कोई वस्तु नहीं है(''न तदस्ति...'') इस कारणसे यहां कहे गये सत्वको विशुद्ध अथवा केवल सत्व कैसे माना जाये? इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह सत्व 'ध्वस्तरजस्तमस्कम्' रजोगुण तमोगुणका नाशक है. सारे लोकोंके रजोगुण तमोगुणका नाश करनेवाले उस सत्वका नाश कोई कैसे कर सकता है. केवल

आधिदैविक सत्व ही उस सत्वका उपमर्दक हो सकता है. इस व्यवस्थासे उस आधिदैविक सत्वको सिद्ध किया है. तात्पर्य यह है कि वे आधिदैविक गुण अप्राकृत हैं सच्चिदानन्द भगवानके धर्मरूप हैं और प्राकृत गुणोंसे भिन्न हैं. यदि इन प्राकृत गुणोंसे वे आधिदैविक गुण भिन्न नहीं होते तो गीतामें इन प्राकृत गुणोंसे मुक्त कोई सत्व पृथिवी आदिमें नहीं है ऐसा नहीं कहा जाता; क्योंकि ऐसे सत्वके सर्वत्र सिद्ध होनेसे हेत्वाभाव दूषण हो जाता है. इसलिए भगवानका सत्व अप्राकृत और सच्चिदानन्द धर्मरूप है. इसी कारणसे भगवानके गुणावतारोंको भी अप्राकृत कहा गया है. दूसरी बात यह भी है कि यदि सत्वमें प्राकृत अप्राकृतका भेद नहीं हो तो एक सत्वका दूसरे सत्वके साथ सम्बन्ध कैसे हो सके. इससे भी भगवानके अप्राकृत गुण प्राकृत गुणोंसे भिन्न ही है.

वे तीन गुण ब्रह्मा, विष्णु और शिवमें प्रतिष्ठित होकर रह रहे हैं. सत्में सत्व, चित्में रजोगुण और आनन्दमें तमोगुणकी स्थिति है. तमोगुणकी प्रबलतामें सबकी विस्मृति हो जानेके कारण आनन्दका अनुभव होनेसे तमोगुण आनन्दका धर्म है. ब्रह्मादि देवोंको जब अन्य गुणकी अपेक्षा होती है तब वे विष्णु शिव आदिका परस्पर भजन करते हैं. भगवान् तो कभी विष्णुके सत्वका अवलम्बन(आधार) रूपसे ग्रहण करते हैं और कभी सत्वका आधार न लेकर केवल ही अवतार धारण करते हैं. यहां तो ये भगवान् सत्वको आधाररूपसे ग्रहण न करके केवल ही प्रकट हुए हैं तो भी इन्द्र तो भ्रमसे यही जान रहा है, कि श्रीकृष्ण सत्वका अवलम्बन लेकर ही प्रकटे हैं. नहीं तो गर्गाचार्यजी यह पहले ''कभी कहीं पर वसुदेवसे उत्पन्न हुआ है'' ऐसा नहीं कहते; क्योंकि वे तो सदा वसुदेवमें प्रकट होते हैं तो फिर पूर्वपक्षके अनुसार गर्गाचार्यका यह कथन असंगत हो जाता है इसलिए यहां भगवान् केवल ही प्रकट हुवे हैं किन्तु इन्द्र भ्रमसे सत्वका आश्रय लेकर प्रकट होना मान रहा है.

कृष्णको इन्द्र पहले तो भ्रमसे साधारण मनुष्य(बालक) ही मान रहा था. अभी यहां सत्वका आश्रय लेकर अवतरित हुवे मानता है. इस प्रकार इन्द्रके पहले भ्रमकी अपेक्षा यह भ्रम उत्तम है इसीसे इन्द्रकृत भगवानकी स्तुति है. यदि ये केवल न होते, सत्वका आधार लेकर ही प्रकट हुवे होते तो सारे गोकुलको व्यापि वैकुण्ठमें ले जानेमें समर्थ नहीं हो सकते. कभी-कभी विष्णुका भी ऐसा सामर्थ्य कहीं पर कहा गया है ''सगुण विशुद्ध सत्वरूप ब्रह्म विष्णुकी तरह सुशोभित

हुआ''(''ब्रह्मेव सगुणं बभौ''). यहां भी विष्णुका ही अथवा उनके गुणावतारोंका और कहीं पर भगवानका भी ग्रहण हो सकता है. यदि इन्द्र कृष्णको केवल अवतारी समझ लेता तो कृष्णकी तरह शोभित होना वर्णन करता. इस कारण इन्द्र अपने ज्ञानके अनुसार भगवानको विष्णु जानकर यह कह रहा है.

जब भगवानका सत्व सारे रजोगुण तमोगुणका नाशक है तो गुणोंका आश्रय लेकर रहनेवाली माया तो वहां ठहर ही कैसे सकती है. इसलिए कहते हैं कि देव पशु, पक्षि मनुष्यरूपसे चलता यह सारा गुणोंका प्रवाह मायामय मायासे प्रचुर है; क्योंकि गुणोंका कारण माया ही है. इसीलिए मूलमें 'अयं' यह दिखाई देनेवाला प्रवाह ऐसा प्रमाणरूपसे कहा है. यदि यह प्रवाह माया प्रचुर नहीं हो तो दृष्टि गोचर ही नहीं हो सके अतः दिखाई देनेवाला यह सब मायामय प्राकृत है अप्राकृत पदार्थके दर्शन नहीं होते. इस कारण यह प्राकृत प्रपञ्च(जगत्) आपका ज्ञान प्राप्त नहींकर सकता. इसलिए प्राकृत दृष्टिसे भगवानने अपकार किया, उपकार किया यह कहना आपमें सम्भव नहीं है।।४।।

लेख: 'विशुद्धसत्वं' इस श्लोककी व्याख्यामें 'परमार्थतस्तु' इत्यादि पदोंका आशय यह है. भगवान् अवतार समयमें ही सत्वका आधाररूपसे ग्रहण करते हैं. फिर मूलरूपमें भी क्रोधका अभाव कैसे सिद्ध हो सकता है. इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि भगवान् तो वास्तवमें सबकी आत्मा सबके कर्त्ता और प्रेरक हैं. इसलिए उनमें क्रोधकी सम्भावना ही नहीं है.

'सत्वेनाप्यसम्पृक्तम्' अर्थात् न्यूनाधिक भावको प्राप्त होनेवाले सत्वसे 'वह विशुद्ध सत्व' मिला हुआ नहीं है, भिन्न है.

तपोमय–सामीप्यमें भेद होता है. इसलिए आत्माका सामीप्य सम्भव नहीं है. तब 'निरोधेन' इस पदसे दूसरा पक्ष कहते हैं कि सारी इन्द्रियोंका निरोध करनेसे. इस कथनसे सुषुप्ति(निन्द्रा)में कही शान्तिका भी निषेध हो गया. इस तरह इसका परमात्माके समीप लेजानेवाली शान्ति यह अर्थ हुआ. परमात्मा तो 'ज्ञाज्ञौ द्वावजौ' इस वाक्यके अनुसार ज्ञानवान् ही है इससे अज्ञानकी समीपताका भी निषेधकर दिया. सुषुप्ति(निद्रा)में तो परमात्मामें लय होनेके कारण सामीप्य रहता ही नहीं. इसलिय मूढतासे होनेवाली शान्ति अग्राह्य है क्योंकि यह मूढ शान्ति अर्थ रूढ़िसे हैं. पराकाष्ठारूप शान्ति योगिक अर्थ है.

लोकानाम् – पहले कहे वाक्य प्राकृत सत्व विषयक है क्योंकि हे धातः,

आपका सत्व इत्यादि श्लोक व्याख्यामें भगवानके सत्वको अप्राकृत सिद्धकर चुके हैं.

'सति इति' सत् और चित् सत्व और रजसमें क्रमसे रहनेके कारण वे उनके धर्म है. तमस् आनन्दका धर्म है. तमोगुणमें आनन्द इसलिए कहा गया है, कि तमस् सबकी विस्मृतिकर देता है. इससे उसमें आनन्दका अनुभव होता है और आनन्दका स्वरूप ही ऐसा है, कि उसमें अन्य कुछ भी जानने योग्य विषय रहता ही नहीं.

भगवांस्तु – गुणके अवतार ब्रह्मा, विष्णु, शिवमें ऐसा सामर्थ्य नहीं है, यह इस 'तु' शब्दसे सूचित किया गया है.

'आधारत्वेन' देहरूपसे अर्थात् अप्राकृत गुण तीनोंका स्वरूप और प्राकृत गुण तीनोंके गुण हैं यह विभाग है 'आधारात्वेनैव' यहां 'एव'कारसे यह सूचित किया है, कि आवेशवाले देहरूपसे भेदरूपसे नहीं. विष्णु तो सत्त्वात्मक होनेसे गुणरूप है सगुण नहीं है. इसलिए 'तदवताराः' सत्वदेहको ग्रहण करनेवाले मत्स्य आदि अवतारसे तात्पर्य है. जब भगवान् अंशावतारूपसे प्रकट होते हैं तब भगवान् कृष्ण भी सत्व देहको धारण करते हैं इस प्रकारसे भगवान् 'कृष्णश्च एतेवा गृह्यन्ताम्' यह अन्वय सम्बन्ध है यद्यपि यहां भगवान् अंशावतारूपसे नहीं प्रकटे हैं, तो भी इन्द्र रजोगुण तमोगुणके आश्रयवाली अपनी बुद्धिके अनुसार भगवानके धाम(स्थान)को विशुद्ध सत्व कहता है. गुण प्रवाहके मायामय होनेमें प्रमाण है 'अयम्' अन्यथा, यदि मायाकी प्रचुरता न हो और केवल ब्रह्म ही हो, तो यहां माया शब्दका अर्थ प्रकृति है. 'तस्मात्' इत्यादिका तात्पर्य यह है, कि दृश्य होनेके कारण बन्धन करनेका स्वभाववाला यह प्राकृत प्रपञ्च(जगत्) आपके ज्ञानका अनुबन्धन नहींकर सकता आपके ज्ञानको अपना विषय नहींकर सकता है इसलिए एक प्राकृतकी तरह आपमें क्रोधादिकका सम्भव नहीं है.

योजना: व्याख्यामें 'ज्ञानादय'से लेकर 'भजेत्' तक ग्रन्थका तात्पर्य यह है. शंका: परम शान्तिको ही सत्वका उत्कर्ष कहना उचित नहीं है. क्योंकि ज्ञान तथा गीतोक्त संगत्याग(''मुक्त संगोऽनहं वादी''), धैर्य आदिमें सत्वका उत्कर्ष उचित है. इसके समाधानमें कहा है कि ज्ञानादिक अल्प विक्षेपरूप हैं और सत्वके अवान्तर भेद हैं. वे सत्वका उत्कर्षरूप नहीं है, सत्वका उत्कर्षरूप तो परम शान्ति ही है. इसलिए शान्ति रहितको ज्ञानादिक भी विक्षेपरूप ही है. इन्द्र

सात्विक है और ''सत्वात् संजायते'' सत्वके कारण उसे ज्ञान भी हुआ किन्तु वह विक्षेपरूप ज्ञान शान्ति प्राप्त न होनेके कारण उपयोगी नहीं हो सका. इसीसे वह(इन्द्र) कभी तो भगवानका बोध करता है (भगवान् मानने लगता है) कभी भूलकर वर्षा आदि उपद्रव करने लगता है और कभी विशुद्ध सत्वं इस प्रकार स्तुति करने लगता है. इससे इन्द्रका किया हुआ बोध भगवत्त्याग और भजन ये सब अस्थिर होनेके कारण विक्षेपरूप ही है. इसीलिए आगे पराजितके प्रसंगमें उस(इन्द्र)को फिर मोह हो जायेगा.

'तपोमयं' पदकी व्याख्यामें ''न तु शान्ति मात्रे निरोधेन'' इत्यादि ग्रन्थका अभिप्राय यह है, कि इन्द्रियोंके निरोध मात्रसे प्राप्त हुई शान्तिसे ही ''यह शान्त पुरुष है'' पुरुषके शान्त बनजानेमें शास्त्रका तात्पर्य नहीं है, किन्तु आत्माके समीप स्थिति होने पर ही शान्त पदकी चरितार्थता शास्त्रसम्मत है. वह आत्माके पास स्थिति ज्ञानके द्वारा होती है इसलिए, 'तपोमयं' इस विशेषणसे अज्ञानसे होनेवाली शान्तिका निवारण किया है इस कथनमें यह तपोमय विशेषण ही प्रमाण है क्योंकि 'यस्य ज्ञानमयं तपः' श्रुतिमें तपको ज्ञानरूप कहा है. इसलिए लोकमें शान्ति शब्दसे शान्ति मात्रका ग्रहण हो जाने पर भी यहां तो ज्ञानसे प्राप्त हुई शान्तिका ही ग्रहण है.

''यदा ब्रह्मादिषु इतरापेक्षा'' इत्यादि ग्रन्थका तात्पर्य यह है कि जब ब्रह्माको सत्व अथवा तमसकी उपेक्षा होती है, तब वह क्रमसे विष्णु अथवा शिवका भजन करते हैं इसी तरह अन्य गुणोंकी, अपेक्षा होने पर विष्णु, ब्रह्मा और शिवका तथा शिव भी विष्णु और ब्रह्माका भजन करते हैं इसी कारणसे पुराणोंमें विष्णुको शिवका और शिवको विष्णुका हृदय कहा है (''शिवस्य हृदयं विष्णु विष्णोश्च हृदयं शिवः''). यह गुणावतार विष्णु और शिवके परस्पर भजनकी व्यवस्था है. पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण तो गुणावतार ब्रह्मा-विष्णु-शिव इन तीनोंके अवतारी परब्रह्म परमकाष्ठापन्न है. यही व्याख्यामें 'भगवांस्तु कदाचित्' इत्यादि पदोंसे कहा है. यहां तो यह केवल निरावरण पूर्ण पुरुषोत्तम शुद्ध सत्वका आधार न लेकर ही प्रकट हुए हैं. यदि यह अवतार भी विशुद्ध सत्वके आश्रयमें होता तो गर्गाचार्यजीका ''प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातः'' कथन असंगत हो जाता क्योंकि सदा ही शुद्ध सत्वका, आश्रय रहने पर, ''क्वचित् जातः क्वचित् न जातः'' क्वाचित् प्राकट्य नहीं कहते. कारण कि

''विशुद्ध सत्वं वसुदेव शब्दितम्'' वसुदेव शब्दका अर्थ ही तो शुद्ध सत्व है.

शंका: यहां वसुदेव शब्दसे शूरपुत्रका तात्पर्य है. इसलिए शूरपुत्र वसुदेवजीके घर कभी पुत्र होनेका कथन उचित ही तो है. इसके उत्तरमें कहा है, कि वसुदेव आधिदैविक विशुद्ध सत्वरूप है और विशुद्ध सत्वमें सदा ही आविर्भावका स्वीकार है. अतः क्वाचित्क प्राकट्य कथन असंगत ही बना रहता है इसलिए कभी शुद्ध सत्वमें आविर्भाव होता है और जब पूर्णावतार होता है, तब विशुद्ध सत्वमें आविर्भाव नहीं होकर केवल ही होता है– यह तात्पर्य है. इस प्रकार यहां यह पूर्णावतार होने से सत्वमें आविर्भाव नहीं है, किन्तु इन्द्र भ्रमसे इसको भी सत्वमें ही आविर्भाव जान रहा है. जब कृष्णावतार पूर्णावतार नहीं होता है, तब सत्यके व्यवधान(आधार) होनेके कारण कृष्ण सगुण ग्रहण करने चाहिये–तभी 'ब्रह्मेव सगुणं बभो' सगुण कहना संगत होता है. नहीं तो ब्रह्म–विष्णु–पूर्णका उपमान और सगुण दोनों कथन विरुद्ध हो असंगत हो जाते हैं. तब तो, 'कृष्ण वद् बभौ' ऐसा अनन्वय करते. इसलिए सगुण पदसे विष्णु तथा गुणावतारोंका ग्रहण ही है.

'प्राकृतमेववैतत् सर्वम्' इन पदोंका अभिप्राय यह है, कि यह दृश्यमान जगत् प्रकृति सम्बन्धवाला है इसका समवायिकारण प्रकृति नहीं है इसलिए प्राकृत इन्द्रियां इसको देख सकती है क्योंकि 'यज्ञबलिन्याय'से (जैसा देव वैसी पूजा) जगत् भी प्रकृतिका सम्बन्धी और इसको देखनेवाली इन्द्रियां भी प्राकृत(प्रकृतिके सम्बन्धवाली) है. वास्तवमें दृश्यमान जगत् ब्रह्म समवायिकारण होनेसे मायिक मिथ्या नहीं है यह निष्कर्ष है. लीला प्रपञ्चमें जहां प्रकृतिका सम्बन्ध नहीं है जो अप्राकृत है, वह प्राकृत इन्द्रियोंसे ग्रहण भी नहीं किया जा सकता. व्याख्यामें 'प्राकृत' शब्दकी प्रकृति शब्दसे शैषिक(सम्बन्ध) अर्थमें अण् प्रत्यय द्वारा हुई है. इसलिए औपनिषद् पुरुषः (उपनिषदोंसे जाना जायेगा) 'चाक्षुषं रूपं' (नेत्रोंसे ग्रहण किया जाए)की तरह प्रकृतिसे सम्बद्ध प्राकृत शब्दका अर्थ है.

टिप्पणी: इन्द्र स्तुतिकी व्याख्यामें 'दशभिः प्राणश्लोकैः' इत्यादि पदोंका अभिप्राय यह है इन्द्रने भगवानका अपराध किया है. इस कारण उसके आधिदैविक सर्वस्व और आधिदैविक दश प्राणोंका तिरोभाव(नाश) हो जानेसे वह मृतप्राय सा हो गया. इसलिए अब आधिदैविक प्राणोंको प्राप्त करके अपने जीवन

लाभकेलिए दशविध प्राणोंकी संख्याके अनुसार दश श्लोकोंसे स्तुति करता है. यह स्तुतिके दश श्लोकोंकी संख्याका तात्पर्य कहा है. शंका: 'गोवर्धने धृति शैले' (गोवर्धन पर्वतो उठा लेने पर) इस वाक्यसे जिस तरह भगवानने क्रियाशक्ति प्रकट इन्द्रको अभी बोध कराया, इसी तरह पहले ज्ञानशक्ति प्रकट करके बोध क्यों नहीं करा दिया. यदि पहले ज्ञानशक्तिका भी बोध करा देते तो, अभी और आगे भी भगवानका माहात्म्य जानकर, अपराध नहीं करता यद्यपि यह माना, कि इन्द्र भगवानकी भुजारूप होनेसे, क्रियाशक्ति प्रधान है, तो भी प्रयोजन सिद्धिकेलिए उसमें ज्ञानशक्तिका आविर्भाव भी करदेना उचित ही था. इसके उत्तरमें कहते हैं, कि तथाविध यह इन्द्र हैतुक कर्मका सम्बन्धी होनेसे, वेदबाह्य है, ज्ञानका अधिकार उसको नहीं है तभी इसने गोपों आदिका नाशकर देनेकी आज्ञा मेघोंको दी थी फिर भगवानने प्रयोजनकेलिए जितनी क्रियाशक्ति प्रदान की थी उसके उपयोगी ज्ञान भी प्रदान किया, तभी इन्द्रको ज्ञान हुआ कि भगवानका अपराध करनेसे उसके चारों पुरुषार्थ और भगवत्प्रदत्त ऐश्वर्य वीर्य आदि छः गुणोंका तिरोधान हो गया है. इन दशोंकी सिद्धिकेलिए दश संख्याके श्लोकोंसे भगवानकी स्तुति करता है यह कारिकामें कहे, 'पुरुषार्थ सिद्ध्यर्थम्' इत्यादि पदोंका स्वारस्य है.

लेख: पुरुषार्थ और धर्म आदिगुणोंकी उत्कर्षयुक्त सिद्धिकी अभिलाषासे इन्द्र छः ऐश्वर्य सम्पन्न भगवानकी स्तुति करता है. स्तुतिके इन दश श्लोकोंमें चार श्लोक चारों पुरुषार्थकी और छः श्लोक ऐश्वर्य आदि गुणोंकी सिद्धिकेलिए हैं. इस अभिप्रायसे दस श्लोकोंसे स्तुति करता है।।४।।

कुतो नु तद्धेतव ईश मन्युलोभादयो येऽबुधलिङ्गभावाः ।
तथापि दण्डं भगवान् बिभर्ति धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय ।।५।।

हे ईश्वर, जब आपमें अज्ञान और अज्ञानसे होनेवाला देहसम्बन्ध नहीं है, तब अज्ञान और शरीरके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए दूसरे शरीरके बन्धनमें डाल देनेवाले और अज्ञानके चिह्नभूत ये क्रोध लोभ आदि भाव भला आपमें कैसे रह सकते हैं. तथापि आप धर्मकी रक्षा और दुष्टोंका निग्रह करनेकेलिए दण्डकी व्यवस्था करते हो. आप भगवान् हैं. इसलिए क्या करनेसे क्या होगा? इसका ज्ञान आपको ही है।।५।।

भगवान् दूसरोंकी बुद्धिकी विषमता(दोष)का नाश करते हैं. उनमें विषय

बुद्धि और उससे होनेवाले (परिणाम)कार्य क्रोध आदिका सम्भव कैसे हो सकता है. भगवानमें क्रोध, लोभादिका नितान्त(सर्वथा) अभाव ही है. यह 'कुतो नु' इस श्लोकसे कहते हैं. 'नु' यहां वितर्क अर्थमें प्रयुक्त हुआ है. ग्रहण और मायाके कार्य (परिणाम) क्रोधादि आप(भगवान)में हो ही नहीं सकते. हे ईश(सर्वसमर्थ) यदि आपमें भी क्रोधादि हो, तब तो आप भी उनके हेतु मायादिके पराधीन होकर ईश्वर ही न रहें, आप तो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र ईश्वर हैं. सभी आपके वशमें हैं आप किसीके वशीभूत नहीं है.

दूर किये जाने योग्य दोष यद्यपि बहुत हैं, तो भी यहां प्रकरण गत दो दोष अपकारी इन्द्र पर क्रोप और यज्ञके द्रव्य पदार्थोंका लोभ स्पष्ट दिखाई देते हैं. इसी अभिप्रायसे 'मन्युलोभादयः' मूल केवल दोनोंका ही निर्देश है. क्रोध राजस और लोभ तामस है. शंका ये दोनों दोष तो स्पष्ट दिखाई देते हैं. इसलिए प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तुका निषेध कैसे हो सकता है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि ये अज्ञानी पुरुषोंकी अज्ञानताके चिह्नसूचक हैं. अर्थात् क्रोध करना और लोभी होना यह अज्ञानी पुरुषोंके लक्षण हैं सर्वज्ञ और धीरोंके ये चिह्न नहीं हैं. श्रुतिविरोधके कारण क्रोध लोभादि दोष भगवानमें नहीं मानने चाहिये. किसीका भी यह अनुभव नहीं है कि भगवानमें क्रोध लोभ दोष हैं केवल कार्य अथवा परिणाम इन्द्रयाग भंग आदिसे भगवानमें क्रोध आदिकी कल्पनाकर लेना तो अनुचित ही है क्योंकि याग भंग आदि कार्य, क्रोधके बिना भी हो सकते हैं. प्राकृत पुरुषोंके जो कार्य क्रोधादिके द्वारा होते दिखाई देते हैं वे भगवानमें स्वभावसे ही स्वतः ही हो जाते हैं. ऐसे कार्य, दोषसे ही हो सकते हैं, गुणसे नहीं हो सकते यह तो नियमसे कहा नहीं जा सकता, क्योंकि दुःखरूप दोषसे जैसे आंसू आते हैं, वैसे आनन्दरूप गुणसे भी तो, आंसू आते हैं. इस तरह यहां भी इन्द्र पर क्रोधसे भी निग्रह और अनुग्रहसे भी निग्रह सम्भव हो सकनेके कारणसे भगवानमें क्रोधादिकके होनेमें कोई भी प्रमाण नहीं है और न कोई युक्ति ही है. इससे यह सिद्ध है कि भगवानमें क्रोधादि नहीं हैं.

क्रोधादिके न होने पर भी भगवान् जो दण्ड करते हैं इससे ज्ञात होता है, कि धर्मकी रक्षा और दुष्टोंके निग्रहकेलिए ही भगवान् दण्ड देते हैं. इसलिए लौकिक और भगवानमें यह अन्तर है, कि लौकिक दण्डका फल धर्मरक्षा नहीं होता और भगवानमें लौकिक (दण्डका) साधनरूप क्रोधादि होते नहीं है. साधन भगवान् ही है और वहां भगवानका स्वरूप ही साधन है. यह सिद्धान्त है. फल

भ्रमयुक्त है निश्चित नहीं है. नहीं तो फलके अभावमें कोई किसी काममें प्रवृत्त ही नहीं हो. भगवान् यदि इस तरह यागभंग नहीं करते, तो पाखण्डके प्रचारके द्वारा धर्मका नाश हो जाये. धर्म तो सबका कल्याणकारक है और भगवान् यदि गोवर्धन धारण करके अपना प्रभाव प्रकाशित नहीं करते तो दुष्टोंका निग्रह नहीं होता. यद्यपि यहां पूर्वप्रचलित इन्द्रके यज्ञ स्वामित्वका नाश और मानका भंगरूप अधिक शिक्षा ये दो दण्ड हैं, तो भी याग भंगरूप एक दण्डकी दण्डरूपमें गणना न करके एक(मानभंग)को ही दण्डरूप मानकर, मूल श्लोकमें दण्ड एकवचन प्रयुक्त हुआ है. ऐसा करने पर ही यही होता है यह ज्ञान आपको ही है क्योंकि आप भगवान् हैं. भगवान् हो वही ऐसा जान सकता है. इसलिए उसके फलकी साधकतामें किसी दूसरे प्रमाणके अन्वेषणकी अपेक्षा रहती ही नहीं।।५।।

लेख: व्याख्यामें 'फल भावः' इत्यादिका तात्पर्य यह है कि दण्डके फल धर्मरक्षा और दण्डके लौकिक कारण क्रोधका अभाव है. राजाके दण्डका भी धर्मरक्षा फल होता है. याग भंग धर्मकी रक्षाकेलिए है और गोवर्धनके उद्धरणका दुष्ट निग्रह फल है. यागभंग करनेसे यागके स्वामित्वका अभिमान दूर किया और गोवर्धनके उद्धरणका मानभंगरूप अधिक शिक्षा फल है.

योजना: व्याख्यामें 'अनुग्रहादपि निग्रह' अनुग्रहसे भी निग्रह किया जाता है क्योंकि ''देवस्य कोपोपि वरेण तुल्यः'' देवका क्रोध भी वरदानके बराबर है. लौकिक ''भगवतो एकत्र अपरत्र'' इत्यादि पदोंका अभिप्राय यह है, कि लौकिकमें दण्ड देनेकी इच्छावाला भी यदि असमर्थ हो तो क्रोधका फल दण्ड नहीं होता है और भगवानमें लौकिक दण्डका कारण क्रोधके न होने पर भी केवल अनुग्रहसे भगवान् दण्ड देते हैं. शंका: भगवान् किसीको दण्ड देते हैं तो उसकी सम्पत्तिका नाश अथवा कंस आदिकी तरह उसकी मृत्यु हो जाती है. इसलिए फलसे साधनका अनुमान करने पर तो अनिष्ट फलका साधन क्रोध ही सिद्ध होता है अनुग्रहका अनिष्ट फल कैसे हो सकता है. इसके समाधानमें कहते हैं कि 'फल भ्रमप्रतिपन्नम्' सम्पत्ति आदिका नाश अथवा मरण दण्डका फल नही है. किन्तु मुक्ति ही दण्डका फल है, जो भगवानके द्वारा उसे आगे दी जायेगी इसलिए सम्पत्तिके नाश अथवा मरणको दण्डका फल भ्रमसे समझा जा रहा है.

शंका: भगवानको यदि कंसादिकोंकेलिए भी मुक्ति देना अभीष्ट है, तो

फिर भक्तोंकी तरह ही मुक्ति न देकर मारकर ही उन्हें मुक्ति क्यों देते हैं. इसके उत्तरमें कहते हैं कि ''अन्यथा प्रवृत्तिर्नस्यात्'' दुष्कर्म करनेवाले दुष्टोंको भी भक्तोंकी तरह ही मुक्ति दे दें उनकी सम्पत्ति और शरीरका नाश न करें तो फिर सन्मार्गमें किसीकी प्रवृत्ति नहीं होगी क्योंकि सज्जनता और दुर्जनताका फल जब समान ही होगा तो कोई सन्मार्गमें क्यों चलेगा? ''यदि भगवानेवं न कुर्यात्'' और यदि भगवान् दुष्कर्म करनेवालोंको भी भक्तोंकी तरह सुखसे ही मुक्ति दे दें उनकी सम्पत्ति अथवा शरीरका नाश न करें तो फिर अनिष्ट फलकी प्राप्तिका भय न रहनेसे सब ही निषिद्ध कर्म करने लग जाये और तब पाखण्डकी प्रवृत्तिसे धर्मका नाश ही हो जाये. ''स च सर्वेषां श्रेयोरूपः'' वह धर्म तो सबका ही मंगल करनेवाला है. यहां 'स' वह पदसे ''पटोलपत्रं पित्तघ्नं नाडी तस्य कफापहा'' तस्य(उसकी) पदसे पटोलकी तरह धर्म नाश पदके अन्तर्गत धर्म शब्दका परामर्श है।।५।।

पिता गुरुस्त्वं जगताम् अधीशो दुरत्ययः काल उपात्तदण्डः ।
हिताय चेच्छातनुभिः समीहसे मानं विधुन्वन् जगदीशमानिनाम् ।।६।।

आप जगतके पिता, गुरु स्वामी और दुर्निवार दण्डधारी कालरूप हैं. अपने आपको ही लोकोंका ईश्वर माननेवाले मुझ जैसे मूढोंके मिथ्या अभिमानको दूर करके उनके कल्याण और मोक्षकी इच्छासे ही समय-समय पर स्वेच्छासे अवतार धारणकर दण्ड देते हो।।६।।

इस प्रकार दो श्लोकोंसे यह निरूपण किया, कि भगवानने प्रयोजनकेलिए ही इन्द्र पर दण्ड किया है. अब 'पिता' इस श्लोकसे यह कहते हैं कि यह तो इन्द्रकेलिए शिक्षा ही की है, दण्ड नहीं किया है. पिता पुत्रोंको, गुरु शिष्यको, राजा प्रजाको और काल आदि पुरुषोंको जो ताड़ना देते और मारते भी हैं, किन्तु वह मारना दण्ड नहीं है, शिक्षा ही है. आप तो सबके सर्वरूप हो. जन्मदाता होनेसे पिता हो, वेदके कर्ता होनेसे गुरु और सब जगतके अधीश्वर होनेसे स्वामी हो. ब्रह्मादिको भी अधिकार आप ही देते हो. इसलिए आप ही अधीश्वर हो. दुर्निवार काल(मृत्यु) हो. काल मृत्युका अतिक्रमण कोई भी नहींकर सकता है. दण्डधारी यमराज हो. परलोकमें भी आपके अधिकारी देव ही दुःख देनेवाले हैं इस प्रकार कर्म कराने तथा कर्म करनेकी प्रेरणा देनेवाले होनेसे आप ही सबके अधिकारी हो और इच्छानुसार शरीर धारण करके राजा आदिका

शरीर धरकर लोकोंके कल्याणकेलिए ही आप दण्ड करते हो और अपनेको ही लोकोंका ईश्वर माननेवालोंके अभिमानको विशेषरूपसे दूरकर देते हो. 'इच्छातनु' पदसे मत्स्य आदिका ग्रहण है. पुरुषावतार पितारूप है, मत्स्यावतार गुरुरूप, कुर्म और वराह अवतार अधीश्वर, नृसिंह और वामन अवतार मृत्यु और दण्ड करनेवाले हैं. इसी तरह अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये. श्लोकमें कहे 'च' शब्दका अर्थ यह है, कि उनको और जगतको भी मुक्ति देनेकेलिए भगवान् शिक्षा देते हैं।।६।।

ये मद्विधाज्ञा जगदीशमानिनस्त्वां वीक्ष्य काले भयमाशु तन्मदम् ।
हित्वार्यमार्गं प्रभजन्त्यपस्मया ईहा खलानामपि तेऽनुशासनम् ।।७।।

जो मेरे समान अज्ञानी लोग अपनेको जगदीश मानकर मदान्ध हो जाते है, उनका वह मद अन्तकालमें आपके भयानक स्वरूप दर्शन करके तुरन्त ही नशेकी तरह उतर जाता है, और वे अहंकार रहित होकर सन्मार्गमें लगकर आपका निरन्तर भजन करने लग जाते हैं. इसलिए आपकी गोवर्धनोद्धारण आदि रूप चेष्टा भी दुष्टोंकेलिए शिक्षारूप है।।७।।

ऊपरके श्लोकमें कहा है, कि भगवान् हितकेलिए ही दण्ड देते हैं, वहां किस हितकेलिए दण्ड करते हैं हित शब्दमें सन्देह है. इसलिए इन्द्र अपने दृष्टान्तसे 'ये मद्विधाज्ञा' इस श्लोकसे विवरण करता है, मेरी(इन्द्रकी) तरह वरुण आदि भी अज्ञानी(मूर्ख) हैं. अज्ञानी नहीं होते तो वे नन्दरायजीको क्यों ले जाते? उनके अज्ञानका कारण यह है, कि वे अपने आपको ही जगतका ईश्वर माने बैठे हैं. यद्यपि वे भगवानकी आज्ञाका ही पालनकर रहे हैं, तो भी उनको ऐसा ज्ञान नहीं है, इस कारणसे, उनके सारे कार्य मूर्खतासे ही होते हैं. तथापि उन्हें जगतके स्वामीपनका अभिमान स्पष्ट है. मोहके कारण ही वे इतने अभिमानी ही रहे हैं. वे अन्तकालमें भय स्वरूप आपके दर्शन करके उसी समय अपने स्वामी भावके मदको छोड़ देते हैं और आर्यमार्ग भगवानका नाम स्मरण तथा तुलसी, गोपीचन्दन आदि धारण करने लग जाते हैं. कई तो मेरी तरहसे आपको नमस्कार करने लग जाते हैं. परन्तु जब तक वे आपके भयानक स्वरूपका दर्शन नहीं करते, तब तक उनकी आर्यमार्गमें प्रवृत्ति नहीं होती. इससे यही सिद्ध होता है, कि धर्मकी रक्षाकेलिए ही आप दण्ड देते हैं. 'प्रभजन्ति' 'प्र' प्रकर्षसे वे आपको भजते हैं. तात्पर्य यह है, कि इतने प्रकर्षसे वे आपको भजने लग जाते हैं, कि जिससे उन्हें

पहली अभिमानकी सी अवस्था फिर प्राप्त न हो सके. उनका गर्व दूर हो जाता है. गर्व ही आर्यमार्गमें प्रवृत्ति नहीं होने देता. इसलिए कौतुक मात्रसे की हुई भी आपकी गोवर्धनोद्धरण लीला दुष्ट लोगोंकेलिए शिक्षारूप ही हुई. इस कारणसे आपकी यह चेष्टा मात्र भी सफल ही हुई।।७।।

स त्वं ममैश्वर्यमदप्लुतस्य कृतांहसस्तेऽविदुषः प्रभावम्।
क्षन्तुं प्रभोऽर्थार्हसि मूढचेतसो मैवं पुनर्भून्मतिरीश मेऽसती ।।८।।

हे नाथ, ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हो मैं आपके प्रभावको भूल गया, इसी कारण मुझसे यह अपराध बन गया है. हे जगदीश्वर, मुझ मूढमतिके अपराधको क्षमा करके ऐसी कृपा कीजिये कि फिर मेरी ऐसी कुबुद्धि कभी न हो।।८।।

इस प्रकार भगवानने जो कुछ किया, वह शिक्षाकेलिए ही किया है यह निरूपण करके ज्ञानसे भी किया हुआ कार्य चित्तमें कदाचित् अपराधरूपसे भासमान (प्रतीत) हो जाये तो अब इस सन्देहकी निवृत्तिकेलिए 'स त्वं' इस श्लोकसे प्रार्थना करता है. मैं ऐश्वर्यके मदसे फूल गया. इसीसे मुझसे अपराध बन गया. ऐश्वर्य मद और अपराध इन दोनोंका कारण यह है कि मैं आपके प्रभावको नहीं जानता था, प्रभो, आपके माहात्म्यको न जाननेवाले मुझ अज्ञानीके अपराधको क्षमा करिये. दूसरे प्रकारसे भी क्षमा प्रार्थना करता है कि आप प्रभु(सर्वसमर्थ) हैं, इसलिए मेरे अधर्म पर विचार न करके और मुझे निरादीन तथा भ्रान्त बुद्धिवाला समझकर क्षमा कीजिये, क्योंकि स्वामी(प्रभु) क्षुद्र पुरुषोंके किये दोषों(अपराधों)को तनिक भी मनमें नहीं लाते हैं. स्वयं मूढ चित्तवाला स्वीकार करनेसे मूढता सिद्ध ही है.

यदि यहां ऐसी शंका हो, कि भगवानने अज्ञानकी निवृत्ति करके शिक्षा भी कर दी. अब क्षमा करनेकी बात क्या बाकी रही? इसके उत्तरमें प्रार्थना करता है, कि मेरी ऐसी बुद्धि फिरसे न होवे. यदि भगवान् क्षमा न करें और मेरे अपराधका स्मरण किया ही करें तो सत्यसंकल्प तथा नित्य विषय ज्ञानवाले भगवानके स्मरण मात्रसे मेरेमें रहा हुआ अपराध भी उत्पन्न होता ही रहे. सत्यसंकल्प भगवान् जिस विषयका स्मरण करते हैं, वह तत्काल उपस्थित हो जाता है. इसलिए क्षमा न करें और मेरे अपराधका स्मरण करते रहें तो अपराध भी उत्पन्न ही होता रहे. यदि भगवान् मेरे अपराधका स्मरण नहीं करेंगे तो फिर वह उत्पन्न भी नहीं हो सकेगा; क्योंकि भगवानका स्मरण (करना) ही तो

उसके(अपराधके) उत्पन्न होनेका साधन है. जब धन(स्मरण) ही नहीं होगा तो फिर वह उत्पन्न ही कैसे हो सकेगा. अपराधका पहला कारण ऐश्वर्य मद तो दूर हो ही चुका है. यह बुद्धि असती(दुष्ट) है, यह स्वसम्बन्धियोंको भी असत्(बुरे) मार्गमें प्रवृत्तकर(लगा) देती है. इससे ऐसी दुर्बुद्धिकी निवृत्तिकी प्रार्थना उचित ही है।।८।।

तवावतारोयमधोक्षजेह भुवो भराणामुरुभारजन्मनाम् ।
चमूपतीनामभवाय देव भवाय युष्मच्चरणानुवर्तिनाम् ।।९।।

हे अधोक्षज देव, पृथ्वीकेलिए स्वयं भाररूप हो रहे तथा पृथ्वी पर और अनेक पापरूप भार लादनेवाले आसुरी प्रकृतिके सेनापतियोंका विनाश और आपके चरणसेवकोंके कल्याण(मोक्ष)केलिए ही आपने नररूपसे यह अवतार लिया है।।९।।

दुष्टोंके निराकरणकेलिए ही आपका अवतार है. दुष्ट दो तरहके हैं एक तो स्वरूपसे ही दुष्ट और दूसरे दोष सम्बन्धसे दुष्ट. इनमें प्रथम स्वरूपसे दुष्टोंके दोषोंका तो निराकरण हो ही नहीं सकता. दूसरे दोषके सम्बन्ध दुष्ट हुवे हम लोगोंके दोषोंका ही निराकरण करना उचित है, हम लोग निराकरण(नाश) करने योग्य नहीं हैं इस अभिप्रायसे 'तवावतारोयं', यह श्लोक कहते हैं. आपका यह अवतार मुख्यरूपसे भूमिके भारभूत सेनापतियोंका विनाश और आपके चरणसेवकोंका भव (स्थिति या कल्याण)केलिए है. अन्य अवतार तो एक ही भार निराकरण अथवा सज्जनोंकी रक्षा कार्य करते हैं. कोई एक ही पुरुष पहले दुष्ट हो और समय पाकर आपके चरणोंका आश्रय ले ले तो उस पर आपको निग्रह और अनुग्रह दोनों ही करने चाहिये. अब मैं आपकी शरणमें आया हूं. इसलिए शरणागत पर अनुग्रह कर्तव्य है. निग्रह(दण्ड) तो आपकर ही चुके हो. यदि अब रक्षा नहीं करोगे तो आपके इस अवतारका निग्रह अनुग्रह दोनोंकेलिए होना सिद्ध नहीं होगा.

आप अधोक्षज हैं. इन्द्रियजन्य ज्ञान आपसे नीचा है, आप तक नहीं पहुंच सकता है. आपका यह अधोक्षजरूपसे प्राकट्य उक्त दोनों कार्यके सम्पादनकेलिए है. अर्थात् अधोक्षजरूपका कार्य तथा इस प्रकटरूपका कार्य दोनों कार्योंकेलिए है. एक-एक कार्य तो आपने पहले भी किया है, परन्तु यहां गोकुलमें तो आपको ये दोनों ही कार्य करता है. पृथ्वी पर अधिक भार

करनेकेलिए ही जिनका जन्म है, जिनके जन्म लेनेके कारणोंमें पृथिवीको दुःखित करना और अपनी मृत्युको निमन्त्रण देना ही एक कारण है. जैसे नावमें बैठा हुआ दुष्ट नावमें स्वयं भाररूप है और अपनी उच्छृङ्खलतासे नावको ड़िगमिगाकर उसमें बैठे सभी जनोंको व्याकुल तथा नावके डूब जाने पर सभीका और अपना भी नाशकर देता है. अथवा अधिक भारका ही जिनमें जन्म है. इस प्रकार भाररूपता उच्छृङ्खलता और भार जनकतारूप तीनों दोषोंसे परिपूर्ण होकर भी जो सेनाओंके नायक बने बैठे हैं उनका आपके प्राकट्य मात्रसे ही सूर्यके उदय होने पर अन्धकारकी तरह नाश हो जाता है. इसीसे श्लोकमें, 'अभवाय'(नाशकेलिए) पद दिया है. श्लोकमें हे देव इस सम्बोधन पदका अभिप्राय यह है, कि अब तो आपकी देवरूपसे पूजा करना चाहिये. जिनका शील स्वभाव आपके चरणोंका अनुवर्तन करनेका है उनको मुक्ति देने अथवा उनके संसारका प्रभाव करने किंवा उनके योग्य संसारकेलिए आप ही वैसे देवरूप होते हो।।९।।

नमस्तुभ्यं भवते पुरुषाय महात्मने।
वासुदेवाय कृष्णाय सात्वतां पतये नमः ।।१०।।

भगवान्, पुरुष, महान, वासुदेव, श्रीकृष्ण और यादवोंके स्वामी आपकेलिए बार-बार नमस्कार हो।।१०।।

इस प्रकार प्रार्थना करके अपराध क्षमा कराने अथवा अपने भगवदीय भावकी सिद्धिकेलिए नमस्कार करता है भक्तिमार्गको प्रकट करता हुआ वह दशविध लीलायुक्त भगवानको नमस्कार करता है. 'तुभ्यं' सामने दर्शन दे रहे आपकेलिए नमस्कार हो. तात्पर्य यह है, कि यह सामने दिखाई देनेवाले आप ही भगवान् हैं. आपमें आवेश आदिसे आया भगवत्व नहीं है. इस भगवान् पदसे ही स्थानसे लेकर निरोध पर्यन्त पञ्चम स्कन्धसे दशम स्कन्ध तककी छः प्रकारकी लीलाका निरूपण किया है 'पुरुषाय महात्मने' इन दो पदोंसे यह कहा है कि कार्यरूप और कारणरूप भी भगवान् हैं. पहले पुरुष महान् (महत्तत्व) इन दो पदोंसे भीतर और बाहर सब सिद्ध करनेवाले भगवानका निरूपण किया. 'वासुदेव', पदसे मोक्ष देनेवाले, कृष्ण पदसे फल तथा कृष्ण सदानन्दरूप होनेसे आश्रय भी देनेवाले कहे हैं. आप केवल दश प्रकारकी ही लीला नहीं करते हो अवतार धारण करके तो और भी अधिक करते हो यह 'सात्वतां पतये नमः' पदोंसे कहते हैं आप 'सात्वत्' यादवोंके स्वामी हैं दशविधलीलाकी तरह भक्ति

भी एक स्वतन्त्र है. इस कारणसे 'नमः' पदका फिर अलग प्रयोग किया है।।१०।।

लेख : 'नमो भगवते'का भाव यह है कि 'अनेनैव भगवत्पदेन' अर्थात् इसी भगवत् पदसे ऐसा अर्थ है. 'पुरुषाय' और 'महात्मने' इन दो पदोंसे अर्थ है कि आप 'सर्ग' और 'विसर्ग' लीलासे युक्त हैं. इस बात पर नागपत्नीयों द्वारा की गई भगवानकी स्तुतिके प्रसंगमें विवेचन किया जा चुका है इसलिए इसका विवेचन यहां नहीं किया जाता है, यह भाव है. अब दूसरेका विवेचन करते हैं 'महान्' इसका भाव यह है कि महत्तत्वरूप होनेसे तथा चतुर्मुख होनेसे विसर्गता अर्थात् विसर्ग लीला है.

योजना : 'नमस्तुभ्यम्'की व्याख्यामें ''भगवदीयत्वाय वा'' पदोंका भाव यह है, कि नमस्कारका क्षमापनरूप प्रयोजन पहले कहकर दूसरा प्रयोजन कहते हैं कि अपनेमें भगवदीयताकी सिद्धिकेलिए नमस्कार करता है दीनतासे भगवदीयता सिद्ध होती है और नमन दीनताका बोधक है. इस 'भगवते'(भगवानकेलिए) चतुर्थी विभक्तिके पदसे ही स्थानसे निरोध पर्यन्त छः लीलाका निरूपण किया है; क्योंकि ऐश्वर्यादि षड्गुण सम्पन्न भगवान् है.

'कार्यकारणरूपाय' पुरुष शब्दका अर्थ पुरुष शरीर है और वह महत्तत्त्व आदिका कार्य है. इसलिए महत्तत्त्व आदिके कार्यरूप विराट् शरीरधारीकेलिए नमस्कार करना अर्थ है. इस कथनसे सर्गलीलाका वर्णन किया है क्योंकि टिप्पणीजीमें सर्ग शब्दका अर्थ ''शरीररहित विष्णुका पुरुष शरीरका स्वीकार करना'' बतलाया है. 'महात्मने' पदसे कारणरूप महत्तत्त्वरूपको नमस्कार है. इससे विसर्गलीला कही है क्योंकि महत्तत्व चतुर्मुख विसर्गरूप है ''पुरुषसे ब्रह्मादिकी उत्पत्ति होना'' विसर्गका लक्षण किया है.

पुरुष और महात्मा शब्दोंका दूसरा अर्थ कहते हैं, कि 'पुरिशेते' शरीरमें शयन करनेवाला पुरुष शरीरके भीतर रहकर भीतर सब सिद्ध करता है. इसी तरह महात्मा(महांश्चासौ आत्मा) पदसे सर्वत्र व्यापकरूपसे बाहर भी सबका सिद्ध करना कहा है. इस प्रकार पुरुष और महात्मा पदोंसे सर्गलीला और विसर्गलीलाका वर्णन किया है और भगवत् शब्दसे छः प्रकारकी लीलाका वर्णन यहीं उपरकर ही आए हैं. इस प्रकार मिलाकर आठ लीलाओंका निरूपण किया, (वासुदेवायेति मोक्षदाता) वासुदेव पदसे मुक्तिलीला और (कृष्णाय सदानन्दत्वादाश्रयश्च) कृष्ण 'सदानन्द' पदसे आश्रयलीलाका निरूपण है

''भक्तिरेकैव स्वतन्त्रेति पृथङ् नमस्कारः'' इन पदोंका अभिप्राय कहते हैं. यद्यपि इस श्लोकमें पहले एकबार कहे 'नमः' शब्दसे ही नमन सिद्ध था फिर भी 'सात्वतां पतये नमः' यहां 'नमः' पदकी आवृतिसे यह सूचित किया है कि दशविध लीलाओंकी तरह एक भक्ति भी उद्धारकर देनेमें स्वतन्त्र है. यहां उपर 'भगवान्' पदसे छः प्रकारकी लीलाओंके निरूपणमें ईशानुकथारूप भक्तिका निरूपण हो जानेके उपरान्त भी फिर भक्तिके वर्णनसे सूचित होता है, कि भक्ति उक्त सब लीलाओंकी तरह ही स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है. जैसे प्रथम स्कन्धमें चौबीस अवतारोंके वर्णनमें कृष्णावतार वर्णन करके फिर भी अंशित्व और पूर्णता सूचित करनेकेलिए ''कृष्णस्तु भगवान् स्वयं'' कृष्णका दुबारा निर्देश किया गया है. इसी तरह यहां भी दशविधलीलाके अन्तर्गत वर्णित भक्तिसे इस स्वतन्त्र भक्तिको भिन्न बतानेकेलिए (भक्तिका) दुबारा निर्देश है।।१०।।

स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्त्तये।
सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः ।।११।।

भक्तोंकी इच्छाको पूर्ण करनेकेलिए अवतार लेनेवाले विशुद्ध चिद्रूप स्वरूपवाले सर्वरूप और सबके बीजरूप तथा सब प्राणियोंकी आत्मा चिद्रूप आपको नमस्कार है।।११।।

इस प्रकार 'परमार्थतः' भगवानके परम(साक्षात्) स्वरूपको प्रणाम करके लौकिक रसकेलिए मोहक लीलायुक्त भगवानको 'स्वच्छन्दोपात्तदेहाय' इस श्लोकसे नमस्कार करता है. भक्तोंकी इच्छाको पूर्ण करनेकेलिए भगवानने देह धारण किया है. भक्तोंकी भावनाके अनुसार आप नटकी तरह रूप धारण करते हो. रूप तो आपका विशेषतया चित्स्वरूप ही है. आप सर्वरूप ही हुवे हो इस कारणसे आपका वह विशुद्ध चिद्रूप सभी अभिलषितरूपोंका कारण है; क्योंकि सर्वरूप हुवे आपको भक्तोंका अभिलषितरूप धारणकर लेनेमें कुछ भी प्रयास नहीं है. आप सबके बीज कारणभूत हो, इसलिए अनन्त प्रकारके रूप धारण किये हुवे हो. यहां 'सर्वशब्द'का अर्थ सत् और बीज शब्दका अर्थ आनन्द होनेसे सदानन्दरूपताका भी वर्णन किया है. सब भूत प्राणिमात्रके आत्मा और चिद्रूप आपकेलिए नमस्कार है. इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि,

सच्चिदानन्दरूपाय भक्तेच्छापूरकाय हि।

शुद्धज्ञानस्वरूपाय फलसाधनरूपिणे ।।का.१।।

कारिकार्थ : इन्द्र सच्चिदानन्दस्वरूप भक्तोंकी इच्छाको पूर्ण करनेवाले शुद्ध ज्ञानस्वरूप और फल तथा साधनरूपको

व्याख्यार्थ: नमस्कार करता है।।११।।

योजना : व्याख्यामें सद्रूपता आदि पदोंका अभिप्राय कहते है. सर्व पदसे भगवानकी सद्रूपताका वर्णन किया है क्योंकि सद्रूपसे अंशरूपसे भगवान् सर्वरूप है. आनन्द सबका बीज है इससे बीज पदसे भगवानकी आनन्दरूपता कही है क्योंकि श्रुतिमें सबकी आनन्दसे ही उत्पत्ति कही है(''आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते''). सर्वभूतात्मपदसे भगवानकी चिद्रूपताका वर्णन किया है. इस सारे अर्थका सार 'सच्चिदानन्दरूपाय' इत्यादि कारिकामें संगृहित किया है।।११।।

मयेदं भगवान् गोष्ठनाशायासारवायुभिः ।
चेष्टितं विहते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना ।।१२।।

मेरी पूजाका नाश देखकर मुझ अभिमानीको प्रचण्ड क्रोध हो आया था. इसीलिए मैंने मूसलधार जलकी वर्षा और प्रचण्ड पवन तथा ओलोंसे व्रजको नष्टकर डालनेकी चेष्टा की।।१२।।

इन्द्र 'मयेदं' इस श्लोकसे अपने अपराधको प्रकट करता है. कौन जानता है कि भगवान् अपराधका विचार नहीं करते हैं. यदि भगवानने कालान्तरमें (कभी) अपराधका स्मरणकर लिया तो विशेष शिक्षाकी आशंका करके, स्वयं ही अपनी कृतिका वर्णन करता है. गोकुलवासियोंके द्वारा मेरे यज्ञका भंगकर देनेसे, मैंने गोष्ठ (गोकुल)का नाशकर देनेकेलिए वर्षा वायु आदिसे चेष्टा की थी. वास्तवमें तो, मैंने और भगवानने इसी अन्नकूट यज्ञमें भोजन किया है. पहले कभी नहीं खाया क्योंकि भगवानने इसमें भुजा(इन्द्र)से भोजन किया है. इस कारणसे यह अन्नकूट यज्ञ वेद विहित ही है. अभिमानसे मैंने विपरीत मान लिया था. शंका: जब इस अन्नकूट यज्ञमें भोजन करके इन्द्र भी तृप्त हो गया, तो उस तृप्तिने जल और ओले बरसानेसे इन्द्रको क्यों नहीं रोका? इसके उत्तरमें कहते हैं कि शीघ्र ही प्रचण्ड क्रोधके उत्पन्न हो जानेसे उस हुई तृप्तिको मैं सर्वथा भूल गया. यदि ऐसा न हो (भूल न जाये) तो गोष्ठका नाश करनेमें कोई क्यों प्रवृत्त हो. व्रजवासी जन गायोंके रक्षक हैं, इस कारण मेरे भी वे सेव्य हैं. श्लोकमें 'भगवन्'

इस सम्बोधन पदसे इन्द्र अपने दासभाव अथवा अपनी निर्दुष्टताको सूचित करता है।।१२।।

योजना : 'मयेदं' श्लोककी व्याख्यामें ''न कदापि पूर्व भगवता भुक्तम्, हस्तेन भुक्तम्'' इत्यादि ग्रन्थका आशय यह है, कि नन्दजी युक्तिसे इन्द्रयाग करते आ रहे थे, वह वेद विदित नहीं था. इससे, उसमें भगवानने और भगवानकी भुजारूप होनेसे इन्द्रने भी कभी भोजन नहीं किया था. यह अन्नकूट उत्सव भगवानका बताया हुआ होनेसे वेद विहित हो गया. इसमें भगवानने भोजन किया है और भोजन श्रीहस्तसे किया है, इसलिए हस्तरूप इन्द्र(मैंने) भी अभी इसी अन्नकूटमें ही भोजन किया है. इससे यह सिद्ध हुआ, कि वह इन्द्रयाग युक्तिपूर्वक होनेसे वेदविहित नहीं था. इस कारणसे वह यज्ञ ही नहीं था. इसलिए उसका भगवानके द्वारा विघातकर देने पर भी वेदोक्त न होनेसे, उसमें यज्ञत्वके अभावसे यज्ञका विघात हुआ ही नहीं यज्ञ अविहित ही है.

जब इन्द्र यागका यज्ञत्व न होनेके कारण यज्ञ नाश ही नहीं हुआ तो इन्द्रने ''चेष्टितं विहते यज्ञे'' (याग भंग होनेसे मैंने यह चेष्टा की) ऐसा क्यों कहा? इस शंकाके उत्तरमें कहते है, कि उस युक्ति कल्पित अवैदिक इन्द्रयागमें मुझे(इन्द्रको) अपने यागका अभिमान था इससे इस(कल्पित)यागके भंग होने पर मैंने अपने यज्ञका नाश होना मान लिया यह अभिप्राय है।।१२।।

त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्तस्तम्भो हतोद्यमः ।
ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः ।।१३।।

हे ईश्वर! आपने मेरे अभिमानका ध्वंसकर दिया यह मुझ पर बड़ा ही अनुग्रह किया है. मेरे सारे प्रयत्न व्यर्थ हो गए. अब मैं ईश्वर, गुरु और आत्मारूप आपकी शरण आया हूं।।१३।।

तो भी स्वाभी भगवानने मुझ पर अनुग्रह ही किया. यह इस, 'त्वया' श्लोकसे कहता है. ईश्वर होनेके कारण, भगवान् अनुग्रह करते हैं. सेवकोंके क्रोध करने पर भी स्वामी तो उन पर क्रोध नहीं करते हैं. यदि स्वामी(भगवान्) उन पर कुपित हो जाये तब तो सेवकोंका नाश ही निश्चित है. सेवककी रक्षार्थ ही आपने मुझ पर अनुग्रह किया है. गोवर्धन पर्वतको धारण करके आपने मेरे गर्व अनम्रताको ही दूर किया मेरी तो रक्षा ही की है. वर्षादिके द्वारा नाश करना रूप मेरा प्रयत्न निष्फल हो गया है तब भी मुझे लज्जा नहीं हैं क्योंकि आप ईश्वर, गुरु

और आत्मा हैं. लोक, वेद और अनुभवसे भी मैं इस विषयमें लज्जित नहीं हूं, क्योंकि आपके द्वारा दी गई शिक्षामें मेरा कुछ भी अपमान नहीं है. मैं आपके शरणमें आया हूं, जो आप उचित समझें, करे यह भाव है।।१३।।

आभासार्थ: इन्द्रकी की हुई स्तुतिका सुनकर भगवानने प्रसन्न होकर उसके मनकी पीडाको दूर किया यह 'एवं' इत्यादि चार श्लोकसे कहते है–

श्रीशुक उवाच

एवं सङ्कीर्तितः कृष्णो मघोना भगवानमुम्।
मेघगम्भीरया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत्।।१४।।

इन्द्रने जब इस प्रकार भगवानकी स्तुति की तब भगवान् श्रीकृष्णने हंसते–हंसते मेघगर्जनके समान गम्भीरवाणीसे उसे यों कहा।।१४।।

उपक्रमः कृतं चैव हेतुश्चापि तथाकृतौ।
प्रसादश्चेति भृत्याय भगवान् स्वयमुक्तवान्।।का.१।।

कारिकार्थ : इन चार श्लोकोंमें प्रथम 'एवं' इत्यादि प्रथम श्लोकसे भगवानके अनुग्रहका शुकदेवजीने उपक्रम किया है. 'मया' इत्यादि दूसरे श्लोकसे भगवानने अपने द्वारा किये इन्द्रयागके भंगका वर्णन किया है. 'मामैश्वर्य' इत्यादि तृतीय श्लोकसे इन्द्रयाग भंग करनेका कारण बतलाया है और 'गम्यतां शक्र' इत्यादि चौथे श्लोकसे भगवानने अपने सेवक इन्द्र पर कृपा करनेका निरूपण किया है।।१।।

व्याख्यार्थ: इन्द्रके द्वारा इस प्रकार स्तुति किये गये परिपूर्ण ऐश्वर्यादि षड्गुणसम्पन्न भगवान् फलात्मा कृष्णने मेघगर्जनाके समान गम्भीर वाणीसे उनके तापको दूर करते हुवे हंसकर उसे मोहित करते हुवे इस प्रकार कहा. भगवानके हंसकर मोहित करनेके कारणसे ही इन्द्रको आगे भी मोह होगा।।१४।।

श्रीभगवानुवाच

मया तेऽकारि मघवन् मखभङ्गोनुगृह्णता।
मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्रश्रिया भृशम्।।१५।।

भगवानने कहा हे इन्द्र! तुम अपने इन्द्र पदके ऐश्वर्यके मदसे मतवाले (अत्यधिक उन्मत्त) हो गए थे. तुम नित्य मेरा स्मरण करते रहो इसीलिए मैंने तुम्हारे यज्ञका भंग किया है।।१५।।

भगवान् अपने कृत कार्यका वर्णन स्वयं, 'मया ते' इस श्लोकसे करते हैं.

हे इन्द्र यह तुम्हारे यागका भंग काकतालीयन्यायसे(काकस्यागमनं तालस्य पतन– कौएका आना और तालका गिरना) अकस्मात ही नहीं हो गया है, किन्तु तुम्हारे ऊपर कृपा करके ही मैंने ऐसा किया है. मेरा अनुग्रह यही है कि तुम्हें मेरा स्मरण सदा बना रहे, तुम मुझे कभी न भूलो. यदि मैं तुम्हारे यागका इस तरह भंग नहीं करता, तो तुम्हें मेरी अनुस्मृति नहीं होती. क्योंकि तुम तो नित्य अपने(इन्द्रके) वैभवमें मदोन्मत्त थे. फिर मेरा स्मरण कैसे होता।।१५।।

मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति।
तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्।।१६।।

जो ऐश्वर्य और लक्ष्मीके मदसे अन्धा हो रहा है, वह दण्ड देनेवाले मुझ ईश्वरको नहीं देख पाता. ऐसे मदान्धोंमेंसे जिस पर मैं अनुग्रह करना चाहता हूं, उसे ऐश्वर्य और सम्पत्तिसे भ्रष्टकर देता हूं।।१६।।

इस विषयमें तुम्हारे प्रार्थना करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह तो मेरा स्वाभाविक धर्म है यह, 'मामैश्वर्य' इस श्लोकसे कहते हैं. ऐश्वर्यको लक्ष्मीकी और लक्ष्मीको ऐश्वर्यकी परम्परा अपेक्षा होनेके कारणसे, ऐश्वर्य और लक्ष्मी दोनोंके ही होने पर मद पुष्ट होता है. इसमें केवल एकके ही होने पर मदकी पुष्टि नहीं होती. जैसे एक आंखसे विकल(काणा) अन्धा नहीं कहा जाता दोनों नेत्रोंके अभावमें ही अन्धा कहलाता है, इसी तरह ऐश्वर्य और श्री दोनोंके मदसे अन्धा जो हो जाता है वह हाथमें दण्ड धारण करके हनन(नाश) करनेवाले मुझको भी नहीं देखता है. इससे उसकी सम्पत्ति(लक्ष्मी)का नाशकर देता हूं, क्योंकि शिक्षाकेलिए दण्ड अवश्य देना ही चाहिये.

मारने पर भी, शिक्षा तब ही लगती है जब कोई समझे. इसलिए उसको समझ पड़ने (ज्ञान) होनेकेलिए मैं उसकी सम्पत्तिका नाश करता हूं. यदि ऐसा नहीं करूं तो उस पर मेरा अनुग्रह नहीं होवे यह एक साधारण व्यवस्था कृपा करनेकी है. विशेष व्यवस्थाको कहते हैं, कि जिस पर मैं अनुग्रह करना चाहता हूं, अर्थात्, यह मेरी कृपाको प्राप्त करे (ऐसी इच्छा करता हूं) उसको निर्धन करता हूं, क्योंकि विषयोंसे बुद्धिका नाश हो जाता है. तब जैसे प्रचण्ड हवामें दीपक नहीं ठहरता उसी तरहसे विषयोंसे अनुग्रह भी स्थिर नहीं रह सकता है. इसीसे विषयोंके कारणभूत वैभवका नाश करता हूं. जब थोड़ेसे ही कार्य सिद्ध हो, तब विशेष(महान्) अनुग्रह करना आवश्यक नहीं होता. इसी तरहसे थोड़ी कृपासे

कार्य सिद्ध करनेकेलिए पहले उसकी लक्ष्मीका नाश करता हूं. पीछे अनुग्रह होता है. इसीलिए पहले इच्छाका वर्णन किया. यहां बतलाया हुआ यह इच्छा और अनुग्रहका क्रम आगे 'यस्यानुग्रहमिच्छामि' इस श्लोकमें कहा जायेगा. इसलिए शिक्षा और कृपाकेलिए ऐश्वर्यका नाश किया जाता है. यहां तो केवल इन्द्र यागरूप ऐश्वर्यका निराकरण वर्णनसे, केवल एकका ही निरूपण है।।१६।।

गम्यतां शक्र भद्रं वः क्रियतां मेऽनुशासनम्।
स्थीयतां स्वाधिकारेषु युक्तैर्वः स्तम्भवर्जितैः ।।१७।।

हे इन्द्र! तुम अपने लोकको जाओ, तुम्हारा कल्याण हो. तुम सब लोकपाल–दिक्पाल अपने ऐश्वर्यका अभिमान छोड़कर मेरी आज्ञा पालन करते हुए अपना–अपना काम करो।।१७।।

हे इन्द्र तुम्हारे केवल यागका ही भंग किया. त्रिलोकके अधिपति तो तुम अभी बने हुवे ही हो इसलिए तुम जाओ, यह 'गम्यतां' इस श्लोकसे कहते हैं. यहां तुम्हें केवल शिक्षा ही देना अभिष्ट था और वह शिक्षाका ज्ञान तुम्हें थोड़ेसे दण्डसे ही करा दिया इससे तुम्हारे सभी ऐश्वर्यका भंग नहीं किया है यह कहते हैं, कि हे इन्द्र! तुम्हारा कल्याण हो इस प्रकार भगवान् इन्द्रके इन्द्रपनका भंग न करते हुवे उसे स्वास्थ्यका दान भी करते हैं. यदि स्वास्थ्य दान भगवान् न करते तो उनके भक्तोंका अपराध करनेसे, भक्तों और गोपोंमें रही भक्ति ही इन्द्रपनका नाशकर देती. भगवानके 'भद्रं वः' (तेरा कल्याण हो) वाक्यसे उसके इन्द्रत्वका नाश नहीं हुआ. आगे मोह न हो इसलिए कहते हैं कि मेरी आज्ञाका पालन करो, जिससे आगे मोह नहीं होगा. इन्द्र सारे दिक्पालोंमें प्रधान है इस कारणसे इन्द्रके द्वारा सभी अधिकारी देवोंको, आज्ञा देते हैं कि तुम सब अपने–अपने अधिकार पर रहो जहां जिसका अधिकार है उन अपने–अपने सम्बन्धी अधिकारोंका ही काम करो. मेरी आज्ञाका पालन करो और अपने अधिकार ऐश्वर्यका अभिमान मत करो. नम्र न होकर तो आज्ञा पालन नहीं करना चाहिये, क्योंकि भगवान् केवल आज्ञा पालनसे प्रसन्न नहीं होते हैं, नम्रतापूर्वक किये हुवे आज्ञापालनसे ही वे सन्तुष्ट होते हैं. भगवानके द्वारा इस प्रकार जानेकी आज्ञा दिया हुआ भी इन्द्र भगवानकी पूजा करनेकेलिए जानेमें विलम्ब करने लगा।।१७।।

श्रीशुक उवाच

अथाह सुरभिः कृष्णमभिनन्द्य मनस्विनी।

स्वसन्तानैरूपामन्त्य गोपरूपिणमीश्वरम् ।।१८।।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं इसके बाद मानवती कामधेनु अपनी सन्तानोंके साथ गोपरूप भगवान् कृष्णचन्द्रके निकट आकर उनका अभिनन्दन करके कहा।।१८।।

इस प्रकार इन्द्र पर की गई भगवानकी कृपाका वर्णन करके, कामधेनु पर भी कृपा करवानेकेलिए भगवान् पर कामधेनु कृत अभिषेक और स्तुतिका वर्णन, 'अथाह' इस श्लोकसे करते हैं. यह अभिषेक इन्द्रादिके अभिषेककी तरह स्वतन्त्र रीतिसे नहीं किया जा सकता, क्योंकि यहां भगवानका गोपरूपसे हीनभाव है. भगवान् यहां हीनभावसे ही लीलाकर रहे हैं. प्रार्थनासे संगति ग्रहण करके तो, अभिषेक किया जा सकता है. इस कारण प्रार्थना करनेकेलिए पहले स्तुति, 'अथाह' करती है. इन्द्रके वाक्योंके बाद कामधेनुने 'प्रभो' आपने गायोंकी रक्षा की, मेरे पुत्रोंके ही तुल्य इस इन्द्र पर भी कृपा की यह बड़ा ही उपकार किया इस प्रकार भगवानका अभिनन्दन किया.

कामधेनु स्वयं मनस्विनी(महामानवती) तथा सम्मान करने योग्य है. इसलिए वह ऐसा दृढ संकल्प किये हुई है कि यदि भगवान् उसके किये अभिषेकको स्वीकार न करें तो वह जीवित न रहेगी. उसका ही केवल ऐसा आग्रह नहीं है. किन्तु सभीको ऐसा आग्रह करना चाहिये इस अभिप्रायसे उसने वह अपनी सन्तान गायोंके साथ निकटमें मन्त्रणा करके कहा, कि गोकुलका अपकार करनेवाला इन्द्र हमारा इन्द्र न रहे. हे प्रभो! हम आपकी तरह अभिमान रहित नहीं हैं हम तो महामानवती हैं.

शंका: भगवान् कदाचित् यह कहें कि ऐसी धृष्टता क्यों करते हो, मैं तो सबका ईश्वर हूं, केवल इन्द्र ही होकर कैसे रहूं? इसके उत्तरमें कहती हैं, कि 'गोप रूपिणम्' आप हमारे पालक है. लोकमें जैसे पालक पाल्य गायें आदिका अनुसरण करते हैं इसी तरह लीलामें भी पालक आप पाल्यो(हम गायों)का अनुसरण करते हो. इसलिए जब आप इस प्रकार गौण पालकभाव धारणकर रहे हो तो हमारे किये ऐश्वर्य इन्द्ररूपसे अभिषेकको स्वीकार क्यों नहीं करोगे? स्वीकार करोगे ही।।१८।।

सुरभिरुवाच

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वसम्भव।

भवता लोकनाथेन सनाथा वयम् अच्युत ।।१९।।

सुरभिने कहा, हे कृष्ण! हे कृष्ण! हे महायोगी! हे विश्वरूप! और विश्वको उत्पन्न करनेवाले जगन्नाथ अच्युत भगवान् आपसे ही हम सब सनाथ हैं।।१९।।

यह तो पहले भी इन्द्र था, ईश्वर और यज्ञमें इन्द्र हुआ था. इसलिए ऐश्वर्य तो इस इन्द्रका ही है. हम कुछ भी अलौकिक (नई) बात नहींकर रहे हैं. अतः इन्द्ररूपसे किया जानेवाला अभिषेक उचित ही है. इस कारणको विज्ञापन करनेकेलिए कृष्ण-कृष्ण इत्यादि दो श्लोकोंसे भगवानकी स्तुति करती हैं. आदरसे कृष्ण-कृष्ण यह सम्बोधन दो बार किया है. उपाय जाननेवाला योगी और अलौकिक उपायका करनेवाला महायोगी होता है. महायोगीके किये एक ही कामके फल भिन्न-भिन्न होते हैं. जैसे यहां गोकुल पर घोर वात वर्षासे इन्द्रका क्लेश देना जानकर भी भगवानने परिणाममें उसीको क्लेश प्राप्त कराया.

'महायोगिन्' सम्बोधनका दूसरा अभिप्राय यह भी है, कि लीलामें लगे हुवे महायोगीकेलिए अनुचित-उचित कुछ भी नहीं होता, महायोगीको सब फबता है. इसलिए हमारे इन्द्र पदको भी आप ग्रहण करिये. आप विश्वके आत्मा हो. इस 'विश्वात्मन्', सम्बोधनसे प्रमेयका उत्कर्ष सूचित किया है. सब साधनोंमें योगके मुख्य साधन होनेसे, पूर्वकथित, 'महायोगिन्' सम्बोधन पदसे साधनका उत्कर्ष वर्णित है. सारे विश्वका सम्भव भी आपसे ही है. विश्वके अन्तर्गत वेद भी आ जाते हैं, इससे वेदोंके कर्ता और विश्वके आधार भी होनेके कारण, 'विश्व सम्भव' सम्बोधन पदसे प्रमाणकी उत्कर्षता कही है. फलके उत्कर्षका वर्णन सुरभि स्वयं अपनेमें ही करती है, कि सारे लोकोंके रक्षक आपसे ही हम सनाथ हैं, इन्द्रसे हम सनाथ नहीं हैं. इन्द्र तो हमारा घातक है. दूसरी बात यह भी है कि इन्द्र तो प्रत्येक मन्वन्तरमें बदलता रहता है, वह व्यवस्थित नहीं है और स्वभावसे यह जीव है, इस कारणसे, यह तो नियम्य है, नियामक नहीं है. इन्द्र तो वास्तवमें वही है, जो सबका नियामक है. इसलिए आप ही लोकनाथ हैं, आप ही हमारे नाथ हैं आपसे ही हम सनाथ हैं. इन्द्र तो न लोकनाथ ही है और न हम उससे सनाथ ही हैं. रक्षा करनेमें समर्थ ही, उचित पति होता है. इसलिए जीवन दान देनेवाले आप ही नाथ हैं. आप अच्युत हैं, आपकी सामर्थ्यमें कभी अभाव होता नहीं है. सदा एकरूप हैं।।१९।।

त्वं नः परमकं दैवं त्वं न इन्द्रो जगत्पते।
भवाय भव गोविप्रदेवानां ये च साधवः ।।२०।।

आप ही हमारे परमदेव हो. हे जगतके स्वामी! आप ही हमारे इन्द्र हो. इसलिए आप गायों, ब्राह्मणों, देवताओं और भगवद्भक्तोंके भी अभ्युदय और रक्षा करनेवाले होवें।।२०।।

इस प्रकार भगवान् नाथ हैं इसका उपपादन करके आप हमारे देव भी हैं यह 'त्वं नः' इस श्लोकसे कहते हैं. आप हम गायोंके उत्कृष्ट देव हो, हमारे भाग्यरूप भी और नियामक भी आप ही हैं. आप हमारे मध्यमें *'क्रीड़ा' करते हो, इन्द्रसे हमें अलग करके हमारा 'विजय' करते हो, हमारे साथ 'व्यवहार करनेवाले' और हमारी 'कान्ति(शोभा)' हो. इसीलिए हम आपकी 'स्तुति' करती हैं. हमारी 'सुन्दरता' और सारी 'गति'रूप आप ही हो. इस कारण आप देव हैं. आप केवल देव ही नहीं है, किन्तु देवेन्द्र भी आप ही हैं, क्योंकि परम ऐश्वर्य सम्पन्न केवल आप ही हैं और आप ही जगतके भीतर, बाहर नियामक होनेसे पति हैं. जगदीश होनेके कारणसे आप ही हमारे इन्द्र हो. इसलिए आप यज्ञका (घृत, दधि, दूध द्वारा) मुख्य साधन गायें, मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणों, और यज्ञभोक्ता देवोंके रक्षक होवें. यज्ञके परिपालक बनें.

इस प्रकार कर्मकाण्डमें प्रदर्शित धर्मका आचरण करनेवालोंके पूर्वकाण्डमें बताये गये धर्मकी रक्षाकेलिए प्रार्थना करके आगे निवृत्ति परायण भगवद्भक्तोंकी रक्षार्थ प्रार्थना करती हैं. साधु-भगवद्भक्तोंकी रक्षा करनेवाले भी आप होवें।।२०।।

*'दिवु' क्रीडा विजिगीषा व्यवहारद्युति स्तुति कान्ति गतिषु इति परमैश्वर्ये.

इन्द्रं नस्त्वभिषेक्ष्यामो ब्रह्मणा नोदिता वयम्।
अवतीर्णोऽसि विश्वात्मन् भूमेर्भारापनुत्तये ।।२१।।

हे विश्वकी आत्मा! आपने भूमिके भारको दूर करने(उतराने)केलिए अवतार लिया है. ब्रह्माजीकी प्रेरणासे हमारे इन्द्ररूपसे मैं आपका अभिषेक करूंगी।।२१।।

अभिषेक एक संस्कार है, इसलिए अभिषेक बिना शास्त्रानुसार इन्द्र नहीं होता है. अभिषेक हो जानेके बाद फिर दूसरा कोई अपनेको पति नहीं मानता है. यदि अभिषेक नहीं किया जाये तो मोहसे चाहे कोई अपनेको पति मान बैठे.

शंका: इन्द्रके अधिकारका अभिषेक करनेका अधिकार तो केवल ब्रह्माजीको ही है, तब अन्य(कामधेनु)ने अभिषेक कैसे किया? इसके उत्तरमें कहती हैं कि आप तो स्वभावसे इन्द्र हो ही, फिर भी ब्रह्माजीकी प्रेरणासे, हम आपका गोकुलनाथ(पति)रूपसे अभिषेक करती हैं. अपने पति(स्वामी)को गायोंके पति (इन्द्र) हीन पद पर अभिषेक करनेमें ब्रह्माजीको लज्जा आई. इस कारणसे वे स्वयं नहीं आये. स्वयं हीन हम तो अपनेसे महान् आपका पतिरूपसे अभिषेककर सकती हैं. इस कार्यमें सम्मतिकेलिए हमने ब्रह्माजीसे प्रार्थना की थी. तब उनने हमको इस कार्यमें प्रेरित किया है.

ब्रह्माजीने भी यह सोचकर कि 'भगवदधिष्टित' गायोंमें हवि(होम द्रव्य दूध घी) सबसे उत्कृष्ट होगा हमें शीघ्र प्रेरितकर दिया. ब्रह्माजीके द्वारा हमें आपका अभिषेक करनेकी शीघ्र प्रेरणा देनेका एक यह भी कारण है, कि आपने पृथ्वीके भारको उतारनेकेलिए अवतार लिया हैं. अतः शीघ्र ही पृथिवीके भारको दूर करके आप तिरोहित हो जायें, अपने अक्षरधाममें पधार जायें. इसलिए जल्दीसे, गायोंके इन्द्ररूपसे, अभिषेककर देना चाहिये. अखिल पति होकर केवल गायोंके पतिरूपसे आपका अभिषेक करनेसे आपमें हीनता दोष नहीं आ सकता, क्योंकि आप तो विश्वरूप हो रहे हो और व्यापि वैकुण्ठसे नीचे पधारकर दूसरी स्थितिको प्राप्त हो ही रहे हो. इसलिए हमारे इन्द्र होना(बनना) आपको उचित ही है. आप स्वभावसे तो इन्द्र हैं ही अभिषेकसे भी मैं आपको इन्द्र करूंगी।।२१।।

श्रीशुक उवाच

एवं कृष्णमुपामन्त्र्य सुरभिः पयसात्मनः।
जलैराकाशगङ्गाया ऐरावतकरोद्धतैः ।।२२।।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि कामधेनुने इस प्रकार भगवानका आमन्त्रण करके(पूछकर) अपने दूधसे और ऐरावत हाथीकी सूंढ़से लाए आकाश गङ्गा-मन्दाकिनीके जलसे अभिषेक किया।।२२।।

इस प्रकार प्रार्थना करके कामधेनुने भगवानका अभिषेक किया, यह 'एवं कृष्णमुपामन्त्र्य' इस श्लोकसे कहते हैं. फलरूप भी भगवानका देवतारूपसे उपामन्त्रण करके भगवानके स्वीकारकर लेने पर, अभिषेक किया ऐसा सम्बन्ध है. भगवानकी स्वीकृतिमें दयाको कारण बतलाते हुवे अभिषेककी

आवश्यकताको कहते हैं कि वह सुरभि है, देवोंसे वह डरती है. देव भी उसे खा जाते हैं, तो देवेन्द्र उसका भक्षणकर ले, तो इसमें कहना ही क्या है. इसलिए भगवानके शरण जाती हुई वह बहानेसे उनका इन्द्ररूपसे अभिषेक करने लगी. इसी कारणसे, सब वेदोंसे सिद्ध भी गोवध उसी समयसे बन्द हो गया. वह उपपातक(अल्पपाप) माने-जानेवाला महापातक माना गया उसके वधमें महापातकोंसे भी बढकर(अधिक) निन्दा होने लग गई.

पहले अपने दूधसे अभिषेक किया. इससे, वह दूध इन्द्रिय-इन्द्रके योग्य शक्तिवाला और इन्द्रको प्राप्त होनेवाला हुआ. फिर जलसे भी अभिषेक किया. आकाश गंगा शिशुमार चक्रके उदरमें प्रसिद्ध है, जिसका पञ्चम स्कन्धमें वर्णन आ चुका है. वह और उसका जल भी नित्य है. उसके जलमें तैरनेसे ही तारा कहे जाते हैं. ऐरावत हाथीकी सूंड अभिषेक करनेमें उत्तम गिनी जाती है. हाथीकी सूंडको पुष्कर कहते हैं और पुष्कर एक महातीर्थ प्रसिद्ध है. इस श्लेषसे हाथीकी सूंडका जल पुष्कर तीर्थके जलके समान पवित्र हो जाता है. हाथीकी सूंडके सम्बन्धसे जल अपवित्र नहीं होता किन्तु परम पवित्र हो जाता है. ऐरावतके अतिरिक्त आकाश गंगाके जलको कोई और ला भी नहीं सकता. इसीलिए ऐरावतका लाना कहा है।।२२।।

इन्द्रः सुरर्षिभिः साकं प्रहितो देवमातृभिः।
अभ्यषिञ्चत दाशार्हं गोविन्द इति चाभ्यधात्।।२३।।

देवर्षि नारदादिके साथ देवमाता अदिति आदि अथवा श्रद्धा आदिकी आज्ञासे इन्द्रने भक्तोंकी रक्षा करनेमें समर्थ भगवानका अभिषेक किया और उनका गोविन्द नाम रखा।।२३।।

इस प्रकार कामधेनुने अभिषेक किया, तब एकओर स्थित देवों और ब्राह्मणोंने भी भगवानका अभिषेक किया. वह, 'इन्द्रः', इस श्लोकसे कहते हैं. देवर्षि नारदादिके साथ अथवा नारदादिके द्वारा प्रीतिसे प्रेरित इन्द्रने देवमाता अदिति आदि अथवा श्रद्धा आदिके साथ सबकी सम्मतिसे सभीके साथ सुरभि और इन्द्रने सेवकोंकी रक्षा करनेमें समर्थ तथा सदा पालन करनेवाले भगवानका अभिषेक किया और गोविन्द(गायोंके इन्द्र) यह उनका दूसरा नाम प्रसिद्ध किया. गोविन्द शब्दमें 'भूवादयः'(धातव)की तरह अमृतका बीज 'व'कार मध्यमें दिया है. यह नाम रूढिजनक है, इसलिए धातुका अर्थ रूढिसे गौण हो गया. इसी

कारणसे यहां 'रन्' प्रत्ययका प्रयोग न करके अन्तमें धातुके अर्थमें 'अचू' प्रत्ययसे गोविन्द शब्द निष्पन्न(सिद्ध) होता है. इस तरह गोविन्द शब्द ही रूढिसे उचित है, गवेन्द्र नहीं है. श्लोकमें आये 'च' अव्यव पदसे, सबोंने अपने-अपने नामके आगे इन्द्र शब्दका प्रयोग करके इन्द्रेन्द्र, देवेन्द्र, सुरभीन्द्र, इत्यादि नाम रखे इससे व्रजेन्द्र, गोपेन्द्र आदि नाम भी प्रसिद्ध है।।२३।।

लेख : 'इन्द्रः' इस श्लोककी व्याख्यामें 'यथेष्ट प्रेरितः' पदोंका तात्पर्य यह है कि अपनी-अपनी रूचिके अनुसार देवेन्द्र, सुरभीन्द्र आदि नाम प्रसिद्ध करनेकी प्रेरणा की. अदितिके अतिरिक्त दूसरी देवमाता नहीं है, किन्तु श्लोकमें 'देव मातृभिः' बहुवचनसे श्रद्धा आदिका ग्रहण करने पर यह अर्थ है कि शुभ आदि धर्म पुत्र और सत्वके परिणाम हैं. इसलिए वे शुभ आदि भी देव हैं।।२३।।

तत्रागतास्तुम्बुरुनारदादयो गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः ।
जगुर्यशो लोकमलापहं हरेः सुराङ्गनाः सन्ननृतुर्मुदान्विताः ।।२४।।

तुम्बुरू, नारद आदि प्रधान गन्धर्व विद्याधर सिद्ध चारण आदि उस स्थान पर उपस्थित होकर, सकल लोकके पापको हरनेवाले हरिके यशको गाने लगे. अप्सराएं आनन्दमग्न होकर नृत्य करने लगीं।।२४।।

इस प्रकार भगवानका अभिषेक होने पर उत्सव सूचक बाजे बजने लगे. यह, 'तत्रागताः' इस श्लोकसे कहते हैं. मध्यम भी तुम्बुरुका नाम प्रथम लेनेका तात्पर्य यह है, कि तुम्बुरु गायन और वादन दोनों गुणवाला है. तुम्बुरु नारद आदि गन्धर्व(गायक) विद्याधर(वादक) सिद्ध(विचित्र इन्द्रजाल दर्शक) और चारण (नृत्यकला कुशल)से सब वहां आकर (भगवान्) जीवोंके सारे दुःखोंका कारणभूत मलों(पापों)का नाशकर देनेवाले भगवद् यशको गाने लगे. पापोंका फल दुःख है. भगवानके यशका गान करनेसे, वह केवल गान मात्र ही नहीं रहा, किन्तु सारे दुःखोंके कारण मलका नाश हो जानेसे, सबको ही अपने वांछित फलकी प्राप्ति हो गई. अप्सराएं अत्यन्त प्रसन्न होकर मनोहर नृत्य करने लगीं. वे भगवानके साथ रमण करनेको उत्सुक थीं किन्तु देवोंसे डरती थी. अब जब भगवानका इन्द्ररूपसे अभिषेक हो गया; तो वे निर्भय हो गई और इस अवसर पर उनका भी आना आवश्यक था. इसलिए वे आकर आनन्दमग्न हो भाव पूर्ण इस प्रकार नृत्य करने लगीं कि जिससे भगवान् उनके वशीभूत हो जाये।।२४।।

लेख : 'तत्रागताः' इस श्लोककी व्याख्यामें 'मुदाताहि' इत्यादि पदोंका तात्पर्य

इस प्रकार है. 'मुदा' पदका दूसरा अर्थ कहा है कि वे अप्सराएं पहले श्रीकृष्णके साथ ही स्थित थीं और अब भय मिट जानेसे वे भली भांति नृत्य करने लगीं. 'कृष्णरमणोत्सुक्यः(श्रीकृष्णके साथ रमण करनेमें उत्सुक) पदसे उनकी श्रीकृष्णके साथ स्थितिका निरूपण किया है. अर्थात् उनके मनमें श्रीकृष्ण पहेले ही स्थित है. यहां, 'मुदा' पदकी दो बार आवृत्ति अभीष्ट है, क्योंकि एक 'मुदा' पद तो आनन्दका वाचक होनेसे श्रीकृष्ण परक है. और द्वितीय 'मुदा' पद नृत्यमें उनकी प्रसन्नताका बोधक है. इसी प्रकार 'सनत्रतुः' पदमें 'सम्' उपसर्गके भावपूर्वक नृत्य और भगवानको वशीभूत कर लेनेवाला नृत्य दोनों अर्थ अभिप्रेत(लिए गए) हैं.

तं तुष्टुवुर्देवनिकायकेतवो व्यवाकिरंश्चाद्भुतपुष्पवृष्टिभिः।
लोकाः परां निर्वृतिमाप्नुवंस्त्रयो गावस्तदा गामनयन् पयोद्रुताम् ।।२५।।

प्रधान–प्रधान देवगण भगवान् पर दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करके उनकी स्तुति करने लगे. तीनों लोकोंमें परम आनन्द छा गया. उमंगके मारे गायोंके थनोंसे दूधकी धाराएं बह चली, जिससे पृथिवी भीग गई (दूधसे गीली हो गई)।।२५।।

भगवानका इन्द्ररूपसे अभिषेक होने पर सारा स्वर्ग लोक वहां आ गया. देवोंमें ध्वजारूप प्रधान प्रधान ब्रह्मादि देवोत्तमों अथवा देवोत्तमरूप मन्त्रात्मक वेदोंने इन्द्ररूपसे भगवानकी स्तुति की. भगवान् स्वयं इन्द्र हुवे हैं, इसी कारणसे वेदोंमें इन्द्रकी स्तुति प्रधान देवरूपसे की जाती है. वेदोंमें इन्द्र शब्द यदि प्राकृत इन्द्रका वाचक हो तो आधिदैविक यज्ञमें आधे हविर्भागका इन्द्रकेलिए होम और आधेका सारे देवोंकेलिए हवन लिखना संगत नहीं होता. इन्द्र शब्द भगवत्परक मानने पर ही आधा या सारा भाग दिया जाता, सभी संगत हो सकता है. श्रुतिने भी अर्थभागकी अधिकता कहकर, इन्द्रका उत्कर्ष श्रीकृष्णको लक्ष्य करके ही कहा है. भगवान् सर्वरूप हैं, सर्वशक्तिमान् और विरुद्ध सर्वधर्मोंके आश्रय हैं इसलिए उनके इन्द्रत्वमें तो कुछ भी असंगत नहीं है.

ब्रह्मादि देवोंने विचित्र पुष्पोंकी भगवानके ऊपर विशेष वर्षा की. इस प्रकार स्तुति और पुष्पवृष्टिके कथनसे देवोंकी वाणी और शरीरकी क्रियाका वर्णन करके, अब मानसिक क्रियाका वर्णन करते हैं कि तीनों लोक परम आनन्दित हो गये. हृदयमें रसपूर्ण(आनन्दित) हुई गायोंने बाहर भी रस(दूध)से पृथिवीको कीचड़मयी (चिकनी)कर दिया।।२५।।

नानारसौघाः सरितो वृक्षा आसन् मधुस्रवाः ।
अकृष्टपच्यौषधयो गिरयो व्यसृजन् मणीन् ।।२६।।

नदियोंमें भांति-भांतिके रसोंके पूर आगए. वृक्षोंके कोटरोंमेंसे मधु झिरने लगा. बिना जोते-बोए अन्न उत्पन्न होने लगे. पर्वतोंमें खानके भीतरके रत्न बाहर निकल आए।।२६।।

नदियोंमें घी, दूध आदि अनेक भांतिके रसोंके पूर आये. वृक्षोंमेंसे मधु झिरने लगा. औषधियां और धान्य बिना जोते बोये ही पकने लगे. पर्वत अपने भीतर खानोंमें छिपे रत्नोंको बाहर निकालने लगे. इस प्रकार जड़-चेतन सभीके उत्सवका निरूपण किया ।।२६।।

कृष्णेऽभिषिक्त एतानि सर्वाणि कुरुनन्दन ।
निर्वैराण्यभवंस्तात क्रूराण्यपि निसर्गतः ।।२७।।

हे कुरूनन्दन! कृष्णका अभिषेक होनेके समय स्वभावसे ही आपसमें बैर रखनेवाले क्रूर जीवोंने भी बैरभाव छोड़ दिया।।२७।।

अभिषेक वर्णनका उपसंहार करते हुवे पहलेके इन्द्रोंकी अपेक्षा भगवानका इन्द्ररूपसे अभिषेक होने पर, जो विलक्षणता हुई, उसका वर्णन 'कृष्णेभिषिक्ते' इस श्लोकसे करते हैं. कृष्ण सदानन्दका अभिषेक होने पर, वह तो अपने आनन्दसे सबको अभिसिंचन करनेवाला होकर भी, सबके द्वारा अभिषिक्त होता है यह बड़े आश्चर्यकी बात हुई. ये सबओर दिखाई देनेवाले, स्वभावसे ही क्रूर जीवोंने अपने जन्म सिद्ध बैरका त्यागकर दिया. उस समय शुकदेवजी भी निर्वैर भावकी अवस्था (स्थिति)को प्राप्त करके पशुओंके विरोधको प्रत्यक्ष देखते हुवे 'एतानि' इन्होंने बैर छोड़ दिया ऐसा कह रहे हैं.

कुरुनन्दन, यह सम्बोधन पद विश्वासकेलिए कहा है; क्योंकि उत्तम वंशमें उत्पन्न होनेवालेका ही इसमें विश्वास होता है. तात, इससे स्नेह सूचित होता है जो इस चरित्रमें निष्कपटताका बोधकर रहा है।।२७।।

इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य सः ।
अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम् ।।२८।।

इस तरह गोपों और गायोंके स्वामी गोविन्दका अभिषेक करके, उनसे आज्ञा लेकर इन्द्र भी देवर्षियोंके साथ अपने स्वर्गलोकमें चला गया।।२८।।

इस प्रकार अभिषेकके महोत्सवका वर्णन करके अभिषेक करनेवाले

इन्द्रका पुनः स्वर्गको लौट जानेका वर्णन 'इति' इस श्लोकसे करते हैं. पहलेसे ही गायों और गोकुलके पति भगवानका इस प्रकार गोविन्दरूपसे अभिषेक करके वह प्रसिद्ध अथवा भगवानके द्वारा अनुग्रहित इन्द्र उन(भगवान)की आज्ञा लेकर देवादिकोंके साथ पीछे स्वर्गमें चला गया. उसके मनमें ऐसा सन्देह हो गया, कि देवगण यहां भगवानके पास ही रह जायें. इसलिए उन्हें इन्द्रने अपने साथ ही ले लिया. भगवान् तो अपने ही स्थानमें बिराजते हैं. इसलिए आपकेलिए पीछे लौटनेका कोई प्रश्न ही नहीं है ।।२८।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) २४वें अध्यायकी (प्रचलित क्रमानुसार अध्याय २७ की) श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण कृत श्रीसुबोधिनी 'संस्कृत टीका'के तामस साधन अवान्तर प्रकरणका छट्ठा अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

अध्याय २५

वरुण लोकसे नन्दरायजीको छुड़ाकर लाना

पञ्चविंशे तु वरुणात् नन्दं मोचयिता हरिः।
ततः सर्वान् स्ववैकुण्ठे नेष्यतीत्युच्यते फलम्।।का.१।।

कारिकार्थ: इस पच्चीसवें अध्यायमें हरि नन्दरायजीको वरूणके पाससे छुड़ावेंगे. फिर सबको अपने वैकुण्ठमें ले जायेंगे. इस प्रकार अवान्तर(गौण) फलका वर्णन होगा।।१।।

अभिषेकश्च तैर्दृष्टो देवस्तोत्रादिकं श्रुतम्।
ज्ञाते देवोत्तमत्वे तु द्रष्टव्यं पौरुषं परम्।।का.२।।

कारिकार्थ: उन व्रजजनोंने भगवानका इन्द्रकृत अभिषेक देखा और देवोंके द्वारा की गई भगवानकी स्तुति सुनी. जिससे वे जान गए कि भगवान् सब देवोंमें उत्तम हैं. तदनन्तर पुरुष सम्बन्धीं सबसे श्रेष्ठ माहात्म्यका दर्शन होना चाहिये।।२।।

अन्यथा नन्दविज्ञानं भवेत् पर्यवसायि तत्।
अतस्तन्निग्रहो वाच्यो वरुणस्तेन सेवकः।।का.३।।

कारिकार्थ: यदि ऐसा न होता, तो नन्दरायजीको केवल इतना ही ज्ञान हो पाता कि श्रीकृष्ण केवल देवोत्तम नारायणका अंशरूप है. यह ज्ञान भक्तिमार्गका विरोधी है. इस विरुद्ध ज्ञानके कारण ही श्रीनन्दजीका निग्रह(बन्धन) कहना चाहिये. इससे वरुणने भगवानके सेवकका सा काम किया।।३।।

कालाद्युपासकश्चेत् स्याद् भगवत्सेवकः क्वचित्।
ततः क्लेशमवाप्नोति कृष्णादेव च मुच्यते।।का.४।।

कारिकार्थ: भगवानका सेवक यदि कहीं कभी काल आदिका उपासक हो जाता है, तो वह क्लेशको प्राप्त करता है. उस भक्तको उस क्लेशसे भगवान् ही मुक्त करते हैं।।४।।

ततो माहात्म्यविज्ञानं पूर्णं तस्य भविष्यति।
ततश्चिन्तनमात्रेण भगवान् स्वपदं नयेत्।।का.५।।

कारिकार्थ: तदनन्तर भक्तको भगवानके पूर्ण माहात्म्यका ज्ञान हो जायेगा. इसीसे, केवल चिन्तन करते ही, भगवान् उस भक्तको अपने स्थानमें ले जाते हैं।।५।।

टिप्पणी : 'अन्यथा नन्दविज्ञानम्' इत्यादि कारिकाका तात्पर्य यह है कि वरुणका ऐश्वर्य, वरुणका भगवानके आगे दासभाव और नन्दरायजीको वरुणके पाससे लौटा लाना यह सब पुरुष सम्बन्धी उत्कृष्ट माहात्म्यका द्योतक है. इस प्रकारका परम-उत्कृष्ट महात्म्य जान लेने पर ही, भगवानके पुरुषोत्तमरूपका ज्ञान होता है. भगवान् यदि नन्दरायजीको अपने परमोत्कृष्ट माहात्म्यका दर्शन नहीं कराते, तो वे पहले कि तरह ही भगवानको केवल देवोत्तम नारायणका अंश ही मानते रहते. पुरुषोत्तमको इस प्रकार नारायणका अंशरूप जानना भक्तिमार्गका विरोधी ज्ञान है. इस प्रकारके ज्ञानसे, आगे भजनानन्दका अनुभव नहीं हो सकता है. नन्दरायजीका भगवानके विषयमें अभी तक ज्ञान, भक्तिमार्गके विरुद्ध है. इसी कारणसे, उनका निग्रह(बन्धन) कराना चाहिये और तब उन्हें अपने निरवधि अनन्त माहात्म्य और पुरुषोत्तमरूपका ज्ञान उत्पन्न कराना चाहिये. ये दोनों कार्य भगवानने वरुणके द्वारा कराए. इसलिए भगवान् वरुणको सेवकरूपसे मानते हैं.

लेख: प्रथम कारिकामें 'मोचयिता' यह 'तृन्' प्रत्ययान्त पद है. ''स्व वैकुण्ठे नेष्यति'' (अपने वैकुण्ठमें ले जायेंगे). यद्यपि अभी भी यह लीला 'रमाक्रीडमभूत'के अनुसार व्यापि-वैकुण्ठमें ही हो रही है, तथापि जब भगवानने मानुषभाव ग्रहण किया, तब उस व्यापि-वैकुण्ठका भी लौकिक भाव हो गया था. अभी अर्जुनको अलौकिक स्वरूपके दर्शनकी तरह इन्हें दिव्य वैकुण्ठके दर्शन कराएंगे. नहीं तो नन्दरायजी श्रीकृष्णको नारायणका अंश ही जान पाते. उनको भगवानमें पुरुषोत्तमरूपका ज्ञान नहीं होता.

योजना: 'उच्यते फलम्' वैकुण्ठमें गोपोंको ले जानारूप गौण फल कहा जायेगा. 'पर्यवायि' इत्यादि पदोंका अभिप्राय लिखते हैं. इन्द्र कृत स्तुति और अभिषेक तथा देव आदिके दर्शनसे श्रीकृष्णको देवोत्तम जान लेनेके बाद पुरुष सम्बन्धी उत्तम माहात्म्यका दर्शन करना चाहिये, जिससे भगवानको पूर्ण पुरुषोत्तम जान सके. इन्द्रका दमन करना रूप सामर्थ्य देखनेसे तो भगवानमें केवल इन्द्रदमनकी शक्ति होनेका ही ज्ञान, सीमित ही ज्ञान होगा. इसलिए 'परमोत्कृष्ट' सर्वैश्वर्यका ज्ञान करानेकेलिए नन्दरायजीका निग्रह कहना आवश्यक है. इस श्रीनन्दजीके बन्धनके वर्णनसे वहां वरुणलोकमें वरुणके पृथिवी पर कभी नहीं देखा ऐसे लोकोत्तर वैभवको देखकर और ऐसे वैभवशाली वरुणको भी

श्रीकृष्णके आगे दासभावसे शरणमें आना देखकर नन्दरायजीको यह ज्ञान हुआ कि श्रीकृष्ण भगवान् सबसे श्रेष्ठ है. (तेन सेवकः) इसलिए वरुणने नन्दजीका बन्धन किया, नन्दजीने वरुणके वैभवको देखा. इस वरुण–वैभवको देखकर नन्दरायजीके मनमें भगवानके परम वैभवको देखनेकी इच्छा हुई और तब भगवानने उन्हें वैकुण्ठके दर्शन कराए. इस प्रकार, वरुण कृत बन्धनसे इतना उपकार हुआ. इसलिए वरुणने भक्त गोपजनोका उपकार किया. यह उपकार करके वरुणने भगवानके आगे अपना सेवक भाव प्रकट किया.

'कालाद्युपासकश्चेत'से लेकर 'क्लेशमवाप्नोति' तक कारिकाके पदोंका भाव यह है. कि भगवानके सेवक श्रीनन्दजीने द्वादशीरूप काल विशेषके उपासक होकर वरुण–सेवक द्वारा बन्धनरूप क्लेश उठाया.

यहां इन पाचों कारिकाओंका निष्कर्षार्थ लिखते हैं. इस २५वें अध्यायमें गोपोंको वैकुण्ठमें ले जाना रूप अवान्तर(गौण) फलका वर्णन है. इन्द्र कृत अभिषेक इन्द्रादि देवोंका दर्शन, उनके द्वारा भगवानकी स्तुतिका श्रवण, भगवानका इन्द्रको शिक्षा देना, आदिके द्वारा इन्द्रदमनादि कार्यसे भगवानको गोपजनोंने देवोत्तम तो जान लिया, किन्तु आगे वरुणका ऐश्वर्य, उस ऐश्वर्यशाली वरुणका श्रीकृष्णके आगे दासभाव, नन्दजीको वहांसे ले आना रूप अलौकिक सामर्थ्यको देखकर, पुरुषोत्तमरूपसे जानना है. यदि वरुणकृत स्तुति आदिको नन्दजी नहीं देख पाते, तो वे श्रीकृष्णको प्रथम ज्ञानकी तरह, नारायणका अंश ही माने रहते. पुरुषोत्तमका ज्ञान उनको नहीं होता. वह 'मन्ये नारायणस्यांशम्' श्रीकृष्णको नारायणके अंशरूपसे ज्ञान भक्तिमार्गके विरुद्ध है. इस कारणसे वरुणके द्वारा नन्दजीका निग्रह कहना आवश्यक है. वरुण भगवानका सेवक है. इस प्रकार इस लीलासे–भगवानने अपना अनन्त माहात्म्यका ज्ञान तथा भक्तिमार्गके विरुद्ध नारायणका अंशरूप ज्ञानका निराकरण दोनों कार्य करा दिए. इसलिए भगवान् वरुणको अपना सेवक मानते है. कालाद्युपासकश्चेत्– भगवानका सेवक यदि द्वादशी आदि काल साधन, तत्पर हो जाता है, तो वह श्रीनन्दजीकी तरह क्लेश पाता है और श्रीकृष्ण ही उस क्लेशमें मुक्त करते हैं. इस प्रकार क्लेश दूर करके स्वमाहात्म्यका ज्ञान कराकर मनोरथ करते ही स्वपद वैकुण्ठको ले जानेका वर्णन किया है.

इति कारिकार्थः.

श्रीशुक उवाच

एकादश्यां निराहारः समभ्यर्च्य जनार्दनम्।
स्त्रातुं नन्दस्तु कालिन्द्या द्वादश्यां जलमाविशत्।।१।।

श्लोकार्थ: श्रीशुकदेवजीने कहा–हे राजन्, नन्दरायजीने एकादशीके दिन निराहार व्रत रहकर मोक्षदाता जनार्दन भगवानकी पूजा की और द्वादशीके दिन बहुत ही थोड़ी द्वादशी होनेके कारण (द्वादशीमें ही पारणा करना चाहिये इसलिए) वरुणोदयसे पहले ही आसुरी वेलाका विचार न करके स्नान करनेकेलिए यमुनाके जलके भीतर प्रवेश किया।।१।।

व्याख्यार्थ: भगवानके सम्पूर्ण माहात्म्यका ज्ञान कराने और भगवानमें निरोध प्राप्त भक्तोंको वैकुण्ठ प्राप्तिका वर्णन करनेकेलिए प्रथम धर्मबुद्धिसे मर्यादामें लगे, सर्वथा भगवानका भजन न करनेवाले नन्दरायजीके अनर्थके सम्बन्धका वर्णन 'एकादश्यां' इस श्लोकसे करते हैं. नन्दरायजी विष्णुके व्रतमें परायण एवं धर्मनिष्ठ हैं. दूसरेको भगवानके माहात्म्यका ज्ञान न हो इसलिए ऐसा कहा है. माहात्म्यका ज्ञान करानेकेलिए ही इन्हें वरुणके पास ले जाया गया है. इसी कारणसे भगवानने वरुणका निग्रह नहीं किया. एकादशीका उपवास रहकर मोक्षके दाता जनार्दनकी विधिपूर्वक पूजा करके नन्दरायजीने व्रतमें अपने धर्मके भी अनुसार वैष्णवपक्षका आश्रय करके वैदिकपक्षको छोड़कर अर्धरात्रिके, समयमें द्वादशीके आजाने पर यमुनाजीके प्रवाहके भीतर जलमें प्रवेश किया. वैष्णवधर्ममें कहा है कि आधा मुहर्त बाकी रहने पर द्वादशीमें पारणाकेलिए मध्यरात्रिमें ठीक उठकर यथोचित क्रियाएं करे. मध्याह्न तक अग्निहोत्रादि नित्य, नैमित्तिक कर्मकर लेने चाहिये ऐसा शम्भुका आदेश है. इस वैष्णवधर्मके वचन पर विश्वास होनेके कारण नन्दरायजी स्नान करनेमें प्रवृत्त हुवे. जलमें प्रवेश ही नन्दरायजीको अनर्थसे सम्बन्ध करानेवाला हुआ।।१।।

तं गृहीत्वानयद् भृत्यो वरुणस्यासुरान्तिकम्।
अविज्ञायासुरीं वेलां प्रविष्टमुदकं निशि।।२।।

रात्रिमें आसुरी वेलाको न जानकर, स्नानार्थ जलमें प्रवेश करनेवाले नन्दरायजीको पकड़कर वरुणका सेवक वरुणके निकट ले गया।।२।।

वैष्णव धर्मको नहीं जाननेवाला, उस जलका रक्षक वरुणका सेवक, इसको नन्दरायजीका अन्याय समझकर, उनको पकड़कर वरुणके पास, ले गया

यह इस 'तं गृहीत्वा' श्लोकसे कहते हैं. वरुणका सेवक ही उनको वरुणके समीप ले गया. उसका, उनको ले जानेका, अभिप्राय यह था कि वह आसुरी वेला है और आसुरी वेलामें किया हुआ धर्म-कर्म असुरगामी(आसुरी) हो जाता है. इस बातको नन्दरायजीने नहीं जानकर ही, जलमें प्रवेश किया है. ऐसा मानकर, वह उन्हें, अपने स्वामी वरुणके पास ले गया. वास्तवमें तो यह वरुणका सेवक भी अज्ञानी था. यह आगे सातवें श्लोकमें कहा जायेगा।।२।।

चुक्रुशुस्तमपश्यन्तः कृष्णरामेति गोपकाः।
भगवांस्तदुपश्रुत्य पितरं वरुणाहृतम्।।
तदन्तिकं गतो राजन् स्वानामभयदो विभुः।।३।।

नन्दरायजीको जलसे बाहर निकलते न देखकर गोप लोग श्रीकृष्ण और बलदेवजीको ऊंचे स्वरसे पुकारने लगे. उनके उस करूण क्रन्दनको सुनकर और पिताजीको वरुणके द्वारा ले जाए गए जानकर, निजजनोंको अभय दान करनेवाले सर्व शक्तिमान भगवान् उस वरुणके निकट गए।।३।।

तब उन नन्दरायजीको छुड़ानेकेलिए सब गोप लोग हे राम! हे कृष्ण! इस प्रकार जोरसे आक्रन्दन करने लगे यह 'चुक्रुशु' इस श्लोकसे कहते हैं. गोपोंने अकस्मात् जलमें डूबे हुवे नन्दरायजीको जलसे बहार निकलते नहीं देखा. सब स्थितियों और सब कामोंमें गोपोंका जब कोई दूसरा उपाय नहीं सूझता है, तब वे भगवानसे ही प्रार्थना करते हैं, क्योंकि वे(गोपकाः) तुच्छ गोप हैं. तब घरमें ही सोये हुवे भगवान् उनके करुण क्रन्दनसे पिताजीका वरुणके द्वारा पकड़ मंगवाना जानकर, वहांसे ही वरुणके पास चले गये. वास्तवमें गोपोंसे कहकर ही गये. बिना कहे जाने पर, तो गोपोंको अत्यन्त भय बना रहता.

भक्तोंके सभी कार्योंमें प्रवेश करके, उन कार्योंको अपने कार्य करके, उनको(भक्तोंको) उन कार्योंसे मुक्त करनेकेलिए, ही निरोधलीला की है. यदि ऐसा नहीं होता, तो इस प्रकार नहीं करते. इस बात(प्रसंग)को साधन दशा, तथा इसी तरहसे फल दशामें भी कहना उचित होता. पूर्वकृत कर्मका फल आवश्यक होता है, किन्तु उस कर्मके पूर्ण न होने पर, अर्थात् पूर्वकृत कर्मकी निवृत्ति न होनेसे, उसमें प्रवेश नहीं हो सकता. इसी कारणसे, भगवान् वरुणको अपने निकट न बुलाकर, अथवा, नन्दरायजीको ही वरुणके पाससे न मंगवाकर स्वयं ही वरुणके निकट गये. भगवानको अपना माहात्म्य प्रकट करना है. इसलिए भी स्वयं

ही गये. 'राजन्', इस सम्बोधन पदसे, यह सूचित किया है, कि राजधर्म ऐसा ही है, जिसमें सेवकोंकी उपेक्षा नहीं की जा सकती. भगवान् तो भक्तोंकेलिए अभय दान देनेवाले हैं, यदि वे स्वयं शीघ्र नहीं जाते तो भक्तोंके भयकी निवृत्ति नहीं होती. श्रीकृष्ण विभु सब प्रकारसे सब जगह सब कुछ करनेमें समर्थ हैं. पृथ्वी पर अवतार धारण करनेसे यहीं पर कुछकर सकनेकी सामर्थ्य हो, ऐसा नहीं है. यदि ऐसी ही बात होती, तो अन्य अवतारोंकी तरह भगवान् कृष्ण भी इसी लीलाके अन्तमें गोपोंको वैकुण्ठमें नहीं ले जाते. इससे सिद्ध हो जाता है, कि श्रीकृष्ण सर्वत्र सर्व सामर्थ्य युक्त हैं।।३।।

लेख: 'चक्रुशुः' श्लोककी व्याख्यामें 'निरोधलीला' पदका तात्पर्य 'अनुशयन' लीलासे है. साधन दशा, अर्थात् याग दशा. फले अर्थात् वृष्टि दशामें. साधन दशामें प्रवेशका कारण, आवश्यक आदि पदोंसे कहा है. पहले तो प्रयोजनके न होनेसे प्रवेश नहीं किया और पीछे तो, कर्मकी निवृत्ति हो जानेसे वरुणके द्वारा नन्दरायजीका हरणरूप फलकी दशामें ही प्रवेश किया. 'लीलाया-अन्ते' अर्थात् वरुणका निग्रहरूप लीलाके अन्तमें गोपोंको वैकुण्ठमें ले गए.

योजना: 'चक्रुशुः' इत्यादि श्लोककी व्याख्यामें 'तदन्तिकं गतः' इत्यादिका अभिप्राय कहते हैं. शंका: वरुण तो सेवक है. स्वामी भगवानका स्वयं सेवकके घर पर नन्दरायजीको लानेकेलिए जाना तो उचित नहीं है. फिर भगवानका वरुणको अपने पास न बुलाकर उसके पास जानेका क्या कारण है? इसके समाधानमें कहते है, कि भगवानने इन नन्द आदि गोपोंके प्रयोजनकी सिद्धिकेलिए ही निरोधलीला की है, जिससे प्रपञ्चकी विस्मृतिपूर्वक उनकी भगवानमें आसक्ति हो जाए. भगवानने भक्तोंकेलिए वरुणके घर जानेकी लीला की; जिससे, नन्दरायजी आदि यह जान गए कि भगवान् उनकेलिए स्वयं नहीं करने योग्य तथा अत्यधिक परिश्रमयुक्त कार्यको भी करते हैं. इस प्रकारके ज्ञानसे उनकी भगवानमें ही अत्यन्त आसक्ति हो गई, यह अभिप्राय है.

भक्त गोपोंको निरोधदानार्थ ही, भगवान् वरुणके पास गए थे. यह कैसे जाना जाए? इसके उत्तरमें कहते हैं कि भगवान् कुमारिकाओंके व्रत कर्म, याज्ञिकोंके यज्ञ कर्म, श्रीनन्दजीके इन्द्रयाग कर्म, आदि भक्तोंके सभी कर्मोंमें स्वयं प्रविष्ठ होकर, उन-उन कर्मोंकी सिद्धिके पदार्थोंका स्वयंकेलिए अंगीकार कराकर निरोद्धव्य भक्तोंके कर्मोंमें पूज्यरूपसे स्वयं प्रवेश करते हैं.

अर्थात् उन-उन अन्य देवोंकेलिए दिए जानेवाले पदार्थोंको भगवदीय करनेकेलिए, इतने आग्रहसे उनमें पूज्यरूपसे प्रविष्ठ हुए है. इससे ज्ञात होता है, कि यहां भी निरोध प्राप्तिके योग्य भक्तोंकेलिए निरोध सिद्ध करनेकेलिए ही भगवान् वरुणके पास गए है. ''तानि कर्माणि स्वकर्माणि कृत्वा'' अन्य देवोंकेलिए किए गए कर्म भगवत्कर्म अपनेलिए कर लेते हैं. देखिए- कुमारिकाओंके प्रसंगमें कात्यायनीकी पूजामें कात्यायनीके स्वरूपमें भगवानने स्वयं प्रवेश करके अपनी पूजा करवाई, यजमान पत्नियोंके द्वारा उनके पदार्थोका अपनेलिए विनियोग कराया और इन्द्र यागके भंगसे प्रसंगमें, श्रीगोवर्धनमें रहनेवाले स्वरूपसे भगवानने सारी सामग्रीको अंगीकार किया. इस प्रकार भक्तोंके सभी कर्मोमें भगवान् प्रविष्ठ हो जाते है. इस कारणसे, यहां भी यही जाना जाता है कि श्रीनन्दरायजीको लानेकेलिए भगवान् स्वयं वरुणके पास गए. ''तेभ्यः तान् मोचयति'' तात्पर्य यह है कि दूसरोंके उद्देश्यसे किए कर्मोमें भगवान् भक्तोंको छुड़ाते हैं, क्योंकि, यदि भक्तोंको स्वकीय (भगवदीय) करनेका प्रयोजन नहीं होता, तो भगवान् अन्य देवताओंके उद्देश्यसे किए कर्मोमें पूज्य भावसे प्रवेश न करके, उनमें विघ्न ही करते. भगवान् यदि भक्तोंके अन्य देवताओंके उद्देश्यसे किए कर्मोमें पूज्य भावसे प्रवेश न करके, उनमें विघ्न ही करते. भगवान् यदि भक्तोंके अन्य देवताओंके उद्देश्यसे किए कर्मोमें विघ्न करते, तो कभी कालान्तरमें भक्त उन कर्मोको फिर भी कर लेते. इसलिए अन्य देवोंके स्थानमे स्वयं भगवानके प्रविष्ट हो जाने पर भक्त लोग सदा भगवत्कर्म ही (अन्नकूटकी तरह) करते रहते हैं.

सब गोपोंमें नन्दरायजी मुख्य है. इसलिए मुख्यके द्वारा अन्य सभी व्रजवासियोंको ज्ञान देनेकेलिए नन्दरायजीको मुक्त करनेका वर्णन दो बार साधन दशा और फल दशामें किया है. यहां साधन दशामें द्वादशीके व्रतमें वरुणके द्वारा किए उपद्रवसे और फल प्रकरणमें अम्बिकावनगमनके प्रसंगमें सुदर्शनसर्पसे मुक्त करके, भगवानने नन्दरायजीको अन्य देवोंके उद्देश्यसे किए कर्मोसे छुड़ाया है. तात्पर्य यह है, कि सुदर्शनसर्पजनित दुःखका नन्दरायजीने अनुभव किया और उस दुःखसे भगवानने उनको छुड़ाया. इस कारणसे, फिर आगे नन्दरायजीने भगवानके सन्तोषके ही कर्म किए, और देवोंके भजनको त्याग दिया.

यहां पर यह प्रश्न हो सकता है, कि इन्द्रयागका भंगकी तरह यहां भी पूज्य देवरूपसे, भगवानने उस कर्ममें प्रवेश क्यों नहीं किया? इसका उत्तर व्याख्यामें 'आवश्यक फले'से आरम्भ करके 'सम्भवति' तकके पदोंसे देते हैं. द्वादशी व्रत नामका कालप्रधान कर्म पहले ही हो गया और कर्म पूरा पीछे हुआ. इस कारणसे, इस कर्ममें भगवानका प्रवेश सम्भव नहीं होनेसे इस कालप्रधान कर्ममें भगवानका प्रवेश नहीं होनेके कारण ज्ञान कर्मसे नन्दरायजीकी निवृत्ति नहीं होगी. उनको इस कालप्रधान कर्मसे, छुड़ानेकेलिए इस कर्ममें वरुणके द्वारा उपद्रव करने पर नन्दरायजीको छुड़ानेकेलिए भगवान् स्वयं वरुणके पास गए. इस तरह दुःखका अनुभव होनेसे कर्ममें अनादर और दुःखसे छुड़ानेके कारण भगवानमें आदर हो जाएगा तब नन्दरायजी आदि सभी गोप भक्तिमार्गकी रीतिके अनुसार भगवानको प्रसन्न करनेवाले कर्म ही करते रहेंगे. इस प्रकार व्रजवासियोंको कर्म बन्धनसे मुक्त करनेका भाव सिद्ध होता है।।३।।

प्राप्तं वीक्ष्य हृषीकेशं लोकपालः सपर्यया।
महत्या पूजयित्वाह तद्दर्शनमहोत्सवः ।।४।।

भगवानको आए हुए देखकर(दर्शन करके) अत्यन्त प्रसन्न हुए लोकपाल वरुणने हृषीकेश भगवानकी बड़ी धूमधामसे पूजा की।।४।।

आगेकी बात, 'प्राप्तं वीक्ष्य', इस श्लोकसे कहते हैं. शंका: श्रीकृष्ण तो वरुणके पास नन्दरायजीको छुड़ानेकेलिए गये थे. वरुण उपकार करके नन्दरायजीको छोड़ेगा. इसलिए उपकार करनेवाले वरुणके घर पर भगवानको पूजा ग्रहण नहीं करना चाहिये. फिर वरुणने पूजा कैसे की? इसके उत्तरमें कहते हैं कि सौभाग्यसे पधारे हुवे भगवानके दर्शन करके वरुणने पूजा की, क्योंकि भगवान् हृषीकेश(इन्द्रियोंके स्वामी) हैं. यदि वरुण स्वयं कृपा करके पधारे हुवे भगवानकी पूजा नहीं करता तो पीछे वह अपनी इन्द्रियोंसे वरुण लोकका उपभोग नहींकर पाता और भगवानके निवेदन नहीं किये पदार्थोंका भोग करनेसे दोष भी लगता. देवोंमें जैसे इन्द्र श्रेष्ठ है, वैसे ही दैत्योंमें वरुण श्रेष्ठ है. उस वरुणकी लक्ष्मीको भगवान् यदि व्रजमें बिराजे ही ग्रहणकर लेते तो दैत्य भी भगवानके शरण हो जाते तो उनका हनन नहीं होता. इसलिए वरुणके पास जाकर ही पूजा सामग्रीको अंगीकार किया यदि भगवान् वहां नहीं पधारते तो, वरुणलोकमें उत्पन्न हुवे पदार्थ भगवद्भक्तोंके उपयोगमें लेने योग्य शुद्ध नहीं होते.

जीव तो देव, मनुष्य और दानव भेदसे तीन प्रकारके हैं. इनमें मनुष्यकी आकृतिसे देवराज इन्द्र कृत अभिषेक और दैत्योंके राजा वरुणके द्वारा की पूजाका भगवानने ग्रहणकर लिया तब सारे ही पदार्थ पुष्टिके उपयोगी और फलसाधक हो गये. 'लोकपालः' सपर्यया अर्थात् वरुणने अपना सर्वस्व निवेदन करके, भगवानकी पूजा की. श्लोकमें 'माहात्म्या' पदका अभिप्राय यह है, कि दैत्योंके लोकका पालन करनेवाले वरुणने अपनी सारी पूजा सामग्रीसे भी अधिक और आगे भविष्यमें अपने (वरुणके) उपभोगमें आनेवाली सारी पूजा सामग्रीको मध्यमें रखकर भगवानकी पूजा की. वरुणने केवल कायिकी सेवा ही नहीं की किन्तु वाचनिक सेवा भी की मन पूर्वरूप और वाणी उत्तररूप है. प्रत्येक वस्तु प्रथम मनमें उत्पन्न होकर ही वाणीमें आती है. इस न्यायसे मानसिक सेवा भी वाचनिक सेवासे ही हो जायेगी. भगवानका दर्शन करके वरुणको बड़ा उत्सव हुआ. भगवानके पधारने पर अत्यधिक आनन्द होना ही मानसिक पूजा है. वरुणको जो कुछ कहना है; उसे आगेके श्लोकमें कहते हैं।।४।।

लेख: व्याख्यामें ''दैत्या न हता भवेयुः'' इस वाक्यका यह भी तात्पर्य है कि यदि यहां व्रजमें आ जाते तो भगवानके शरणागत हो जानेके कारण वे फिर मारे नहीं जाते. अन्यथा यदि भगवान् स्वयं वरुण लोकमें नहीं पधारते तो, वरुणलोककी शुद्धि नहीं होती.

योजना: वरुण यदि हृषीकेश भगवानकी पूजा नहीं करता तो फिर वह इन्द्रियोंसे वरुण लोकका भोग नहींकर सकता था, क्योंकि भोग इन्द्रियोंसे सिद्ध होता है और इन्द्रियां हृषीकेश(इन्द्रियोंके स्वामी) भगवानके नियंत्रणमें रहती है. इस श्लोकमें हृषीकेश पदका अभिप्राय है. यदि 'अत्रेव तां गृहीयात्' इत्यादि व्याख्यास्त पदोंका तात्पर्य यह है, कि यदि व्रजमें बिराजे ही भगवान् सेवा ग्रहणकर लेते तो दैत्य व्रजमें आते, भगवानकी पूजा होती देखते और सत्संगसे उनका मन शरण आनेका हो जाता, तो वे फिर भगवानके द्वारा मारे नहीं जा सकते थे अर्थात् फिर भगवान् शरणागत उन दैत्योंको नहीं मारते.

'अन्यथा भिन्नसत्ताके' इत्यादि पदोंका अभिप्राय यह है, कि यदि वरुणके द्वारा की गई पूजाको भगवान् स्वीकार नहीं करते तो, उन पदार्थोंकी भगवत्सम्बन्धी भावसे होनेवाली शुद्धि नहीं होती और न वे पदार्थ वरुण आदि भगवद्भक्तोंकी शुद्धिके कारण ही हो सकते थे. इसलिए मानुषी आकृति

स्वरूप सौन्दर्यसे भगवानने उन्हें अंगीकृत किया. 'देवोभिषेकेण' अर्थात् इन्द्र देवके किये अभिषेकसे भगवानने अंगीकार किया. इन्द्र मुख्य देव है. इसलिए इन्द्रके ग्रहणसे सभी देवोंका ग्रहण किया इसी प्रकार 'दैत्येश्वर पूजाम्' दैत्योंके स्वामी वरुणकी पूजाका ग्रहण करनेसे, उसका भी अंगीकार और उस(वरुण)के अंगीकारसे अन्य भक्तोंके भी निरोधकी सिद्धि होना सूचित किया.

''अग्रे जायमानभोगमपि मध्ये निवेश्य'' पूजा करनेसे सारे पदार्थोंकी शुद्धि हो जाती है, क्योंकि पूजामें उन सारे पदार्थोंको भगवदुच्छिष्ट करके ही भगवदीयजन उनको ग्रहण करते हैं, ऐसी मार्गकी मर्यादा है. इसीलिए भोग्य पदार्थोंको पहले भगवानके समर्पण करके पीछे भक्त वैष्णव उनका भोग करते हैं. वरुण तो अपने (उसके) भोग्य पदार्थोंको स्वयं भोग न करके भगवानके अर्पण करके पीछे भगवदुच्छिष्टका भोग करेगा इसी आशयसे, मूल श्लोकमें 'महत्या'(बहुत सामग्रीसे) पद कहा है. 'वाचनिकीमपि' इस पदका अर्थ यह है, कि वचनसे भी, स्तुतिरूप पूजा की. मानसिकी पूजाका तो वाचनिकी पूजामें ही अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि मन पूर्वरूप और वाणी उत्तररूप है. वह उत्तररूप वाणी पूर्वरूप मनके बिना सम्भव नहीं हो सकती, उसमें मानसीका प्रवेश हो जाता है. इसीसे यहां मानसी पूजाको अलग नहीं कहा है. अथवा भगवानके दर्शनसे वरुणको जो महोत्सव हुआ, वह महोत्सव ही मानसिकी पूजारूप है. इस प्रकार वरुणने भगवानकी त्रिविध (कायिकी, वाचिकी तथा मानसिकी) पूजा की.

वरुण उवाच

अद्य मे विधृतो देहोऽद्यैवार्थोऽधिगतः प्रभो।
यत्पादभाजो भगवन्नवापुः पारमध्वनः ।।५।।

वरुणने कहा–नाथ! विशेष करके आज ही मैंने देह धारण की, अर्थात् आज ही मेरा जन्म सफल हुआ. आज ही मुझे, परम पुरुषार्थ प्राप्त हुआ. हे भगवान्! आपके श्रीचरणोंकी सेवा करनेवाले लोग ही संसार सागरके पार होते हैं।।५।।

जो स्तुति करनेमें समर्थ हो, उसे भगवानकी स्तुति करना चाहिये और जो भगवानके गुणोंका वर्णन करनेमें असमर्थ हो, अर्थात् भगवानके गुणोंका वर्णन करनेकी शक्ति जिस पुरुषमें न हो, उसे अपने ऊपर किये भगवानके केवल

उपकारका ही वाणीसे स्वीकार करना चाहिये यह 'अद्य में विधृतो देहः' इस श्लोकसे कहते हैं. वरुण कहता है, कि यद्यपि मुझे देवयोनि मिली है तो भी, दैत्यों पर ही मेरा आधिपत्य है. दैत्योंके संगसे मैं भगवानके बहिर्मुख था. इसलिए प्राप्त हुई भी, यह उत्तम योनि नहीं मिली जैसे ही थी. अभी स्वामी आपके दर्शनमें मुझे फलकी प्राप्ति हुई. अब किसी साधनके बिना ही मेरा जन्म सफल हो गया. आज ही मैंने विशेष करके देह धारण की. मैंने बिना किसी साधनके ही आज परम पुरुषार्थ प्राप्तकर लिया. प्रश्न उठता हैं, कि साधन किये बिना फलकी प्राप्ति कैसे होवे और यदि साधन करना स्वीकारकर लें तो आज ही किये साधनसे आज ही फल कैसे मिल जायेगा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि, 'प्रभोः' आप साधन किये बिना ही फल देनेमें समर्थ हैं क्योंकि साधन कराना भी तो आपके ही हाथ है.

तब तो बिना साधन किये मिला फल अलौकिक कैसे हो सकेगा? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि 'यत्पादभाजः' जब आपके भक्त भी अलौकिक कार्यकर सकते हैं तो फिर, आप(भगवान्) अलौकिक कार्यकर दें इसमें आश्चर्य ही क्या है. जो भक्त भगवानके चरणारविन्दको भजते हैं, वे मार्गके पार चले जाते हैं, उनकेलिए आपके चरणारविन्दसे उत्कृष्ट कोई गन्तव्य(जाने योग्य) स्थान शेष नहीं रहता. जैसे लोकमें पांवके समागमसे पादका(खड़ाऊं) आदि जड़ पदार्थ भी चलने लगते हैं. यदि वे न चलें तो फिर उनका कोई क्यों धारण करें(पहने). किन्तु भगवानके चरणारविन्दका आश्रय लेनेवाले भक्त तो इसके(भ्रमणके) विपरीत और गतिहीन हो जाते हैं, उन्हें फिर कहीं जानेका रहता ही नहीं है. जैसे यह विपरीत है इसी तरह फल भी विपरीत है. इस कथनसे यह सिद्ध किया, कि स्वामीका दर्शन, भक्ति, पूजा आदि भी साधन नहीं है किन्तु फलरूप ही है, क्योंकि आनन्दनिधि भगवानको प्राप्तकर लेनेके बाद दूसरी कोई वस्तु प्राप्त करने योग्य रहती ही नहीं है।।५।।

योजना: व्याख्याके 'लोके चरणसमागता गच्छन्ति अतो यथैतद् विपरीतम्' इत्यादि पदोंका अभिप्राय यह है कि लोकमें पांवके सम्बन्धसे जड़ पादुका आदि भी गतिवाले हो जाते हैं, किन्तु भगवानके चरणोंका सम्बन्धवाले भक्त तो भ्रमणशील चलते-फिरते भी गति रहित हो जाते है. जैसे यह बात लोकसे विपरीत है, इसी तरह फल भी विपरीत है, क्योंकि आप(भगवान)का चरणाश्रित भक्त गतिहीन होकर भी, मार्गके पारको प्राप्तकर लेता है।।५।।

नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने।
न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पना ।।६।।

हे प्रभो! आपका ऐश्वर्य सर्वोत्कृष्ट सबके ऐश्वर्यसे बढ़कर है. आप पूर्ण ब्रह्म परमात्मा है. भ्रम उत्पन्न करनेवाली, लोकसृष्टिका कारण माया आपमें नहीं है. अर्थात् आप पर मायाका प्रभाव नहीं पड़ता है. आपको प्रणाम है।।६।।

इस कारणसे सफल जन्मवाले और फलको प्राप्तकर लेनेवालेको भगवानके प्रति क्या करना चाहिये, यह इस, 'नमस्तुभ्यं' श्लोकसे कहते हैं. जीव आपसमें एकसे(समान) हैं. इसलिए जीवोंको नमस्कार करना उचित नहीं है. इसी तरह देह भी नमस्कारके योग्य नहीं है, क्योंकि शरीर आदि आगन्तुक हैं. इसलिए सारे सिद्धान्तोंके एकमतसे सिद्ध भगवानकेलिए ही नमस्कार करना चाहिये. उपासय रूपोंमें (भगवानके विषयमें) सन्त पुरुषों(उपासकों)का यदि विवाद हो, तो उन उपास्य स्वरूपोंमें भक्तिमार्गमें सेव्य पुरुषोत्तमकी अपेक्षा दुर्बलता आ जाती है. इसलिए श्रुति, स्मृति और पुराणोंमें एकमत(एक वाक्यता)से सिद्ध उपास्य देवको ही नमस्कार करना उचित है. फिर भी यदि सारे सिद्धान्तोंसे सिद्ध हुवे भी उपास्यरूपमें स्वयंको वैसा न हो, तो वहां भी नमस्कार नहीं करना चाहिये, क्योंकि महापुरुषोंका अन्तःकरण(अनुभव) भी तो प्रमाणरूप है. इसलिए ''तुभ्यं, भगवते, ब्रह्मणे, परमात्मने'' ये चार पद श्लोकमें कहे हैं. वैष्णव सिद्धान्त सिद्ध भगवान् श्रुति(वेद) सिद्ध, ब्रह्म, स्मृति द्वारा सिद्ध परमात्मा और मेरे(वरुणके) प्रत्यक्षसिद्ध जिनका मैं प्रत्यक्ष दर्शनकर रहा हूं आपकेलिए नमस्कार है. वेदसे भिन्न पक्षोंमें किंवा पाखण्ड पक्षोंमें सृष्टिकी उत्पत्तिमें मायाका करण साधनरूपसे, प्रकृतिरूप तथा निमित्तरूपसे भी उपयोग है. वह माया ही, जब भगवानमें नहीं है, तब मायासे उत्पन्न होनेवाले काम, क्रोध आदि दोष भगवानमें नहीं है इसमें कहना ही क्या है. इसलिए आत्मा(भगवान)की आत्मारूपसे सिद्धि और दोषोंका अभाव होनेके कारण, आप(भगवान)से कुछ भी विज्ञापन करना बाकी नहीं है. इसी अभिप्रायसे श्लोकमें, 'न यत्र श्रूयते माया' ये पद कहे हैं. तात्पर्य यह है, कि लोकोंकी सृष्टि करने, सृष्टिरूपसे, अथवा कार्य-कारणरूपसे, विशेष कल्पना कारण मायाका जब भगवानमें सभी भांति निषेध है, तो फिर आपसे कुछ भी विज्ञापन करना शेष नहीं है।।६।।

टिप्पणी : 'नमस्तुभ्ये' श्लोककी व्याख्यामें 'विवादसत्सु' इत्यादि पदोंका

अभिप्राय कहते हैं. शंका: जब कर्मकाण्डमें जीवनभर अग्निहोत्र करनेका विधान है(''यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहुयात्''), इसके विपरीत जिस दिन वैराग्य हो जाए उसी दिन, सन्यास ले लेना कहा है. (''यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत'') और गीतामें अनेक कर्मोको करनेकेलिए कहनेवाली पुष्प जैसी सुन्दर वाणी (''याम् इमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति'' गीता २।४३) इत्यादि कहा है. इस प्रकार परस्पर विरोध होने पर भिन्न-भिन्न सभी उपास्यरूपोंकेलिए नमस्कार क्यों नहीं करना? इस शंकाकी निवृत्तिकेलिए 'विवादे' इत्यादि पदोंसे विषयकी व्यवस्था करते हैं कि जिस विषय पर सत्पुरुषोंमें विवाद हो, उसको दुर्बल समझना चाहिए.

कर्म तो इस कारणसे हीन है, कि देहादिके अध्याससे कर्ममें अधिकार माना जाता है और कर्मका मूल अज्ञान है तथा भगवानके इन वचनोंसे मेरी भक्तिवाले और मेरेरूप योगीका ज्ञान तथा वैराग्य यहां पूर्ण कल्याण नहीं कर सकते(''तस्माद् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः, न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद् इह''). भक्तिमार्गकी अपेक्षा अन्य मार्ग दुर्बल हैं और उनके उपास्यरूप भी भक्तिमार्गमें सेव्य श्रीपुरुषोत्तमके रूपकी अपेक्षा दुर्बल है; क्योंकि जब तक भक्तिमार्गका ज्ञान नहीं होता, तब तक ही उनकी उपासना कराई जाती है. इसी अभिप्रायसे भगवानने आज्ञा की है कि ''जब तक मेरी कथाका श्रवण आदिमें श्रद्धा नहीं बढ़े तब तक ही अन्य कर्त्तव्य रहते हैं''(''मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावद् न जायते'').

चार्वाक आदि तो ईश्वरको मानते नहीं है. इस कारणसे ईश्वर भी सारे सिद्धान्तोंसे सिद्ध नहीं है. ईश्वरको माननेवाले भी सभी इन कृष्णके स्वरूपको शुद्ध ब्रह्मरूप नहीं मानते है. ऐसी दशामें यह स्वरूप भी, सर्व सिद्धान्तोंसे सिद्ध नहीं है? इस शंकाके समाधानमें कहा गया है, कि मोहक शास्त्रोंसे उत्पन्न हुए मोहसे रहित सन्त महापुरुषोंमें जिन उपास्यरूपोंके विषयमें विवाद है, वह विषय दुर्बल है. इसीलिए व्याख्यामें आगे बतलाया है, कि श्रुति स्मृति और पुराणोंमें जिसकी एक वाक्यता हो, जो स्वरूप इन तीनोंका सम्मत हो उसकेलिए ही प्रणाम(नमस्कार) करना चाहिए. लोकानां- मायासे मोहित हुए पुरुष ही ऐसी कल्पना करते है कि सृष्टिकेलिए अथवा सृष्टिरूपसे माया है. कार्य अर्थात् मोह और कारण अर्थात् माया यह कार्य-कारणरूपिणी पदका अर्थ है.

लेख: 'प्रधानत्वेन' प्रकृतिरूपसे, 'निमित्तत्वेन' कर्तारूपसे.

योजना: ''तुभ्यं, भगवते, ब्रह्मणे, परमात्मने'' इन चार पदोंसे श्रुति, स्मृति, पुराण, और अनुभव ये चार कहे है. इनमें 'साक्षात्कृताय' यह अनुभव सिद्ध, 'वैष्णव सिद्धाय' पदसे पुराण सिद्ध भगवान्, 'ब्रह्मणे' पदसे श्रुति सिद्ध ब्रह्म और 'स्मार्ताय' पदसे स्मृति सिद्ध परमात्मा है।।६।।

अजानता मामकेन मूढेनाकार्यवेदिना ।
आनीतोऽयं तव पिता तद् भवान् क्षन्तुमर्हति ।।७।।

धर्मके तत्वको तथा आपके साथ नन्दरायजीके सम्बन्धको भी न जाननेवाले, और क्या करना चाहिए, क्या नहीं इससे भी अनभिज्ञ महामूढ मेरा सेवक आपके पिताजीको यहां ले आया है. हे प्रभो, इस अपराधको क्षमा करे।।७।।

यद्यपि इस प्रकार मायाका निषेधकर देनेके बाद फिर कुछ विशेष विज्ञापना शेष नहीं रहती, तो भी अपना अपराध तो निवेदन करना चाहिये. यदि अपने अपराधको निवेदन न करें, तो अपने कर्मसे ही अपने स्वयं नष्ट हो जायें. इसलिए, 'अजानता' इस श्लोकसे अपने अपराधको कहता है. धर्मके तत्त्वसे अनभिज्ञ तथा आपके नन्दरायजीके साथ सम्बन्धको न जाननेवाला मेरा सेवक इन नन्दरायजीको (जिन्हें आपने लीलामें पितारूपसे सम्मानितकर रक्खा है) यहां ले आया है. नन्दरायजी स्वयं उत्कृष्ट तथा प्रभावशाली होते, तो मेरा ज्ञानहीन भी सेवक उन्हें यहां नहीं ले आता. आपके साथ इनके सम्बन्धको इसने नहीं जाना. वैष्णवधर्मको भी यह नहीं जानता; क्योंकि यह तो मेरा(दैत्यका) सेवक है. यदि यह दैत्य सेवक भगवानके धर्मोंको जान जाये तो इसका दैत्यभाव दूर हो जाये, तो फिर कोई भी मेरी सेवा न करे (मेरा सेवक न रहे). यह मूढ है, इस कारण इसको स्वतः ज्ञान है ही नहीं.

सेवकको तो स्वामीकी आज्ञाका ही पालन करना चाहिये, स्वामीकी आज्ञाके बिना, वह सेवक नन्दरायजीको कैसे ले गया? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि 'अकार्यवेदिना' क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये इस प्रकारका कर्तव्याकर्तव्यका इसको ज्ञान नहीं है. सामान्य आज्ञा पाकर भी सेवकको विशेष विचार पूर्वक कार्य करना चाहिये. वह विचार शक्ति इस सेवकमें नहीं है. यह इसका स्वाभाविक ही दोष है. ये आपके पिताजी सामने कांपते(धूजते) हुवे खड़े

हैं. इसलिए, हे स्वामिन्! मैंने लीलामें अपराधकर दिया है, उसे आप क्षमा कीजिये.

श्लोकमें तब पिता(आपके पिता) इस वचनसे जैसे लीलामें ही पितारूपसे स्वीकार किया है, इसी प्रकार लीलामें ही किया हुआ, यह मेरा अपराध सहन करने योग्य है. वास्तवमें तो, लीलामें प्रविष्ट होने पर, फिर उनसे अपराध होता ही नहीं है. श्लोकमें 'भवान्'(आप) पदका तात्पर्य(अर्थ) यह है, कि आप स्वयं ही क्षमा करने योग्य हैं, मैं तो क्षमा कराने योग्य (भी) नहीं हूं.

इसके आगे 'गोविन्द नीयताम्' इत्यादि श्लोकसे कई ग्रन्थोंमें है, किन्तु वह विगीत(प्रक्षिप्त) है. यदि इस श्लोकके अनुसार वरुण कहे तो वह अपराधी हो जाये।।७।।

टिप्पणी: ''आनीतोऽयं तवे पिता'' यहां 'अयं' इस इदम् शब्दका प्रयोग न होता तो भी अर्थमें संगति थी ही. फिरभी 'इदम्' शब्दका प्रयोग श्लोकमें किया है. व्याख्यामें इसका अर्थ ''अयं च तव पिता वेपमानः'' (ये तुम्हारे पिता कांपते (धूजते) हुए खड़े है) इत्यादि वाक्यसे लिखा है. यहां नन्दरायजीके धूजनेका कारण भगवानके ऐश्वर्यके दर्शनसे उत्पन्न सात्विक भाव समझना चाहिए.

योजना: व्याख्यामें 'तव पिता' ''इति वचनादपराधः सोढः'' इत्यादि वाक्यमें योजनाकार 'सोढव्यः'के स्थान पर 'सोढः' ऐसा पाठ अंगीकार करते है. तुम्हारे पिता ऐसा कहकर, वरुणने लीलाकी प्रधानताको स्वीकार किया है, क्योंकि लीलामें ही नन्दरायजीका पितृभाव है. यदि केवल ब्रह्म धर्मोंको ही भगवानमें वरुण स्वीकार करता तो भगवानका तो जन्म ही न होनेसे व्रजपति नन्दरायजीका पिता होना ही सम्भव नहीं है. किन्तु तो भी भगवानने लीलामें नन्दरायजीको पितारूपसे स्वीकार किया है और वरुणने भी 'आपके पिता' कहकर भगवानका अंगीकार किया 'पितृ' भाव ही स्वीकार किया है. इसलिए भगवानने सन्तुष्ट होकर वरुणके अपराधको सहनकर लिया यह अर्थ है।।७।।

श्रीशुक उवाच

एवं प्रसादितः कृष्णो भगवानीश्वरेश्वरः।
आदायागात् स्वपितरं बन्धूनां चावहन् मुदम्।।८।।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं वरुणने इस प्रकार नम्रतासे ईश्वरोंके भी ईश्वर श्रीकृष्ण भगवानको प्रसन्न किया. भगवानने वरुणलोकसे पिताजीको साथ लेकर

व्रजमें आकर अपने बन्धु–बान्धवोंको आनन्दित किया।।८।।

वरुणके इस प्रकार प्रार्थना करने पर, इसके सिंहासन पर विराजमान, भगवान् वरुणको कृतार्थ करके वरुणलोकसे पीछे आये यह 'एवं' श्लोकसे कहते हैं. वरुणने नम्र निवेदनसे भगवानको प्रसन्नकर लिया. इस कारणसे उसके सेवकके अपराधका कोई दण्ड न देकर, सदानन्द श्रीकृष्ण वरुणको आनन्दित करके, वहांसे लौट आये. वहांसे आने अथवा पिताजीको ले आनेमें भगवानको किसीसे कुछ प्रार्थना नहीं करनी पड़ी, क्योंकि भगवान् तो ईश्वरोंके ईश्वर सर्व शक्तिमान् हैं. पिताजीको लेकर वहांसे लौट आये. भगवानके स्पर्शसे नन्दजीका दैत्यके सम्बन्धसे हुआ दोष दूर हो गया.

वरुणको भी भगवानके साथ आना चाहिये तथा भगवानका अनुवर्तन करना चाहिये था. वरुणने ऐसा क्यों नहीं किया? इस शंकाके समाधानमें कहते हैं, कि भगवान् ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, और नियन्ता हैं. इसलिए उनकी आज्ञाका उल्लंघन वरुण आदि कोई भी नहींकर सकते और स्वामीके लीलास्थलमें जानेका नीतिशास्त्रमें निषेध हैं, इस कारणसे वरुण नहीं आया. वहांसे लौटकर आनेमें भगवानको किसी साधनकी अपेक्षा नहीं है, केवल स्मरण मात्रसे ही गोकुलमें पधार आये और आकर बन्धुओंको आनन्दित किया अथवा आनन्दपूर्वक व्रजमें लौट आये।।८।।

नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालमहोदयम्।
कृष्णे च सन्नतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत्।।९।।

नन्दरायजीको लोकपाल वरुणके अपूर्व वैभवको, अतीन्द्रिय वरुणलोकको और वरुणके द्वारा किए भगवानके आदर सत्कार, पूजन, प्रणामको देखकर बड़ा विस्मय हुआ. व्रजमें आकर नन्दजीने ज्ञातिबन्धुओंसे सब समाचार कहे।।९।।

जिस प्रकार एकवचन, बहुत काम करता है इसी तरहसे, भगवानके इस कर्मसे भी कई कार्य हुवे यह इस 'नन्दस्त्वतीन्द्रियं' श्लोकसे कहते हैं. यद्यपि वरुणके सेवकने नन्दरायजीको ले जाकर वरुणलोकमें ही बैठा दिया था, तो भी पहले उन्हें वहां कुछ भी नहीं दीखा. भगवानके वहां पधारनेके बाद तो नन्दरायजीको वहां सभी ऐसे पदार्थोंके दर्शन हुवे जो प्राकृत इन्द्रियोंसे नहीं देखे जा सकते हैं. नन्दरायजी वहां अतीन्द्रिय पदार्थोंके दर्शनकर सके इसका कारण यह था

कि वहां सभी अतीन्द्रिय था. वहां लोकपाल वरुणके अलौकिक वैभवको देखा और यह भी देखा कि जिस कृष्णके साथ, हम गोप चाहे जैसा (अनादरका भी) साधारण बालक सा व्यवहार करते रहे हैं, उन श्रीकृष्णको वे गर्भसे ही दासकी तरह साष्टांग प्रणामकर रहे थे. वहांके सारे ही स्त्री पुरुषोंका इस प्रकार दासभाव देखकर नन्दरायजी व्रजमें ज्ञातिके उपनन्द आदि गोपोंसे कहने लगे.

यद्यपि उस अपने अतीन्द्रिय वैभवका दर्शन भगवानने नन्दरायजीको केवल उनकेलिए ही कराये थे, किसी ओरसे अथवा उन गोपोंसे कहनेकेलिए तो नहीं कराये थे, तो भी वे विस्मित होकर, उसको ज्ञाति बन्धुओंसे नहीं छिपा सके (उन्होंने सब कह ही दिया). उन्हें आश्चर्यरस उत्पन्न हो गया था, जिससे वे अभी भगवानको अपना पुत्ररूपसे स्वीकार नहींकर सके. उनको यह पूरा निश्चय हो गया, कि यह श्रीकृष्ण मेरा पुत्र नहीं है, गर्गाचार्यजीने मिथ्या ही कह दिया अथवा उन्हें भी भ्रम हो गया होगा. नन्दरायजी विचार करने लगे कि ऐसी परिस्थितिमें उन्हें(नन्दरायजीको) क्या करना चाहिये. भगवानसे कुछ प्रार्थना करूं अथवा विशेष शरणागति करूं. इन दोनोंमें शरणागति किंवा फलकेलिए सबसे पहले भगवानके निर्णय किये हुवे स्वरूपका जानना आवश्यक है, क्योंकि अपने देखे हुवे ये सारे उत्कर्ष तो अवान्तर भेद(गौण) हैं. इसलिए पहले भगवानका परम उत्कर्ष (वास्तविक स्वरूप) समझना (जानना) चाहिये और पीछे फलकी प्रार्थना अथवा शरणागति करना उचित है. ऐसा निश्चय करके वे सब गोप प्रथम भगवानके उत्कर्षके दर्शन करनेकेलिए उत्सुक हुवे।।९।।

टिप्पणी : व्याख्यामें 'यथैकं वचनम्' इत्यादि पदोंका अभिप्राय यह है कि जैसे गायोंकेलिए यज्ञ करानेका बोधक भगवानके एकवचनसे व्रजको अनन्य करना, इन्द्रमानभंग, गोवर्धनोद्धरण, व्रजजनोंकी क्षुधा-तृषानिवृत्ति, भगवन्माहात्म्य, ज्ञान, इन्द्रकृत सम्मान, अभिषेक तथा गोविन्द नाम धारणरूप अनेक कार्य हुए, इसी प्रकार, भगवानकी एक कृति भी अनेक कार्य करती है.

लेख : व्याख्यामें 'नीतोऽपि' इत्यादिका आशय यह है, कि वरुणलोकमें ले जाए गए नन्दरायजीको वहांका वैभव लौकिक इन्द्रियोंसे दिखाई दे देता तो वहांके वे पदार्थ अतीन्द्रिय नहीं होते. इसलिए भगवानके वहां पधारने पर भगवत् दृष्टिसे ही नन्दरायजीको दर्शन हुए।।९।।

ते त्वौत्सुक्यधियो राजन् मत्वा गोपास्तमीश्वरम् ।

अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदधीश्वरः ।।१०।।

हे राजन्! गोपोंने जान लिया कि कृष्णचन्द्र साक्षात् ईश्वर हैं. यह जानकर उनके मनमें अभिलाषा और उत्कण्ठा हुई कि भगवान् कभी हमको भी अपनी सूक्ष्म गति, वैकुण्ठधाम तक पहुंचा देंगे।।१०।।

तब वे निश्चितरूपसे जान गये कि कृष्ण परमेश्वर है, किन्तु जब तक परमेश्वररूपसे दर्शन न हो तब तक पूरा विश्वास नहीं होगा. इसलिए विशेष ज्ञानहीन गोपोंने भगवानसे जो कुछ प्रार्थना की वह 'ते तु' इस श्लोकसे कहते हैं. श्लोकमें 'तु' शब्दसे यह सूचित किया है कि उन गोपोंके मनमें कोई शंका नहीं हुई और न उन्हें असम्भव ही लगा, किन्तु वे दर्शनकेलिए उत्कण्ठित ही हुवे. 'राजन' शब्दसे सूचित होता है कि राजा लोग भी इस प्रकारसे उत्सुक होते हैं. तब उन गोपोंको निश्चय हो गया कि श्रीकृष्ण साक्षात् ईश्वर है. श्लोकमें 'अपि' पद सम्भावना अर्थका बोधक है. ईश्वर जब मित्र हैं तो अपने स्थानके दर्शन हमें करावेंगे ऐसी सम्भावना है. यदि प्रार्थना स्वीकार न करेंगे तो (हम उन्हें) दण्ड देंगे ऐसा निश्चय करके उन गोपोंने मनमें यह मनोरथ किया कि अपने स्वामी श्रीकृष्ण वैकुण्ठ नामसे अपने सूक्ष्मधामको क्या हमारे पास लावेंगे, हमारे निकट अपने धामको प्रकट करेंगे? यद्यपि गोपोंके पास उनका कोई ऐसा साधन नहीं था, तो भी भगवानके ऐश्वर्यसे ही यह वैकुण्ठ दर्शनरूप फल मिलेगा ऐसा उन्होंने समझ लिया।।१०।।

इति स्वानां स भगवान् विज्ञायाखिलदृक् स्वयम्।
सङ्कल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत् ।।११।।

सर्वज्ञ अन्तर्यामी भगवान् स्वयं उन अपने भक्तोंके मनोरथको जान गए और उनकी अभिलाषाको सिद्ध करनेकेलिए कृपा पूर्वक यों विचारने लगे।।११।।

गोपोंके ऐसा मनोरथ करने पर भगवानने जो कुछ किया वह इस 'इति स्वानां' श्लोकसे कहते हैं. गोप भक्त हैं. अपने भक्तोंकी इच्छा तो पूरी करनी ही चाहिये, क्योंकि भगवान् भक्तोंकेलिए ही पधारे हैं. भगवान् ऐश्वर्य आदि पूर्ण छः गुणोंसे युक्त हैं. इसलिए भगवानकेलिए कुछ अशक्य नहीं है. गोपोंने तो अपने (उनके) मनमें ही विचार किया था, प्रार्थना तो की ही नहीं थी, तो भी निजभक्तोंकी कामनाको पूर्ण करनेवाले उनके संकल्पको जानकर इस प्रकार विचार करने लगे. मनकी बातको जान लेने और उपायको ढूंढ लेनेमें भगवान्

स्वयं समर्थ हैं, क्योंकि वे अखिल दृष्टा हैं. वह सबको ही, सदा ही, स्वयं ही, बिना किसी साधनकी अपेक्षासे ही, देखनेवाले हैं. गोपोंके मनोरथको सिद्ध करनेकेलिए भगवानने सोचा कि गोपोंसे वैकुण्ठका दर्शनरूप फलकी सिद्धिकेलिए कोई साधन कराना चाहिये अथवा मर्यादाका उल्लंघन करके बिना किसी साधन कराये ही फलकी प्राप्ति ही करा देनी चाहिये. साधनमें लगानेसे तो, इनको कष्ट होगा. इसलिए कृपा करके दूसरा पक्ष बिना साधनके ही फल दानको ही कर्तव्यरूपसे विचारा।।११।।

जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः।
उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन्।।१२।।

भगवानने विचार किया कि इस लोकमें अविद्या(अज्ञान) जनित कामनाएं और कामनाओंसे उत्पन्न कर्मोंके द्वारा ऊंची-नीची गतियोंमें घूमता हुआ मनुष्य अपनी वास्तविक गति(स्वरूप)को नहीं जानता है।।१२।।

इस 'जनो वै' श्लोकसे भगवानके विचारका वर्णन करते हैं. जो इस लोकमें जन्म लेता है प्रायः वह अपनी गतिको नहीं जानता है. अपनी गतिको जान लेनेके बाद अपने दोषको निवृत्त(दूर) करके उस(गति)की प्राप्तिके साधनका ज्ञान करना चाहिये. फिर क्रमसे शास्त्रमें कहे साधनोंके करनेसे आत्म प्राप्ति होने पर, ब्रह्मात्मभाव होकर भगवानमें भक्ति हो और भक्तिके द्वारा भगवानका ज्ञान हो. इसके बाद मेरे(भगवानके) स्थानका दर्शन हो सकता है. यह सब इस गोपोंसे करोड़ जन्मों तक भी नहीं हो सकता. इसलिए प्रथम साधनपक्षमें इनका अधिकार नहीं है. इसी बातको कहते हैं कि पूर्णरूपसे इस अत्यन्त तामसलोकमें जन्म लेनेवाला दुष्टताके फलको प्राप्त करता हुआ मनुष्य अपनी गतिको नहीं जानता है. इसका कारण यह है, कि पहले तो पञ्चपर्वा अविद्याने जीवको घेर रक्खा है. फिर अविद्याके सम्बन्धसे कामनाएं होती हैं और इससे अनेक प्रकारके कर्मोंको करता है. उन कर्मोंके द्वारा यह उत्तम, अधम योनिमें जन्म लेता रहता है. इस कारणसे, जो मूलसे अशुद्ध है, वह उत्कृष्ट गतिको कैसे प्राप्तकर सकता है।।१२।।

श्रीगुसांईजीका स्वतन्त्र लेख

शंका: व्रजवासीजन तो स्वरूपानन्दका अनुभव करते थे और जिस स्वरूपका वे अनुभव करते थे, उस वस्तुका ज्ञान भी उनको होना ही चाहिये.

ऐसी दशामें फिर उनके मनमें दूसरी वस्तुकी अभिलाषाका होना कैसे संगत हो सकता है? कदाचित् यों कहा जाए कि स्वरूपानन्दका अनुभव करते हुए भी वे जैसे घरमें स्थिति करके रह रहे थे, इसी प्रकारसे, उनको दूसरी वस्तुकी अभिलाषा करना भी संगत हो सकता है. तो प्रश्न होता है, कि फिर तो उनकी घरमें स्थिति भी संगत नहीं हो सकती, क्योंकि अनुभवकी वस्तु स्वरूपानन्द तो सबसे ही अधिक है. दूसरी शंका यह है, कि यदि व्रजजनोंको किसी दूसरी वस्तुकी अभिलाषा हो तो, भगवानको वह पूरी करनी चाहिये, क्योंकि भगवानने स्वयं कहा है, कि जो मनुष्य जिस प्रकारसे मेरी शरण आते हैं मैं उनका उसी प्रकारसे भजन करता हूं (''ये यथामां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्''). तब फिर उनको वहांसे निकालकर अर्थात् उनकी अभिलाषाको पूरा न करके भगवानने स्वयं अपनी इच्छासे ही उन्हें भजनानन्दका दान (किस कारणसे) क्यों दे दिया? इन शंकाओंको दूर करते हुए कहते हैं, कि व्रजजनोंका यह मनोरथ प्रसंगवश है; क्योंकि, व्रजमें रहनेवाले सभी की भगवानके सिवाय दूसरी गति ही नहीं है यह इस 'जनो वै' श्लोकसे कहते है. इस समयमें व्रजमें रहनेवाला मनुष्य मेरे सिवाय अपनी इस लोक तथा परलोककी गति दूसरी जानता ही नहीं है, वे तो निश्चितरूपसे एक मुझे ही अपनी गति जानते हैं.

जब यह कहा जाता है, कि व्रजजन भगवानको ही एक मात्र अपनी गति जानते हैं, तो फिर उन्होंने ''अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मा'' इसी अध्यायके दशवें श्लोकमें दूसरी गति सम्बन्धी हृदयकी अपनी अभिलाषा क्यों प्रकट की? इस शंकाका उत्तर ''उच्चावचासु गतिषु भ्रमन्'' इन पदोंसे कहते हैं. 'उच्चा' उच्चगति वैकुण्ठ नामक मनोरथरूप गति, 'अवचा' नीचीगति तो लीलाके अनवसरमें निर्वाहकेलिए घर आदिके सम्बन्धवाली गति. अथवा गीतामें भगवानके वाक्यानुसार उच्च अर्थात् पुरुषोत्तम और अवच(नीची) अक्षर तथा क्षर(''यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि चोत्तमः...प्रथितः पुरुषोत्तमः'' गीता अ.१५.). इस प्रकार उच्च पुरुषोत्तमसे (अक्षर) वैकुण्ठ आदि सारी गतियां नीची है. उन गतियोंमें वैकुण्ठमें मानसिक अभिलाषासे और घर आदि शरीरसे भ्रमण करता हुआ भी व्रजजन कमलपत्रकी तरह निर्लेप रहकर उन, वैकुण्ठ, घर आदि स्थानोंमें अपनी गतिको नहीं जानता है. यह भाव है.

विना कारण ही भ्रमण कैसे होता है? इस प्रश्नका उत्तर: 'अविद्याकाम

कर्मभिः' इस पदसे देते हैं. यहां अविद्या शब्दका अर्थ भगवानके माहात्म्य ज्ञानका अभाव है, भगवानकी शक्ति अथवा स्वरूप सम्बन्धी अज्ञान(अर्थ) नहीं है. अविद्या शक्ति तो मायासे निर्मित हुई है और वह माया भगवानकी शक्ति है जो स्वयं भी लज्जासे भगवानके(सामने) ही नहीं ठहर सकती (''विलज्जमानया अमुष्य स्थातुम् ईक्षापथे अमुया''), तो उस मायासे निर्मित हुई अविद्या भगवानके सम्बन्धी व्रजजनोंको व्यामोह कैसे कर सकती है. तब तो अविद्याका कार्य अज्ञान तो इनमें उत्पन्न ही नहीं हो सकता है. माहात्म्यज्ञानका अभाव तो भगवानने अपनी इच्छासे किया है और वह लीलामें उपयोगी है. इसलिए वह अज्ञान नहीं है. वास्तवमें तो जैसे ब्रह्मज्ञानमें ब्रह्मसे भिन्न पदार्थोंके ज्ञानका अभाव (ज्ञान न होना) भी, ज्ञानरूप ही है, इसी प्रकार यहां भी भगवानके स्वरूप, भजनमें, माहात्म्यज्ञान प्रतिबन्धक होनेसे माहात्म्यज्ञानका अभाव भी, भगवानके स्वरूपका अंश ही मानना चाहिये.

उस अविद्या(माहात्म्य ज्ञानके अभाव)से, मनुष्यको दूसरे लोककी अभिलाषारूप काम होता है और कामसे लोक, जाति आदिमें कहे गए गृह सम्बन्धी कर्मोंको करता हुआ, प्रत्येक जीव इस प्रकार दोनों लोकोंमें भ्रमण करता रहता है. माहात्म्य ज्ञान हो जाने पर तो न अन्य लोककी कामना, न लौकिक कर्म अथवा लीलारसका अनुभव भी नहीं होता, किन्तु मुक्ति ही हो, इस कारणसे, यह निश्चय होता है, कि ऐसा अज्ञान उत्पन्न करके भगवानने ही यह सब इतना किया है. अन्यथा(नहीं तो) अपनेसे भिन्न अपने भक्तोंकी अभिलाषाको पूर्ण करनेकेलिए स्वयं प्रयत्न भी न करें और देने योग्य स्वरूपानन्दका दान भी नहीं करें. फिर आगे भजनानन्द दान की तो बात ही क्या? इसलिए भ्रमण करनेमें व्रजजनोंका कोई दोष नहीं है, यह तो स्वयं भगवानने ही किया है ऐसा मानकर श्रीशुकदेवजीने व्रजजनोकी भगवानके धामके दर्शन करनेकी इच्छाके अनुसार वैकुण्ठके दर्शन कराना और वहांसे उनका उद्धार करनेकेलिए स्वयं अत्यन्त करुणा पूर्ण होना यह कहनेकेलिए इस श्लोकसे भगवानके अभिप्रायका वर्णन किया है. इसलिए ये सब उचित है.

लेख : 'जनोवै' इस श्लोककी व्याख्यामें 'ते तु ब्रह्महृदं' इस पन्द्रहवें श्लोककी टिप्पणीजीमें द्वितीय व्याख्यामें साधारण रीति प्रकट की. ऐसा कहा गया है. इस कारणसे यहां यह कहा है।।१२।।

इति सञ्चिन्त्य भगवान् महाकारुणिको विभुः।
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम् ।।१३।।

यों विचार करके करुणासिन्धु, सर्व समर्थ भगवानने अपने भक्त गोपोंको मायासे परे अपने लोकके दर्शन कराए।।१३।।

ऊंची-नीची गतियोंमें भ्रमण करता हुआ भी जीव, किसी उत्तम गतिको प्राप्त करके, उससे आगे तो जाता नहीं किन्तु अधमताको ही प्राप्त करता है. इसलिए कारण अथवा कार्यके विचारसे इस मनुष्यका आत्मज्ञानमें कुछ भी अधिकार नहीं है. इस कारणसे, ये व्रजवासी जो चाहते हैं, उसकेलिए तो ये अयोग्य ही हैं ऐसा निश्चय करके प्रमेयबलका आश्रय लेकर भी भगवानने उन्हें कुछ दर्शन कराये यह इस 'इतिसञ्चिन्त्य' श्लोकसे कहते हैं. इस प्रकार उन व्रजजनोंको अनधिकारी सोचकर सबकुछ करनेमें समर्थ भी भगवानने मर्यादाकी रक्षा और अपनी अतिशय करुणा पूर्णता दोनोंकी रक्षा करते हुवे ही अपने लोकके दर्शन करा दिये. भगवानने व्रजमें रहकर ही व्रजजनोंको वहां ही अपना वैभव दिखला दिया. वे गोप, मित्र और धर्म परायण हैं. इस कारणसे, उन्हें कही वैकुण्ठ आदिमें न लेजाकर व्रजमें ही निजलोकके दर्शन करा दिये. जब वे साक्षात् भगवानके ही दर्शन करते हैं तो फिर उनके लोकके वे दर्शन करें इसमें आश्चर्य ही क्या है?

भगवानने अपने असंख्य लोकोंमेंसे किसी एक साधारण लोकके ही दर्शन नहीं करा दिये, किन्तु (तमसः परम्) प्रकृतिसे भी ऊपरके लोकका दर्शन कराया. तमस(अन्धकार) था और उससे गूढ आगे ज्ञान था इस श्रुतिके अनुसार वस्तु विचारसे तमसको भगवद्रूप ही कहा है. उससे भी आगे स्थित व्यापि वैकुण्ठके दर्शन कराये।।१३।।

योजना: 'इति सञ्चिन्त्य' इस श्लोककी व्याख्यामें 'उभयो रन्यतर-नाशमाशंक्य' पदोंका अर्थ यह है कि मर्यादाकी रक्षा करना और महाकारूणिक भाव दोनोंमेंसे एकके न रहनेकी शंका करके, अर्थात् बिना साधनके ही फलको प्रदानकर देने पर तो, मर्यादाकी रक्षा और साधन करने पर ही फल देनेसे, महाकारूणिक भावका भंग होनेकी शंका करके, अपने प्रमेय बलसे दोनोंका भंग न करके स्वधामके दर्शन कराए।।१३।।

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्।

यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः ।।१४।।

जो ब्रह्मलोक सत्य, ज्ञान, अनन्त, स्वयं प्रकाशमान और नित्य सनातन है. जिसका मुनिजन भी मननके द्वारा निर्गुण और एकाग्रचित होकर ही दर्शनकर सकते हैं।।१४।।

मायाके परदेको हटाकर उस ब्रह्मलोकके स्वरूपका वर्णन इस, 'सत्यं' श्लोकसे करते हैं. वह धाम अक्षररूप है. भगवान् जब उनके हृदयमें ईश्वररूपसे प्रकट हुवे. तब अक्षरका भी लोकरूपसे आविर्भाव(प्राकट्य) हुआ. यदि लोकरूपसे प्रकट नहीं होता, तो उसमें कृत्रिमता(बनावट) होती. उसका स्वरूप सत्य, ज्ञान, और अनन्त है. देश, कालसे अपरिच्छिन्न, अबाधित ज्ञानरूप और असीमित(किसी प्रकारकी सीमासे रहित) है. उस ब्रह्मलोकके ओर भी गुणोंको कहनेकेलिए श्लोकमें, 'तद् ब्रह्म' इन पदोंसे प्रमाणका निर्देश करते हैं. वैकुण्ठ नामसे प्रसिद्ध तथा सब वेदान्त शास्त्रोंसे जिसका ज्ञान होता है, वह ब्रह्म है. इस प्रकार गुणोपसंहारन्यायसे, व्यापकता प्रामाणिकता और सभी गुणोंका वर्णनकर दिया. 'ज्योति' वह दोषोंसे रहित, स्वयं प्रकाश तथा करोड़ों(अनन्त) सूर्योंसे भी अधिक प्रकाशवाला है. वह इसी समय ऐसा (हुआ) हो गया ही ऐसी बात नहीं है, किन्तु सनातन अनादिकालसे ऐसा ही है.

शंका: ब्रह्म तो विलक्षण, अविकारी, सदा एकरस और सम(ऊंच-नीच भावसे रहित) है, वह लोकरूप कैसे हो सकता है? और यदि लोकरूप है तो वह सगुण होगा? इस प्रश्नके उत्तरमें 'यद्धि पश्यन्ति' ये पद श्लोकमें कहे हैं. तात्पर्य यह है, कि उस ब्रह्मलोकको स्वभावसे ही ऐसा मानना चाहिये. सगुण(गुणोंके आने) होने पर जिस शक्तिकी प्राप्ति और जिस अयोग्यताका दूरीकरण(परिहार) हो, उसका परिहार स्वरूप(प्रमेय)बलसे हीकर लेना चाहिये. वह स्वरूप ही सबरूप होनेमें समर्थ है. यदि यह कहा जाये कि ब्रह्मलोकको स्वरूपसे ही इस प्रकारका माननेमें कोई भी विशेष कारण नहीं मिलता, इसलिए यह सगुण होनेके कारणसे ही लोकरूप होता होगा. इससे, यहां उसे स्वरूपसे ही इस प्रकारका मान लेनेका आग्रह क्यों करना चाहिये? इसके उत्तरमें कहते हैं कि मननशील मुनिलोग भी उस वैकुण्ठ नामक भगवानके दर्शन सगुणभावसे दूर (निर्गुण) होकर ही कर सकते हैं. मनन करते-करते जब मुनिजनोंकी गुणोंकी कार्यभूत जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था, बुद्धि आदि वृत्तियां भी और स्वभावके

गुण भी सर्वथा विलीन हो जाते हैं, तब ही प्रकट हुवे उस ब्रह्मलोकके वे दर्शनकर सकते हैं. ऐसे गुणातीत भी मुनिजन सावधानीसे ही, उसको देख सकते हैं. इस प्रकार जब ब्रह्मलोकका दर्शन करनेवाले मुनिजन तक भी गुणातीत हैं तो फिर वह ब्रह्मलोक सगुण कैसे कहा जा सकता है।।१४।।

योजना : 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' इस श्लोककी व्याख्यामें ''यद् वैकुण्ठाख्यं, सर्व वेदान्तप्रत्ययं यद् ब्रह्मैव'' आदि पदोंका आशय यह है. गीता हमें अक्षरको गति प्राप्त करने योग्य धामरूप कहा है(''अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमो गतिम्, यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम''). यहां श्रीभागवतमें भी अक्षरब्रह्मको इसी प्रकार धाम बतलाया है(''तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारण-कारणम्'', ''विष्णोर्धाम परं साक्षाद् पुरुषस्य महात्मनः'') और बृहद्वामनपुराण में वैकुण्ठको ब्रह्मानन्दमय कहा गया है(''ब्रह्मानन्दमयो लोको व्यापिवैकुण्ठ संज्ञकः'')।।१४।।

ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः।
ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोऽध्यगात् पुरा ।।१५।।

भगवान् उन व्रजवासियोंको ब्रह्महृदमें ले गए. वे वहां उस सरोवरमें मग्न हो (डूब) गए. भगवानने उनका उद्धार किया. उस अवस्थासे उनको हटाया. जिस स्थान पर, पहले अक्रूरजीने भी यमुनाजलके भीतर भगवत्स्वरूपके दर्शन किए थे, गोपोंने उस ब्रह्मलोकके दर्शन किए।।१५।।

दर्शन होनेके बाद वह ब्रह्मलोक जब सब ही जगह प्रकट हो गया, तब तो सारी ही गोकुलके लीन ही हो जाने पर आगे की जानीवाली लीला नहीं होगी. अतः भावी लीलाकी सिद्धिकेलिए भगवानने ही उन व्रजवासियोंको पहले जैसी स्थितिमें लानेका प्रयत्न किया. यह 'ते तु ब्रह्महृदं' इस श्लोकसे कहते हैं. जिस प्रकार काष्ठमें रहनेवाली अग्निका तिरोभाव नहीं होता, उसी तरह लोकका तिरोभाव हो जाने पर भी उस लोकात्मक अंश लोकका तिरोभाव नहीं हुआ. आधे जले हुवे काष्ठको पहलेकी सी स्थितिमें लानेकी तरह उन व्रजवासियोंको भी पहली अवस्थामें ले आना चाहिये, जिससे आगेकी लीला हो सके. उनकी वह पहले जैसी स्थिति वेदात्मक ब्रह्ममें उनका योग करने पर ही हो सकती है. वह वेदात्मक ब्रह्म जलरूप है. इसी कारणसे कहीं-कहीं शब्दब्रह्म जलरूप कहा है. यह लोक उस शब्दका कार्य है, जो आगे कहा जायेगा. इसलिए अक्षरब्रह्मरूप हुवे

व्रजवासियोंको भगवानने ब्रह्महृदमें लेजाकर उसमें स्नान करवाया. तब उसमें रहनेवाले उस वैकुण्ठ लोकका तिरोभाव हो गया. वहां गये भी वे उसमें डूब गये. वे उत्तमाधिकारी होनेके कारण, शब्दब्रह्मरूप ही हो गये.

यहां यह क्रम है कि प्रथम परब्रह्म, परब्रह्मसे शब्दब्रह्म हुआ और उस शब्दब्रह्मसे जगत् उत्पन्न हुआ. इसीलिए यह समीप और दूरसे ब्रह्मरूपका सूचक है. भगवानने वहांसे भी उनको निकाला. यदि उन व्रजवासियोंका उद्धार वहांसे नहीं करते तो वेद प्रमाणस्त वे लीलाके उपयोगी नहीं होते. भगवानकी आज्ञासे वेदोंने भी उनका उद्धारकर दिया. भगवानने उनके साथ जो इतना किया वह व्यर्थ था क्या? इसका समाधान 'ददृशुः' इत्यादि पदोंसे करते हैं. इस सब करनेका प्रयोजन यह है कि गीले नेत्रवाले भी उन्होंने शब्दब्रह्मलोकके दर्शनकर लिये. उस शब्दब्रह्मको निःसीम(व्यापक) बतानेकेलिए श्रीशुकदेवजी राजासे कहते हैं, कि जिस स्थान पर पहले प्रमाणबलसे अक्रूरजीको भगवत्स्वरूपका ज्ञान हुआ था. इन व्रजवासियोंको भी, प्रमाणसे ही उसी स्थान पर भगवत्स्वरूपका ज्ञान करानेकेलिए, भगवानने इस प्रकार किया।।१५।।

ब्रह्मानन्दाद् महानन्दो भजते वर्तते स्फुटः।
तारतम्यं च विज्ञातुं प्रदर्श्योद्धृतवांस्ततः।।का.।।

कारिकार्थः ब्रह्मानन्दकी अपेक्षा भजनमें अत्यधिक आनन्द प्रकट रहता है. इस प्रकार ब्रह्मानन्दसे भजनानन्दका उत्कर्ष दोनोंका न्यूनाधिक भाव बतानेकेलिए दर्शन कराकर फिर वहांसे उनका उद्धार किया.

टिप्पणीः व्याख्यामें 'विलय एवाभूत' आदि पदोंका अभिप्राय यह है कि जिस तरह प्रकट अग्निका सम्बन्ध होने पर काष्ठके भीतर रहनेवाली अग्नि प्रकट होकर उस काष्ठको भी अग्निरूप बना देती है और काष्ठका विलय हो जाता है इसी प्रकार अक्षरात्मक उस लोकके आनन्दरूपका सभी जगह आविर्भाव हो गया और उन सब व्रजवासियोंके देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण तथा आत्मामें भी आनन्दके प्रकट हो जाने पर उनके देहादिकोंके आनन्दरूप हो जानेसे, उनके देहादि भावका विलय ही हो गया. तब उनका प्रत्यापत्यर्थ पूर्वभाव प्राप्त करनेकेलिए प्रयत्न किया. आनन्दांशका सब जगह 'तदात्मकांशस्य' आविर्भाव होने पर उनके देहादिमें भी आनन्द प्रकट हो गया. इसमें दृष्टान्त यह है कि जैसे 'काष्ठाग्निवत्' लकड़ीमें रही अग्निको प्रकट करनेकेलिए बाहरकी

अग्निका संयोग आवश्यक होता है.

'अर्धज्वलितानां'(आधे जले हुए) इत्यादि पदोंका तात्पर्य यह समझना चाहिए, कि उन व्रजवासियोंके मनोरथको पूर्ण करने तथा ब्रह्मानन्दकी अपेक्षा भजनानन्दमें उत्कर्षको बतानेकेलिए भगवानने उन्हें अपने लोकके दर्शन कराए. इस दर्शनका स्मरण रहने पर ही इस न्यूनाधिक भावका ज्ञान आगे रह सकता है और वह स्मरण भी तरतमभावका अनुभव होने पर ही हो सकता है. इसलिए इन व्रजवासियोंको अभी ब्रह्मानन्दका अनुभव भी होना उचित है. वह अनुभव उससे अपना भेद जाने तब ही हो सकता है. इस प्रकारसे, आनन्दात्मकता और भेदज्ञानपूर्वक अक्षरानन्दका अनुभव–इन दोनोंके एक साथ होनेसे अर्धज्वलित भाव जानना चाहिए. फिर पीछे काष्ठभाव प्राप्त होना कहनेका अभिप्राय यह है कि पहले उनका देहादिमें प्रकट हुए लोकका तिरोधान हो जाने पर, उस लोकके सम्बन्धसे होनेवाले आनन्दात्मक भावका भी तिरोधान हो गया और वे पहले जैसी स्थितिको प्राप्त हो गए. यदि(अन्यथा) उनको पहलेकी सी स्थितिमें नहीं लाते तो आगेकी लीला नहीं हो सकती थी. वह उनकी पूर्व जैसी स्थिति, उनका वेदात्मक ब्रह्ममें योग करने पर सम्भव है.

कहनेका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार जली हुई लकड़ी फिर पाछी काष्ठरूपमें नहीं बदली जा सकती इसी प्रकार आनन्दात्मकरूपको प्राप्त व्रजवासियोंके देहादि फिर लौकिक(जड़भाव)को प्राप्त नहीं हो सकनेके कारण उनका आगेकी लीलामे उपयोग नहीं हो सकता है. इसलिए देहादि भाव उनकी प्रकृति (स्वभाविक) नित्य स्थिति है और (सदा नहीं रहनेवाली)मुक्ति अवस्था विकाररूप है. इस प्रकार इनकी उस विकाररूप स्थिति (मुक्ति अवस्था)को दूर करके स्वभाविक नित्य स्थितिमें लाना आवश्यक है और वह वेदब्रह्मसे ही हो सकती है. यह वेदब्रह्म मर्यादारूप नहीं है. इसलिए उन व्रजवासियोंको देहादिभावरूप साधारण स्थिति प्राप्त कराकर भजनानन्दका अनुभव कराना भी मर्यादाका कार्य नहीं है. यदि यह वेदब्रह्म भी मर्यादा मध्यपाती ही होता तो इन व्रजवासियोंकी स्वभाविक देहादिभाव (लौकिक) प्रकृति भजनानन्दका अनुभव नहीं कर सकती. इसलिए जैसे कोई तालाब नदीके भीतर रहता हुआ भी, नदीके प्रवाहसे अलग और सदा अतिनिर्मल होता है. उस निर्मल जलमें मकरन्द बरसानेवाले कमलोंको उत्पन्न करता है और अपने भीतर पड़े हुए

पदार्थोंको भी निर्मल जलसे भर देता है. इसी प्रकार वह वेदब्रह्म वेदके भीतर रहता हुआ भी, मर्यादामार्गसे भिन्न होकर स्वयं ब्रह्मरूप है और निर्दोष भजनानन्दका अनुभव करानेवाले विचित्र भावोंको उत्पन्न करता हुआ पुष्टिमार्गीय ही है. इसी अभिप्रायसे मूलमें वेदको ब्रह्मरूप और जलको तालाबरूप दोनोंरूपसे कहा है. यही व्याख्यामें ''तद्धितस्य जलात्मकम्'' (वही जलरूप है) इत्यादि पदोंसे कहा है.

वह लोक अक्षररूप है. इसलिए ब्रह्महृद पद उसके(अक्षर) आनन्दका वाचक है ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि ब्रह्मानन्द अथाह और हृद(तालाब) अल्प है. इसलिए दोनोंमें महान् अन्तर होनेके कारण यह 'ब्रह्महृद' पद अक्षरके आनन्दका वाचक नहीं माना जा सकता. यहां आनन्द पदका प्रयोग न करके 'हृद' पदके कहनेका तात्पर्य ऊपर बताया हुआ उसका पुष्टिमार्गीयरूप ही है. अक्षरका निरूपण तो पहलेकर दिया गया है इसलिए यहां ब्रह्मपदका अर्थ अक्षर नहीं है. बीचमें उसका शब्दब्रह्ममें योग करनेका कारण व्याख्यामें 'प्रमाणतोज्ञानम्' इत्यादि पदोंसे कहा है. इस प्रकार यहां तालाबरूप कहना और उसमें डूबना(मग्न होना) बतलानेसे शब्दब्रह्मको जलरूप भी मान लेना चाहिए. इसी कारणसे, उस शब्दब्रह्मको जलरूपसे किसी स्थान पर कहा गया है. यह शब्दब्रह्म भी व्यापक है. इसलिए कहीं गोकुलके निकट प्रकट करना तात्पर्य है. व्रजजनोंको पूर्व स्थितिमें लाना और प्रमाणके द्वारा उन्हें ज्ञान देनारूप दोनों कार्य शब्दब्रह्मसे ही हो सकते हैं. इसलिए उस(शब्दब्रह्म)को प्रकट करनेकी आवश्यकता है. इस विषयमें युक्ति कहते है कि जहां अक्रूरजीको ज्ञान प्राप्त हुआ था वहां शब्दब्रह्मरूप जलके भीतर भगवानके स्वरूपका ज्ञान पहले अक्रूरजीको हुआ था. वे व्रजजन उत्तम अधिकारी थे, इसलिए उसमें डूबने पर वे शब्दब्रह्मरूप ही हो गए. यहां पर यह शंका होती है, कि यदि शब्दब्रह्मरूप जलसे उनका उद्धार करना आवश्यक था, तो पहलेकी स्थितिमेंसे उनका उद्धार करके, उन्हें अपना प्रकृतिभाव (स्वाभाविक रूप) प्राप्त क्यों नहीं करा दिया? इसके समाधानमें कहते है कि अपनी की हुई मर्यादाको स्थापन करनेकेलिए ऐसा किया है. क्रम यह है कि पहले परब्रह्म अपनेमें स्थित शब्दब्रह्मको अलग करता है और फिर वह शब्दब्रह्म जिस वस्तुको अपनेसे अलग करता है, वह जगद्रूप होता है. कहनेका अभिप्राय यह

है, कि जिस जगतका साक्षात् लीलामें उपयोग होता है वह तो सच्चिदानन्द स्वरूप है और वह भगवानके स्वरूपमें ही स्थित रहता है, किन्तु वह बाहर लीलारूपी कार्य नहींकर सकता है. इसलिए भगवान् क्रीड़ा करनेकी इच्छासे उसको अपने स्वरूपमेंसे अलग करते हैं.

उस आनन्द स्वरूपसे अलग हुआ वह जगत् अपने सहज स्वरूपसे बिछड़ा हुआ सा होकर कुछ भी कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता. तब अलौकिक प्रवृत्ति निवृत्तिके द्वारा अलौकिक अर्थ सिद्ध करनेमें समर्थ शब्दब्रह्म है. इस कारणसे यह मानकर कि यदि यह स्वरूपसे अलग किया जगत् शब्दब्रह्मरूप हो जाय तो यह लीलामें उपयोगी प्रवृत्ति और निवृत्तिके योग्य हो सके. उस जगतको शब्दब्रह्मरूप किया. इस प्रकार जब वह अलौकिक प्रवृत्ति-निवृत्तिके योग्य हुआ तब वह शब्द ब्रह्मात्मकरूप होनेसे, प्रमाणरूप हुआ. लीलामें तो प्रवृत्ति-निवृत्ति स्नेहके आधीन है. इसलिए जगतकी उस शब्दब्रह्मरूपताका लीलामें उपयोग नहीं होनेके कारण व्रजजनोंका वहांसे भी उद्धार किया. यही बात व्याख्यामें ''अन्यथा प्रमाणगृहीताः'' इत्यादि पदोंसे कही है. यदि व्रजजनोंका उस प्रमाणरूप शब्दब्रह्मात्मक जगतसे उद्धार नहीं करते तो प्रमाणग्रस्त, वे व्रजजन लीलामें उपयोगी नहीं होते, क्योंकि लीला तो स्वतन्त्र है और प्रमाणके आधीन हुए वे वेदमें बताए कर्मको ही करते उसके अतिरिक्त कोई भी कर्म नहीं करते, तो इनका लीलामें उपयोग होता ही नहीं. अथवा यों समझिये कि प्रमाणमार्गमें चलनेवालोंका चित्त प्रमाणके वशीभूत हो जाता है और उसका लीलामे प्रवेश करनेका अधिकारी नहीं रहनेके कारण, वह पुष्टिलीलामें उपयोगी नहीं होता.

'तदार्द्रनयताः' जलमें डूबनेवालोंके नेत्र गीले हो ही जाते हैं. यहां, यह जल ऊपर बताए प्रमाणके अनुसार शब्दब्रह्मरूप है. इससे वेदमें भगवानका स्वरूप जैसा सिद्ध है वैसे स्वरूपके ही वे अपनी दृष्टिसे दर्शन करते हैं यही नेत्रोंका गीलापन है. अथवा दर्शन करते समय आनन्दके आंसूओंसे भी नेत्रोंका भीगना समझना चाहिये. इस सारे कथनका साररूप गूढ रहस्य व्याख्यामें 'ब्रह्मानन्दात्' (ब्रह्मानन्दसे भजनानन्दमें अत्यधिक आनन्द है) इत्यादि कारिकामें कहा है.

अथवा ''ते तु ब्रह्महृदं नीताः'' इस श्लोकका अर्थ यह भी हो सकता है.

इसकी व्याख्यामें 'ततो दर्शनान्तरं' इत्यादि पदोंका आशय यह है, कि यद्यपि अक्षरानन्दकी अपेक्षा लीलात्मक आनन्द अधिक है, किन्तु तो भी, वे व्रजजन लीलारूप तथा लीलाके मध्यपाती होने तथा अब तक अक्षरानन्दका अनुभव न करनेके कारण, उनको इन लीलानन्द और अक्षरानन्दके अधिक-न्यूनभावका ज्ञान नहीं था. भगवान् तो यद्यपि लोकके भीतर विराजकर ही लीलाकर रहे थे. तो भी व्रजजन तो अपने आपको दूसरे लोककी तरह साधारण लोक मान रहे थे. इसीसे, उनका ऐसा, 'ब्रह्मलोक दर्शन'का मनोरथ हुआ. उनके इस मनोरथको पूर्ण करनेकेलिए भगवानने अपने लीलात्मक अंशको मुठ्ठीमें बन्द सा (छिपा) करके साधारण रीति प्रकट की, जिसमें तो जीवोंके भीतर केवल सत्, चित् अंशोंका प्राकट्य होता है. आनन्द अंशका तिरोभाव रहता है. जब जीवोंमें उस आनन्द अंशका प्राकट्य हो जाता है, तब अक्षरानन्दका अंशरूप ब्रह्मभाव सिद्ध होता है.

जिस प्रकार बाहरकी आगके सम्बन्धसे लकड़ीके भीतर छिपी आग बाहर प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार अक्षरानन्दके प्रकट हो जानेपर जीवस्वरूपात्मक आनन्द भी प्रकट हो जाता है. तात्पर्य यह है, कि जीवस्वरूपके भीतर रहा हुआ आनन्दांश भी लीलारूपी काष्ठके बाहरके अंशमें ही अग्निभावकी तरह प्रकट हो गया. इसीको व्याख्यामें विलय शब्दसे कहा है. इन व्रजजनोंमें भगवानके आगेकी लीला करनेकी जो इच्छा थी उसी लीलारूप काष्ठके गीलापनके कारण वे अक्षरानन्दरूप नहीं हो सके. बाह्य अंशके स्थान पर केवल जीवभाव ही बना रहा. इसीको व्याख्यामें अर्धज्वलितरूप कहा है. पुनः काष्ठरूपमें ले आना, यह है कि अक्षरानन्दका अनुभव करनेकेलिए लीलात्मक भाव और लीलात्मक कार्य करनेकेलिए जो उन्मुखताका अभाव और साधारण रीति प्रकट की थी, उसको दूर करके फिर पीछे लीलात्मक कार्यमें तत्परता सम्पादनकर देना ही ज्वलित काष्ठको पुनः काष्ठरूपमें ले आना है. यह कार्य शब्दब्रह्मके द्वारा ही किया जा सकता है, क्योंकि देहादिका अध्यासवालोंकेलिए ही वह शब्दब्रह्म देहधर्म कर्म, ज्ञान, उपासना युक्त वर्णाश्रमधर्मका निरूपण करता है. इस शब्दब्रह्मके सम्बन्धसे अक्षरानन्दके प्रकट होने पर प्रकट हुआ वह जीवका स्वरूपात्मक आनन्द छिप जाता है और पीछे जीवभाव सिद्ध हो जाता है. यह पीछे जीवभाव प्राप्त होना

ही यहां लीलामें उपयोगी होना है. मूलमें ब्रह्मको ह्रद तड़ाग कहा है. वह जलरूप होनेके कारणसे जलात्मक कहा जाता है. जल अग्निको बुझा(शान्तकर) देता है. इसीसे अक्षरात्मकरूपको अग्नि कहा है. इसीलिए कहीं गोकुलके निकटमें ही कभी जलरूप शब्दब्रह्मको प्रकटकर देनेसे उनका वह अग्निरूप अक्षरात्मक भाव दूर हो (छिप) गया. इस विषयमें व्याख्यामें 'अग्रे च वक्ष्यति' पदोंसे प्रमाण दिया है.

''यत्राकूरोऽध्यगात् पुरा'' अक्रूरको पहले जलमें ही शब्दब्रह्मका ज्ञान होनेसे और यहां उसको ब्रह्मह्रद कहनेसे शब्दब्रह्मको बिना किसी संकोचके जलरूप मानना ही होगा. उसमें स्नान करना कहनेसे, सब अंशोंमें उसका सम्बन्ध सूचित होता है. ह्रद(तड़ाग)में ले जाना कहनेसे ही, तालाबका सम्बन्ध सिद्ध हो जाने पर भी, फिर उसमें डूबना बतलाना 'शब्दात्मका एव जाताः' उनका जलरूप 'शब्दात्मकभाव' होना सूचित करनेकेलिए है. 'क्रमश्चायम्' पुष्टिमार्गमें प्रवेश करनेका यह क्रम है. शब्दब्रह्मकी अपेक्षा अक्षरब्रह्म पर-उत्कृष्ट होनेके कारण अक्षरब्रह्मको ही परब्रह्म कहते हैं. उस परब्रह्मको मुक्तजीव ही प्राप्तकर सकते है(''मुक्तोपसृप्य व्यपदेशात्'' ब्र.सू.१।३।२). इसलिए ब्रह्मभाव उत्पन्न हुए जीवोंको ब्रह्मभाव अथवा वैकुण्ठसे अलग करके उनका फिर पीछे देहादि सम्बन्ध कराना मर्यादा श्रुतियोंके विरुद्ध है(''न स पनुरावर्तते'' छा.८।१५). तथापि, उन व्रजजनोंको ब्रह्मभाव अथवा वैकुण्ठसे अगल करके उनकेलिए पुष्टिलीलारूप जगत् (भगवानने) सम्पादनकर दिया.

'अत एव' इत्यादि पदोंका तात्पर्य यह है, कि पुरुषोत्तमका स्वरूप साक्षात् कहना (प्रत्यक्षतया वर्णन करना) अशक्य है, कार्य द्वारा अथवा अपने अनुभवके ज्ञानके द्वारा ही जाना जा सकता है. उसका ज्ञान जिस तरह होता है, उस प्रकारका वर्णन ''मनोरथान्ता श्रुतयो यथा ययुः''(२९।१३) इस दृष्टान्तकी व्याख्यामें विस्तारसे करेंगे. श्लोकमें 'च'का आशय यह है, कि मर्यादाका निरूपण करनेवाले वेदोंको तो ब्रह्मानन्दमें मग्न(डूबे हुए) जीवोंको उससे अलग निकाल देना सम्मत नहीं है, तो भी श्रीकृष्णकी आज्ञारूप पुष्टिश्रुति की सम्मति हो जानेके कारण वेदोंने उन्हें अपने(ब्रह्मानन्दसे) अलगकर दिया, क्योंकि वेद यह जान गए कि पुष्टिलीलामें परिगृहित जीवों पर उनका अधिकार नहीं है केवल मर्यादामार्गीय जीव ही उनके विषय हैं. इसीलिए व्याख्यामें ''वेदैरपि

भगवदाज्ञया छद्धृताः'' वेदोंमें भी भगवानकी आज्ञासे उनका उद्धार अलगकर दिया यह कहा है. यदि उन्हें वहांसे न निकालते, तो मर्यादामें ही रहे हुए उनका पुष्टिलीलामें प्रवेश नहीं होता.

'यतस्तदार्द्र नयनाः' इन व्याख्याके पदोंका अर्थ यह है, कि यहां आगेके श्लोकमें ही वर्णन किए जानेवाले उसके दर्शनसे हुए परमानन्दके सुखसे वे नन्दादि गोपजन आनन्दके अश्रुओंसे गीले नेत्रवाले हो गए. अथवा 'यत्राक्रूर' इस आगेके पदसे इन गोपजनोंको प्रमाणके द्वारा दर्शन कराने पर उनका भगवानमें उत्पन्न हुआ माहात्म्यज्ञान पूर्वक सुदृढ़ स्नेह ही आर्द्र नयनरूपसे कहकर सूचित किया है.

यहां पर शंका करते हुए कहते हैं, कि इस प्रकार विवरण करनेका कारण क्या है? वाक्यानुसार विवरण करना ही उचित प्रतीत होता है. वह इस प्रकारसे ब्रह्मानन्द ही अत्यन्त गम्भीर शुद्ध और सन्तापको मिटानेवाला होनेसे ब्रह्महृद पदसे कहा है. जैसे जलपूर्ण तालाबमें डूबे हुए मनुष्यको बाहरके पदार्थोंका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है, वैसे ही, ब्रह्मानन्दमें मग्न हुए वे व्रजजन देहादिके अनुसन्धानसे रहित हो गए. यह बतलानेकेलिए उनका ब्रह्मानन्दमें मग्न होना कहा गया है. इसके पीछे पूर्णानन्दरूप श्रीकृष्णने उनको गणितानन्दरूप ब्रह्मसे अलग करके देहादिके अनुसन्धानवाले किए. तब वे व्रजजन उस ब्रह्मलोकका दर्शन करने लगे. इसीलिए श्लोकमें (ब्रह्मणः)ब्रह्मके (लोकम्)लोकको इकट्ठा न कहकर अलग-अलग कहा है, क्योंकि इस प्रकार अलग नहीं किये जाते और देहानुसन्धान भी नहीं होता तो, लोकका दर्शन ही सम्भव नहीं था. इस प्रकार साधारण व्रजवासियोंकी व्यवस्थाका वर्णन करके श्रीनन्दरायजी आदि प्रधान गोपोंके विषयमें 'नन्दादयः' नन्दरायजी आदि इत्यादि पदोंसे विशेष वर्णनपूर्वक 'दर्शयामासुः' दर्शन कराना रूप भगवानका कार्य कहकर 'ददृशुः' पदसे उनका स्वयं दर्शन करना कहा है. इस कारणसे 'दर्शयामास' इस तेरहवें श्लोकसे लेकर 'ददृशुः' इत्यादि पन्द्रहवें श्लोक तक एक वाक्यता (एक ही विषयका वर्णन) मानना ही उचित है, दिखाना और देखना इन दोनोंको अलग-अलग समझकर वाक्यमें कहे पदार्थ अलग मान लेना उचित नहीं है.

इसका समाधान करते हुए कहते हैं, कि पूर्वपक्षानुसार उक्त तीनों श्लोकोंकी एकवाक्यता नहीं है, किन्तु वाक्यभेद ही है यदि यहां पर दिखाना

कहकर उस विषयका स्वरूप बतलाकर उसी क्षणमें दर्शनकर लेनेका अव्यहित वर्णन होता तो एकवाक्यता सम्भव थी, परन्तु उनको पहले ब्रह्महृदमें ले जाना, दूसरे उन्हें उसमें मग्न करना और तीसरे उन्हें वहांसे बाहर निकालना आदि तीन क्रियाओंका समुदाय कहा है और 'तु' शब्दसे उनकी विभिन्नता (एकका दूसरेसे असहयोग)को प्रदर्शितकर रहा है. पूर्वपक्षीके कथनानुसार तो दर्शनके पहले ही उसमें डूबना सिद्ध हो जाता है (और वह) जो किसी प्रमाणके न होनेसे उचित नहीं है. दूसरी बात यह है कि 'दर्शयामास' दिखाना कहनेसे दर्शनका वर्णन तो हो ही गया, फिर पूर्वपक्षानुसार तो 'ददृशुः' पदसे पुनः उसीके दर्शनका ही वर्णन करना सिद्ध होता है. उसका पुनः वर्णन नहीं करता, इत्यादि सब कारणोंसे श्रीव्याख्याके अनुसार अर्थको ही श्लोकानुकूल यथार्थ समझना चाहिए.

योजना: व्याख्यामें शब्दब्रह्मका जलरूपसे निरूपण किया, वह उचित ही है क्योंकि जलको शास्त्रोंमे शब्दब्रह्म स्पष्ट रीतिसे कहा है. पद्मपुराणमें श्रीयमुनाजीके तीस नाम कहे हैं, प्रयागमाहात्म्यस्थ, उस श्रीयमुनास्तोत्रमें ''त्रयी रसमयी सौरी ब्रह्म विद्या सुधावहा'' श्रीयमुनाजीको जलरूप और वेदत्रयीरूप बतलाया है इस कारणसे जल और शब्दब्रह्मको एकरूप ही मानना चाहिए।।१५।।

नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः।
कृष्णं च तत्रच्छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः ।।१६।।

वे नन्दरायजी प्रभृति गोपजन उस ब्रह्मलोकको देखकर अत्यन्त आनन्दित हुए और वहां यह देखकर कि शरीरधारी वेद श्रीकृष्णकी स्तुतिकर रहे हैं वे अत्यधिक आश्चर्यान्वित हुए।।१६।।

तदन्तर होनेवाले परिणामका वर्णन इस 'नन्दादयस्तु' श्लोकसे करते हैं. उस ब्रह्मलोकको देखकर, स्वरूपको प्राप्त हुवे वे नन्दरायजी आदि गोपजन परमानन्द सुखको प्राप्त हो गये. वह ब्रह्मलोक अविद्याका नाशक और आवरणका निवारण करनेवाला है. उसका इस प्रकार प्रमाण द्वारा अनुभव करके वे अत्यन्त सुखी हुवे. पहले तो वे ब्रह्मके साथ एकरस हो गये थे और वहां भी भगवान् श्रीकृष्ण मध्यमें बिराजमान थे. वहां साक्षात् वेदोंको श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुवे देख करके अत्यन्त चकित हुवे. वेदोंसे स्तुति किये गये श्रीकृष्णके दर्शन

करके वे परम आश्चर्य मग्न हुवे. ब्रह्मलोक और वैकुण्ठ दोनोंका भी यही एक फल जानकर वे अत्यन्त आश्चर्यरसमें निमग्न हो (डूब) गये।।१६।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) २५वें अध्यायकी (प्रचलित क्रमानुसार अध्याय २८ की) श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण कृत श्रीसुबोधिनी 'संस्कृत टीका'के तामस साधन अवान्तर प्रकरणका सातवां अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।